उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंहकुलपति, उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विनय कुमारकुलसचिव, उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति ; (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार आचार्य, इतिहास, निदेशक, समाज विज्ञान, विद्याशाखा, उ0 प्र0 रा0 ट0 मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 संजय कुमार सिंह सह –आचार्य, भूगोल समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0 प्र0 रा0 ट0 मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 अभिषेक सिंह सहा0 आचार्य समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 एन0 के0 राना आचार्य, भूगोल विभाग बी0एच0यू0, वाराणसी

प्रो0 ए0 आर0 सिद्दीकी आचार्य, भूगोल विभाग इलाहाबाद विश्वविालय प्रयागराज

प्रो0 अरूण कुमार सिंह आचार्य, भूगोल विभाग बी0एच0यू0, वाराणसी

लेखक

डॉ0 संजय कुमार सिंहसह – आचार्य, भूगोल समाज विज्ञान विद्याशाखा
उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 शिवप्रकाश अग्निहोत्री से0नि0 प्राचार्य,एम. एम. एम. पी. जी. कालेज कालाकाकर प्रतापगढ

प्रो0 पी0 के0 सिंहएम. एम. एम. पी. जी. कालेज कालाकाकर प्रतापगढ

डॉ0 आर0 बी0 अग्रहरिसह – आचार्य पी. जी. कालेज पटटी प्रतापगढ

सम्पादन

डॉ0 संजय कुमार सिंह सह – आचार्य, भूगोल समाज विज्ञान विद्याशाखा
उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक

डॉ0 संजय कुमार सिंहसह – आचार्य, भूगोल समाज विज्ञान विद्याशाखा
उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सह -समन्वयक

डॉ0 अभिषेक सिंह सहायक आचार्य, भूगोल समाज विज्ञान विद्याशाखा
उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

मुद्रित वर्ष – 2023

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

ISBN No. -

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उप्र राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय साम्रगी में मुद्रित साम्रगी के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं हैं।

प्रकाशन विनय कुमार, कुलसचिव, उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, 2023।

UGGO-101

भौतिक भूगोल

उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGGO-101भौतिक भूगोल

इकाई 1भौतिक भूगोल की परिभाषा एवं विषय क्षेत्र, पृथ्वी की उत्पत्ति, पृथ्वी की आन्तरिक संरचना,

इकाई 2 भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियाँ, महाद्वीप एवं महासागरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त

इकाई 3भू सन्तुलन की संकल्पना, ज्वालामुखी एवं भूकम्प तथा उनसे उत्पन्न भूआकृतियाँ, चट्टान एवं उनका वर्गीकरण

इकाई 4 अपवाह प्रणाली एवं अपवाह प्रतिरूप, अपरदन एवं उसके कारक एवं उनसे निर्मित भू आकृतियाँ– नदी, पवन, हिमानी एवं भूमिगत जल।

इकाई 5 वायुमण्डल का संगठन एवं स्तरीकरण, सूर्यातप एवं तापमान

इकाई 6 वायुदाब – प्रभावित करने वाले कारण एवं वितरण, स्थायी एवं स्थानीय हवाएं,

इकाई 7 वायुराशि चक्रवात एवं प्रति चक्रवात आर्द्रता तथा वर्षा के प्रकार एवं वितरण,

इकाई 8 जलवायु का वर्गीकरण एवं विश्व के जलवायु प्रदेश।

इकाई 9 महासागरीय नितल, महासागरीय जल के तापमान एवं लवणता का वितरण एवं प्रभावित करने वाले कारक,

इकाई 10 महासागरीय जल धाराएं – उत्पत्ति के कारण एवं विभिन्न महासागरों (अन्धमहासागर,ृशान्त एवं हिन्द महासागर) में वितरण प्रतिरूप

इकाई 11 ज्वार–भाटा– उत्पत्ति, वर्गीकरण, उत्पत्ति के सिद्वान्त, प्रवाल भित्तियॉ– प्रवाल विकास की भौगोलिक परिस्थितियॉ, वर्गीकरण, उत्पत्ति के सिद्वान्त

इकाई 12 जीव मण्डल – जैव मण्डल का अभिप्राय, पर्यावरण एवं जीव मण्डल, जीव मण्डल के तत्व

इकाई 13 वनस्पति अनुक्रम, पादप एवं जन्तुओं का उदभव विकास

इकाई 14 जन्तु प्रजनन एवं प्रकार एवं उनके साधन एवं विधियाँ, विश्व के जन्तु भौगोलिक प्रदेश।

UGGO - 101भौतिक भूगोल

इकाई 1– भौतिक भूगोल की परिभाषा एवं विषय क्षेत्र, पृथ्वी की उत्पत्ति, पृथ्वी की आन्तरिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 भौतिक भूगोल की परिभाषा एवं विषय क्षेत्र
1.2.1 भौतिक भूगोल : एक वैज्ञानिक विषय के रूप में
1.2.2 भौतिक भूगोल : परिभाषाएँ
12.3 भौतिक भूगोल : विषय क्षेत्र
1.3 पृथ्वी की उत्पत्ति
1.3.1 पृथ्वी : एक परिचय
1.3.2 पृथ्वी की उत्पत्ति : सम्बन्धित संकल्पनाएं
1.3.2.1 काण्ट की वायव्य राशि परिकल्पना
1.3.2.2 जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना
1.3.2.3 ओटोश्मिड की अन्तरतारक धूलि परिकल्पना
1.3.2.4 बिग बैंग तथा स्फीति सिद्धान्त
1.4 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना
1.4.1 प्राकृतिक साधन
1.4.1.1 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के ज्ञान के स्रोत
1.4.1.2 अप्राकृतिक साधन
1.4.1.3 पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित परिकल्पनाओं/सिद्धान्तों के प्रमाण
1.4.2 पृथ्वी का आन्तरिक स्तरीकरण
1.5 सारांश
1.6 शब्द सूची
1.7 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची/उपयोगी पुस्तकें
1.9 अभ्यासार्थ प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

1.0 प्रस्तावना –

भौतिक भूगोल के प्रथम खण्ड की यह पहली इकाई है। इस इकाई में आप सर्वप्रथम भौतिक भूगोल की मूल भावना को समझेंगे और उसकी परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे। समय के साथ विकसित इन परिभाषाओं का अध्ययन करते हुए आप देखेंगे कि किस प्रकार भौतिक भूगोल ने एक विषय के रूप में विकसित होकर वैज्ञानिक जगत में अपना स्थान बनाया है। इस इकाई का सम्बन्ध भौतिक भूगोल के विषय क्षेत्र से भी है जो सार रूप में इसकी परिभाषाओं में ही निहित है। फिर भी इस इकाई में विस्तार से हमें यह समझना होगा कि एक वैज्ञानिक विषय के रूप में भौतिक भूगोल के अध्ययन की परिधि इस इक्कीसवीं शताब्दी में कहाँ तक पहुँच गई है। इस इकाई का सम्बन्ध पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के अध्ययन से भी है। पृथ्वी की आन्तरिक संरचना कैसी है?, इसकी जानकारी के स्रोत क्या है?, यह भी आप इस इकाई में अध्ययन करेंगे।

1.1 उद्देश्य –

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- भौतिक भूगोल की मूल भावना को आप आसानी से समझ सकेंगे,
- भौतिक भूगोल के विषय क्षेत्र के मूल आधारों–पृथ्वी, भौतिक पर्यावरण एवं मानव की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- पृथ्वी एवं अन्य ग्रहों की उत्पत्ति के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे,
- पृथ्वी के आन्तरिक स्वरूप, संरचना एवं स्तरीकरण के ज्ञान का भी हृदयंगम कर सकेंगे,
- भौतिक भूगोल में खगोलशास्त्र की महत्ता से भी आप पूर्णतः परिचित हो सकेंगे।

1–2 भौतिक भूगोल की परिभाषा एवं विषय क्षेत्र –

1.2.1 भौतिक भूगोल : एक वैज्ञानिक विषय के रूप में –

भौतिक भूगोल मूलतः 'धरातल' के 'भौतिक पर्यावरण' एवं उत्पन्न 'भौतिक परिस्थितियों' का अध्ययन है। 'धरातल' से हमारा तात्पर्य पृथ्वी की सतह पर प्राप्त जल, थल एवं उसके ऊपर वायुमण्डल की निम्न परत एवं सतह के नीचे प्राप्त होने वाली परत जिससे खनिज तथा जल प्राप्त होता है, से है। 'भौतिक पर्यावरण' ग्लोब के धरातलीय उच्चावच्च, सागरों–महासागरों तथा वायु के विविध स्वरूपों की प्रकृति का परिचायक है। उत्पन्न 'भौतिक परिस्थितियों से हमारा तात्पर्य धरातल–महासागर–वायु के पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न उन प्रक्रियाओं से है जो पृथ्वी के भौतिक स्वरूप में परिवर्तन को जन्म देती हैं। समीचीन है कि भौतिक भूगोल विषय का वैज्ञानिक अध्ययन धरातल, उसके भौतिक

पर्यावरण एवं उत्पन्न भौतिक परिस्थितियों के तार्किक विश्लेषण के बिना संभव नहीं हो सकता।

1.2.2 भौतिक भूगोल : परिभाषाएं –

भौतिक भूगोल की संकल्पना अपने उद्‌भव काल से ही गतिशील रही है। यही कारण है कि समय–समय पर इस विषय के परिभाषात्मक स्वरूप में परिवर्तन होते रहे हैं। अट्‌ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में इमैनुअल काप्ट, वारेनियस एवं अलेक्जेण्डर वॉन हम्बोट जैसे विद्वानों ने 'भौतिक भूगोल' शब्द का प्रयोग सामान्य भूगोल के लिए किया जिसे क्रमबद्ध भूगोल कहा जाता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भौतिक भूगोल में अजैविक भूगोल को भी सम्मिलित किया गया, लेकिन इस परिभाषा में वनस्पति, जीव एवं मानव प्रजातियों को कोई स्थान नहीं मिला। **वाल्टार पेंक** ने भी भौतिक भूगोल को समस्त भौतिक वातावरण के अध्ययन के रूप में स्वीकार किया है। सारांश रूप में भौतिक भूगोल की कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं –

ए०के० लोबेक (1939) के अनुसार –जीवन तथा भौतिक वातावण के सम्बन्धों का अध्ययन भूगोल का विषय है, तथा मात्र भौतिक वातावरण का अध्ययन भौतिक भूगोल है।'

ए०एन० स्ट्राहलर (1961) के अनुसार –'भौतिक भूगोल सामान्य रूप में कई भूविज्ञानों' का अध्ययन एवं समन्वय है, जे कि मानवीय वातावरण पर सामान्य रूप से प्रकाश डालते हैं।'

आर्थर होम्स (1975) के अनुसार –'भौतिक वातावरण का अध्ययन ही भौतिक भूगोल है, जिसके अन्तर्गत महाद्वीपों के धरातलीय उच्चावच्च (भूआकृति विज्ञान), सागरों, महासागरों एवं सागरीय तलहटियों की प्रकृति (समुद्र विज्ञान) तथा वायु (मौसम एवं जलवायु विज्ञान) का अध्ययन सम्मिलित है।'

' उपरोक्त परिभाषाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भौतिक भूगोल का सम्बन्ध पृथ्वी और उसकी भौतिक परिस्थितियों से है। यह विषय जहाँ एक ओर स्थल–मण्डल, जलमण्डल, हिममण्डल, वायुमण्डल एवं जीवमण्डल के पारस्परिक सम्बन्धों एवं उन सम्बन्धों के प्राकृतिक परिणामों का अध्ययन करता है, वहीं दूसरी ओर आधारभूत विज्ञानों का संयोजन करने के साथ–साथ भौतिक वातावरण एवं मानव क्रियाकलापों की पारस्परिक अर्न्तप्रक्रिया से उत्पन्न विभिन्न प्रतिरूपों का भी अध्ययन करता है।

1.2.3 भौतिक भूगोल : विषय क्षेत्र –

भौतिक भूगोल का विषय क्षेत्र विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई उनकी परिभाषाओं में ही निहित है। दी गई परिभाषाओं से स्पष्ट कि–

- सम्पूर्ण पृथ्वी भौतिक भूगोल की प्रयोगशाला है। पृथ्वी से तात्पर्य–पृथ्वी की सतह यानी थल, सतह पर प्राप्त जल, पृथ्वी का भीतरी वह भाग जिसमें खनिज एवं भूमिगत जल की प्राप्ति होती है, एवं ऊपरी वायुमण्डल की परतों से है।

- इस पृथ्वी के पाँच संघटक मण्डल (स्थल मण्डल, जलमण्डल, हिममण्डल, वायुमण्डल एवं जीवमण्डल) हैं, जिनका वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन भौतिक भूगोल का प्रमुख विषय क्षेत्र है। इन सभी के अध्ययन से अनेक समस्याओं एवं प्रक्रियाओं का विश्लेषण सम्भव होता है।

- भौतिक भूगोल के अध्ययन की अधिकांश अवधारणाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध विभिन्न विज्ञानों, यथा–खगोल शास्त्र, भूमापन विज्ञान, भू–आकृति विज्ञान, समुद्र विज्ञानों (सागरीय भू विज्ञानों), सागरीय भू–आकृति विज्ञान, भौतिक समुद्रविज्ञान, सागरीय मौसम विज्ञान, रासायनिक समुद्र विज्ञान, जीव समुद्र विज्ञान, व्यावहारिक समुद्र विज्ञानों, जलवायु विज्ञान (मौसम विज्ञान, वायु विज्ञान, भौतिक जलवायु विज्ञान, प्रादेशिक जलवायु विज्ञान, व्यावहारिक जलवायु विज्ञान), हिमानी विज्ञान, जीव भूगोल (पादप विज्ञान, प्राणि विज्ञान), जल विज्ञान, मृदा विज्ञान, स्वास्थ्य भूगोल, पारिस्थितिकी, भूगर्म विज्ञानों (खनिज विज्ञान, शैल विज्ञान, संरचनात्मक भौमिकी, भौतिक मौमिकी) से भी है, किन्तु अध्ययन/अवधारणाओं का यह प्रत्यक्ष/परोक्ष सम्बन्ध उसी सीमा तक है जहाँ तक उनका सम्बन्ध भौतिक वातावरण एवं मानव से होता है। वस्तुतः इन्ही विज्ञानों के माध्यम से मानव को प्रकृति के भौतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त होता है, जिनका उपयोग वह अपने कल्याण के लिए करता है।

- भौतिक भूगोल में भौतिक पर्यावरण के वर्णनात्मक, निरीक्षणात्मक, विवेचनात्मक एवं क्रमबद्ध अध्ययन के साथ ही साथ वर्तमान में भौतिक पर्यावरण एवं मानव के मध्य पारस्परिक क्रियाओं एवं उनके प्रतिरूपों का भी अध्ययन किया जा रहा है।

- भौतिक भूगोल के अध्ययन का मुख्य केन्द्र बिन्दु पृथ्वी पर विस्तारित जैव मण्डल है जो स्थल, जल, हिम एवं वायु से परिवेष्टित है। इन्हीं में जीवन का अस्तित्व सम्भव है। अतः भौतिक भूगोल में उन सभी तत्वों का अध्ययन आवश्यक रूप से किया जाता है जो जैव मण्डल के जीवों के लिए योग्यतम निवास्य पारिस्थितिकी प्रदान करते हैं। कारण कि जैव मण्डल की गुणवत्ता भौतिक वातावरण द्वारा ही नियमित एवं नियंत्रित होती है।

- एक वैज्ञानिक विषय के रूप में भौतिक भूगोल की विकास यात्रा के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान में भौतिक पर्यावरण एवं मानव के मध्य समन्वय स्थापित करते हुए भौतिक भूगोल के अध्ययन में मानव कल्याणपरक उपागम अपनाया जा रहा है, जिसकी वजह से विगत कुछ दशकों में भौतिक भूगोल के कलेवर एवं विषय वस्तु में

व्यापक परिवर्तन हुए हैं। प्लेट विवर्तनिकी, प्राकृतिक प्रकोंपो के कारणों एवं प्रभावों का मूल्यांकन, बृहद् पारिस्थितिकीय तंत्र की गुणवत्ता एवं पारिस्थितिकीय दुष्प्रभावों की समीक्षा, मानव द्वारा भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन के कारण उत्पन्न कुप्रभाव एवं उनसे जनित पर्यावरणीय समस्याओं का मूल्यांकन एवं निवारण, विविध प्रक्रमों की गतिशीलता एवं प्रमाविता का मापन तथा गणितीय विश्लेषण, उपग्रह तकनीकी द्वारा दूरस्थ क्षेत्रों का अध्ययन आदि कुछ ऐसे विशिष्ट पहलू हैं जिनके अध्ययन पर आज अधिक बल दिया जा रहा है। भौतिक भूगोल में इन विशिष्ट विषयों का समावेश वास्तव में भौतिक भूगोल को मानव कल्याण के लिए अधिकाधिक सार्थक बनाने की चाहत एवं प्रयास के परिणाम हैं जो समयानुकूल भी है, प्रासंगिक भी है और आवश्यक भी।

सारांशतः भौतिक भूगोल के विषय क्षेत्र का मूल आधार पृथ्वी, भौतिक पर्यावरण एवं मानव हैं। इनके तत्व परस्पर व्यापी एवं सहसम्बन्धित हैं तथा पारस्परिक क्रिया–प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। चूँकि इन सभी के तत्व परिवर्तनशील होते हैं, अतएव इनके पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता रहता है। इसके फलस्वरूप भौतिक भूगोल का विषय क्षेत्र व्यापक होने के साथ–साथ सतत् विकासशील भी है। इसी व्यापकता एवं विकासशीलता का परिणाम है कि आज पृथ्वी की उत्पत्ति, उसकी आयु तथा भूगर्मिक इतिहास, पृथ्वी की आन्तरिक संरचना, महाद्वीप एवं महासागरीय बेसिन की उत्पत्ति, भूसन्तुलन का सिद्धान्त, पृथ्वी की रचना सामग्री, मृदा का संघटन, उत्पत्ति एवं वर्गीकरण, ज्वालामुखी एवं तद्जनित स्थलाकृतियाँ, भूकम्प एवं भूकम्प विज्ञान, पर्वत एवं पर्वत निर्माण के सिद्धान्त, पठार, मैदान, झील, अपक्षय, अपरदन चक्र तथा बहुचक्रीय स्थलाकृतियाँ, अपवाहतंत्र तथा अपवाह प्रतिरूप, नदी के कार्य तथा उत्पन्न स्थलाकृतियाँ, शुष्क प्रदेशीय स्थलाकृतियाँ, हिम नदीय स्थलाकृतियाँ, परिहिमानी प्रक्रम एवं उत्पन्न स्थल रूप, कार्स्ट स्थलाकृतियाँ, सागर तटीय स्थलाकृतियाँ (स्थल मण्डल/भू–आकृति विज्ञान), महासागरीय नितल के उच्चावच्च, महासागरीय जल का तापमान एवं धनत्व, महासागरीय लवणता, महासागरीय निक्षेप, महासागरीय ज्वार, तरंगें एवं धाराएं, प्रवाल एवं प्रवाल भित्तियाँ, सागरीय संसाधन (जलमण्डल/समुद्र विज्ञान), वायुमण्डल का संघटन एवं संरचना, सूर्यातप एवं ऊष्मा संचलन, वायु का तापमान, वायुमण्डलीय दबाव एवं गतियाँ, वायुमण्डल का सामान्य परिसंचरण, स्थानीय एवं मौसमी हवाएं, वायुमण्डलीय स्थिरता, अस्थिरता एवं सन्तुलन, वायुमण्डलीय आर्द्रता एवं वर्षा, वायुराशियाँ, वाताग्र जनन, चक्रवात एवं प्रति चक्रवात, जलवायु का वर्गीकरण, जलवायु प्रकार तथा जलवायु प्रदेश (वायुमण्डल/जलवायु विज्ञान), जीवमण्डल तथा उसके संघटक, पारिस्थितिक तंत्र एवं पारिस्थितिकी, पादप समुदाय, जन्तु जगत, बायोम, जैव विविधता (जीवमण्डल/जैव भूगोल), प्राकृतिक प्रकोप, पर्यावरण अवनयन आदि जैसे विशिष्ट विषय भौतिक भूगोल के अध्ययन के प्रमुख अंग बन गए हैं।

1.3 पृथ्वी की उत्पत्ति –

1.3.3 पृथ्वी : एक परिचय –

पृथ्वी सौर मण्डल का सर्वाधिक ज्ञात एवं जैव जगत के लिए सबसे महत्वपूर्ण ग्रह है। यह सौर मण्डल के बुध, शुक्र एवं मंगल ग्रह से बड़ा है और शेष ग्रहों से आकार एवं आकृति में छोटा ग्रह है। सूर्य से इसकी औसत दूरी लगभग 15 करोड़ किलोमीटर है। इसकी कक्षीय अवधि 356.25 जब कि अक्ष के सहारे घूर्णन की अवधि 23 घंटा, 56 मिनट, 4 सेकन्ड है। इसका औसत घनत्व 5.52 ग्राम प्रतिधन सेमी है। यह ग्रह अपनी धुरी पर लम्बवत स्थिति से 23 $1/2^0$झुका हुआ है। इस ग्रह का भूमध्यरेखीय व्यास 12756 किमी० है तथा ध्रवीय व्यास 12712 किमी० है। इस ग्रह का एक उपग्रह है जिसे चन्द्रमा कहा जाता है। **1.3.4 पृथ्वी की उत्पत्तिः सम्बन्धित संकल्पनाएं –**

पृथ्वी सौरमण्डल का एक सदस्य ग्रह है। इसकी उत्पत्ति का विषय आज भी विवादास्पद है। अनेक विद्वानों, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने अपनी कल्पना, निरीक्षण, तर्क एवं वैज्ञानिकता के आधार पर अब तक जिन परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस सम्बन्ध में किया है, उनमें अभी तक कोई भी सर्वमान्य नहीं है। इस सम्बन्ध में जो भी विचारधाराएं हैं, उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है– (अ) धार्मिक विचार धाराएं (ब) वैज्ञानिक विचारधाराएं।

(अ)– धार्मिक विचार धाराएं –

हिन्दू पुराणों के अनुसार क्षीर सागर में शयन करते हुए विष्णु की नाभि से कमल तथा कमल से ब्रह्म की उत्पत्ति हुई। प्रायः ऐसी ही कल्पनाएं अधिकांश धर्मों में प्रचलित हैं, लेकिन पूर्णतया कल्पनाओं पर आधारित होने के कारण आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक विचार धाराएं बिलकुल मान्य नहीं हैं।

(ब) वैज्ञानिक विचारधाराएं –

पृथ्वी तथा सौर मण्डल के अन्य सदस्य ग्रहों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में जो तर्क–पूर्ण एवं विज्ञान सम्मत संकल्पनाएं एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें वैज्ञानिक विचारधाराओं की श्रेणी में रखा जाता है। इनका सूत्रपात सर्वप्रथम 1749 ई० में फ्रांसीसी वैज्ञानिक 'फास्तैद बफन' द्वारा किया गया। तबसे लेकर अब तक अनेक संकल्पनाएं एवं सिद्धान्त इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा चुके हैं, लेकिन किसी भी मत को पूर्ण रूपेण मान्यता प्राप्त नहीं है। इन वैज्ञानिक संकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों को ग्रहों की उत्पत्ति में भाग लेने वाले तारों की संख्या के आधार पर तीन वर्गों में रखा जाता है– (1) एक तारक या अद्वैतवादी संकल्पना, (2) द्वैतारक या द्वैतवादी संकल्पना (3) त्रिशंकर संकल्पना ।

(1)– एक तारक या अद्वैतवादी संकल्पना –

इस वर्ग में वे सारी संकल्पनाएं सम्मिलित हैं, जिसमें पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की उत्पत्ति केवल एक ही तारे से हुई मानी जाती हैं। इस वर्ग में–(1) कास्ते द बफन की परिकल्पना (1749 ई०); (2) काण्ट की वायव्य राशि परिकल्पना (1755 ई०) (3); लाप्लाश

की निहारिका परिकल्पना (1796 ई०); (4) रास की परिकल्पना, एवं (5) लाकियर की उल्का परिकल्पना प्रमुख हैं।

(2)– द्वैतारक या द्वैतवादी संकल्पना –

इस वर्ग में वे सारी संकल्पनाएं सम्मिलित हैं, जिस में पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की उत्पत्ति एक से अधिक खासकर दो तारों के संयोग से मानी गई है। इस वर्ग में–(1) चैम्बरलिन की ग्रहाणु परिकल्पना (1905 ई०), (2) जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना (1919 ई०), एवं (3) रसेल की द्वैतारक परिकल्पना (1936 ई०) प्रमुख हैं।

(3) त्रिशंकर संकल्पना –

इस वर्ग में वे सारी संकल्पनाएं एवं आधुनिक सिद्धान्त आते हैं जिनमें पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की उत्पत्ति या तो दो से अधिक तारों की अन्तर्प्रक्रिया से मानी गई है या फिर वे सिद्धान्त गैस एवं धूलि पर आधारित हैं। इस वर्ग में– (1) होयल तथा लिटिलटन का सिद्धान्त (1939 ई०), (2) ए०सी० बनर्जी की सिफीड परिकल्पना (1942 ई०), (3) आफवेन का विद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त (1942 ई०), (4) वाइजेकर की गैस एवं धूलि के बादल की परिकल्पना (1943 ई०), (5) ओटोश्मिड की अन्तरतारक धूलि परिकल्पना (1943 ई०), (6) क्वीपर की निहारिका मेघ परिकल्पना (1951 ई०), एवं (7) बिग बैंग तथा स्फीति सिद्धान्त (1967 ई० में विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई) प्रमुख हैं।

1.3.4.1 काण्ट की वायव्य राशि परिकल्पना परिचय –

सन् 1775 ई० में जर्मन दार्शनिक इमैनुअल काण्ट द्वारा प्रस्तुत 'वायव्य राशि परिकल्पना' मूलतः कुछ काल्पनिक तथ्यों एवं सर आइजक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियमों पर आधारित है।

काण्ट द्वारा कल्पित तथ्य –

सर्वप्रथम काण्ट ने कल्पना की कि –

1. अतीत काल में ब्रह्माण्ड में दैव निर्मित आध पदार्थ बिखरे हुए थे।
2. स्वभाव में ये आद्य पदार्थ अत्यन्त कठोर, शीतल एवं गतिहीन थे।
3. पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण के कारण आद्य पदार्थों के कण आपस में टकराने लगे।
4. पारस्परिक टकराव के कारण ताप का आविर्भाव हुआ तथा कणों में भ्रमण गति उत्पन्न हुई।
5. निरन्तर आपसी टकराव के कारण ताप में निरंतर बृद्धि होती गई, परिणामतः प्रारम्भिक रूप से कठोर एवं शीतल आद्य पदार्थ एक वायव्य राशि में परिवर्तित होने

लगे और अन्ततः इनका स्वरूप एक तप्त एवं गतिशील निहारिका (विशाल गैसीय पिण्ड) में परिवर्तित हो गया।

सूर्य, ग्रहों एवं उपग्रहों के निर्माण की प्रक्रिया –

तप्त एवं गतिशील निहारिका ब्रह्माण्ड में एक स्वतन्त्र विशाल गैसीय पिण्ड के रूप में घूमने लगी, जैसे–जैसे इस निहारिका के तापमान में वृद्धि होती गई, वैसे ही वैसे इसकी परिभ्रमण गति भी बढ़ती गई। अन्ततः निहारिका इतनी तीव्रगति से ब्रह्माण्ड में घूमने लगी कि केन्द्रोपसारित बल (केन्द्र से बाहर की ओर जाने वाला बल) सक्रिय हो गया, जिसके परिणामस्वरूप निहारिका के मध्य भाग में उभार उठने लगा। केन्द्रोपसारित बल की प्रबलता के कारण निहारिका के उभार वाला एक छल्ला बाहर की ओर निकल गया। इस क्रिया के कई बार घटित होने के कारण निहारिका से नौ छल्ले बाहर निकले। इन सभी नौ छल्लों के पदार्थ अलग–अलग स्थानों पर एक गाँठ के रूप में जमकर ठोस हो गए। गाँठ के रूप में जमे हुए ये ठोस पदार्थ आगे चलकर नौ ग्रहों के रूप में परिवर्तित हो गए (उस समय तक नौ ग्रहों की मान्यता थी)। निहारिका का अवशेष भाग सूर्य के रूप में परिवर्तित हो गया। काण्ट के अनुसार–जिस प्रक्रिया से निहारिका से ग्रहों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रक्रिया से (ग्रहों के ठण्डे होकर जमने के पूर्व) ग्रहों से उपग्रहों की उत्पत्ति हुई। इस तरह से पृथ्वी और शेष सौर मण्डल का आविर्भाव हुआ।

काण्ट की 'वायव्य राशि परिकल्पना' का मूल्यांकन –

कल्पना एवं विज्ञान सम्मत तथ्यों पर आधारित होने के बावजूद भी काण्ट की यह परिकल्पना गणित के कुछ नियमो के विपरीत है।

1. ब्रह्माण्ड में आद्य पदार्थों की उपस्थिति का स्रोत क्या है? इस प्रश्न पर यह परिकल्पना मौन है।

2. 'कोणीय आवेग की स्थिरता के सिद्धान्त' के अनुसार–आद्य कणों के आपसी टकराव से आद्य पदार्थों में गति उत्पन्न नहीं हो सकती; जब कि काण्ट ने माना कि आद्य पदार्थों में गति कणों के आपसी टकराव से उत्पन्न हुई।

3. आद्य कणों के आपसी टकराव से भ्रमण गति पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस तरह निहारिका की निरन्तर गति वृद्धि भी त्रुटिपूर्ण है।

4. 'कोणीय आवेग की स्थिरता के सिद्धान्त' के अनुसार–'यदि किसी पिण्ड का आकार बढ़ता है, तो उसकी गति घटती है, और यदि आकार घटता है तो गति बढ़ती है।' लेकिन काण्ट की अवधारणा के अनुसार निहारिका में आकार बृद्धि के साथ गति भी बढ़ती गई। इस तरह काण्ट की अवधारणा का मूल आधार ही ध्वस्त हो जाता है।

5. निहारिका से नौ छल्ले ही क्यों निकले? कम या अधिक क्यों नहीं? छल्लों के निर्गमन की प्रक्रिया क्यों रूक गई? इन प्रश्नों पर भी काण्ट की परिकल्पना मौन है।

इन विरोधाभासों एवं आलोचनाओं के बावजूद भी काण्ट की परिकल्पना का विशेष महत्व है, कारण कि उन्होंने भविष्य के वैज्ञानिकों के लिए एक वैचारिक मार्ग प्रशस्त किया जिस पर आगे चल करके कई परिकल्पनाएं एवं सिद्धान्त विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किए गए।

1.3.4.2 जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना परिचय –

सन् 1919 ई० मे सौर मण्डल की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक नवीन परिकल्पना का प्रतिपादन अँग्रेज विद्वान सर जेम्स जीन्स ने किया जिसे ज्वारीय परिकल्पना के नाम से जाना जाता है। सन् 1929 ई० में सर हेराल्ड जेफ्रीज ने इस परिकल्पना में आंशिक संशोधन प्रस्तुत किए, इसलिए जेम्स जीन्स एवं जेफ्रीज के नाम से भी इस परिकल्पना को जाना जाता है। यह परिकल्पना भी कतिपय स्वकल्पित तथ्यों एवं मान्यताओं पर आधारित है।

जेम्स जीन्स द्वारा कल्पित तथ्य एवं मान्यताएं –

सर्वप्रथम जेम्स जीन्स ने कल्पना की कि –

1. सौर मण्डल की उत्पत्ति दो तारों के संयोग से हुई है– सूर्य तथा ब्रह्माण्ड में उपस्थित दूसरा विशालकाय तारा।
2. प्रारम्भ में सूर्य एक बड़े गैसीय पिण्ड के रूप में था तथा अपनी जगह पर स्थिर होकर अपनी धुरी पर धूम रहा था।
3. विशालकाय तारा आकार एवं आयतन में सूर्य से कई गुना बड़ा था तथा एक निश्चित पथ के सहारे अपने परिभ्रमण पथ पर इस तरह धूम रहा था कि सूर्य से उसकी दूरी निरन्तर कम होती जा रही थी।
4. निरन्तर पास आते हुए विशालकाय तारे की ज्वारीय शक्ति का प्रभाव सूर्य के वाह्य भाग पर पड़ रहा था।

सूर्य, ग्रहों एवं उपग्रहों के निर्माण की प्रक्रिया –

उपरोक्त स्वकल्पित तथ्यों एवं मान्यताओं के आधार पर जीन्स ने बताया कि विशालकाय साथी तारा अपने परिभ्रमण पथ के सहारे धीरे–धीरे सूर्य के नजदीक आता गया, परिणामतः उसके गुरुत्वाकर्षण बल में वृद्धि के कारण सूर्य के तल में धीरे–धीरे ज्वार उठने लगा। ज्यों–ज्यों विशालकाय तारा सूर्य के नजदीक आता गया, त्यों–त्यों उसकी आकर्षण शक्ति बढ़ती गई, परिणामतः सूर्य के तल पर ज्वार की तीब्रता भी बढ़ती गई, जैसे

ही वह विशालकाय तारा सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचा, उसकी आकर्षण शक्ति सूर्य से अधिक हो गई, परिणामतः सूर्य के बाहरी भाग में एक बहुत लम्बा 'सिगार' की आकृति का ज्वार उत्पन्न हुआ जिसे 'फिलामेण्ट' कहा गया। अत्यधिक आकर्षण बल के कारण यह फिलामेण्ट सूर्य के तल से पृथक हो गया और विशालकाय तारे की ओर अग्रसर हुआ। चूँकि विशालकाय साथी तारा अपने परिभ्रमण पथ पर निरंतर आगे की ओर गतिशील होकर धीरे–धीरे सूर्य से दूर होता चला। इसके गुरुत्वाकर्षण में बँधकर फिलामेन्ट भी इस हद तक आगे चला गया कि वह सूर्य की आकर्षण शक्ति से बाहर हो गया। इस प्रकार विशालकाय तारे के सूर्य से अधिक दूर चले जाने के कारण फिलामेन्ट न तो तारे के साथ आगे जा सका और न ही सूर्य में वापस आ सका, बल्कि वह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने लगा।

फिलामेन्ट आकृति में बीच में मोटा और दोनों किनारों पर पतला हो गया। इसका प्रमुख कारण एक तरफ सूर्य और दूसरी तरफ विशालकाय तारे की आकर्षण शक्ति थी। फिलामेन्ट में गति या परिभ्रमण की उत्पत्ति पश्चप्रवण (दूर रहते हुए) तारे के गुरुत्वाकर्षण बल के खिंचाव के कारण हुई।

सूर्य का परिभ्रमण करते हुए फिलामेन्ट धीरे–धीरे शीतल होने लगा, फलतः उसके आकार में संकुचन आने लगा औ अत्यधिक संकुचन के कारण फिलामेन्ट कई टुकड़ों में टूट गया और टूटा हुआ प्रत्येक भाग धनीभूत होकर ग्रहों के रूप में सामने आया।

जीन्स के अनुसार–धनीभवन एवं घूर्णन की दशा में सभी ग्रह किसी एक स्थिति में सूर्य के काफी निकट रहे होंगे जिसकी वजह से सूर्य के ज्वारीय आकर्षण का प्रभाव ग्रहों के तल पर पड़ा होगा, परिणामतः कुछ ज्वारीय पदार्थों का खिंचाव लघु आकारीय फिलामेन्ट के रूप में हुआ होगा। इन लघु फिलामेन्ट का शीतलन, संकुचन, उनका लघु खण्डों में विखण्डन तथा धनीभवन उसी प्रक्रिया में सम्पन्न हुआ होगा, जिस प्रक्रिया में ग्रहों का हुआ होगा। इस तरह से ग्रहों से उपग्रहों की उत्पत्ति संभव हुई।

परिकल्पना के पक्ष में दिए गए तर्क – (1) सौर मण्डल के ग्रहों के क्रम (बुद्ध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण, वरूण) एवं आकार (मध्य में बृहस्पति सबसे बड़ा ग्रह है; इसके दोनों ओर ग्रहों का आकार क्रमशः छोटा होता जाता है, लेकिन मंगल ग्रह इसका अपवाद है) से स्पष्ट होता है कि ये सभी ग्रह सिगार की आकृति (बीच में मोटी एवं किनारों पर पतली) में ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। (2)– सामान्यतः बड़े आकार वाले ग्रहों के जो उपग्रह हैं, यदि वे संख्या में अधिक हैं तो वे भी सिगारनुमा आकृति के अनुरूप बैठते हैं। (3) इस परिकल्पना के अनुसार–ग्रहों का आकार उनसे उत्पन्न उपग्रहों की संख्या का भूल आधार है। अर्थात् किनारे वाले ग्रह (जैसे बुद्ध एवं शुक्र) आकार में छोटे होने के कारण शीघ्र शीतल हो गए होंगे, परिणामस्वरूप उनसे कोई उपग्रह नहीं बन पाये। मध्यम आकार वाले ग्रह (जैसे पृथ्वी और मंगल) अपेक्षाकृत देर से शीतल हुए होंगे, परिणामतः इनसे उत्पन्न होने वाले ग्रह संख्या में कम लेकिन आकार में बड़े रहे। आकार में बड़े ग्रह

(जैसे बृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण) ब्रह्माण्ड में अधिक समय तक गैसीय अवस्था में रहे। इनके शीतलन की प्रक्रिया धीमी गति से सम्पन्न हुई। परिणामतः उनसे उत्पन्न होने वाले उपग्रह संख्या में अधिक एवं आकार में छोटे रहे। (4) सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण सभी ग्रह अपने अक्ष पर सूर्य की ओर झुके होने चाहिए। यह तथ्य भी ग्रहों की वर्तमान व्यवस्था के अनुरूप है, क्योंकि प्रत्येक ग्रह अपने अक्ष पर झुका हुआ है, यथा–बहु (7^0), शुक्र (3.5^0), मंगल (2^0), बृहस्पति (1^0), शनि (2.5^0), अरुण (0^0), वरुण (2^0)। (5) सूर्य के तल से निस्सृत वायव्य ज्वारीय पदार्थ विशालकाय तारे की आकर्षण शक्ति के अनुपात में था। तारा दूर था तो आकर्षण कम था, तो निसृत वायव्य पदार्थ भी कम था; तारा निकटतम दूरी पर आया, तो आकर्षण सर्वाधिक था, तो निसृत वायव्य पदार्थ भी सर्वाधिक था। तारा दूर होता चला गया, तो उसी अनुपात में आकर्षण भी क्रमशः कम होता गया और निस्सृत वायव्य पदार्थ भी कम होता गया; इसीलिए निसृत वायव्य पदार्थ की आकृति सिगार जैसी बन गई।

जेफ्रीज द्वारा प्रस्तुत संशोधन –

जेफ्रीज ने इस परिकल्पना में संशोधन करते हुए बताया कि दो तारों (सूर्य तथा पास आता हुआ विशालकाय तारा) के अलावा एक और तारा था जो सूर्य का साथी तारा था। पास आता हुआ विशालकाय तारा इस साथी तारे की ही सीध में बढ़ रहा था जिस कारण दोनों में टक्कर हो गई। टकराव से कुछ भाग ब्रह्माण्ड में बिखर गया। इसी बिखरे हुए पदार्थ से ग्रहों एवं उपग्रहों का निर्माण हुआ। जेफ्रीज के इस संशोधन को स्वीकार करने पर ग्रहों एवं उपग्रहों के परिभ्रमण, उनके शीतलन, धनीभवन तथा तरल केन्द्रों के निर्माण सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ सुलझ जाती हैं।

परिकल्पना का मूल्यांकन –

एक लम्बे समय तक समर्थन प्राप्त करने वाली यह परिकल्पना कतिपय कटु आलोचनाओं के कारण धीरे–धीरे अपना समर्थन खोती चली गई। कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर इस परिकल्पना के पास नहीं है, यथा –

1. जिस विशालकाय तारे के आकर्षण से सूर्य के तल पर ज्वार पैदा हुआ, सिगार के आकार का फिलामेन्ट निसृत हुआ; वह तारा फिर ब्रह्माण्ड में कहाँ खो गया?
2. अनन्त ब्रह्माण्ड में तारों की स्थिति ऐसी है कि इनके पारस्परिक टकराव की सम्भावनाएं अत्यन्त क्षीण हैं।
3. इस परिकल्पना के अनुसार सूर्य तथा ग्रहों के बीच की वास्तविक दूरी की यथार्थता गणितीय आधार पर प्रमाणित नहीं होती। प्रश्न यह है कि क्या सूर्य से इतना ज्वारीय पदार्थ निकला होगा कि उससे बने ग्रह सूर्य से इतनी दूरी पर फैले, जो सूर्य के व्यास से हजारों गुनी बड़ी है?

4. सूर्य से निस्सृत वायव्य ज्वारीय पदार्थ के तापीय विकिरण, संकुचन, विघटन एवं धनीभवन की प्रक्रिया इस परिकल्पना में ठीक ढंग से नहीं समझाई गई है।

5. ग्रहों के कोणीय संवेग की समस्या ज्यों की त्यों है। इसका स्पष्टीकरण जीन्स महोदय ने ठीक तरह से नहीं किया है।

उपरोक्त अकाट्य प्रश्नों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि यह परिकल्पना अभी भी संशोधन योग्य है। स्वयं जेफ्रीज ने भी स्वीकार किया है कि– 'सन् 1929 ई० में संशोधित इस सिद्धान्त में कुछ और परिवर्तन अपेक्षित हैं, तथा कुछ स्थानों पर तो यह सिद्धान्त पूर्णतया गलत है'।

1.3.4.3 ओटोश्मिड की अन्तरतारक धूलि परिकल्पना परिचय –

सन् 1943 ई० में रूसी अन्तरिक्ष वैज्ञानिक ओटोश्मिड ने पृथ्वी और सौरमण्डल की उत्पत्ति के सन्दर्भ में धूलि एवं गैस के बादलों पर आधारित एक नदीन परिकल्पना का प्रतिपादन (अपनी पुस्तकः Theory of Earth's Origin में) किया। यह परिकल्पना अन्य सभी परिकल्पनाओं की तुलना में अधिक मान्य एवं प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत तथ्य एवं तर्क वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक सारगर्मित हैं।

श्मिड द्वारा स्वमान्य तथ्य– श्मिड महोदय की मान्यता थी कि –

1. ब्रह्माण्ड में सूर्य की उत्पत्ति पहले हो चुकी थी। अर्थात् ब्रह्माण्ड में सूर्य पहले से मौजूद था।

2. आदिकाल में ब्रह्माण्ड में धूलिकण एवं गैस के बादल बृहद् स्तर पर फैले हुए थे। श्मिड ने जिस धूलि एवं गैस के बादलों की कल्पना की, वह आज भी ब्रह्माण्ड में पाये जाते हैं, एवं उनका विकास उल्काओं एवं सुपरनोवा जैसे तारों से फेंके गए पदार्थों से होता रहता है।

3. सूर्य पृथक था और ग्रहों–उपग्रहों को जन्म देने वाला पदार्थ पृथक था।

ग्रहों एवं उपग्रहों के निर्माण की प्रक्रिया – श्मिड महोदय के अनुसार कुछ अरब वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड में पहले से मौजूद सूर्य एक ऐसे ब्रह्माण्डीय क्षेत्र से गुजरा जहाँ धूलिकणों एवं गैस के बादलों का व्यापक समूह था। आकर्षण बल द्वारा सूर्य ने धूलिकणों एवं गैसीय बादलों के कुछ समूह को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। धूलि एवं गैस के ये बादल सूर्य के आकर्षण में बँधकर उसके चारों ओर कुहरे के रूप में छा गए और सामूहिक रूप से सूर्य की परिक्रमा करने लगे। प्रारम्भ में ये धूलिकण एवं गैस के बादल अव्यवस्थित थे, इसलिए सूर्य की परिक्रमा करते वक्त इनकी गति, चाल एवं मार्ग अलग–अलग प्रकार से थे। श्मिड ने इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए सर्वप्रथम 'प्रयार्स्थता' के नियम की व्याख्या की। प्रत्यास्थता के नियमानुसार–'गैस एवं धूलिरणों की गति में पर्याप्त अन्तर होता है। गैस कण हल्के होते हैं तथा प्रर्यास्थ रूप से टकराते हैं, अतः इनकी गति कम नहीं होती और वे

संगठित भी नहीं हो पाते हैं। इसके विपरीत धूलिकण भारी होते हैं तथा अप्रत्यास्थ रूप से टकराते हैं जिससे उनकी गति मंद हो जाती है, और वे संगठित होने लगते हैं। इस तरह श्मिड ने बतलाया कि धूलिकणों एवं गैस के बादलों में धूलिकण मात्रा में अधिक होने तथा भारी होने के कारण अपेक्षाकृत कम अव्यवस्थित थे, जब कि गैसीय बादल मात्रा में कम होने के कारण अधिक अव्यवस्थित थे। परिणामतः धूलिकण गैसीय मेघो के केन्द्र तल पर धीरे–धीरे एकत्रित एवं संगठित होकर धनीभूत होने लगे और कालान्तर में एक बड़ी चपटी तश्तरी के रूप में बदल गए। वस्तुतः इस परिकल्पना के अनुसार ग्रहों एवं उपग्रहों के निर्माण की प्रक्रिया कई क्रमिक चरणों से होकर गुजरी –

1. अप्रत्यास्थ स्वभाव एवं अपेक्षाकृत कम अव्यवस्थित होने के कारण धूलिकणों की गति मंद होने से सर्वप्रथम इन कणों का संगठन प्रारम्भ हुआ, इस प्रकार ग्रहों का प्रारम्भिक रूप या भ्रूण बना।

2. द्वितीय चरण में भ्रूँण ने और अधिक पदार्थ को आत्मसात कर क्षुद्र ग्रहों का रूप धारण किया।

3. तृतीय चरण में ये क्षुद्र ग्रह अभी भी मेघ (बादलों) की चपटी तश्तरी के अन्दर ही अन्दर चक्कर लगा रहे थे। इस प्रक्रिया में वे बिखरे हुए पदार्थो को तेजी से आत्मसात करते जा रहे थे। परिणामतः कालान्तर में क्षुद्रग्रह विकसित होते हुए ग्रह बने।

4. ग्रहों के निर्माण के पश्चात मेघ तश्तरी का अवशिष्ट पदार्थ ग्रहों की परिक्रमा करने लगा। इसी अवशिष्ट पदार्थ के धनीभूत होने से उपग्रहों का निर्माण हुआ

(चित्र 1.3A एवं चित्र 1.3B)।

परिकल्पना के पक्ष में प्रमाण –

अपनी परिकल्पना के पक्ष में श्मिड ने कुछ प्रमाण भी दिए हैं, यथा –

1. इस परिकल्पना के अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य से न मानकर धूलिकणों एवं गैस के बादलों से मानी गई है, अतः सूर्य एवं ग्रहों के बीच कोणीय आवेग में अन्तर होना स्वाभाविक है।

2. चपटी तश्तरी के विभिन्न भागों में सूर्य द्वारा प्राप्त ऊष्मा में भिन्नता थी। इसी भिन्नता की वजह से जो भ्रूण तश्तरी के केन्द्र से सूर्य के करीब थे, उन्हें अधिक ऊष्मा मिलने से वे ग्रह भारी पदार्थों वाले हो गए और जो भ्रूण तश्तरी के केन्द्र से सूर्य से दूर थे, उन्हें क्रमशः कम ऊष्मा मिलने के कारण वे ग्रह हल्के गैसीय पदार्थों वाले हो गए।

3. धूलिकणों का आयतन, घनत्व एवं गति भिन्न–भिन्न थी; अतः संधनित होते समय ग्रहों के बीच की दूरी भी भिन्न–भिन्न होनी स्वाभाविक है।

4. गैस एवं धूलिकणों ने टकराकर अपनी गति का केवल औसत वेग प्राप्त किया, इसलिए ग्रहों के ग्रहपथ लगभग वृत्ताकार हो गए।

परिकल्पना का मूल्यांकन –

वैज्ञानिक तर्कों एवं सिद्धान्तों पर आधारित होने तथा सौरमण्डल की अधिकांश समस्याओं को सुलझाने के बावजूद भी ओटोश्मिड की यह परिकल्पना वैज्ञानिकों की नजर में कई जगह दोषपूर्ण है। विक्टरसैफ्रोनोव का मत है कि 'श्मिड का सिद्धान्त अधिकांशतः सत्य है, यद्यपि कि उसमें कुछ अभाव शेष है,' यथा –

1. 'सूर्य की उपस्थिति' एवं 'धूलिकण तथा गैसीय बादलों की उत्पत्ति' का संतोषजनक उत्तर इस परिकल्पना में नहीं है।

2. ब्रह्माण्ड में तारों के मध्य दूरियाँ बहुत अधिक हैं। फिर सूर्य धूलि गैस मेघों के निकट कैसे पहुँचा? अब क्यों नहीं पहुँचता?

3. यदि धूलिकण एवं गैसीय मेघ अव्यवस्थित, बिखरे हुए एवं शिथिल थे, तो सूर्य उनके कुछ समूह को आकर्षित करने में कैसे सफल हो गया? इस प्रश्न का भी संतोषप्रद उत्तर यह परिकल्पना नहीं दे पाती।

1.3.4.4 बिग बैंग तथा स्फीति सिद्धान्त परिचय –

यह एक विकासवादी सिद्धान्त है जिसे 'महाविस्फोटक सिद्धान्त' या 'प्रबल विस्फोट प्राक्कल्पना' भी कहा जाता है। यद्यपि कि इसे प्रतिपादित करने का श्रेय बेल्जियम के विद्वान जार्ज लेमेटेयर को है लेकिन इसकी विशद व्याख्या सन् 1967 ई० में राबर्ट वेगोनर द्वारा प्रस्तुत की गई एवं इसके माध्यम से ब्रह्माण्ड, आकाशगंगा तथा सौरमण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक समस्याओं के समाधान का प्रयास किया गया।

सिद्धान्त की प्रक्रिया –

इस महाविस्फोटक सिद्धान्त के अनुसार आज से लगभग 15 अरब वर्ष पूर्व एक विशाल अग्निपिण्ड था। घने एवं भारी पदार्थों वाले इस अग्नि पिण्ड में तापीय सन्तुलन की स्थिति में अति तीव्र गति से फैलाव होने के कारण अचानक प्रबल विस्फोट हुआ। इस प्रबल विस्फोट के कारण पदार्थों का दूर–दूर तक बिखराव हो गया। इस महाविस्फोट से निकलने वाला विकिरण, जिसका तापमान प्रारम्भ में लगभग 1000 करोड़ डिग्री केल्विन (10^0K) रहा होगा, जब ठण्डा होकर मात्र निरपेक्ष शून्य के 3^0 ऊपर रह गया तब बिखरा पदार्थ (जिसे प्रारम्भिक सामान्य पदार्थ कहा गया) शीघ्रता से बिघटित होने लगा; और शीघ्र बिघटन एवं अलगाव के परिणाम स्वरूप काले पदार्थों का सृजन हुआ। इन काले पदार्थों के

संघनन एवं समूहन से अनेक पिण्ड़ों एवं पदार्थ पुंजो का निर्माण हुआ। यही वास्तव में ब्रह्माण्ड के निर्माण की प्रक्रिया थी। पदार्थ संघनन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में महाविस्फोट से उत्पन्न विकिरण एक चिपचिपे द्रव के रूप में होने के कारण पदार्थ की गति को बाँधे रहा, जैसे–जैसे ब्रह्माण्ड (अन्तरिक्ष) का फैलाव होता गया, वैसे ही वैसे विकिरण भी ठण्डा होता गया। यह विकिरण अवरोध भी कम हो गया, फलतः पिण्ड़ों एवं पदार्थ पुंजों के चारों ओर सामान्य पदार्थों का शीघ्रता से जमाव होने जिस कारण इनका आकार बढ़ता गया। इन पिण्ड़ों एवं पदार्थ पुजों में आकार बृद्धि होने के कारण अनेक आकाशगंगाओं का निर्माण हुआ।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड छोटा था। लेकिन त्वरित गति से इसमें फैलाव होने के कारण जो आकाशगंगाएं शुरू में पास–पास थीं, वे निरन्तर दूर होती चली गई। इन आकाशगंगाओं में भी भयंकर विस्फोटों की प्रक्रिया शुरू हुई और विस्फोट से निकले पदार्थों के संघनन एवं समूहन से निर्मित अनेक पिण्ड़ों द्वारा प्रत्येक आकाशगंगा में असंख्य तारों का निर्माण हुआ। बाद में इन तारों में भी महाविस्फोट की प्रक्रियायें सम्पन्न हुई जिससे उत्पन्न पदार्थों के संघनन एवं समूहन से सूर्य, ग्रह, उपग्रह आदि निर्मित हुए। हमारा सौर मण्डल भी इसी निर्माण प्रक्रिया का एक अंग है। आज ब्रह्माण्ड में करोड़ों आकाशगंगाएं हैं। प्रत्येक आकाशगंगा में करोड़ों तारे हैं तथा इन विशाल तारों के इर्द–गिर्द असंख्य सूर्य, ग्रह, उपग्रह चक्कर काट रहे हैं। ब्रह्माण्ड का अभी भी फैलाव हो रहा है।

सन् 1980 में अमेरिकन वैज्ञानिक एलन गुथ ने अपने स्फीति सिद्धान्त के माध्यम से इन बिगबैंग सिद्धान्त को अधिक समर्थ बताते हुए यह स्पष्ट किया कि विशालकाय अग्निपिण्ड के जोरदार विस्फोट के बाद अति अल्पकाल में ही ब्रह्माण्ड का असाधारण त्वरित गति से फैलाव (स्फीति) हुआ। इस प्रक्रिया के दौरान एक सेकण्ड के अल्पांश के अन्तर्गत ही ब्रह्माण्ड के आकार में कई गुना बृद्धि हो गई। फिर काले पदार्थों के समूहन से आकाशगंगाओं का निर्माण हुआ। आकाशगंगाओं में विस्फोट से उत्पन्न पदार्थों के समूहन से निर्मित पिण्ड़ों द्वारा तारों का निर्माण हुआ। तारों के विस्फोट से जनित पदार्थों के संघनन, समूहन एवं संगठन से निर्मित पिण्डों से ग्रहोः (अर्थात् पृथ्वी) का निर्माण हुआ।

मूल्यांकन–

वर्तमान समय में अभी भी इस महाविस्फोटक सिद्धान्त का सूक्ष्म विश्लेषण वैज्ञानिकों द्वारा किया जा रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बिग बैंग की दशाओं को उत्पन्न करने हेतु एक मॉडल तैयार किया जा रहा है। बर्कले के वैज्ञानिकों ने भी अंतरिक्ष में सूक्ष्म तरंगीय विकिरण का अध्ययन करते समय बिग बैंग सिद्धान्त का समर्थन किया है। अतएव अभी इस सिद्धान्त की पुष्टि या आलोचना यथा पक्ष–विपक्ष में निर्णय असम्भव है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त द्वारा हमारे सौरमण्डल में सूर्य सहित उसके सभी ग्रहों की पारस्परिक दूरी, आकार, गति, धूर्णन की दिशा, कोणीय संवेग आदि की संतोषप्रद व्याख्या की जा सकती है।

1.4 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना –

पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का विषय बहुत गूढ़ है। इस सन्दर्भ में मानव का ज्ञान आज भी अधूरा है। सामान्यतया यह विषय भूविज्ञान एवं भूभौतिकी से सम्बन्धित है, फिर भी भूगोल विषय के विद्यार्थी के लिए इसका अध्ययन अवश्य कहीं नहीं, महत्त्वपूर्ण भी है, कारण कि पृथ्वी की सतह की वर्तमान रूपरेखा पृथ्वी की आन्तरिक संरचना एवं उसकी आन्तरिक शक्तियों के क्रिया–कलापों का ही परिणाम है। अब तक किए गए अध्ययनों से स्पष्ट है कि पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का ज्ञान प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है कारण कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग मानव के लिए अगम एवं अगोचर है। इसकी आन्तरिक संरचना एवं बनावट के विषय में भूगर्मशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है, कारण कि उनके अध्ययन के आधार अलग–अलग हैं।

1.4.1 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के ज्ञान के स्रोत –

सामान्यतः पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की जानकारी देने वाले स्रोतों एवं साधनों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है – 1. अप्राकृतिक साधन, 2. पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित परिकल्पनाओं/सिद्धान्तों के प्रमाण, 3. प्राकृतिक साधन।

1.4.1.1 अप्राकृतिक साधन –

(अ) घनत्व

भूवैज्ञानिकों ने पृथ्वी की आन्तरिक संरचना को 'प्याज की संरचना' की तरह माना है तथा ऊपरी, मध्यवर्ती एवं अन्तरतम भागों को क्रमशः भूपर्पटी, मैण्टिल एवं क्रोड नाम दिया है। भूपर्पटी या क्रस्ट अवसादी शैलों से निर्मित है। इसकी मोटाई आधा मील से लेकर कई मील तक मानी गई है। इस अवसादी सतह के नीचे मैण्टिल है। यह चट्टानी परत रवेदार स्फटिक शिलाओं से निर्मित है जिसमें कुछ भारी पदार्थ भी निहित है। मैण्टिल के नीचे क्रोड (अन्तरतम) की अवस्थिति है जो अत्यधिक भारी पदार्थों से निर्मित है। उपग्रहीय परिकलन के अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी का औसत घनत्व $5.517 gem^{-3}$ है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि धरातलीय चट्टानों (क्रस्ट) का घनत्व 5517 gem^{-3} से कम होगा जबकि क्रोड (अन्तरतम) का घनत्व 5.517 gem^{-3} से अधिक होगा। उपग्रहीय परिकलन में धरातल का घनत्व 2.6 से 3.3 gem^{-3} के मध्य तथा क्रोड का घनत्व 11 gem^{-3} बताया गया है। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि जैसे–जैसे धरातलीय सतह से अन्तरम की ओर बढ़ते हैं, चट्टानी पर्तों का घनत्व बढ़ता जाता है। यह बढ़ता हुआ घनत्व मात्र अन्तरतम की ओर बढ़ते दबाव के कारण नहीं है, बल्कि अन्तरतम स्वयं भारी खनिजों से निर्मित है और इसका घनत्व सर्वाधिक है।

(ब) दबाव –

प्रारम्भिक विवेचनाओं के आधार पर भूवैज्ञानिकों ने यह बताया था कि पृथ्वी की सतह से अन्तरतम को ओर जाने पर क्रमशः शैलों का भार एवं दबाव बढ़ता जाता है, जो अन्तरतम में सर्वाधिक होता है। इस तरह यह प्रमाणित किया गया था कि – 'पृथ्वी के अन्तरतम का सर्वाधिक घनत्व वहाँ उपस्थित चट्टानों के सर्वाधिक दबाव के कारण ही है।' परन्तु आधुनिक प्रयोगों के निष्कर्ष यह तथ्य प्रतिपादित करते हैं कि– 'प्रत्येक शैल की घनत्व धारण की एक सीमा होती है, जिसके आगे कितना भी दबाव बढ़े लेकिन उसका घनत्व नहीं बढ़ सकता।' इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'पृथ्वी के अन्तरतम का सर्वाधिक घनत्व मात्र सर्वाधिक दबाव के कारण नहीं है, बल्कि अन्तरतम (क्रोड) स्वयं ऐसी शैलों का बना हुआ है जिसके पदार्थ स्वयं में भारी एवं अधिक घनत्व वाले हैं। विभिन्न प्रयोगों से मान लिया गया है कि पृथ्वी का अन्तरतम निकिल एवं लौह पदार्थों वाला है। ये दोनों ही पदार्थ चुम्बकीय हैं और पृथ्वी की चुम्बकीय दशा को भी प्रमाणित करते हैं।

(स) तापक्रम –

उपलब्ध विवरणों के आधार पर यह माना जाता है कि 'पृथ्वी की सतह से गहराई की ओर नीचे जाने पर तापमान बढ़ता जाता है'। तापमान बृद्धि का यह दर औसतन 2.5^0c प्रति 100 मीटर होती है। तापमान बृद्धि की इस दर से यदि आकलन किया जाय तो 100 किलोमीटर की गहराई के बाद तापमान इतना बढ़ जायगा कि कोई भी शैल ठोस अवस्था में नहीं रह सकती इस प्रकार 'पृथ्वी का अन्तरतम ठोस न होकर द्रव अवस्था में होगा'। परन्तु यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'बढ़ती हुई गहराई के साथ तापमान में बृद्धि की यह औसत दर घटती जाती है।' भूताप ग्राफ के आधार पर किए गए वैज्ञानिक परीक्षण यह बताते हैं कि–

1. पृथ्वी की सतह से 100 किलोमीटर की गहराई पर तापमान लगभग 1100^0cसे है।
2. 400 किलोमीटर की गहराई पर तापमान लगभग 1500^0cहोता है।
3. 700 किलोमीटर की गहराई पर तापमान लगभग 1900^0c होता है।
4. 2900 किलोमीटर की गहराई पर तापमान लगभग 3700 c होता है।
5. अन्तरतम की सीमा अर्थात् 5100 किलोमीटर की गहराई पर तापमान लगभग 4300 c होता है।

इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 100 किलोमीटर की गहराई के बाद अन्तरतम तक पृथ्वी की शैलें पिघली हुई अवस्था में होंगी। परन्तु यह तथ्य भी पूर्ण रूपेण सत्य नहीं है, कारण कि बढ़ता हुआ दबाव चट्टानों के गलनांक को बढ़ा देता है।' फिर भी इतना तो तय है कि पृथ्वी का अन्तरतम (क्रोड) सदैव पिघली अवस्था में

रहेगा, जब कि इस धातु निर्मित अन्तरतम के चारों ओर की शैलें (मैण्टिल) बढ़ते हुए दबाव के कारण गलनांक बढ़ने से पिघलने की अवस्था में रहेंगी जब कि क्रस्ट (भूपर्पटी) ठोस अवस्था में रहेगा। विद्वानों का अनुमान है कि ज्वालामुखी क्रियाओं का सम्बन्ध क्रस्ट से ही है, कारण कि इसी परत में रेडियों सक्रिय तत्वों (यूरेनियम, थोरियम, पोटेशियम आदि) का बाहुल्य है। इन तत्वों के आणविक विघटन से ही अत्यधिक ऊष्मा का जनन होता है अन्ततः ज्वालामुखी क्रियाओं को जन्म देता है।

निष्कर्ष रूप में यहाँ यह कहना समीचीन है कि मात्र घनत्व, दबाव एवं तापक्रम का ज्ञान पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के अध्ययन के लिए पर्याप्त नहीं है।

1.4.1.2 पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित परिकल्पनाओं/सिद्धान्तों के प्रमाण –

पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं/सिद्धान्तों के अनुशीलन से भी पृथ्वी की आन्तरिक संरचना सम्बन्धी जानकारी मिलती है, यथा –

1. इमैनुअल काण्ट ने अपनी 'वायव्य राशि परिकल्पना' में पृथ्वी के अन्तरतम को गैसीय माना। जोयपरिज तथा स्तर ने भी पृथ्वी के अन्नरतम को गैस का बना हुआ माना है। किन्तु यदि ऐसा होता तो पृथ्वी अब तक गुब्बारे की भाँति पिचक गई होती है।
2. लाप्लाश ने अपनी 'निहारिका परिकल्पना में पृथ्वी के अन्तरतम को तरल अवस्था में माना है।
3. चैम्बरलिन ने अपनी 'ग्रहाणु परिकल्पना' में पृथ्वी के अन्तरतभ को ठोस माना है।
4. जेम्स जीन्स ने अपनी 'ज्वारीय परिकल्पना' में पृथ्वी के अन्तरतम को तरल माना है। यह सच है कि गहराई में जाने पर तापमान में बृद्धि से वहाँ के पदार्थ तरल अवस्था में आ जायेंगे, किन्तु यह भी सच है कि ज्वार के समय पृथ्वी एक ठोस पिण्ड के रूप में व्यवहार करती है।

वास्तविकता यह है कि इन सभी मतों से पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता कारण कि ये सभी साक्ष्य स्वयं में भ्रामक हैं।

1.4.1.3 प्राकृतिक साधन –

(अ) ज्वालामुखी उद्‌गार –

ज्वालामुखी उद्‌गार पृथ्वी की आन्तरिक संरचना को पहचानने वाली वह क्रिया है जिससे यह तथ्य स्पष्ट नजर आता है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में एक ऐसी परत अवश्य है जो हमेशा तरल मैगमा (पिघला हुआ लावा+गैसें+ वाष्प+अन्य पदार्थ) के रूप में रहती है और ज्वालामुखी उद्‌गारों के समय इसी तरल परत से तप्त (पिघला हुआ) मैगमा धरातल पर प्रगट होता है। लेकिन यह भी तथ्य है कि, 'अत्यधिक दबाव के कारण चट्‌टानें पिघलती नहीं है, कारण कि बढ़ता हुआ दबाव चट्‌टानों के गलनांक को बढ़ा देता है'। यदि

यह तथ्य मान लिया जाय, तो पृथ्वी का आन्तरिक भाग ठोस होगा, न कि तरल। लेकिन यह भी संभव हो सकता है कि जब कभी–कभी पृथ्वी की ऊपरी सतह पर दरारें पड़ जाती हैं, तो दरारों के पड़ जाने से चट्टानों का ऊपरी दबाव कम हो जाता है। दबाव कम होते ही चट्टानों का गलनांक बिन्दु गिर जाता है और चट्टानें पिघलकर उन्हीं दरारों/छिद्रों के माध्यम से ज्वालामुखी उद्गार के रूप में प्रगट हो जाती हैं। यदि इस संभावना को मान लें तो कहा जा सकता है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में कोई स्थाई तरल परत नहीं है। परिस्थितिजन्य तरलता ज्वालामुखी उद्गारों का कारण हो सकती है। कुल मिलाकर ज्वालामुखी क्रिया पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की जानकारी देने के लिए पर्याप्त नहीं है।

(ब) भूकम्प एवं भूकम्प विज्ञान –

वर्तमान समय में 'भूकम्प एवं भूकम्प विज्ञान' वह प्रत्यक्ष प्राकृतिक स्रोत है जिसके माध्यम से पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की सबसे अधिक जानकारी प्राप्त होती है। इस सन्दर्भ में भूकम्प विज्ञान से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों एवं तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है –

1. जिस स्थान से पृथ्वी में कम्पन उत्पन्न होता है, उसे भूकम्प मूल कहते हैं।
2. जिस स्थान पर पृथ्वी में सबसे पहले भूकम्प का अनुभव किया जाता है, उसे भूकम्प अधिकेन्द्र कहते हैं।
3. वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार–जब किसी लचीली वस्तु के किसी बिन्दु पर प्रहार या बल प्रयोग किया जाता है तो परिणामस्वरूप दो प्रकार की तंरगे उत्पन्न होती हैं – (अ) लम्ब तंरगे, इन्हें संकुचन लहरें भी कहते हैं; (ब) आड़ी लहरें; इन्हें विकृति लहरें भी कहते हैं। इस प्रकार भूकम्प मूल पर प्रत्यास्थ विकृति ऊर्जा के मुक्त होने से भूकम्पीय तंरगों की उत्पत्ति होती है। भूकम्प विज्ञान में इन लहरों को तीन श्रेणियों **(चित्र 1.4)** में वर्गीकृत किया गया है –

चित्र 1.4

1– प्राथमिक अथवा अनुदैर्ध्य लहरें Primary Wave–

ध्वनि की लहर के समान चलने वाली इन भूकम्पीय लहरों में कणों की गति लहर की रेखा की सीध मे होती है। इन्हें 'p' लहर (Primary Wave) भी कहते हैं। सर्वाधिक बेगवान की यह लहर ठोस भाग में अत्यधिक गति से अधिक गहराई तक प्रवाहित होती है, किन्तु तरल भाग में अत्यधिक दुर्बल होने के कारण इनकी गति कम होने लगती है।

2– गौण या आड़ी लहरें Secondary Wave–

इन्हें 'S' लहर (Secondary Wave) भी कहते हैं। जल तरंगों या प्रकाश तरंगों के समान चलने वाली इन लहरों में कणों की गति लहर की दिशा के समकोण पर होती है; इसीलिए इन्हें आड़ी लहरें भी कहते हैं। ये लहरे भी ठोस भाग में अत्यधिक गहराई तक प्रवेश करती हैं, लेकिन तरल भाग में प्रायः लुप्त (समाप्त) हो जाती हैं।

3– धरातलीय लहरें Secondary Wave–

स्वभाव से प्रचण्ड और परिणाम में सर्वाधिक प्रभावशाली ये लहरें धरातल के केवल ऊपरी भाग कोही प्रभावित करती हैं। इनकी गति सबसे कम होती है, लेकिन इनका आवृत्ति काल सभी लहरों से लम्बा होता है, इसीलिए इन्हें (Long Periol waves) भी कहते हैं।

भूकम्प के आने पर सीममोग्राफ (भूकम्प लेखन यंत्र) की सहायता से भूकम्प केन्द्र पर इन लहरों का अंकन किया जाता है। सतह पर स्थापित भूकम्प लेखन केन्द्र पर ये तीनों लहरें एक समय में नहीं पहुँचती। सर्वप्रथम कम्पन 'P' लहर द्वारा होता है। इसे प्राथमिक कम्पन कहते हैं। कुछ अन्तराल पर 'S' लहरें आती हैं। इन्हें द्वितीय कम्पन कहते हैं। सबसे अंत में 'L' लहरें आती हैं। इन्हें मुख्य कम्पन कहते हैं। इस समय कम्पन अधिक संयत एवं लम्बी अवधि वाला होता है।

भूकम्पीय तरंगों की गति एवं भ्रमण पथ के आधार पर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की जानकारी –

अपने स्वभाव के अनुसार–'भूगर्भ में भूकम्पीय लहरें समान घनत्व एवं एक ही स्वाभव वाले ठोस भाग में एक सीधी रेखा में सीधे मार्ग में चलती हैं।' यदि पृथ्वी का आन्तरिक भाग ठोस एवं एक ही प्रकार की घनत्व वाली चट्टानों से निर्मित होता तो भूकम्पीय तरंगे पृथ्वी के क्रोड (अन्तरतम) तक एक सीधी रेखा में पहुँच जाती। लेकिन भूकम्प केन्द्र पर सीसमोग्राफ द्वारा लहरों के अंकन से स्पष्ट होता है कि इन लहरों का मार्ग पृथ्वी के भीतर सीधा न होकर वक्राकार होता है जैसे–जैसे गहराई के साथ लहरों का वेग बढ़ता जाता है, इनका मार्ग सतह की ओर नतोदर एवं भीतर की ओर उन्नतोदर होता जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि– 'पृथ्वी के आन्तरिक भाग के घनत्व में भारी अन्तर है। घनत्व की यह भिन्नता ही लहरों के मार्ग को परावर्तित कर देती है; परिणाम स्वरूप उनका मार्ग वक्राकार हो जाता है चूँकि क्रोड में ये लहरें वक्राकार होकर सतह की ओर अवतल (नतोदर) हो जाती हैं, इससे यह स्पष्ट होता है कि जैसे–जैसे सतह से पृथ्वी के अन्तरतम की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे–वैसे घनत्व बढ़ता जाता है।

ओल्डहम (1909 ई०) के अनुसार– भूकम्प केन्द्र से 120^0 की दूरी लगभग 2900 किलोमीटर की गहराई में 'P' लहरें अत्यन्त कमजोर हो जाती हैं और 'S' लहरें पूर्णतया अदृश्य हो जाती हैं (चित्र 1.5)। इससे यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी का केन्द्रीय भाग या तो द्रव जैसे पदार्थों का है अथवा विशेष रूप से लचीला एवं द्रव जैसा व्यवहार करता है। इस

आधार पर वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी का अन्तरतम भारी घनत्व एवं चुम्बकत्व वाले लौह एवं निकिल जैसे पदार्थों से निर्मित है।

भूकम्प वैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषणों के आधार पर तीन युग्म लहरों का भी पता लगाया है– (1) 'P तथा S लहर'– इनकी गति सबसे अधिक होती है; (2) 'Pg तथा Sg लहर'– इनकी गति सबसे कम होती है; (3) 'P तथा S लहर– इनकी गति प्रथम दो युग्म लहरों के मध्य होती है। इस प्रकार इन युग्म लहरों की गति के आधार पर वह तथ्य स्पष्ट होता है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तीन जगहों पर उनकी गति में अन्तर आता है। गति का यह अन्तर इंगित करता है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तीन जगहों पर घनत्व में अन्तर आता है। तीन जगहों पर घनत्व का यह अन्तर आन्तरिक भाग में तीन परतों की उपस्थिति को इंगित करता है –

प्रथम परत –

विद्वानों के अनुसार–यह पृथ्वी की ऊपरी परत है जो ग्रेनाइट चट्टानों से निर्मित है और जिसका सबसे ऊपरी भाग परतदार शैलों से निर्मित है। इसमें Pg तथा Sg युग्मलहर प्रवाहित होती है तथा इसका घनत्व 2.7 है।

मध्यवर्ती परत –

विद्वानों के अनुसार–पृथ्वी के आंतरिक भाग में एक मध्यवर्ती परत है जिसका घनत्व 3 है। सम्भवतः यह बेसाल्ट या एम्फीबोलाइट की बनी है। इसमें P तथा S युग्मलहर प्रवाहित होती है। इसकी मोटाई 20 से 30 किलोमीटर है।

निचली परत –

इसमें P तथा S युग्मलहर प्रवाहित होती है, जिससे यह आभास होता है कि यह परत डूनाइट एवं पीरिडोटाइट जैसी अधिक घनत्व वाली शैलों से निर्मित है। धरातल से इसकी गहराई लगभग 2900 किलोमीटर है।

1.4.2 पृथ्वी का आन्तरिक स्तरीकरण –

विभिन्न विद्वानों ने पृथ्वी के आन्तरिक भाग के स्तरीकरण, उनकी संरचना, रासायनिक संगठन, घनत्व एवं गहराई आदि के विषय में अपने–अपने मत प्रस्तुत किए हैं, लेकिन इनके मतों में पर्याप्त भेद है। संक्षेप में कुछ मतों का विवरण निम्नवत् है –

(1)– स्वेस का मत –

स्वेस के अनुसार पृथ्वी का सबसे ऊपरी भाग (क्रस्ट) परतदार शैलों से निर्मित है। खासकर सिलीकेट पदार्थों से बनी इस परत में फेल्सपार एवं अभ्रक जैसे खनिजों की बहुलता है। इसकी मोटाई एवं घनत्व बहुत कम है। इस परत (क्रस्ट) के नीचे तीन परतें विद्यमान हैं–(1) सियाल, (2) सीमा, (3) निफे (चित्र 1.6)।

चित्र 1.6

(1) सियाल– भूपटल के ऊपरी भाग (क्रस्ट) के नीचे मिलने वाली यह प्रथम परत ग्रेनाइट शैलों से निर्मित है। इसमें सिलिका एवं एल्यूमिनियम तत्वों की प्रधानता है, इसीलिए इसे सियाल (Si+al) कहा जाता है। इसकी औसत गहराई 50 मीटर से 300 किलोमीटर तक है, तथा औसत घनत्व 2.9 है। इसमें अम्लीय पदार्थों की बहुलता होती है। महाद्वीपों की रचना इसी परत से हुई मानी जाती है।

(2) सीमा– सियाल के नीचे मिलने वाली यह दूसरी परत है जिसे सीमा कहते हैं। यह बेसाल्ट आग्नेय शैलों से निर्मित है। इसमें सिलिका एवं मैगनीशियम तत्वों की प्रधानता है, इसीलिए इसे सीमा (Si+Ma) कहा जाता है। इसकी औसत गहराई 1000 किलोमीटर से 2000 किलोमीटर तक है, तथा औसत घनत्व 2.9 से 4.7 है। इसमें क्षरीय प्रदार्थों की बहुलता होती है। महासागरीय तली की रचना इसी परत से हुई मानी जाती है।

(3) निफे– सीमा की परत के नीचे पृथ्वी के अन्तरतम में विस्तृत यह अंतिम परत है जिसे निफे कहते हैं। यह परत कठोर चुम्बकीय धातुओं से निर्मित है। इसमें निकिल तथा फेरियम तत्वों की प्रधानता है, इसीलिए इसे निफे (Ni+Fe) कहा जाता है। अन्तरतम में इस परत का व्यास लगभग 6880 किलोमीटर है तथा घनत्व 11 है। पृथ्वी का चुम्बकीय गुण और स्थिरता इसी परत के कारण है।

(2)– होम्स का मत –

साधारणीकरण करते हुए होम्स ने पृथ्वी के आन्तरिक भाग के दो परतों का बना हुआ माना है– (1) क्रस्ट, (2) सबस्ट्रैटम।

(1)– क्रस्ट– क्रस्ट के अन्तर्गत होम्स ने सम्पूर्ण सियाल परत एवं सीमा के ऊपरी भाग को सम्मिलित किया है; अर्थात् क्रस्ट =सीयाल+ का 50 प्रतिशत (ऊपरी भाग)।

(2)– सबस्ट्रैटम– सबस्ट्रैटम के अन्तर्गत होम्स ने सीमा के निचले भाग को सम्मिलित किया है। इसे आन्तरिक आवरण या अघःस्तर भी कहा जाता है।

होम्स के अनुसार विभिन्न प्रमाणों एवं साधनों के आधार पर महाद्वीपों के नीचे सियाल की गहराई –

1. **तापीय प्रमाणों के आधार पर –** 20 किलोमीटर तक या कम
2. **भूकम्प की धरातलीय तरंगों के आधार पर :** 15 किलोमीटर से अधिक।
3. **भूकम्प की प्राथमिक (P) तरंगों के आधार पर :** 20 किमी० के मध्य।
4. **सबसे गहरी भूसन्नति के धँसाव की गहराई के आधार पर :** 20 किलोमीटर से अधिक।

(3) डैली का मत – डैली ने पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तीन परतों की उपस्थिति मानी है –

1.वाह्य भाग – खासकर सिलीकेट पदार्थों से निर्मित यह परत लगभग 1600 किलोमीटर मोटी है, और इसका औसत घनत्व 3 है।

2. मध्य भाग – लोहे एवं सिलीकेट तत्वों के मिश्रण से निर्मित यह परत वाह्य भाग के नीचे एवं केन्द्रीय भाग के ऊपर पाई जाती है। इसकी मोटाई लगभग 1280 किलोमीटर एवं घनत्व 4.5 से 9 तक है।

3. केन्द्रीय भाग – यह सबसे नीचे की अन्तिम परत है जिसकी रचना में लौह पदार्थों का बाहुल्य है। इस परत का ब्यास 7040 किलोमीटर एवं घनत्व 11.6 है।

(4) जेफरीज का मत –

भूकम्पीय तरंगों के आधार पर जेफरीज ने पृथ्वी के आन्तरिक भाग में चार परतों की उपस्थिति मानी है –

1. **प्रथम परत–** यह वाह्य परत है जिसका निर्माण अवसादी शैलों से हुआ है।
2. **द्वितीय परत–** इस परत की संरचना में ग्रेनाइट शैलों की प्रधानता है।
3. **तृतीय परत–**यह मध्यवर्ती परत है जो डायोराइट या थैचीलाइट से निर्मित है।
4. **चतुर्थ परत–** यह अन्तिम केन्द्रवर्ती परत है जिसकी संरचना में डूनाइट, पेरिडोटाइट एवं इक्लोजाइट चट्टानों की प्रधानता है।

(5) वानडर ग्राट का मत –

वानडर ग्राट ने लिंग और गुटेनवर्ग के विचारों का अनुसरण करते हुए पृथ्वी के आन्तरिक भाग में चार परतों की उपस्थिति को स्वीकार किया है –

1. ऊपरी (सियाल) क्रस्ट– इस परत का घनत्व 2.75 से 2.9 है। इसकी मोटाई महाद्वीपों के नीचे 60 किलोमीटर, आन्ध्र महासागर के नीचे 20 किलोमीटर एवं प्रशान्त महासागर के नीचे नगण्य है। इसमें सिलिकेट पोटेशियम, सोडियम एवं एल्यूमिनियम तत्वों की प्रधानता है।

2. आन्तरिक सिलीकेट तथा मैण्टिल (सीमा)– इस परत का घनत्व 3.1 से 4.75 है। इसकी मोटाई 60 किलोमीटर से 1140 किलोमीटर तक है। इसमें सिलीकेट, कैलशियम एवं मैगनीयम तत्वों की प्रधानता है।

3. सिलिकेट तथा मिश्रित धातुओं की परत– इस परत का घनत्व 4.75 से 5.0 है। इसकी मोटाई 1140 किलोमीटर से 2900 किलोमीटर तक है। इसमें लोहा, निकिल एवं मैगनीशियम तत्वों की प्रधानता है।

4. धातु केन्द्र– इसका निर्माण लौह तत्वों से हुआ है। इसकी मोटाई 2900 किलोमीटर से 6371 किलोमीटर (केन्द्र) तक है तथा घनत्व 11 है।

(6) अभिनव मत –

इस मत में प्राकृतिक तथा मानवकृत भूकम्पीय लहरों की गति एवं उनके भ्रमण पथ के वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण को आधार बनाकर पृथ्वी के अन्तरतम को तीन बृहद मण्डलों में विभाजित किया गया है– (1) क्रस्ट, (2) मैण्टिल, (3) अन्तरतम इसे निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है –

बृहद् मण्डल		घनत्व
1. क्रस्ट	ऊपरी क्रस्ट	2.8
	निचला क्रस्ट	3.7
	मोहो असम्बद्धता से 200 किमी० की गहराई तक का भाग	
2. मैण्टिल	मोहो असम्बद्धता से 200 किमी० से 700 किमी० की गहराई तक का भाग	औसत घनत्व 5.5
	मोहो असम्बद्धता से 700 किमी० से 2900 किमी० की गहराई तक का भाग	
	आन्तरिक अन्तरतमः 5150 किमी० से 6371 किमी० की गहराई तक	

	का भाग	
3.	वाह्य अन्तरतमः 2900 किमी० से 5150 किमी० की गहराई तक का भाग	10.0 13.6

नोट– मैण्टिल में पृथ्वी के समस्त आयतन का 83 प्रतिशत तथा द्रव्यमान का 68 प्रतिशत भाग व्याप्त है; जब कि अन्तरतम में यह प्रतिशत क्रमशः 16 प्रतिशत एवं 32 प्रतिशत है।

1.5 सारांश –

इस प्रथम इकाई में आपने यह जाना कि धरातल के भौतिक पर्यावरण एवं उत्पन्न भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन ही भौतिक भूगोल है; साथ ही यह भी जाना कि मानव के बढ़ते ज्ञान के साथ समय–समय पर भौतिक भूगोल की परिभाषाओं में परिमार्जन भी होता रहा है। आज इक्कीसवीं सदी के इस काल खण्ड तक आते–आते यह विषय (भौतिक भूगोल) एक पूर्ण वैज्ञानिक विषय के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुका है। आज यह पृथ्वी के भौतिक वातावरण का तो अध्ययन करता ही है, साथ ही यह आधारभूत विज्ञानों का संयोजन करते हुए भौतिक वातावरण एवं मानव क्रिया–कलापों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं का भी अध्ययन करता है।

1.6 शब्द सूची –

स्थल मण्डल	Lithosphere	अधिनव	Supernova
जलमण्डल	Hydrosphere	उल्का धूलि	Meteoric Dust
वायुमण्डल	Atmosphere	निहारिका	Nebulae
जीवमण्डल	Biosphere	अन्तर तारक	Inter Steller
हिममण्डल	Cryosphere	भूकम्प विज्ञान	Seismology
ब्रह्माण्ड	Universe	अधिकेन्द्र	Epicentre
तारा मण्डल	Constellation	प्रावरण	Mantle
उपग्रह	Satellite	अन्तरतम	Core
आकाशीय पिण्ड	Cellestial Body	भूपर्पटी	Crust
उल्काएं	Meteors	अधःस्तर	Subsfatum

धूमकेतु	Comets	कोणीय आवेग	Angular Momentum
बुध	Mercury	युग्म तारा	Binary Star
शुक्र	Venus	गलनांक	Melting Point
पृथ्वी	Easth	वायव्य	Gaseous
मंगल	Mars	ग्रहाणु	Planetesimal
बृहस्पति	Jupiter	संरचना	Structure
शनि	Saturn	पारिस्थितिकीय	Ecological
अरुण	Uranus	भूकम्प मूल	Focus
वरुण	Naptune	संकुचन	Contraction

1.7 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर स्व मूल्यांकन प्रश्न –

1. सूर्य के सबसे निकट ग्रह है–

(अ) शुक्र (ब) बुध (स) मंगल (द) शनि

2. सौर मण्डल का सबसे बड़ा ग्रह है–

(अ) पृथ्वी (ब) शनि (स) बृहस्पति (द) वरुण

3. प्रसिद्ध दार्शनिक इमैनुअल काण्ट का सम्बन्ध था–

(अ) फ्रांस से (ब) इटली से (स) इंग्लैन्ड से (द) जर्मनी से

4. स्फीति सिद्धान्त के प्रस्तोता थे–

(अ) अलन गुथ (ब) ड्रोवीशेवस्की (स) राबर्ट वेगोनर (द)जार्ज लेमेटेयर

5. कौन सी भूकम्प तरंग धरातल पर सबसे पहले पहुँचती है?

(अ) पी (P) तरंग (ब) एस (S) तरंग (स) एल (L) तरंग (द) कोई नहीं

आदर्श उत्तर –

1. (ब) 2. (स) 3. (द) 4. (अ) 5. (अ)

1.8 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें –

Gardener, J.S., (1977) : 'Physical Geography,' Harper and Row Publishers, New York.

Holms, A. (1975) : 'Principles of Physical Geography,' Thomas Nelson and Sons Ltd. London.

लाल०डी०एस० (2012) : 'भौतिक भूगोल,' शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, Lobeck, A.K., (1939) : 'Geomorphology', Mc Graw Hill Book Company, New York.

पाण्डेय, रामदत्त, (1976) : 'प्राकृतिक भूविज्ञान', हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाच मोचन, वाराणसी।

सिंह, कामेश्वरनाथ एवं सिंह, जगदीश, (1999) : 'भौतिक भूगोल,' ज्ञानोदय प्रकाशन, दाउदपुर, गोरखपुर।

सिंह, सविन्द्र, (2018) : 'भौतिक भूगोल का स्वरूप', प्रवालिका पब्लिकेशन्स, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद।

Strahlar, A.N., (1961) : 'Introduction to Physical Geography,' John wiley & Sons, New York.

वातल, मीारा, (1988) : भौतिक भूगोल के आधार ; सेन्टूल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

1.9 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षण की तैयारी हेतु)

1. भौतिक भूगोल के अर्थ एवं विषय क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
2. द्वैतारक सिद्धान्त का क्या तात्पर्य है? किन्ही दो महत्वपूर्ण द्वैतारक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
3. पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी किसी एक अद्वैतवादी संकल्पना की समीक्षा कीजिए।
4. अप्राकृतिक साधनों के आधार पर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का विवरण दीजिए।
5. भूकम्पीय साक्ष्यों के आलोक में पृथ्वी के आन्तरिक भाग का वर्णन कीजिए।
6. प्राकृतिक साधनों के आधार पर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
7. पृथ्वी के आन्तरिक स्तरीकरण पर विभिन्न विद्वानों के मतों का व्याख्यात्मक विवरण दीजिए।

UGGO - 101भौतिक भूगोल

इकाई 2– भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियाँ, महाद्वीपों एवं महानगरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त।

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियाँ

2.2.1 अन्तर्जात शक्तियाँ

2.2.1.1 आकस्मिक अन्तर्जात शक्तियाँ

2.2.1.2 पटल विरूपणकारी शक्तियाँ

2.2.2 बहिर्जात शक्तियाँ

23 महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त

2.3.1 महाद्वीपों एवं महासागरों के स्वरूप एवं वितरण सम्बन्धित तथ्य एवं विशेषताएं

2.3.2 महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त

2.3.2.1 लोथियन ग्रीन की चतुष्फलक परिकल्पना

2.3.2.2 टेलर की महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना

2.3.2.3 वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त

2.3.2.4 प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त

2.4 सारांश

2.5 शब्द सूची

2.6 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर

27 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

2.8 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

2.0 प्रस्तावना –

भौतिक भूगोल के लिए लेखन की यह इकाई भूगोल में आधार पाठ्यक्रम UGGO-101 के प्रथम खण्ड की द्वितीय इकाई है। इस इकाई में आप भूपटल परिवर्तकारी शक्तियों तथा महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। भौतिक भूगोल में पृथ्वी की उत्पत्ति एवं उसकी आन्तरिक संरचना के अध्ययन के बाद यह एक महत्वपूर्ण अध्ययन है। इस अध्ययन के माध्यम से आप समझ सकेंगे कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद से लेकर अब तक भूपटल पर जो परिवर्तन हुए हैं, उनके लिए कौन सी शक्तियाँ उत्तरदायी हैं? इन शक्तियों का स्रोत क्या है? ये किस प्रकार कार्य हैं? वस्तुतः भूपटल पर दो प्रकार की शक्तियाँ हमेशा क्रियाशील रहती हैं। कुछ शक्तियाँ स्वयं भूगर्भ से उत्पन्न होती हैं जिन्हें अन्तर्जात शक्तियाँ कहा जाता है, जब कि कुछ पृथ्वी के बाहर से क्रियाशील रहकर भूपटल पर परिवर्तन लाती हैं। ये वाह्य शक्तियाँ होती हैं। इस इकाई के अध्ययन से आप यह भी ज्ञान प्राप्त करेंगे कि कुछ अन्तर्जात शक्तियाँ आकस्मिक होती हैं जैसे भूकम्प एवं ज्वालामुखी शक्तियाँ; जब कि कुछ

धीमी गति से लेकिन अनवरत क्रियाशील रहती हैं। पर्वत निर्माणकारी एवं महादेश जनक शक्तियाँ इसी वर्ग की शक्तियाँ हैं। यह इकाई आपको यह भी समझने में सहायता करेगी कि अपक्षय एवं अपरदन की शक्तियाँ ऐसी बहिर्जात शक्तियाँ हैं जो अन्तर्जात शक्तियों द्वारा धरातल पर उत्पन्न असन्तुलन को दूर करने के लिए सतत् प्रयलशील रहती हैं।

इस इकाई में आप महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों का भी अध्ययन करेंगे। भौतिक भूगोल के अध्ययन में यह विषय भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इतने विशाल महाद्वीप एवं महासागर कैसे बने? इन्हें यह वर्तमान स्वरूप एवं आकार कैसे प्राप्त हुआ? क्या भविष्य में भी इनके स्थान एवं स्वरूप में परिवर्तन की संभावना है? ये कुछ ऐसे कौतूहलपूर्ण प्रश्न हैं जिनका उत्तर आपको सहज ही तार्किक ढंग से इस इकाई के माध्यम से प्राप्त हो सकेगा।

2.1 उद्देश्य –

भूगोल में आधार पाठ्यक्रम UGGO-101 भौतिक भूगोल के प्रथम खण्ड की यह द्वितीय इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- पृथ्वी की अन्तर्जात शक्तियों के कार्य एवं स्वरूप को समझ सकेंगे,
- बहिर्जात शक्तियों, यथा–बहता हुआ जल (नदी), पवन, हिमनद एवं भूमिगत जल के अपरदन एवं निक्षेपण कार्यों को जान सकेंगे,
- महाद्वीपों एवं महासागरों के वर्तमान स्वरूप एवं वितरण का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे,

- महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैचारिक विविधता को समझ सकेंगे,

- महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों की उपादेयता को सहज ही जान सकेंगे।

2.2 भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियाँ –

भूपटल सदैव से ही परिवर्तनशील रहा है। इस परिवर्तन का प्रमुख कारण वे शक्तियाँ हैं जो पृथ्वी तथा उसके वायुमण्डल की उत्पत्ति के साथ ही निरंतर क्रियाशील रही हैं। इन भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियों के मूलतः दो स्रोत हैं– (1) पृथ्वी का आन्तरिक भूभाग जहाँ ये शक्तियाँ अदृश्य रूप में क्रियाशील रहती हैं। इन्हें अन्तर्जात शक्तियाँ कहा जाता है। (2) पृथ्वी का वाह्य भूभाग, जहाँ दृश्यरूप में क्रियाशील रहती हैं। इन्हें बहिर्जात शक्तियाँ कहा जाता है। अदृश्यरूप में क्रियाशील आन्तरिक शक्तियों से भूपटल पर असमानताओं का सूत्रपात होता है, जब कि दृश्यरूप में क्रियाशील वाह्य शक्तियाँ आन्तरिक शक्तियों द्वारा भूपटल पर उत्पन्न असमानताओं को दूर करने का लगातार प्रयास करती रहती हैं। थार्नबरी (1969) ने इन दोनों शक्तियों को 'श्वाकृतिक प्रक्रम' कहा है, जिनके द्वारा भूपटल पर विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियों का जन्म होता है।

2.2.1 अन्तर्जात शक्तियाँ –

भूगर्म से उत्पन्न होने वाली शक्तियों को अन्तर्जात शक्तियाँ, कहा जाता है। इन शक्तियों के चलते पृथ्वी में दो प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें क्रमश : 'क्षैतिज' एवं 'लम्बवत' गतियों के नाम से जाना जाता है। आन्तरिक ताप ह्रास, भीतरी शैलों का प्रसार एवं संकुचन, संवाहन तरंगों द्वारा द्रव प्रदार्थों का स्थानान्तरण, रेडियोधर्मी पदार्थों का विघटन एवं आन्तरिक दबाव आदि इन गतियों की उत्पत्ति के प्रमुख कारण हैं। इन गतियों की वजह से भूपटल पर अल्पकालिक एवं दीर्धकालिक परिवर्तन होते रहते हैं। गति की तीव्रता के आधार पर अन्तर्जात शक्तियों को दो भागों में बाँटा जाता है – (1) आकस्मिक अन्तर्जात शक्तियाँ, (2) पटल विरूपणकारी शक्तियाँ।

2.2.1.1 आकस्मिक अन्तर्जात शक्तियाँ –

ये शक्तियाँ अपेक्षाकृत तीब्र होती हैं और इनसे भूपटल पर अचानक तेजी से क्रान्तिकारी परिवर्तन या प्रलय जैसा दृश्य घटित हो जाता है। आकस्मिक अन्तर्जात शक्तियाँ प्रायः दो रूपों में घटित होती हैं– (अ) भूकम्प, (ब) ज्वालामुखी।

(अ) भूकम्प –

इस अन्तर्जात शक्ति के कारण भूपटल पर भीषण विध्वंस दृष्टिगोचर होता है। नदियों के मार्ग बदल जाते हैं, गहरे खड्ड उत्पन्न हो जाते हैं, कुछ क्षणों के ही अन्तर

भूतल पर झील एवं सागरों में द्वीप आदि का निर्माण हो जाता है एवं अपार जन–धन की हानि हो जाती है।

(ब) ज्वालामुखी –

ज्वालामुखी के उद्‌गार एवं विस्फोट से भूपटल पर अचानक भारी परिवर्तन हो जाते हैं। आन्तरिक भाग में लावा के प्रसार से बैथोलिथ, लैकोलिथ, फैकोलिय, लोपोलिथ, सिल एवं डाइक जैसी भू–आकृतियों का जन्म होता है, जब कि धरातलीय भू–भाग में लावा पठार, लावा मैदान एवं विभिन्न प्रकार के लावा शंकुओं का जन्म होता है।

2.2.1.2 पटल विरूपणकारी शक्तियाँ –

पृथ्वी के आन्तरिक भाग में अत्यन्त धीमी गति से कार्य करने वाली शक्तियों को पटलविरूपणकारी शक्तियाँ कहते हैं। ये शक्तियाँ लम्बवत एवं क्षैतिज दोनों ही दिशाओं में गतिशील होती हैं और इनके प्रभाव हजारों वर्षों बाद वृहद् क्षेत्र में दिखाई देते हैं। क्षेत्रीय विस्तार एवं घटनाक्रम के दृष्टिकोण से इन्हें दो वर्गों में बाँटा जाता है– (अ) महादेशजनक शक्तियाँ, (ब) पर्वत निर्माणकारी शक्तियाँ।

(अ) महादेशजनक शक्तियाँ –

ग्रीक भाषा के दो शब्दों (Epeiros : महाद्वीप Genesis : उत्पत्ति) से मिलकर बना 'Epeirogenetic' शब्द वास्तव में बृहद् या महाद्वीपीय स्तर के संचलन का बोध कराता है। इसके अन्तर्गत महाद्वीपों में उत्थान तथा अवतलन एवं उन्मज्जन तथा निमज्जन की क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। लम्बवत दिशा में कार्य करने वाली इन शक्तियों के संचलन की दिशा के आधार पर इन्हें दो भागों में विभाजित किया जाता है– (1) उपरिमुखी शक्तियाँ, (2) अधोमुखी शक्तियाँ।

(1) उपरिमुखी शक्तियाँ –

ये शक्तियाँ लम्बवत दिशा में ऊपर की तरफ क्रियाशील होती हैं। महाद्वीपीय भागों में इन शक्तियों से घटित होने वाली प्रक्रिया दो रूपों में सम्पन्न होती है– (1) उत्थान या उभार, अर्थात् जब महाद्वीपीय खण्ड के किसी भाग की सतह अपने भाग की सतह के सापेक्ष ऊपर उठती है; (2) उन्मज्जन या निर्गमन, अर्थात् जब महाद्वीपीय तटवर्ती भाग जो पहले जलमग्न रहते हैं, सागर सतह से ऊपर उठ जाते हैं।

(2) अधोमुखी शक्तियाँ –

ये शक्तियाँ लम्बवत् दिशा में नीचे की तरफ क्रियाशील होती हैं। महाद्वीपीय भागों में इन शक्तियों से घटित होने वाली प्रक्रिया दो रूपों में सम्पन्न होती है– (1) अवतलन या धँसाव, जिसमें कोई स्थल खण्ड स्थानीय या प्रादेशिक रूप में अपनी समीपी सतह से नीचे धँस जाता है। यह क्रिया तटवर्ती भाग या महाद्वीप के बीच में कहीं भी

घटित हो सकती है, (2) निमज्जन, जिसमें सागर–तटवर्ती स्थलीय खण्ड सागर तल के नीचे जलमग्न हो जाता है। यह केवल सागर तटीय भागों या सागरीय भागों में ही सम्पन्न होती है।

(ब) पर्वत निर्माणकारी शक्तियाँ –

ग्रीफ भाषा के दो शब्दों (Oros : पर्वत+Genesis : उत्पत्ति) से मिलकर बना 'Orogenetic' शब्द वास्तव में पर्वत निर्माणकारी शक्तियों का बोध कराता है। प्रायः क्षैतिज रूप में क्रियाशील होने वाली इन शक्तियों के अन्तर्गत उन सभी प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनकी भूमिका पर्वतों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण होती है। इन शक्तियों के संचलन की दर इनकी मंद होती है कि इसके कोई भी साक्ष्य औसत मानव जीवन में दृष्टिगोचर नहीं होते। ये शक्तियाँ दो रूपों में कार्य करती हैं– (1) तनाव, (2) संपीडन

(चित्र 2.1)

(1) तनाव–

जब कोई बल या शक्ति क्षैतिज रूप में दो विपरीत दिशाओं में अपनी–अपनी दिशा में कार्य करती है, तो उसमें तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे तनाव मूलक शक्ति कहते हैं। इस शक्ति के प्रादुर्भाव से 'भूपटल विभंग' होता है तथा शैल संस्तरों में चटकनों, भ्रंशों एवं दरारों का जन्म होता है। वस्तुतः पृथ्वी की अन्तर्जात शक्तियों द्वारा भूपटल में एक तल के सहारे चट्टानों के स्थानान्तरण को 'भूपटल विभंग' कहते हैं। अर्थात् भूपटल विभंग अंतर्जात शक्तियों द्वारा उत्पन्न क्षैतिज संचलन के कारण जनित तनाव (या कभी–कभी संपीडनात्मक तनाव) का परिणाम होता है। इसमें प्रायः चट्टानों का स्थानान्तरण सामान्य ही होता है। शक्ति की प्रबलता के आधार पर इसे भी दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है– (क) चटकन, (ख) भ्रंशन।

(क) चटकन –

जब तनाव मूलक शक्ति का संचलन सामान्य होता है, तो भूपटल में केवल चटकनें ही पड़ती हैं। चट्टानों के चटके हुए स्थान को सन्धि स्थान कहते हैं जैसे–जैसे पृथ्वी के भीतरी भागों की ओर जाते हैं, वैसे–वैसे चटकनें कम होती जाती हैं और संभवतः कुछ किलोमीटर की गहराई पर 'बहाव क्षेत्र' पर समाप्त जाती हैं, कारण कि बहाव क्षेत्र में तनाव के प्रभाव का परिणाम नहीं हो पाता है।

(ख) भ्रंशन –

जब तनाव मूलक शक्ति का संचलन अधिक तीव्र होता है, तो विभंगतल के सहारे चट्टानों का स्थानान्तरण बड़े पैमाने पर होता है। इसे 'भ्रंशन' कहा जाता है। इससे उत्पन्न संरचना को भ्रंश कहते हैं। भ्रंशन से प्रभावित संस्तरों को 'भ्रंशित संस्तर' कहते हैं और जिस तल के सहारे भूपटल की चट्टानों में खण्ड़ों का स्थानान्तरण होता है, उसे 'भ्रंश तल' कहते हैं। क्षैतिज तल एवं भ्रंश तल के मध्यवर्ती कोण को 'भ्रंश नमन' कहते हैं। भ्रंश तल से जिस दिशा में संस्तर ऊपर की ओर स्थानान्तरित होते हैं, उसे 'उत्क्षेपित खण्ड' (ऊर्ध्वपात खण्ड) कहते हैं; तथा भ्रंश तल से जिस दिशा में संस्तर नीचे की ओर स्थानान्तरित होते हैं, उसे 'अधःक्षेपित खण्ड' (अधःपात खण्ड) कहते हैं। भ्रंश की ऊपरी दीवाल को 'लटकती दीवाल या शीर्ष भित्ति' कहते हैं तथा भ्रंश की निचली दीवाल को 'पादमित्ति' कहा जाता है। भ्रंश के कारण धरातलीय सतह पर बने खड़े ढाल वाले किनारे को भ्रंश कगार कहा जाता है।

(चित्र 2.2)

लम्बवत स्थान परिवर्तन की दिशा के आधार पर 'भ्रंश' को कई प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है। यथा –

(चित्र 2.3)

सामान्य भ्रंश–इसमें चट्टानों में दरार पड़ जाने के कारण उसके दोनो खण्ड विपरीत दिशाओं में सरक जाते हैं।

व्युत्क्रम भ्रंश–इसमें चट्टानों में दरार पड़ने से चट्टान के दोनो खण्ड आमने–सामने खिसकते हैं।

नतिलम्बी सर्पण भ्रंश– इसमें क्षैतिज दिशा में संचलन होने से भ्रंशतल के सहारे शैतिक्ष गति होती है।

नमन भ्रंश– इसमें भ्रंशतल नमनकोण के अनुरूप होता है।

तिर्यक भ्रंश– इसमें भ्रंशतल न तो नतिलम्ब के अनुरूप होता है औरन नमन के अनुरूप होता है।

सोपानी भ्रंश– इसमें किसी क्षेत्र में अधिक संख्या में भ्रंशों का निर्माण ढाल की एक ही दिशा के अनुरूप होता है।

विदीर्ण (कगार) भ्रंश– भूकम्पर्जात ऐसे भ्रंशों में चट्टान में लम्बवत दरार पड़ जाती है, फलतः चट्टानों में एक–दूसरे के सापेक्ष क्षैतिज खिसकाव होता है। कोई भाग ऊँचा अथवा नीचा नहीं होता।

भ्रंशन द्वारा कई प्रकार की स्थलाकृतियों का विकास होता है, यथा–होर्स्ट, खण्ड पर्वत, दरारधाटी एवं ग्राबेन याद्रोणिका (चित्र 2.4)। दरारधाटी या भ्रंश घाटी की उत्पत्ति के

लिए दो प्रकार की परिकल्पनाओं का प्रतिपादन किया गया है– (1) तनाव मूलक परिकल्पना, (2) संपीडनात्मक परिकल्पना। इस सन्दर्भ में वोबार्ड की परिकल्पना विशेष उल्लेखनीय है।

चित्र 2.4

(2) संपीडन –

जब कोई बल या शक्ति क्षैतिज रूप में आमने–सामने कार्य करती है, तो भिंचाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इसे 'संपीडन' कहते हैं और इस बल को 'संपीडनात्मक बल' कहते हैं। इस शक्ति के प्रादुर्भाव से 'भूपटल वंकन' होता है तथा शैल संस्तरों में 'संवलन' तथा 'वलन' पड़ जाते हैं। वस्तुतः भूपटलीय वंकन संपीडनात्मक बल का परिणाम होता है। अर्थात् आन्तरिक शक्तियों का जब क्षैतिज संचलन आमने–सामने होता है तो उस दशा में उत्पन्न संपीडनात्मक बल के फलस्वरूप भूपटलीय शैलों में मुड़ाव या बंकन की प्रक्रियायें सम्पन्न होती हैं। क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जाता है– (क) संवलन, (ख) वलन।

(क) संवलन – भूपटलीय बंकन के फलस्वरूप जब धरातल का विस्तृत क्षेत्र लहन के समान ऊपर–नीचे हो जाता है तो उसे संवलन कहते हैं। संवलन का प्रभाव दूर–दूर तक विस्तृत क्षेत्रों में होता है। आकृति के अनुसार संवलन तीन प्रकार का होता है– (1) उत्संवलन, (2) अवसंवलन, (3) बृहदसंवलन।

(1) उत्संवलन – जब क्षैतिज संचलन के कारण उत्पन्न सम्पीड़नात्मक बल के प्रभाव से भूपटन का कोई विस्तृत क्षेत्र उत्थित होकर विशाल गुम्बद के रूप में परिवर्तित होता है, तो ऐसी गुम्बद सदृश आकृति को उत्संवलन कहते हैं।

(2) अवसंवलन – जब क्षैतिज संचलन के कारण उत्पन्न संपीड़नात्मक बल के प्रभाव से भूपटल का कोई विस्तृत क्षेत्र नीचे की ओर मुड़कर धँस जाता है और एक बेसिन के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो ऐसी बेसिन सदृश आकृति को अवसंवलन कहा जाता है।

(3) बृहद संवलन– जब संवलन की प्रक्रिया काफी बृहद् क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सम्पन्न होती है, तो उसे बृहद संवलन से सम्बोधित किया जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों ही लक्षणों के ढाल धीमें रहते हैं।

(ख) वलन – पृथ्वी की आन्तरिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न क्षैतिज संचलन एवं तद्जनित संपीड़नात्मक बल के फलस्वरूप जब चट्टानों में लहरनुमा मोड़ पड़ जाते हैं, तो इन्हीं लहरनुमा मोड़ों को 'वलन' कहा जाता है। 'वलन' वस्तुतः शैल संरचना में एक मोड़ है, जिसका आकार प्रायः सरल एवं सामान्य होता है, परन्तु यह जटि भी हो सकता है। यह जटिलता उनको उत्पन्न करने वाले बलों के स्वरूप और उनकी तीव्रता के ऊपर निर्भर

करती है। वस्तुतः संवलन का लघु स्वरूप ही वलन है, जिसमें अपनति एवं अभिनति होती है। इन्हें निम्न रूप में समझा जा सकता है (चित्र सं० 2.5)।

अपनति – वलन के ऊपर उठे हुए भाग को 'अपनति' कहते हैं। जब अपनति के दोनों ओर के ढाल बराबर होते हैं, तो उसे 'सममित अपनति' कहते हैं; परन्तु जब दोनों ढालों में असमानता होती है, तो उसे 'असममित अपनति' कहते हैं। जब अपनति का कोण बहुत कम होता है, तो उसे 'मन्द अपनति' कहते हैं और जब अपनति का कोण अधिक होता है तो उसे 'तीव्र या खड़ी अपनति' कहते हैं। जब एक बृहद् अपनति के अन्तर्गत कई छोटी अपनतियाँ और अभिनतियाँ मिलती हैं, तो उस आकृति को 'समपनति' कहा जाता है।

अभिनति – वलन के नीचे की ओर मुड़े हुए भाग को 'अभिनति' कहा जाता है। इसकी नति एक–दूसरे की ओर झुकी हुई होती है और अभिनति के बीच में मिल जाती है। जब एक बृहद् अभिनति के अन्तर्गत कई छोटी–छोटी अपनतियाँ और अभिनतियाँ होती हैं, तो उस अभिनति को 'समभिनति' कहते हैं।

चट्टानों के लचीलेपन, उनकी कोमलता एवं संपीड़नात्मक बल की भिन्नता के कारण वलन के कई स्वरूप एवं प्रकार देखने को मिलते हैं (चित्र 2.6), यथा–

सममित वलन – इस वलन में दोनों भुजाओं का झुकाव बराबर होता है।

असममित वलन– इस वलन में दोनों भुजाओं के झुकाव एवं लम्बाई में असमानता होती है।

एकदिग्नत वलन – इसमें वलन द्वारा प्रभावित एक भुजा भूपृष्ठ से समकोण बनाती है और दूसरी भुजा साधारण झुकाव वाली होती है।

समनत वलन – इसमें वलन की दोनों भुजाएं समानान्तर होती हैं, परन्तु वे क्षैतिज दिशा में नहीं होती हैं।

परिवलित या शयान वलन – इसमें अत्यधिक सम्पीड़न के कारण वलन की दोनों भुजाएं परस्पर समान्तर होती हुई क्षैतिज दिशा में हो जाती है।

प्रतिवलन – इसमें वलन की एक भुजा दूसरे पर उलट जाती है।

अवनमन वलन – इसमें किसी एक वलन का अक्ष–क्षैतिज तल के समानान्तर न होकर उसके साथ किसी कोर्णपर स्थापित होता है।

पंखावलन – इसमें एक बृहदवलन की बृहद् अपनति या बृहद् अमिनति में अनेक छोटी–छोटी अपनतियाँ एवं अभिनतियाँ मिलती हैं, जिनकी आकृति पंखा सदृश होती हैं।

खुलावलन – इसमें वलन की दोनों भुजाओं का कोण 90^0 से अधिक परन्तु 180^0 से कम होता है।

बन्द वलन – इसमें वलन की दोनों भुजाओं के बीच निर्मित झुकाव न्यूनकोण या 90^0 से कम होता है।

ग्रीवाखण्ड या नापे – यद्यपि कि यह वलन का प्रकार नहीं है, फिर भी वलन की प्रक्रिया के दौरान अति–तीव्र क्षैतिज गति एवं सम्पीड़न का परिणाम है। इसमें परिवलित मोड़ की चट्टान का खण्ड टूटकर अपने स्थान से स्थानान्तरित हो जाता है। स्थानान्तरित होकर जिस स्थान पर यह ग्रीवाखण्ड पहुँचती है, वहाँ की चट्टानों से इसकी संरचना बिल्कुल भिन्न होती है।

2.2.2 बहिर्जात शक्तियाँ

पटल विरूपणकारी एवं आकस्मिक अन्तर्जात शक्तियों द्वारा भूपटल पर उत्पन्न विषमताओं को दूर करने का सतत् एवं दीर्घकालीन प्रयास करने वाली धरातलीय शक्तियों को 'बहिर्जात शक्तियाँ कहते हैं। यह शक्तियाँ 'समतल स्थापक' होती हैं और विविध प्रकार से अपरदन एवं निक्षेपण द्वारा ऊपर उठे हुए एवं ऊबड़–खाबड़ भागों का समतलीकरण करती रहती हैं। इनके ऐसे सभी कार्य 'अनाच्छादन' के नाम से जाने जाते हैं। अनाच्छादन के अन्तर्गत अपक्षय एवं अपरदन की क्रियायें सम्मिलित होती है। अपक्षय के कार्य में ताप, वर्षा–जल, तुषार, वनस्पति जीवजन्तु एवं मानकीय क्रियाओं द्वारा चट्टानों का विघटन एवं आयोजन होता है, जबकि अपरदन में विभिन्न क्षयात्मक अभिकर्ताओं, यथा– बहता हुआ जल (नदी), पवन, हिमनद, भूमिगत जल, सागरीय तरंग एवं परिहिमानी आदि द्वारा चट्टानों या भू–भागों का अपरदन एवं अपरदित मलबे का परिवहन एवं निक्षेपण होता रहता है। अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण की क्रियाओं के दौरान विविध धरातलीय स्थलरूपों का विकास, निर्माण एवं विनाश उतरता है।

2.3 महाद्वीप एवं महासागरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त

भूपटल पर महाद्वीपों एवं महासागरों का विस्तार है। ये दोनों प्रधान भू–आकृतियाँ पृथ्वी के 'प्रथम श्रेणी के उच्चावच' के अन्तर्गत आती हैं। इनकी उत्पत्ति कैसे हुई? यह प्रश्न भी पृथ्वी की उत्पत्ति, उसकी आयु, उसकी आन्तरिक संरचना के समान ही अत्यन्त गूढ़ एवं जटिल है फिर भी अनेक वैज्ञानिकों ने समय–समय पर महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में अपने मत एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। इन मतों एवं सिद्धान्तों का विवेचन करने के पूर्व महाद्वीपों एवं महासागरों के वर्तमान स्वरूप एवं उनके वितरण की विशेषताओं एवं तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के आलोक में किसी भी मत या सिद्धान्त का यथार्थ मूल्यांकन किया जा सकता है।

2.3.1 महाद्वीपों एवं महासागरों के स्वरूप एवं वितरण सम्बन्धी तथ्य एवं विशेषताएं

1. पृथ्वी के धरातल पर जल एवं स्थल का वितरण असमान है। इसका 70.80 प्रतिशत भाग जल एवं 29.20 प्रतिशत भाग स्थल से आवृत है।

2. उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल खण्डों की अधिकता (लगभग 75 प्रतिशत) है, जबकि दक्षिण गोलार्द्ध में जलीय भागों की अधिकता (लगभग 80 प्रतिशत से अधिक) है। काल्पनिक रूप से यदि उत्तरी गोलार्द्ध का ध्रुव इंग्लिश चैनल में ब्रिटनी को मान लिया जाए, तो यह गोलार्द्ध 'स्थल गोलार्द्ध' होगा, जिसमें लगभग 83 प्रतिशत स्थल भाग होगा। इसी प्रकार यदि दक्षिणी गोलार्द्ध का ध्रुव न्यूजीलैण्ड के पास मान लिया जाय, तो यह गोलार्द्ध 'जल गोलार्द्ध' होगा, जिसमें जलीय भाग 90 प्रतिशत से अधिक होगा।

3. यद्यपि की उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता है और दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की, लेकिन उत्तरी ध्रुव के चतुर्दिक जलीय भाग (आर्कटिक सागर) का विस्तार है; जबकि दक्षिणी ध्रुव के चतुर्दिक स्थलीय भाग (अण्टार्कटिक महाद्वीप) का विस्तार है।

4. पृथ्वी के महाद्वीपीय भाग लगभग त्रिभुजाकार हैं, जिनके आधार उत्तर में आर्कटिक सागर के सहारे हैं तथा शीर्ष दक्षिण में है। दक्षिण की ओर शीर्ष का होना दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल की न्यूनता की ओर इंगित करता है। ऑस्ट्रेलिया को छोड़कर शेष सभी महाद्वीप भी अलग–अलग त्रिभुजाकार हैं, जिनके आधार उत्तर एवं शीर्ष दक्षिण में है (चित्र 2.7)।

5. मोटे तौर पर सभी महासागर भी त्रिभुजाकार हैं, लेकिन इनके आधार दक्षिण में और शीर्ष उत्तर में पाए जाते हैं। उत्तर की ओर शीर्ष का होना उत्तरी गोलार्द्ध में जलीय भाग की न्यूनता की ओर इंगित करता है।

6. धरातल पर जल एवं स्थल की स्थिति परस्पर विपरीत अर्थात प्रति ध्रुवस्थ है; लेकिन इसके कुछ अपवाद भी हैं, यथा– पेटागोनिया–उत्तरी चीन, पुर्तगाल एवं स्पेन न्यूजीलैंड, फिर भी धरातल पर लगभग 95 प्रतिशत स्थलीय भागों के पीछे (विपरीत) सागरों का विस्तार है।

7. उत्तरी ध्रुवीय वृत्त पर अधिकांशतः तीन महाद्वीप (एशिया, यूरोप एवं उत्तरी अमेरिका) तथा दक्षिणी ध्रुवीय वृत्त पर तीन महासागर (प्रशान्त महासागर, हिन्द महासागर एवं अटलाण्टिक महासागर) विस्तृत है।

8. प्रशान्त महासागर के पार्श्व भागों (किनारों) पर द्वीपीय चाप एवं मोड़दार पर्वत पाए जाते हैं।

9. अटलाण्टिक महासागर के मध्य में उत्तर से दक्षिण तक एक लम्बी कटक विस्तृत है, जिसकी आकृति अंग्रेजी के 's' अक्षर सदृश्य है।

10. प्रशान्त महासागर का क्षेत्रीय विस्तार सर्वाधिक है। यह पृथ्वी के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का लगभग एक तिहाई तथा सम्पूर्ण जलमण्डल का लगभग आधा भाग (45.50 प्रतिशत) घेरे हुए है।

11. समुद्र तल से ऊँचाई एवं गहराई के सन्दर्भ में यदि महाद्वीपीय एवं महासागरीय भागों का आकलन किया जाए तो महाद्वीपों का लगभग 71 प्रतिशत क्षेत्रफल 1000 मीटर से कम ऊँचाई वाला है, जबकि महासागरीय क्षेत्रफल लगभग 75 प्रतिशत भाग 3000 मीटर से 6000 मीटर की गहराई के मध्य है।

2.3.2 महाद्वीप एवं महासागर की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त

महाद्वीपों एवं महासागरों के स्वरूप एवं वितरण सम्बन्धी तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् इनकी उत्पत्ति सम्बन्धी व्याख्याओं को समझना प्रायः अधिक सुगम एवं सरल है। इस सन्दर्भ में अनेक वैज्ञानिकों ने समय–समय पर विविध प्रमाणों, तर्कों एवं साक्ष्यों के आधार पर अपने–अपने मत एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। इनमें से कुछ मत एवं सिद्धान्तों में मूलभूत समानताएँ मिलती हैं, जबकि कुछ सिद्धान्त परस्पर विपरीत विचारधारा द्वारा प्रस्तुत करते हैं। अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से इन मतों एवं सिद्धान्तों को दो वर्गों में रखा जा सकता है–

(अ) प्रथम – संकुचन पर आधारित सिद्धान्त है, यथा–

(i) लार्ड केलविन का मत, (ii) लैपवर्थ एवं लव की परिकल्पना, (iii) लोथियन ग्रीन की चतुष्फलक परिकल्पना, (iv) जीन्स एवं सोलास की परिकल्पना, (v) चैम्बरलिन तथा मोल्टन का मत, (vi) जेफरीज का तापीय संकुचन सिद्धान्त।

(ब) द्वितीय – महाद्वीपीय विस्थापन पर आधारित सिद्धान्त, यथा –

(i)टेलर की महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना, (ii) वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त, (iii) जोली का रेडियोधर्मिता पर आधारित तापीय चक्र सिद्धान्त, (iv) होम्स का संवहन तरंग सिद्धान्त, (v) डेली का महाद्वीपीय स्खलन (खिसकाव) सिद्धान्त, (vi) ग्रेगरी का स्थल सेतु सिद्धान्त, (vii) पुराचुम्बकीय साक्ष्यों पर आधारित प्रवाह सिद्धान्त, (viii) प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त।

कल्पनाओं एवं विज्ञान सम्मत तथ्यों पर आधारित उपरोक्त मतों, परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों में कुछ मत तो नितान्त कोरी कल्पना पर आधारित है, लेकिन कुछ परिकल्पना एवं सिद्धान्त लोकप्रिय होने के साथ–साथ महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने में पर्याप्त समर्थ भी हैं; अतः इनमें से कुछ का विवेचन यदि प्रासंगिक है, तो कुछ का आवश्यक भी है।

2.3.2.1 लोथियन ग्रीन की चतुष्फलक परिकल्पना

परिचय : लोथियन ग्रीन ने सन 1875 ई० में महाद्वीपों एवं महासागरों के प्रति ध्रुवस्थ स्थिति और उनकी वर्तमान वितरण की व्यवस्था से प्रेरित होकर ज्यामिति के आधार पर महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने के लिए अपनी चतुष्पलक परिकल्पना का प्रतिपादन किया। ज्यामिति के आधार पर समस्या को सुलझाने का इनका यह प्रथम प्रयास नहीं था, कारण कि इनके पूर्व इली डी व्यूमाण्ट (Elie de Beaumont) महोदय अपनी 'पेण्टागोनल डोडेकाहेड्रन' (Pantagonal dodecahedron :पंचभुज द्वादश फलक) परिकल्पना का प्रतिपादन कर चुके थे। इसीलिए कुछ विद्वान लोथियन ग्रीन की चतुष्फलक परिकल्पना को इली डी व्यू माउण्ट की परिकल्पना का ही संशोधित रूप मानते हैं। लोथियन ग्रीन कि यह परिकल्पना ज्यामिति के कुछ ठोस सिद्धान्तों पर आधारित है।

ज्यामिति के सिद्धान्त : ग्रीन महोदय ने अपनी परिकल्पना का प्रतिपादन ज्यामिति के दो तथ्यों के आधार पर किया है –

1. एक चतुष्फलक वह ठोस आकृति है, जो सपाट तथा चपटी सतह वाले चार समबाहु त्रिभुजों से निर्मित होती है और जिसका आयतन धरातलीय क्षेत्रफल की अपेक्षा न्यूनतम होता है।
2. एक गोला वह आकृति है, जिसका आयतन धरातलीय क्षेत्रफल की अपेक्षा अधिकतम होता है।

प्रयोग एवं निष्कर्ष : परिकल्पना की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए ग्रीन महोदय ने अनेक प्रयोग किए और अंतिम रूप से यह निष्कर्ष निकाला कि, "यदि एक गोले की सतह पर चारों ओर से समान दबाव डाला जाए तो वह दबाव जनित संकुचन के कारण एक चतुष्फलक के आकार में परिवर्तित हो जाएगा। फेयरवोर्न ने भी प्रयोगों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि संकुचित होने पर एक गोलाकार आकृति चतुष्फलक का रूप धारण कर लेगी। इसी प्रयोग और निष्कर्ष को ग्रीन महोदय ने पुनः पृथ्वी के ऊपर लागू करके अपनी परिकल्पना को आगे बढ़ाया।

परिकल्पना की प्रक्रिया : लोथियन ग्रीन के अनुसार– अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पृथ्वी एक गोलाकार तप्त पिण्ड के रूप में थी। धीरे धीरे विकिरण के कारण वह ठंडी होने लगी। ताप के अनवरत विकिरण के कारण पृथ्वी का वाह्य आवरण (क्रस्ट) शीघ्र ही ठंडा एवं संकुचित होकर ठोस हो गया, जबकि उसका आन्तरिक भाग धीरे–धीरे ठंडा एवं संकुचित होता रहा परिणामस्वरूप वाह्य आवरण (क्रस्ट) की अपेक्षा आन्तरिक भाग में अधिक संकुचन होने के कारण उसका आयतन अधिक घट गया। पृथ्वी के वाह्य आवरण के ठंडे एवं संकुचित हो जाने के कारण उसमें अधिक संकुचन सम्भव न था। फलतः वाह्य आवरण एवं आन्तरिक भाग के मध्य अन्तर (Gap) आ गया। ऐसी स्थिति में गुरुत्वाकर्षण के कारण पृथ्वी की ऊपरी परत आन्तरिक भाग पर ध्वस्त होकर इस प्रकार बैठने लगी कि उसका आयतन कम

एवं क्षेत्रफल अधिक हो अर्थात् पृथ्वी का आकार चतुष्फलक के रूप में आने लगा। ग्रीन ने यह भी अनुमान किया है कि पृथ्वी अभी पूर्ण रूपेण ठंडी नहीं हो पाई है, इसलिए चतुष्फलक की आकृति अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई है। वह ज्यों–ज्यों ठंडी होती जा रही है, उसकी चतुष्फलक आकृति पूर्णता को प्राप्त करती जा रही है। ग्रीन महोदय के अनुसार– पृथ्वी की बनावट में भिन्नता के कारण चतुष्फलक का स्वरूप भी विशुद्ध नहीं हो सकता। एक चतुष्फलक में चपटे ताल के विपरीत गुणात्मक भाग होते हैं, किन्तु पृथ्वी के सम्बन्ध में ये कोणात्मक भाग नुकीले न होकर उन्नतोदर होते हैं। इन्हें उन्नतोदर भागों पर महाद्वीपों की सृष्टि हुई। चार चपटे तलों पर चार महासागरों का निर्माण हुआ (चित्र 2.8)।

परिकल्पना की सत्यता के प्रमाण : इस परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी पर स्थलीय एवं जलीय भागों का वितरण पूर्णरूपेण समझाया जा सकता है –

- उत्तरी ध्रुव (उत्तरी चपटी सतह) के पास जल क्षेत्र (आर्कटिक सागर) तथा दक्षिणी ध्रुव (दक्षिणी उन्नतोदर कोणात्मक भाग) के पास स्थल भाग (अण्टार्कटिका महाद्वीप) विस्तृत है।

- उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल क्षेत्र की तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जल क्षेत्र की प्रधानता है।

- चतुष्फलक की आकृति के अनुसार महाद्वीपों एवं महासागरों का प्रति ध्रुवस्थ स्थिति में होना स्वाभाविक है।

- सभी महाद्वीपीय भाग चतुष्फलक के उभरे हुए किनारे हैं, जो दक्षिण की ओर क्रमशः सँकरे होते जाते हैं, अतः सभी महाद्वीपीय भाग त्रिभुजाकार हैं, जिनके आधार उत्तर और शीर्ष दक्षिण में है।

- चार चपटी सतहों पर विस्तृत चारों महासागर भी मोटे तौर पर त्रिभुजाकार है, जिनके आधार पर दक्षिण तथा शीर्ष उत्तर की ओर है।

- सर्वाधिक विस्तृत चपटी सतह पर फैला हुआ प्रशान्त महासागर सर्वाधिक क्षेत्रीय विस्तार वाला महासागर है, जो पृथ्वी के क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग घेरे हुए है।

परिकल्पना की समालोचना : समालोचना के कुछ प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं –

1. एक चतुष्फलक स्वरूप वाली पृथ्वी एक शीर्ष बिन्दु पर परिभ्रमण करते हुए अपना सन्तुलन कैसे धारण कर सकती है?

2. अपनी कीली पर पृथ्वी इतनी तीव्र गति से परिभ्रमण कर रही है कि वह एक गोल पिण्ड से चतुष्फलक रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती।

ये दो ऐसी ठोस आलोचनाएं हैं कि परिकल्पना का मूल आधार ही प्रमाणित नहीं हो पाता। फिर भी इतना निश्चित है कि यदि इस परिकल्पना की कुछ कमियों पर ध्यान न

दिया जाए तो अधिकांश रूप में जल–थल के वर्तमान विवरण तथा उनकी उत्पत्ति के विषय में सही विवरण देने में समर्थ है।

जे०डब्ल्यू० ग्रेगरी का संशोधन : आधुनिक युग में इस परिकल्पना के सबसे प्रबल समर्थक ग्रेगरी ने सन 1930 ई० में इस परिकल्पना में कुछ संशोधन प्रस्तुत किए। अपने संशोधन में उन्होंने स्पष्ट किया कि– चतुष्फलक के तीन लम्बवत् किनारे स्थित रहे तथा ऊपर वाली सपाट सतह को घेरने वाले तीनों उत्तल किनारे परिवर्तनशील रहे। फलस्वरूप कभी उत्तर और कभी दक्षिण दिशा में इन उत्तल किनारों के खिसकने अथवा विस्तार के कारण महाद्वीपों एवं महासागरों के आकार में परिवर्तन होता रहा। फ्रेंक महोदय ने भी ग्रेगरी महोदय के संशोधन का समर्थन किया है।

यदि ग्रेगरी एवं फ्रेक के संशोधन एवं समर्थक को स्वीकार कर लिया जाए तो यह परिकल्पना आज भी अपनी सार्थकता सिद्ध करने में पर्याप्त दिखाई पड़ती है।

2.3.2.2 टेलर की महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना

परिचय : महाद्वीपों एवं महासागरों के स्थायित्व की अवधारणा का खण्डन करते हुए एफ०बी० टेलर ने सन 1908 ई० में अपनी 'महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना' का प्रतिपादन किया। सन 1910 ई० में प्रकाशित उनकी यह परिकल्पना वास्तव में 'संकुचन सिद्धान्तों' के विपरीत 'स्थल भागों के क्षैतिज स्थानान्तरण' के विचार पर आधारित है।

परिकल्पना प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य : टेलर महोदय की इस परिकल्पना का मुख्य उद्देश्य था – "टर्शियरी युग की वलित पर्वत श्रेणियों के विस्तार की समस्या का समाधान करना।" टर्शियरी युगीन पर्वत मालाएं मुख्यतः दो दिशाओं में विस्तृत हैं– उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी भाग में क्रमशः राकीज एवं एण्डीज पर्वत मालाएं उत्तर–दक्षिण विस्तार वाली है, जबकि हिमालय, आल्प्स, काकेशश जैसी अल्पाइन पर्वत मालाएं पूर्व–पश्चिम विस्तार वाली है। भिन्न दिशाओं में फैलाव वाली इन पर्वतमालाओं के विस्तार एवं वितरण की व्याख्या करना ही ट्रेलर का अभीष्ट था।

परिकल्पना की प्रक्रिया : टेलर महोदय के अनुसार– क्रीटैशियस युग में मुख्यतः दो स्थल भाग थे– लारेशिया एवं गोंडवाना लैण्ड। लारेशिया उत्तरी ध्रुव के समीप था और गोंडवाना लैण्ड दक्षिणी ध्रुव के समीप था। पूर्ण रूप से सियाल से निर्मित दोनों ही स्थल खण्ड सीमा पर तैर रहे थे। क्रीटैशियस युग में जब चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, उस समय वह चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट रहा होगा, फलतः उसकी ज्वारीय शक्ति भी अधिक रही होगी। टेलर का मानना है कि चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति की प्रबलता के कारण पृथ्वी के परिभ्रमण में काफी वृद्धि हो गई। चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति की प्रबलता एवं पृथ्वी के परिभ्रमण गति में वृद्धि के कारण दोनों ही स्थल खण्डों का ध्रुवों की ओर से स्थानान्तरण यानी प्रवाह होने लगा। यह क्षैतिज स्थानान्तरण था, जो दो दिशाओं में हुआ– एक विषुवत रेखा की तरफ और दूसरा पश्चिम की तरफ। ध्रुवों की ओर से विषुवत रेखा की ओर होने वाला स्थलीय

प्रवाह संभवतः अरीय रहा होगा जिसकी वजह से तनाव एवं विभंजन की क्रियाएं भी सक्रिय हुई। अरीय प्रवाह की प्रक्रिया में विषुवत रेखा की ओर प्रवाहित हो रहे लारेशिया स्थल खण्ड में उत्तरी ध्रुव के पास तनाव एवं विभंजन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप बैफिन की खाड़ी, लैब्राडोर सागर, डेविस जलडमरू मध्य तथा अनेक छोटे–छोटे दीपों का अभ्युदय हुआ। आर्कटिक सागर का निर्माण लारेशिया स्थल खण्ड के विषुवत रेखा की ओर अरीय प्रवाह के कारण रिक्त हुए स्थान पर जल भर जाने के कारण हुआ। इसी तरह गोंडवानालैण्ड के दक्षिणी ध्रुव से विषुवत रेखा की ओर अरीय प्रवाह के कारण उसके पिछले भाग में तनाव एवं विखण्डन के फलस्वरूप रास सागर एवं ग्रेट ऑस्ट्रेलियन बाइट का निर्माण हुआ। हिन्द महासागर एवं दक्षिणी अटलांटिक महासागर का निर्माण विखण्डित एवं प्रवाहित हो रहे स्थलीय भागों के मध्य रिक्त स्थानों पर जल भर जाने के कारण हुआ। प्रवाह के समय जहाँ कहीं अवरोध कम से कम था, वहाँ स्थलीय भाग का प्रवाह 'लोब' (लटकता हुआ पिण्ड) के रूप में हुआ, इसी के फलस्वरूप उसके अग्रभाग में पर्वतीय मोड़ों एवं द्वितीय तोरणों (चापों) का निर्माण हुआ। हिमालय, काकेशश तथा ऑल्प्स अल्पाइन पर्वतमालाओं का निर्माण दोनों स्थल खण्डों के विषुवतीय प्रवाह का ही परिणाम है।

परिकल्पना की समालोचना : समालोचना के कुछ प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं –

1. टर्टियरी युगीन मोड़दार पर्वतों की व्याख्या के लिए टेलर ने चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति को उत्तरदायी माना। यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि टर्शियरी युग के पूर्व के पर्वतों की उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई?

2. टर्शियरी युगीन मोड़दार पर्वतों के स्वरूप से स्पष्ट होता है कि उनकी ऐसी बनावट के लिए कुछ क्षैतिज गति का होना आवश्यक है, परन्तु इसके लिए 20 से 40 मील का ही प्रभाव पर्याप्त था, लेकिन टेलर ने अनावश्यक रूप से हजारों मील का प्रवाह बताया है।

3. यदि चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति से इतने बड़े पैमाने पर महाद्वीपीय प्रवाह सम्भव हो सकता था, तो उसी ज्वारीय शक्ति से पृथ्वी की परिभ्रमण गति में भारी अवरोध आ सकता था और यदि ऐसा होता तो एक वर्ष के भीतर ही पृथ्वी का परिभ्रमण बन्द हो गया होता।

आज के युग में यद्यपि की ट्रेलर की परिकल्पना मान्य नहीं है, लेकिन उनकी परिकल्पना के समालोचनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है, जैसा कि होम्स (1975) ने कहा है– "पृथ्वी के सतत् परिभ्रमण से यह तथ्य प्रकट होता है कि न तो ज्वारीय घर्षण, न अन्य कोई बल जो पृथ्वी के बाहर से आया हो, पर्वतीकरण अथवा महाद्वीपीय विस्थापन हेतु उत्तरदायी हो सकता है, वरन् उस बल को पृथ्वी के भीतर से आना चाहिए।

2.3.2.3 वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त

परिचय : प्रसिद्ध जर्मन ऋतु विज्ञानी एवं भूशास्त्रवेत्ता प्रोफेसर अल्फ्रेड वेगनर ने महासागरों की तली एवं महाद्वीपों के स्थायित्व की अवधारणा को असत्य सिद्ध करते हुए सन 1912 ई० में तर्कपूर्ण ढंग से अपने महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, लेकिन इनके सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन सन् 1915 ई० एवं सन 1920 ई० में समभव हुआ। सन 1924 ई० में उनका यह सिद्धान्त वैज्ञानिकों के बीच हलचल का विषय तब बना जब उनकी मूल पुस्तक 'Die Entstehung der Kontinents and Ozeane' का अंग्रेजी अनुवाद 'The Origin of continents and Oceans' प्रकाशित हुआ।

सिद्धान्त का उद्देश्य : वेगनर महोदय के इस सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण का मुख्य उद्देश्य था– "विगत भौमिकीय युगों में पृथ्वी तल पर घटित हुए जलवायु परिवर्तनों की व्याख्या एवं विश्लेषण करना।" अपने अध्ययन के दौरान वेगनर ने पाया कि भूमध्य रेखीय (उष्ण आर्द्र) तथा आर्कटिक (शीत) जलवायु के प्रमाण उन स्थानों पर मौजूद है, जहाँ आज यह जलवायु नहीं पाई जाती, यथा– यूरोप, ग्रीनलैंड, उत्तरी अमेरिका, अण्टार्कटिका में कोयले का पाया जाना तथा प्रायद्वीपीय भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया एवं दक्षिणी अमेरिका में हिमावरण के चिन्हों का मिलना इस बात को प्रमाणित करता है कि यह प्रदेश एक लम्बे काल तक विपरीत जलवायु दशाओं में रहे होंगे। इस समस्या के समाधान हेतु दो विकल्पों को प्रस्तुत किया जा सकता है– प्रथम या तो महाद्वीपीय भूखण्ड स्थिर रहे और जलवायु कटिबंधों में परिवर्तन होता रहा; और द्वितीय जलवायु कटिबंध स्थिर रहे और महाद्वीपीय खण्डों की अवस्थितियों में परिवर्तन होता रहा। वेगनर महोदय ने द्वितीय विकल्प के रूप में अपने सिद्धान्त की व्याख्या की।

सिद्धान्त की वास्तविक रूप रेखा : वेगनर ने अपने महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त की शुरुआत कार्बोनीफेरस युग से की। पूर्व जलवायुशास्त्र, पूर्व वनस्पतिशास्त्र, भूशास्त्र तथा भूगर्भशास्त्र के अनेक प्रमाणों के आधार पर वेगनर ने मान लिया कि कार्बोनिफेरस युग तक (लगभग 30 करोड़ वर्ष पूर्व) सभी महाद्वीप संयुक्त यानी आपस में जुड़े हुए थे। इस विशाल संयुक्त स्थल खण्ड को वेगनर ने 'पैन्जिया' नाम दिया। पैन्जिया चारों ओर से एक विशाल महासागर से घिरा हुआ था। इस विशाल महासागर को उन्होंने 'पैन्थालासा' नाम दिया (चित्र 2.9)। पैंजिया के मध्य छोटे–छोटे सागरों का विस्तार था। पैन्जिया का उत्तरी भाग लारेशिया एवं दक्षिणी भाग गोंडवाना लैंड के नाम से जाना गया। कार्बोनिफेरस युग में पैन्जिया का दक्षिणी ध्रुव अफ्रीका के नेपाल में वर्तमान डर्बन के पास अर्थात पैन्जिया के मध्य में था।

वेगनर ने यह भी माना कि पैन्जिया तीन परतों का बना हुआ था। ऊपरी परत सियाल की है जिनसे महाद्वीप निर्मित है; मध्यवर्ती परम सीमा की है जिनसे महासागरीय नितल निर्मित है; तथा केन्द्रीय परत निफे की है। वेगनर के अनुसार सियाल बिना किसी रुकावट के सीमा पर तैर रहा था। आगे चलकर कुछ शक्तियों द्वारा पैन्जिया का विभाजन प्रारम्भ हुआ और स्थल खण्ड एक–दूसरे से पृथक होकर वर्तमान स्वरूप में सामने आए।

प्रवाह सम्बन्धी दिशा एवं बल– वेगनर के अनुसार विभंजित पैन्जिया के विभिन्न स्थल खण्डों का प्रवाह दो दिशाओं में सम्पन्न हुआ– प्रथम उत्तर दिशा अर्थात् विषुवत रेखा की ओर जो उस समय वर्तमान अल्पाइन क्षेत्रों से होकर गुजरती थी, द्वितीय पश्चिम दिशा की ओर। विषुवत रेखा की ओर विभंजित स्थल खण्डों के प्रवाह का मुख्य कारण उन्होंने 'गुरुत्वाकर्षण बल' तथा 'प्लवनशीलता बल' को माना, जबकि पश्चिम दिशा की ओर प्रवाह के लिए उन्होंने सूर्य और चन्द्रमा को ज्वारीय शक्ति को उत्तरदायी ठहराया।

स्थल खण्डों का वास्तविक प्रभाव तथा महाद्वीपों एवं महासागरों का वर्तमान विन्यास : वेगनर के अनुसार कार्बोनीफेरस युग में गुरुत्व बल एवं प्लवनशीलता बल के कारण पैन्जिया में विस्तृत दरार पड़ गई और इस तरह से पैन्जिया दो खण्डों में विभाजित हो गया। उत्तरी भाग लारेशिया तथा दक्षिणी भाग गोंडवाना लैंड कहलाया। पैन्जिया के बीच में पड़ी दरार धीरे–धीरे चौड़ी होती गई, जिससे कालान्तर में 'टेथीज सागर' का उदय हुआ। इसे वेगनर ने 'Opening of Tethys' कहा है।

जुरैसिक युग में लारेशिया एवं गोंडवानालैंड में भी विभंजन एवं विखण्डन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। लारेशिया का विखण्डन तीन प्रमुख स्थलखण्डों – उत्तरी अमेरिका, यूरोप तथा एशिया के रूप में हुआ, जबकि गोंडवाना लैंड का विखण्डन दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, मेडागास्कर प्रायद्वीपीय भारत, आस्ट्रेलिया तथा अण्टार्कटिका स्थल खण्डों के रूप में हुआ। ये विखण्डित स्थान खण्ड एक–दूसरे से पृथक होकर ज्वारीय बल से प्रवाहित होने लगे एवं कालान्तर में विन्यास को प्राप्त हुए। सारांशतः पैन्जिया का कार्बोनीफेरस युग से प्रारम्भ हुआ विमंजन एवं महाद्वीपों एवं महासागरों का वर्तमान विन्यास मोटे तौर पर पाँच चरणों में सम्पन्न हुआ (चित्र 2.10)।

वेगनर के अनुसार– प्रायद्वीपीय भारत के उत्तर की ओर प्रवाह के कारण हिंद महासागर की उत्पत्ति हुई। इसी समय सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति के कारण उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका क्रमशः यूरोप और अफ्रीका से पृथक होकर पश्चिम की ओर प्रवाहित हो गए, जिससे अटलाण्टिक महासागर एवं मध्य अटलाण्टिक कटक का जन्म हुआ। उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका की प्रवाह दर में भिन्नता के कारण अटलाण्टिक महासागर एवं मध्य अटलाण्टिक कटक का आकार अंग्रेजी के 'S' अक्षर जैसा हो गया। आर्कटिक सागर तथा उत्तरी ध्रुव सागर का निर्माण विखण्डित स्थल खण्डों के उत्तरी ध्रुव से हटने के कारण हुआ। पैन्थालासा पर कई दिशाओं से महाद्वीपों का अतिक्रमण हुआ, जिसकी वजह से उसका आकार सिकुड़ता चला गया और अवशेष भाग प्रशान्त महासागर बना। वेगनर के अनुसार स्थल एवं जल की वर्तमान व्यवस्था प्राचीन युग तक पूर्ण हो चुकी थी।

पैन्जिया के विखण्डन एवं महाद्वीपीय प्रवाह के कारण विषुवत रेखा की स्थिति में भी परिवर्तन होता रहा है। सिल्यूयरिन युग में भूमध्य रेखा सर्वाधिक उत्तर में थी और नार्वे के उत्तर से होकर गुजरती थी; जबकि टर्शियरी युग में उसकी स्थिति वर्तमान अल्पाइन

क्षेत्रों से हो गई। इसी तरह दोनों ध्रुवों की स्थिति में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं (चित्र 2. 11)।

वेगनर द्वारा सिद्धान्त के पक्ष में प्रस्तुत किए गए प्रमाण : कुछ प्रमुख साक्ष्य निम्नवत् हैं –

- दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तथा अफ्रीका के पश्चिमी किनारे के भूवैज्ञानिक अनुक्रम में पर्याप्त समानता देखने को मिलती है (चित्र 2.12)।

- अटलाण्टिक महासागर की पूर्वी तथा यूरोप एवं अमेरिका की पश्चिमी तट रेखा में भी पर्याप्त साम्य है। दोनों तटों को परस्पर आसानी से जोड़ा जा सकता है। दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील का उभार अफ्रीका की गिनी की खाड़ी में ठीक–ठीक समा जाता है। अर्थात् दोनों तटों में साम्य स्थापन (Zig-saw-fit) पाया जाता है (चित्र 2.13)।

- अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों पर पाई जाने वाली विभिन्न पर्वत श्रृंखलाओं (केलेडोनियन, हर्सीनियन, ब्राजीलइड्स आदि) में भूगर्भिक एकरूपता पाई जाती है।

- अटलाण्टिक महासागर के दोनों ओर की तटीय चट्टानों में, वनस्पति एवं जीवों के अवशेषों में पर्याप्त एकरूपता पाई जाती है।

- गोंडवाना लैण्ड से सम्बन्धित महाद्वीपों में हिमानीकरण के चिन्ह एवं ग्लोसोप्टटीज वनस्पति का पाया जाना यह प्रमाणित करता है कि कभी ये महाद्वीप आपस में संयुक्त थे।

- स्कैंडिनेविया (यूरोप) में पाए जाने वाले लेमिंग नामक छोटे–छोटे जीव अधिक संख्या में हो जाने पर पश्चिम की ओर जाकर अटलाण्टिक महासागर में डूब जाते हैं। इन जीवों की आदत से ऐसा प्रतीत होता है कि इन जीवों के पूर्वज अतीत काल में, जब महाद्वीप संयुक्त थे, पश्चिम की ओर जाया करते होंगे। युगों के बीत जाने पर भी उनकी यह आदत आज तक बनी हुई है।

- ब्राजील, फाकलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, प्रायद्वीपीय भारत तथा आस्ट्रेलिया में कार्बोनीफेरस हिमानीकरण के लक्षण देखने को मिलते हैं। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब सभी स्थल भाग संयुक्त रहे हों और दक्षिणी ध्रुव डर्बन के पास रहा हो।

- भूगर्भशास्त्रियों ने भूगणितीय प्रमाणों के आधार पर बताया है कि ग्रीनलैंड 20 से० मीटर प्रतिवर्ष की गति से पश्चिम की ओर खिसक रहा है लेकिन सन 1930 ई० के बाद से ऐसे किसी भी खिसावट के प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

- डूट्वायट (A.L. Du Toit) महोदय ने सन 1927 में दक्षिण अमेरिका तथा अफ्रीका के तटीय भागों का गहन अध्ययन करके उनकी संरचना में समानता को स्पष्ट किया और बताया कि जहाँ कहीं उनमें समानता नहीं मिलती, वह अपरदन एवं अवतरण का परिणाम है।

सिद्धान्त द्वारा अन्य समस्याओं का समाधान : वेगनर ने अपने महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त द्वारा महाद्वीपों एवं महानगरों की उत्पत्ति के साथ–साथ कतिपय अन्य समस्याओं का भी सफलतापूर्वक समाधान किया है, यथा –

1. जलवायु परिवर्तनों की व्याख्या एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं (हिमानीकरण आदि) का समाधान।

2. समुद्र द्विपीय चाप की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण।

3. वलित पर्वतों की उत्पत्ति की समस्या का समाधान।

सिद्धान्त की समालोचना : वेगनर का अपने सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण का मुख्य उद्देश्य था– "पृथ्वी पर जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों की व्याख्या करना।" इसी उद्देश्य का हल वे चाहते थे, परन्तु जैसे–जैसे वे आगे बढ़ते गए, अन्य समस्याएँ भी उनके मस्तिष्क में आती गई और उनके समाधान का भी प्रयास व इसी सिद्धान्त के माध्यम से करने लगे। परिणामतः वे कई गलतियाँ भी कर बैठे और कहीं–कहीं विरोधाभासी वक्तव्य भी दे बैठे। उनके इन्हीं प्रयासों की वजह से यह सिद्धान्त कुछ जगहों पर दोषपूर्ण हो गया, यथा –

1. महाद्वीपों के पश्चिम दिशा की ओर के प्रवाह के लिए वेगनर ने सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति को उत्तरदायी बताया, लेकिन प्रवाह के लिए यह शक्ति अपर्याप्त है। इस बल से महाद्वीपों का पश्चिम दिशा की ओर प्रवाह तभी हो सकता है, जब यह बल वर्तमान ज्वारीय बल से करीब 90 अरब गुना अधिक रहा हो। यदि पूर्व में इतना अधिक ज्वारीय बल मान लिया जाए, तो पृथ्वी का परिभ्रमण एक वर्ष में बन्द हो गया होता।

2. विद्वानों ने भू–मध्य रेखा की ओर प्रवाह करने वाली शक्ति को भी अपर्याप्त बताया है। यदि इसे स्वीकार भी कर लिया जाय, तो इस गुरुत्व बल के कारण महाद्वीपों में प्रवाह नहीं हो सकता, बल्कि इसके प्रभाव से महाद्वीप आपस में मिल गए होते।

3. वेगनर ने अपने सिद्धान्त में दो विपरीत मतों का भी प्रतिपादन किया है। एक ओर उन्होंने कहा कि सियाल बगैर किसी रुकावट या अवरोध के सीमा पर तैर रहा था। दूसरी और उन्होंने माना कि सीमा पर तैरते हुए उत्पन्न अवरोध के कारण वलित पर्वतों का जन्म हुआ।

4. कार्बोनीफेरस युग के पूर्व पैन्जिया का विखण्डन क्यों नहीं हुआ? इस प्रश्न का सटीक या उचित उत्तर वेगनर के पास नहीं है।

5. आलोचकों का यह भी मानना है कि अटलाण्टिक महासागर के दोनों तट पूर्णरूपेण नहीं मिलाए जा सकते।

6. वेगनर ने प्रवाह की दिशा एवं तिथि पर भी अच्छी तरह से प्रकाश नहीं डाला है।

2.3.2.4. प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त –

परिचय : प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त 20वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण देन है। वस्तुतः यह सिद्धान्त पृथ्वी सम्बन्धी कई समस्याओं, यथा– महाद्वीपीय प्रवाह एवं उनका वर्तमान स्वरूप, सागर तली प्रसरण, पर्वतों की उत्पत्ति, ज्वालामुखी प्रक्रिया, भूकम्प एवं भ्रंशन आदि को सुलझाने में पर्याप्त समर्थ है। इस सिद्धान्त का मूल आधार प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैरी हेस द्वारा सन् 1960 ई० में प्रस्तावित 'समुद्र तल के प्रसार की संकल्पना' है, जो सागरीय वैज्ञानिकों तथा भू–भौतिकविदों के प्रारम्भिक कार्यों पर आधारित थी।

प्लेट विवर्तनिकी क्या है? : सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत 'दृढ़ भूखण्ड' को 'प्लेट' कहते हैं। इन दृढ़ भूखण्डों की गहराई सामान्यतया 100 किलोमीटर से 150 किलोमीटर मानी गई है जिसमें भूपर्पटी (क्रस्ट) एवं ऊपरी मैंटिल शामिल है। भूपर्पटी की मोटाई 8 किलोमीटर से 32 किलोमीटर मानी गई है। पृथ्वी की अन्य अभ्यान्तरिक परतों की अपेक्षा भूपर्पटी काफी पतली है। भूपर्पटी के नीचे भारी चट्टानों एवं धातुओं की परत है, जिसे मैंटिल (प्रावरण) कहते हैं। यह दो भागों में विभक्त है– ऊपरी मैंटिल एवं निचला मैंटिल। मैंटिल के नीचे पृथ्वी का अन्तरम (केन्द्रीय भाग) है, जो अत्यन्त तप्त एवं भारी चुम्बकीय पदार्थों से निर्मित है, 'भूपर्पटी एवं ऊपरी मैंटिल' मिलकर 'प्लेट' का निर्माण करते हैं। ये प्लेट आन्तरिक भारी परन्तु चिपचिपा पदार्थों (जो इनके नीचे स्थित है) पर तैरते हैं।

'विवर्तनिकी' भूगर्भशास्त्र का एक सुपरिचित शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'Tekton' से हुई है जो निर्माण के अर्थों में प्रयुक्त होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार– "विवर्तनिकी (Tectonics) पृथ्वी के पदार्थों के विरूपण और उसके परिणाम से निर्मित संरचना का अध्ययन है।" इस तरह 'प्लेट विवर्तनिकी' का तात्पर्य है– "प्लेटों के स्वभाव तथा प्रवाह से सम्बन्धित तथा उसके परिणामों से निर्मित संरचनाओं का अध्ययन।

प्लेट संकल्पना का आधार : मूलतः प्लेट संकल्पना का प्रादुर्भाव दो तत्वों के आधार पर हुआ है–(i) महाद्वीपीय प्रवाह की संकल्पना, (ii) सागर तली के प्रसार की संकल्पना प्लेट विवर्तनिकी की मौलिक अवधारणा यह है कि– "प्रसरण अक्षों पर लिथास्फीयर (स्थलमण्डल) का निर्माण होता है; रूपान्तरित भ्रंशों से होते हुए आगे की ओर से सरकता है और क्षेपण मण्डलों के पास मैंटिल में डूब जाता है। लिथास्फीयर के क्षेपण तथा पुनर्ग्रहण की दर और लिथास्फीयर की निर्माण की दर में लगभग सन्तुलन होना चाहिए।

प्लेट वर्गीकरण : प्लेटों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है– महाद्वीपीय प्लेट महासागरीय प्लेट।

महाद्वीपीय प्लेट : प्लेट का कुल भाग या लगभग अधिकांश भाग महाद्वीपीय स्थल का होता है, उसे महाद्वीपीय प्लेट कहते हैं।

महासागरीय प्लेट : जिस प्लेट पर केवल महासागरीय नितल पाए जाते हैं, उसे महासागरीय प्लेट कहते हैं।

प्लेटों की संख्या : प्लेटों की संख्या के सम्बन्ध में अनेक मत मतान्तर मिलते हैं। डब्ल्यू०जे० मार्गन ने 6 प्रमुख प्लेटों एवं 20 लघु प्लेटों का विवेचन किया है –

मुख्य प्लेट : (i) यूरेशियन प्लेट, (ii) भारतीय आस्ट्रेलिया प्लेट, (iii) अफ्रीकी प्लेट, (iv) अमेरिकी प्लेट, (v) प्रशान्तमहासागरीय प्लेट एवं (vi) अण्टार्कटिक प्लेट (चित्र 2.14)।

लघु प्लेट : प्रमुख लघु प्लेटों में – कोकोस प्लेट, कैरीबियन प्लेट, नजका प्लेट, ईरान प्लेट, अरेबियन प्लेट, स्कोशिया प्लेट, फिलीपींस प्लेट, ऑस्ट्रेलियन प्लेट, कैरोलीन प्लेट, फुजी प्लेट, जुआन डी फूका प्लेट, एवं इण्डो–ऑस्ट्रेलियन प्लेट प्रमुख हैं।

ये प्लेट (मुख्य एवं गौण) एक–दूसरे के सन्दर्भ में तथा पृथ्वी के घूर्णन कक्ष के सापेक्ष निरन्तर गतिमान रहते हैं। इन गतिमान प्लेटों के किनारों के सहारे ही ज्वालामुखी क्रियायें, भूकम्प एवं पर्वत निर्माणकारी हलचलें सम्पन्न होती हैं; अतः भूगर्भिक दृष्टिकोण से प्लेटों के किनारों का महत्व अधिक है।

प्लेट सीमान्त (किनारे) तथा प्लेट सीमाएं : 'प्लेट सीमान्त' तथा 'प्लेट सीमाओं' में अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। प्रत्येक प्लेट के किनारे या अन्तिम सीमा को 'प्लेट सीमान्त' कहते हैं। विभिन्न प्लेटों के बीच की सीमाएं, अर्थात् किन्ही दो प्लेटों के मध्य गतिमान क्षेत्र को 'प्लेट सीमाएं' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में– "दो प्लेट सीमान्तों का उभयनिष्ठ क्षेत्र, जिसमें विवर्तनिक घटनाएं घटित होती हैं, 'प्लेट सीमा' कहलाता है।

प्लेट सीमान्त किनारा के प्रकार : प्लेट सीमान्त तीन प्रकार के होते हैं– (1) रचनात्मक प्लेट सीमान्त, (2) विनाशात्मक प्लेट सीमान्त एवं (3) संरक्षी या निष्क्रिय प्लेट सीमान्त।

(1) रचनात्मक प्लीज सीमान्त (किनारा) : दुर्बलता मण्डल के ऊपरी भाग में तरल मैगमा जब संवाहन धारा के रूप में ऊपर उठता है तो भूपटल के नीचे पहुँचकर विपरीत दिशा में मुड़कर भूपटल के समानान्तर बहता है, तो प्लेटों में गति विपरीत दिशा में होती है। ऐसी दशा में दूर जाने वाले किनारे 'रचनात्मक प्लेट सीमान्त' कहलाते हैं, क्योंकि इन्हीं के सहारे नीचे का मैगमा ऊपर आता है एवं नए पदार्थों का निर्माण होता है। यह प्रक्रिया मध्य महासागरीय कटकों के सहारे सम्पन्न होती है। यही कटक सक्रिय ज्वालामुखियों की पेटी है। इसे 'अपसारी प्लेट सीमान्त' भी कहते हैं।

(2) विनाशात्मक प्लेट सीमान्त (किनारा) : जब दो प्लेट आमने–सामने (विपरीत दिशा से) गतिशील (अभिसारित) होकर आपस में टकराती हैं, तो उनके किनारों को विनाशात्मक प्लेट सीमान्त कहा जाता है। इन्हीं प्लेट किनारों के सहारे पदार्थ निचली मैंटिल में धँसाव (क्षेपण) द्वारा नीचे चला जाता है और प्लेट के किनारों में ह्रास होता है। विपरीत दिशा से आने वाली भारी प्लेट नीचे मुड़ जाती है। इन्हें 'अभिसारी प्लेट सीमान्त' भी कहते हैं।

(3) संरक्षी या निष्क्रिय प्लेट सीमान्त किनारा : जब दो प्लेटें एक–दूसरे के अगल–बगल सरक जाती है, तो उन्हें 'संरक्षी या निष्क्रिय प्लेट सीमान्त' कहते हैं। इस प्रक्रिया में न तो प्लेट का विनाश (क्षय) होता है और न ही नवीन क्रस्ट का निर्माण होता है। रूपान्तर भ्रंश इसी प्रकार के सीमान्त का उदाहरण है। इस प्लेट सीमान्त को 'शीयर (प्रतिबल) सीमान्त' भी कहते हैं।

सिद्धान्त की प्रक्रिया : हेस महोदय के अनुसार– पृथ्वी की सभी प्रमुख प्लेटें तथा लघु प्लेटें विभिन्न प्रारूपों में स्वतंत्र रूप से गतिशील तथा प्रवाहित होती हैं। आयलर के ज्यामितीय सिद्धान्त के अनुसार सभी प्लेटें निरन्तर अपने घूर्णन ध्रुव के चारों ओर वृत्ताकार मार्ग में परिभ्रमण करती है। इस प्रक्रिया में कोई एक प्लेट एक ओर अपनी नजदीकी प्लेट के निकट आती है, तो दूसरी ओर किसी अन्य प्लेट से दूर जाती है। इस प्रकार प्लेट संचलन से न तो पृथ्वी का क्षेत्र घटता है और न ही बढ़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मध्य महासागरीय कटकों के पास सागरीय तली के प्रसारण से यदि पृथ्वी का क्षेत्रफल बढ़ता है, तो महासागरीय खाइयों के निकट सागरीय तली के क्षेपण से लगभग उतने ही क्षेत्रफल की कमी हो जाती है। वैज्ञानिकों ने प्लेटों की खिसकने की गति का अनुमान लगाया है, जो सामान्यतः 5–6 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष है। चूँकि सभी महाद्वीप एवं महासागर इन्हीं गतिमान प्लेटों के ऊपर टिके हैं, इसलिए जब यह प्लेट प्रवाहित होते हैं तो उनके साथ ही उनके ऊपर स्थित महाद्वीपीय एवं महासागरीय भागों में भी प्रवाह तथा विस्थापन होता है। कार्बोनीफेरस युग में पैंजिया के विभिन्न प्लेटों के प्रवाह तथा विस्थापन के ही कारण महाद्वीप एवं महासागरों को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है। इनके प्रारूप एवं स्वरूपों में भविष्य में भी परिवर्तन होता रहेगा, कारण कि हेस महोदय के अनुसार– इन प्लेटों में प्रवाह एवं विस्थापन अब भी जारी है।

2.4 सारांश

आपने इस द्वितीय इकाई में भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियों तथा महाद्वीप एवं महासागर की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। आप समझ गए होंगे कि भूपटल परिवर्तनकारी शक्तियाँ दो तरह की होती हैं– अन्तर्जात एवं बहिर्जात। अन्तर्जात शक्तियाँ भूगर्भ से जन्म लेने वाली शक्तियां होती हैं और धरातल पर विषमताओं को जन्म देती हैं, जबकि बहिर्जात शक्तियाँ, यथा– अपक्षय, बहता हुआ जल, पवन, हिमनद, भूमिगत जल आदि धरातल के ऊपर क्रियाशील होकर अन्तर्जात शक्तियों

द्वारा उत्पन्न विषमताओं को सतत् दूर करने का प्रयत्न करती रहती हैं। इसीलिए इन बहिर्जात शक्तियों को समतल स्थापक शक्तियाँ भी कहते हैं।

आपने इस इकाई के अध्ययन से महाद्वीपों एवं महासागरों के वर्तमान स्वरूप एवं वितरण को भी भली–भाँति समझा है। आपने यह भी जाना कि इन्हीं वितरण सम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही विभिन्न विद्वानों ने अपनी परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया है। आपने देखा कि यह परिकल्पनाएं एवं सिद्धान्त दो वर्गों में विभक्त हैं। एक वर्ग संकुचनवादी विचारधारा का पोषक है, तो विद्वनों का दूसरा वर्ग महाद्वीपों के प्रवाह एवं विस्थापन पर विश्वास व्यक्त करता है। दोनों वर्गों की परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के बाद आपने यह समझा कि कुछ मत नितान्त कोरी कल्पनाओं पर आधारित हैं, जबकि कुछ परिकल्पनाएं एवं सिद्धान्त महाद्वीप एवं महासागर की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त समर्थ हैं, इसीलिए यह लोकप्रिय भी है। लोथियन ग्रीन की चतुष्फलक परिकल्पना, वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त एवं प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त ऐसे ही कुछ लोकप्रिय सिद्धान्त है।

2.5 शब्द सूची

उत्संवलन	Upwarping	समपनति	Anticlinosium
अन्तर्जात	Endogenetic	वलन	Folding
अपनति	Anticline	विभंग	Fractures
ग्रीवाखण्ड	Nappe	तनाव	Tension
भूकम्प	Earthquake	नतिलम्ब	Stsike
ज्वालामुखी	Volcanoes	सममिनति	Synclinosium
प्रतिबल	Stress	चटकन	Cracking
भ्रंश तल	Fault Plane	अधःक्षेपित	Downthrown
पटलविरूपणकारी	Diastrophic	फटीघाटी	Rift Valley
अवसंवलन	Downwarping	संपीड़न	Compression
महादेशजनक	Epeirogenetic	अवनमन	Plunging
उत्क्षेपित	Upthrown	गोला	Sphere
उपरिमुखी	Upward	बंकन	Bending

शैल दृश्यांश	Outcrop	संवलन	Warpung
अधोमुखी	Downward	उत्खण्ड	Horst
अभिनति	Syncline	एकदिग्नत	Monoclinal
पर्वत निर्माणकारी	Orogenetic	परिवलित	Recmbent
द्रोणिका	Graber	प्रतिवलन	overturned
समनत	Isoclinal	घूर्णन धुंव	Pole of Rotation
व्युत्क्रम भ्रंश	Reverse Fault	विस्थापन/प्रवाह	Drift
नमन भ्रंश	Dip Fault	अभिसारी	Convergent
विदीर्ण भ्रंश	Tear Fault	अपसारी	Divergent
तिर्यक भ्रंश	Oblique Fault	पुराजलवायुविक	Palawclimatic
चतुष्फलक	Tetrahedron	संकुचन	Contraction
साम्य स्थापन	Lig-Saw-fit	महाद्वीपीय	Continental
घूर्णन कक्ष	Axis of Rotation	गत्यात्मक	Dynamic
रचनात्मक	Constructive	गतिमान क्षेत्र	Motion Zone
विनाशात्मक	Destruetive	कठोर	Rigid
संरक्षी	Conservative	किनारा/सीमान्त	Margin
रूपान्तर भ्रंश	Transform Fault	सीमा	Boundary
प्रति ध्रुवस्थ	Antipodal	पैंजिया	pangaea
कोणात्मक शीर्ष	Coign	कटक	Ridge
अरीय	Radial	पैन्थालासा	Panthalasa

2.6 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1– चट्टानों के लहरदार वलन के उच्च भाग को कहा जाता है –

(अ) अपनति (ब) अभिनति (स) नमन (द) भ्रंशन

2– वलन का विकास होता है –

(अ) तनाव से (ब) संपीड़न से (स) फैलाव से (द) इनमें कोई नहीं

3– अभिनति किसका परिणाम है?

(अ) तनाव का (ब) चटकन का (स) भ्रंशन का (द) वलन का

4– चतुष्फलक परिकल्पना के प्रस्तोता थे –

(अ) लॉर्ड केल्विन (ब) लैपवर्थ (स) लोथियन ग्रीन (द) होम्स

5– महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त के प्रस्तोता थे –

(अ) जेफरीज (ब) ग्रेगरी (स) डैली (द) अल्फ्रेड वेगनर

6– स्थल सेतु सिद्धान्त के प्रस्तोता थे –

(अ) ग्रेगरी (ब) होम्स (स) हैरी हेस (द) लव

आदर्श उत्तर

(1) अ (2) ब (3) द (4) स (5) द (6) अ

2.7 सन्दर्भ उपयोगी पुस्तकें

Cotton, C.A., (1945) : 'Geomorphology', John Wiley and Sons, New York.

लाल, डी०एस० (2012) : 'भौतिक भूगोल', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

नेगी, बलवीर सिंह (1991) : 'भौतिक भूगोल' एस० चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली।

सिंह, रविन्द्र (2018) : 'भौतिक भूगोल का स्वरूप', प्रवालिका पब्लिकेशन्स, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद।

सिंह, श्रीनारायण एवं सिंह, वन्दना (2005) : 'भौतिक भूगोल', मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, मैदागिन, वाराणसी।

Sparks, B.W. (1960) : 'Geomorphology', Longman, Londan.

Thorrbury, W.D. (1969) : 'Principles of Geomorphology', John Wiley and Sons, New York.

Wooldridge, S.W. and Morgan, R.S. (1959) : 'An Outline of Geomorphology', Orient Longman, London.

यादव, जी०पी० एवं सुरेश, राम, (1976) : 'भूआकृति विज्ञान', ग्रंथम, रामबाग, कानपुर।

2.8 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

1. भूपटल पर परिवर्तन लाने वाले बलों का वर्णन कीजिए।
2. विभिन्न प्रकार के वलनों के निर्माण की व्याख्या कीजिए।
3. पर्वत निर्माणकारी शक्तियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. भ्रंशन क्रिया का क्या अर्थ है? भ्रंशन क्रिया से निर्मित विभिन्न स्थल रूपों की व्याख्या कीजिए।
5. लोथियन ग्रीन के चतुष्फलक सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
6. महाद्वीप एवं महासागरों के वर्तमान स्वरूप एवं वितरण सम्बन्धी विशेषताएं बताइए।
7. वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त को विस्तार से समझाइए।
8. प्लेट का अर्थ बताइए तथा प्लेट सीमान्त एवं प्लेट सीमाओं की व्याख्या कीजिए।
9. प्लेटो का वर्गीकरण करते हुए प्लेट विवर्तनिक सिद्धान्त की प्रक्रिया को समझाइए।

नोट : इकाई का अध्ययन कर अभ्यास प्रश्नों के उत्तर स्वयं लिखिए।

इकाई 3– भू–सन्तुलन की संकल्पना, ज्वालामुखी एवं भूकम्प तथा उनसे उत्पन्न भूआकृतियाँ, चट्टान एवं उनका वर्गीकरण

इकाई की रूपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 भू–सन्तुलन की संकल्पना

3.2.1 भू–सन्तलुन का सामान्य अर्थ

3.2.2 भू–सन्तुलन की परिभाषा

3.2.3 भू–सन्तुलन की संकल्पना का प्रतिपादन

3.2.4 भू–सन्तुलन की विभिन्न संकल्पनाएं

3.2.4.1 सर जार्ज एयरी की संकल्पना

3.2.4.2 प्राट की संकल्पना

3.2.4.3 हेफोर्ड तथा बोवी की संकल्पना

3.2.4.4 हीस्कैनन की संकल्पना

3.2.4.5 जोली की संकल्पना

3.2.4.6 आर्थर होम्स की संकल्पना

3.2.5 धरातल पर सन्तुलन समायोजन

3.3 ज्वालामुखी तथा उनसे उत्पन्न भूआकृतियाँ

3.3.1 ज्वालामुखी : शाब्दिक परिभाषा

3.3.2 ज्वालामुखी : वैज्ञानिक परिभाषा

3.3.3 ज्वालामुखी–क्रिया

3.3.4 ज्वालामुखी–क्रिया के रूप

3.3.5 ज्वालामुखी से निःसृत पदार्थ

3.3.6 ज्वालामुखी की संरचना

3.3.7 ज्वालामुखी उद्‌गार के कारण

3.3.8 ज्वालामुखियों का वर्गीकरण

3.3.8.1 उद्‌गार के स्वरूप एवं तीव्रता के आधार पर वर्गीकरण

3.3.8.2 उद्‌गार की अवधि के आधार पर वर्गीकरण

3.3.9 ज्वालामुखियों का भौगोलिक वितरण

3.3.10 ज्वालामुखी–क्रिया से उत्पन्न भूआकृतियाँ

3.3.10.1 आभ्यान्तरिक स्थलाकृतियाँ

3.3.10.2 वाह्य स्थलाकृतियाँ

3.4 भूकम्प

3.4.1 भूकम्प : परिभाषाएं

3.4.2 भूकम्प की उत्पत्ति के कारण

3.4.3 भूकम्पों का वर्गीकरण

3.4.3.1 स्वरूप के आधार पर भूकम्पों का वर्गीकरण

3.4.3.2 उद्‌गम केन्द्र की गहराई के आधार पर भूकम्पों का वर्गीकरण

3.4.3.3 उत्पत्ति के स्थान के आधार पर भूकम्पों का वर्गीकरण

3.4.3.4 उत्पत्ति के कारणों के आधार पर भूकम्पों का वर्गीकरण

3.4.4 भूकम्पों का विश्ववितरण

3.4.5 भूकम्पों का प्रभाव

3.5 चट्‌टान एवं उनका वर्गीकरण

3.5.1 चट्‌टान की परिभाषा

3.5.2 चट्‌टानों का वर्गीकरण

3.5.3 आग्नेय चट्‌टान : परिभाषा एवं विशेषताएं

3.5.4 आग्नय चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.4.1 उत्पत्तिमूलक प्रक्रिया के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.4.2 रासायनिक संरचना के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.4.3 कणों की बनावट के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.5 अवसादी चट्टान : परिभाषा एवं विशेषताएं

3.5.6 अवसादी चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.6.1 निर्माण में सम्मिलित अवसादों के आधार पर अवसादी चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.6.2 निर्माण में भाग लेने वाले कारकों के आधार पर अवसादी चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.7 रूपान्तरित चट्टान : परिभाषा एवं विशेषताएं

3.5.8 रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.8.1 मौलिक चट्टान के आधार पर रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.8.2 स्तरों की संरचना के आधार पर रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

3.5.9 रूपान्तरित चट्टानों की चक्रीय निर्माण

3.6 सारांश

3.7 शब्द सूची

3.8 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर

3.9 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

3.10 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

3.0 प्रस्तावना

इस इकाई में आप सर्वप्रथम भू–सन्तुलन की संकल्पना का अध्ययन करेंगे। वस्तुतः सन्तुलन पृथ्वी की एक व्यवस्थित अवस्था है जो यह कल्पना करती है कि भूपर्पटी अथवा संलग्न प्रदेशों में उनके बीच सन्तुलन मिलता है। सन्तुलन की अवधारणा को लेकर जार्ज एयरी, प्राट, हेफोर्ड बोवी, हीस्कैनन, जोली एवं होम्स जैसे विद्वानों ने अपने–अपने विचार विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किए हैं और विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से उन्हें सत्य सिद्ध करने की कोशिश की है।इस इकाई में ज्वालामुखी एवं भूकम्प तथा उनसे उत्पन्न भूआकृतियों का अध्ययन करेंगे। ज्वालामुखी एवं भूकम्प पृथ्वी के आन्तरिक भाग से उत्पन्न होने वाली ऐसी घटनाएं हैं, जो आकस्मिक रूप से भूपटल पर घटित होती हैं। इन घटनाओं के घटित होने की प्रक्रिया, प्रकार, स्वरूप, कारणों एवं दृश्य प्रभावों के साथ–साथ इनसे उत्पन्न भूआकृतियों का अध्ययन भी आप इस इकाई में करेंगे। विश्व के ऐसे कौन से भूभाग हैं, जो इन आकस्मिक घटनाओं से अधिक प्रभावित हैं– यह भी आप इस इकाई में सहज रूप से समझ सकेंगे।इस इकाई में चट्टानों एवं उनके विविध प्रकारों का भी अध्ययन करेंगे। चट्टानों को पृथ्वी के भूवैज्ञानिक इतिहास का पृष्ठ माना जाता है। भूपटल के वर्तमान भूदृश्य की ये आधार हैं; विभिन्न खनिजों की यह समुच्चय हैं, विविध जैविक अवशेषों की सुसम्बन्ध संचयन हैं– यही कारण है कि इन के विविध रूपों, प्रकारों एवं इनकी विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना आपके लिए आवश्यक है। इस इकाई में आपको चट्टानों के तीनों प्रमुख रूपों– आग्नेय, अवसादी एवं रूपान्तरित की परिभाषाओं विशेषताओं तथा उनके निर्माण प्रक्रिया की जानकारी सहज सरल रूप में प्राप्त होगी।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- भू–सन्तुलन संकल्पना की सार्थकता को समझ सकेंगे,
- धरातल पर सन्तुलन समायोजन की व्यवस्था को जान सकेंगे,
- ज्वालामुखी प्रक्रिया, ज्वालामुखी संरचना एवं उसके प्रकारों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे,
- ज्वालामुखी प्रक्रिया से उत्पन्न भूआकृतियों से परिचित हो सकेंगे,
- भूकम्प की उत्पत्ति के कारणों एवं उसके विविध स्वरूपों एवं प्रकारों को समझ सकेंगे,
- भूकम्पीय प्रभावों एवं उसके विश्ववितरण से भी परिचित हो सकेंगे,

- चट्टानों के विविध प्रकारों एवं स्वरूपों के साथ–साथ उनके निर्माण की प्रक्रिया को भी सरल रूप में समझ सकेंगे।

3.2 भू–सन्तुलन की संकल्पना

3.2.1 भू–सन्तुलन का सामान्य अर्थ

भू–सन्तुलन शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Isostasy' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'Isostasy' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक (यूनानी) भाषा के 'Isostasious' शब्द से हुई है। 'Iso' का अर्थ है– 'सम' और 'Stasious' का अर्थ है– 'स्थिति' अर्थात् 'समस्थिति' 'Inequiposia'। इस तरह 'समस्थिति' का अर्थ है– 'सन्तुलन की स्थिति'। यह कोई बल नहीं है, बल्कि ऐसी सन्तुलन की स्थिति का प्रतीक है, जैसे जल में तैरते हुए हिम खण्डों की होती है। 'Isostasy' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिकन भूगर्भवेत्ता सी०ई० डटन ने सन 1859 ई० में भूपटल के असमतल भागों के सन्तुलन के सन्दर्भ में किया था। डटन का मत था कि– "पृथ्वी के गुरुत्वीय सन्तुलन का नियंत्रण महाद्वीपीय एवं महासागरीय नितलों का निर्माण करने वाली शैलों के घनत्व, उनकी ऊँचाई और गहराई के अनुसार होता है। डटन के अनुसार– ऊँचे उठे भागों का घनत्व कम होगा और नीचे धँसे भागों का घनत्व अधिक होगा, तभी सब का भार एक रेखा (आधार तल) के सहारे बराबर होगा।" इस 'रेखा' या 'आधार तल' को 'समदबावतल' अथवा 'समतोल तल' अथवा 'क्षतिपूर्ति तल' कहा जा सकता है।

3.2.3 भू–सन्तुलन की संकल्पना का प्रतिपादन

"घूमती हुई पृथ्वी पर ऊँचे उठे हुए भूभागों एवं नीचे धँसे हुए भू–भागों के मध्य सन्तुलन कैसे स्थापित है? इस समस्या की ओर भूगर्भविदों का ध्यान अचानक गया। सन 1959 ई० में भारत का भू–गणितीय सर्वेक्षण हिमालय की तलहटी के सिन्धु–गंगा मैदान में अक्षांशों के निर्धारण हेतु तत्कालीन सर्वेयर जनरल सर जॉर्ज एवरेस्ट के संरक्षण में हो रहा था। इस सर्वेक्षण में भारत के मध्य देशान्तर पर 'कल्याण' तथा 'कल्याणपुर' नामक दो स्थानों का अक्षांशीय मापन दो विधियों से किया गया। त्रिभुजीकरण विधि द्वारा ली गई माप $5^0$23′
42.294′′ थी तथा खगोलीय विधि द्वारा ली गई माप $5^0$23′37.058′′ थी। दोनों विधियों द्वारा ली गई अक्षांशीय माप की घटनाओं में $5^0$236′′ ($5^0$23′42.294′′– $5^0$23′37.058′′) का अन्तर पाया गया। वस्तुतः यह भिन्नता या अन्तर ही भू– सन्तुलन की अवधारणा का आधार बना।

दोनों घटनाओं में भिन्नता क्यों आई? जब यह समस्या रायल एस्ट्रोनामर सर जार्ज एयरी के समक्ष रखी गई, तो उन्होंने बताया कि दोनों गणनाओं में भिन्नता हिमालय पर्वत की निकटता के कारण थी। (कल्याण हिमालय पर्वत श्रृंखला से 96 किलोमीटर की दूरी पर गंगा के मैदान में स्थित है, जबकि कल्याणपुर दक्षिण में प्रायद्वीप के लगभग मध्य

में स्थित है।) इसी निकटता के कारण ही हिमालय पर्वत अपनी आकर्षण शक्ति से पेंडुलम को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था।

जब इस भिन्नता का कारण प्राट महोदय से पूछा गया, तो उन्होंने हिमालय पर्वत की आकर्षण शक्ति को स्वीकारा, लेकिन इसकी व्याख्या उन्होंने एक अलग तरह से प्रस्तुत की। उन्होंने सियाल निर्मित भूपटल के औसत घनत्व (2.75) के समान ही हिमालय पर्वत को भी सियाल निर्मित मानते हुए उसका भी घनत्व (2.75) माना और उस आधार पर गणना करते हुए बताया कि हिमालय पर्वत के आकर्षण के कारण साहुल रेखा (Plumb Line) का विक्षेप कल्याण व कल्याणपुर नामक स्थानों पर क्रमशः 27.853'' व 11.968'' होना चाहिए। इस प्रकार आपेक्षित विचलन (भिन्नता) 15.885'' होना चाहिए, न कि 5.236''। इससे यह स्पष्ट हुआ कि हिमालय पर्वत इतनी शक्ति से राहुल पेंडुलम को आकर्षित नहीं कर रहा है, जितनी शक्ति से (उसके आकार को देखते हुए) उसे करना चाहिए था।

इस आश्चर्यजनक तथ्य के सम्बन्ध में दो सुझाव दिए गए। प्रथम यह कि– हिमालय पर्वत की चट्टानों का घनत्व स्वयं में कम है। इस कारण उसका भार भी कम होगा और तदनुरूप उसकी आकर्षण शक्ति भी कम होगी। द्वितीय यह कि– हिमालय पर्वत में ऊपरी अतिरिक्त (अधिक) पदार्थ का सन्तुलन उसके नीचे के कम घनत्व वाले पदार्थ से होता है। इस कारण समस्त भार कम होगा तथा उसकी आकर्षण शक्ति कम होगी।

सारांशतः प्राट एवं एयरी ने इस नई उलझन के समाधान के लिए अपनी–अपनी सन्तुलन सम्बन्धी अवधारणाओं की रूपरेखा को आगे बढ़ाया, इस प्रकार धीरे–धीरे भू–सन्तुलन की अवधारणा का प्रतिपादन हुआ।

3.2.4 भू–सन्तुलन की विभिन्न संकल्पनाएं

कतिपय महत्वपूर्ण मतों, संकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों का विवरण निम्नवत है–

3.2.4.1 सर जार्ज एयरी की संकल्पना

संकल्पना का आधार : एयरी की सन्तुलन संकल्पना वास्तव में प्लवन सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार, जल में किसी पदार्थ के तैरने की दशा में उसका नौ भाग जल के अन्दर डूबा रहता है। उदाहरण के लिए जब कोई हिमखण्ड जल में तैरता है तो उसका नौ हिस्सा जल में अन्दर डूबा रहता है।

संकल्पना की प्रक्रिया : उपरोक्त प्लवन (तैराव) सिद्धान्त के आधार पर एयरी ने यह प्रतिपादित किया कि, हिमालय पर्वत (जो सियाल निर्मित क्रस्ट का हिस्सा है) भारी ग्लासी मैगमा (अधःस्तर) में उसी प्रकार तैर रहा है, जिस प्रकार जल में नाव तैरती है। महाद्वीपीय क्रस्ट का औसत घनत्व 2.67 तथा अधःस्तर का औसत घनत्व 3.00 मानकर उन्होंने प्रतिपादित किया कि, क्रस्ट के प्रत्येक भाग को अधःस्तर के ऊपर तैरते रहने के लिए उसके नौ भाग अधःस्तर के अन्दर होने चाहिए। अर्थात् हिमालय जितना ऊपर (8848

मीटर) है, उसका नौ गुना भाग (8848×9=79632 मीटर) जो हल्के सियाल पदार्थ का बना है, अधःस्तर में नीचे डूबा होगा। अतः एयरी के अनुसार, हिमालय अपनी वास्तविक आकर्षण शक्ति का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि हल्के पदार्थों से निर्मित इसकी लम्बी जड़ अधःस्तर में नीचे तक डूब कर इसके ऊँचे भाग को संतुलित करती है।

एयरी द्वारा किया गया प्रयोग और मत का प्रतिपादन : अपनी संकल्पनात्मक प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए एयरी ने एक प्रयोग किया। उन्होंने समान घनत्व किन्तु भिन्न आकार एवं लम्बाई वाले लौह टुकड़ों को पारे से भरे एक बेसिन में डुबो दिया। यह टुकड़े अपने आकार के अनुसार भिन्न–भिन्न गहराइयों में डूबते गए। अधिक उभरा हुआ टुकड़ा सबसे अधिक गहराई तक डूबा हुआ पाया गया। एयरी के अनुसार, यही व्यवस्था स्थल खण्डों के सन्दर्भ में पाई जाती है। अर्थात ऊँचे उठे हुए भाग अपनी ऊँचाई के अनुसार पर्याप्त गहराई तक अपनी लम्बी जड़ से अधःस्तर के अधिक घनत्व वाले पदार्थ को हटा देते हैं, जिसके कारण ऊँचे उठे भागों के नीचे पर्याप्त गहराई तक हल्के पदार्थों का विस्तार होता है और उसका सन्तुलन बना रहता है। (इसी तथ्य को लकड़ी के टुकड़ों को जल में डुबोकर भी प्रमाणित किया जा सकता है, (चित्र 3.1)। इसी तरह एयरी ने 'Column of uniform density with varying thickness' (समान घनत्व किन्तु भिन्न मोटाई वाले स्तम्भ) की अवधारणा को जन्म दिया।

मूल्यांकन : सर्वाधिक समर्थन प्राप्त एयरी की यह अवधारणा भी दोषमुक्त नहीं है। आलोचकों का कथन है कि यदि हिमालय पर्वत की जड़ 79632 मीटर की गहराई तक अधःस्तर में नीचे प्रविष्ट है तो वह ठोस अवस्था में नहीं रह सकती, कारण कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में प्रति 32 मीटर की गहराई पर 1^0 सेंटीग्रेड तापमान बढ़ जाता है। अतः यह मत काल्पनिक एवं भ्रामक प्रतीत होता है।

3.2.4.2 प्राट की संकल्पना

संकल्पना का आधार : भू–सन्तुलन के सन्दर्भ में प्राट की संकल्पना का प्रमुख आधार 'क्षतिपूर्ति तल नियम' है। प्राट के अनुसार, अधःतल में एक क्षतिपूर्ति तल होता है, जिसके ऊपर स्थल खण्डों के घनत्व में भिन्नता मिलती है, परन्तु उनका भार सन्तुलन रेखा के सहारे बराबर रहता है।

संकल्पना की प्रक्रिया : प्राटमहोदय ने हिमालय तथा समीपी मैदान की चट्टानों के अध्ययन के आधार पर बताया कि भूपटल का निर्माण विभिन्न घनत्व वाले स्तम्भों से हुआ है। पर्वतीय स्तम्भ की रचना सबसे हल्के पदार्थों से तथा सागरीय तली वाले स्तम्भ की रचना सबसे भारी पदार्थों से हुई है। इस प्रकार पर्वतों का घनत्व सबसे कम, पठारों का घनत्व पर्वतों से अधिक, मैदानों का घनत्व पठारों से अधिक तथा सागर तलहटी का घनत्व मैदानों से भी अधिक होता है। दूसरे शब्दों में– "स्थल रूपों की ऊँचाई और घनत्व में उल्टा अनुपात होता है अर्थात 'Bigger the column smaller the density, smaller the

column greater the density' (ऊँचा स्तम्भ कम घनत्व, नीचे स्तम्भ अधिक घनत्व)। प्राट ने यह भी स्पष्ट किया कि घनत्व में क्षैतिज भिन्नता केवल स्थलमण्डल में ही पाई जाती है, पाइरोस्फीयर तथा बैरीस्फीयर में नहीं। स्थल मण्डल के नीचे एक ऐसा तल है जिस पर विभिन्न घनत्व वाली स्थलाकृतियों के स्तम्भों का भार समान है। यह तल 'क्षतिपूर्ति तल' कहलाता है। इस तल के नीचे सभी स्तम्भों के घनत्व में समानता पाई जाती है।

प्रयोग द्वारा मत का सत्यापन : उपरोक्त तथ्य को प्राट ने एक प्रयोग द्वारा सत्य सिद्ध करने की कोशिश की। उन्होंने पारे से भरे बेसिन में विभिन्न घनत्व एवं ऊँचाई वाले सीसा, लोहा, एन्टीमनी एवं जस्ता के टुकड़ों को डाला, तो उन्होंने पाया कि इन सब टुकड़ों का निचला तल पारे में समान गहराई तक डूबा है। इसी समान गहराई वाले तल को उन्होंने 'क्षतिपूर्ति तल' बताया (चित्र 3.2)। अपने इस प्रायोगिक निष्कर्ष के आधार पर प्राट ने 'Uniform depth with varying density' (समान गहराई लेकिन भिन्न घनत्व) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

3.2.4.3 हेफोर्ड तथा बोवी की संकल्पना

परिचय एवं संकल्पना की प्रक्रिया : अमेरिकन विद्वान जे०एफ० हेफोर्ड (1910) तथा डब्लू० बोवी (1917) ने एयरी के प्लवन सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए प्राट के मत से मिलती–जुलती अपनी संकल्पना का प्रतिपादन किया।

इनकी अवधारणा के अनुसार– भूपटल के नीचे 112 किलोमीटर की गहराई पर एक ऐसा तल है जिसके ऊपर घनत्व में अन्तर मिलता है और उसके नीचे घनत्व समान होता है। इस तल को उन्होंने 'समतोल तल' (क्षतिपूर्ति तल) कहा है, जहाँ किसी भी प्रकार की गुरुत्व वह विसंगति नहीं पाई जाती है। इस तल के ऊपर कम घनत्व वाले चट्टानी भागों की ऊँचाई अधिक तथा अधिक घनत्व वाले चट्टानी भागों की ऊँचाई कम होगी।

प्रयोग द्वारा संकल्पना की पुष्टि : अपनी 'समतोल तल (क्षतिपूर्ति तल) की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए इन विद्वानों ने एक प्रयोग किया। उन्होंने भिन्न घनत्व वाली धातुओं– चाँदी (10.5), जस्ता (7.1), पाइराइट (5.1), टिन (7.3), लोहा (7.8), निकल (6.7), तांबा (8. 9) तथा सीसा (11.4) के समान चौड़ाई तथा मोटाई के टुकड़ों को लिया। इन टुकड़ों की लम्बाई अलग–अलग थी, ताकि उनके द्रव्यमान बराबर रहें। इन सभी टुकड़ों को पारे से भरे बेसिन में डुबो दिया गया। देखा यह गया कि सभी टुकड़ों के निचले तल समान गहराई पर बराबर की स्थिति में थे और कम घनत्व वाले टुकड़े अधिक ऊँचाई में तथा अधिक घनत्व वाले टुकड़े कम ऊँचाई में स्थित थे। अपने इस प्रयोग द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया कि आन्तरिक मैदान पर्वत–पठार, तटवर्ती मैदान एवं तट से दूर क्षेत्र विभिन्न आयतन वाले होने के बावजूद अपने विशिष्ट घनत्व के कारण समतोल तल (क्षतिपूर्ति तल) पर समान भार उपस्थित कर सन्तुलित रहते हैं (चित्र 3.3)। इस प्रकार हेफोड एवं बोवी ने 'Equal mass beneath equalhorizontal area' (समान क्षैतिज क्षेत्रों के नीचे समान द्रव्यमान) की संकल्पना का प्रतिपादन किया।

मूल्यांकन : अन्य संकल्पनाओं की तरह यह संकल्पना भी दोष विहीन नहीं है –

1. धरातलीय सतह से 112 किलोमीटर की गहराई पर समतोल तल (क्षतिपूर्ति तल) की अवधारणा भ्रामक है, क्योंकि पृथ्वी के अभ्यन्तर में भू–संचालनों की इतनी अधिक घटनाएं सम्पन्न होती हैं कि इस तल का स्थायित्व सम्भव नहीं है।

2. आन्तरिक भाग में क्रमिक रूप से गहराई के साथ बढ़ते तापमान के कारण चट्टानों का गलनांक आ जाने से चट्टानें पिघल जाएंगी और समतोल कल का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

3. पृथ्वी का भू भाग क्षैतिज परत के रूप में माना है, जबकि हेफोर्ड–बोवी इसे लम्बवत् स्तम्भ के रूप में माना है, जो गलत है।

4. गिलानी और हंटर (1932) ने स्पष्टतः कहा है कि हेफोर्डियन क्षतिपूर्ति के संदर्भ में भू–सन्तुलन अनुचित एवं भ्रामक है, अतः इसे छोड़ देना चाहिए।

3.2.4.4 हीस्कैनन की संकल्पना

यह संकल्पना वास्तव में एयरी एवं प्राट की संकल्पनाओं का मिश्रित रूप है, जिसे हीस्कैनन ने सन 1933 ई० में एक नए कलेवर में प्रस्तुत किया। एयरी ने– "समान घनत्व किन्तु भिन्न मोटाई वाले स्तम्भ" की अवधारणा को स्वीकार किया था, जबकि प्राट ने 'समान गहराई लेकिन भिन्न घनत्व' की अवधारणा को माना था। हीस्कैनन का मानना है कि एक भूस्तम्भ (अर्थात् पर्वत, पठार, मैदान) के विभिन्न भागों (ऊपर से नीचे तक) तथा विभिन्न स्तम्भों के घनत्व में अन्तर होता है। कम ऊँचे स्तम्भ का घनत्व अधिक तथा अधिक ऊँचे भूकम्प का घनत्व कम होता है। इसी तरह एक ही भू–स्तम्भ के ऊपरी भागों में घनत्व कम तथा सबसे निचले भाग में घनत्व अधिक होता है। इसी तरह सागर तल के नीचे जाने पर घनत्व बढ़ जाता है। अपने इस विचार के साथ ही हीस्कैनन ने प्रतिपादित किया कि– "समस्थिति का सिद्धान्त अब एक संकल्पना न होकर पूर्ण प्रतिष्ठित सिद्धान्त है।"

3.2.4.5. जोली का संकल्पना

परिचय – प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री जे० जोली ने सन 1925 ई० में अपनी पुस्तक 'The Surface History of the Earth' में भू–सन्तुलन के सन्दर्भ में हेफोर्ड–बोवी की 'समान क्षैतिज क्षेत्रों के नीचे समान द्रव्यमान' तथा 'समतोल तल' की अवधारणा का खण्डन करते हुए तथा एयरी के विचार से कुछ साम्य रखते हुए अपनी एक अलग संकल्पना का प्रतिपादन किया। उनकी यह संकल्पना एक रेखा के रूप में किसी 'समतोल तल' या 'क्षतिपूर्ति तल' की अवधारणा को अस्वीकार कर 16 किलोमीटर मोटे 'क्षतिपूर्ति मण्डल' की अवधारणा को स्वीकार करती है।

संकल्पना का स्वरूप : इस मत के अनुसार– भूपटल लगभग समान घनत्व वाले हल्के सियाल पदार्थों से निर्मित है, जिसका औसत घनत्व 2.67 है तथा अधो भाग भारी पदार्थों वाले सीमा से निर्मित है जिसका औसत घनत्व 3.0 है। सियाल के नीचे लगभग 16 किलोमीटर मोटी एक परत है, जिसके घनत्व में परिवर्तन पाया जाता है। इसी 16 किलोमीटर मोटी परत में भूपटल के हल्के घनत्व वाले ऊँचे भाग अधिक गहराई तक तथा अपेक्षाकृत भारी घनत्व वाले नीचे भाग कम गहराई तक डूबे रहते हैं। इस असमान घनत्व वाली 16 किलोमीटर मोटी परत में डूबे हुए भू–पृष्ठीय भागों का निचला तल एक समान न होकर भिन्न–भिन्न रहता है। इसी 16 किलोमीटर मोटी परत को जोली ने 'क्षतिपूर्ति मण्डल' (Zone of Compensation) कहा है।

निष्कर्ष : निष्कर्षतः जोली की संकल्पना में भी एयरी की तरह प्लवनता के सिद्धान्त का पुट मिलता है। यदि यह कहा जाए कि यह विचारधारा पूर्ववर्ती कई विचारधाराओं का संयुक्त एवं परिष्कृत रूप है, तो अत्युक्ति न होगी (चित्र 3.4)।

3.2.4.6 आर्थर होम्स की संकल्पना

परिचय : ब्रिटिश भूगर्भशास्त्री आर्थर होम्स ने अपनी पुस्तक 'Principles of Physical Geology' में अपनी भूसन्तुलन की संकल्पना का विस्तृत विवेचन किया है। इनका विचार भी एयरी के मत से पर्याप्त साम्य रखता है।

संकल्पना का स्वरूप : अपनी भू–सन्तुलन संकल्पना में होम्स ने चार तथ्य स्पष्टतः व्यक्त किए हैं –

1. समग्र भूपटल का निर्माण हल्के सियाल पदार्थों से हुआ है, जिसका औसत घनत्व 2.7 है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि भूपटल की ऊपरी परत का घनत्व 2.7 से कम तथा गहराई की ओर बढ़ता हुआ निचली परत तक 2.9 हो जाता है। यह निचली परत रवेदार? सीमा द्वारा निर्मित है तथा यही सागरीय तलहटी का निर्माण करती है।

2. भूकम्प विज्ञान के आधार पर होम्स ने माना कि महाद्वीपों की अधिकतम मोटाई पर्वतों, पठारों, सागर तटीय क्षेत्रों तथा महासागरों के नीचे क्रमशः 54, 36, 30 एवं 5 किलोमीटर है।

3. होम्स ने महाद्वीपों को मैण्टिल सीमा, (जिसका घनत्व 3.3 है) पर हिमशैल की तरह डूबते हुए तैरता माना है। इस तरह होम्स ने अपने इस मत में 'जड़ संकल्पना' को स्वीकार किया है।

4. सागर तल से 50 किलोमीटर की गहराई पर विभिन्न घनत्व वाले पदार्थों का दबाव समान है। होम्स ने इस स्थल को 'भू–सन्तुलन की क्षतिपूर्ति' 'Isostatic Compensation' कहा है।

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में होम्स ने बताया कि भूपटल के ऊँचे भागों की स्थिरता (सन्तुलन) इसलिए मिलती है कि उनके नीचे पर्याप्त गहराई तक कम घनत्व वाले हल्के पदार्थ पाए जाते हैं तथा निचले भागों के नीचे अपेक्षाकृत अधिक घनत्व वाले पदार्थ पाए जाते हैं (चित्र 3.5)।

निष्कर्ष : निष्कर्षतः होम्स ने यह स्पष्ट किया है कि– "भूपटल पर अभी तक पूर्ण रूप से सन्तुलन की दशा स्थापित नहीं हो सकी है, यद्यपि कि पूर्ण सन्तुलन की दशा दृष्टिगत होती है।

3.3 ज्वालामुखी तथा उनसे उत्पन्न भूआकृतियां

3.3.1 ज्वालामुखी :

'ज्वालामुखी' शब्द हिन्दी भाषा के दो पदों– 'ज्वाला' तथा 'मुखी' से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ एक ऐसे मुख से है, जिससे आग की ज्वालाएं (लपटें) निकलती हैं। वस्तुतः ये आग की लपटें नहीं होती, बल्कि अत्यन्त तप्त मैगमा के निकलने से ज्वाला का आभास होता है। ज्वालामुखी का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Volcano' है, जिसकी उत्पत्ति रोम के 'वलकेन' शब्द से हुई है। 'वलकेन' रोमवासियों के अग्नि देवता हैं।**पी०जी० वारसेस्टर (1939)** के अनुसार– "ज्वालामुखी प्रायः एक गोल या लगभग गोल आकार का छिद्र अथवा खुला भाग होता है, जिससे होकर पृथ्वी के अत्यन्त तप्त भूगर्भ से गैस, जल तरल लावा तथा चट्टानों के टुकड़ों से युक्त गर्म पदार्थ पृथ्वी के धरातल पर प्रकट होते हैं।"'

3.3.3 ज्वालामुखी–क्रिया

'ज्वालामुखी–क्रिया' में भूगर्भ में तथा भूसतह पर घटित होने वाली समस्त क्रियाएं सम्मिलित हैं, यथा–भूगर्भ में मैगमा का प्रादुर्भाव, उसके साथ मिली–जुली वाष्प एवं गैसों का उद्‌भव, इन सबका ऊपर की ओर प्रवाह तथा विभिन्न स्तरों पर फैलाव या जमाव एवं भूसतह पर विभिन्न स्वरूप धारण करना आदि।

3.3.4 ज्वालामुखी क्रिया के रूप

ज्वालामुखी क्रिया के प्रायः दो रूप होते हैं (अ) आभ्यान्तरिक (ब) वाह्य।

(अ) आभ्यान्तरिक रूप : ज्वालामुखी–क्रिया के आभ्यान्तरिक रूप में भूपृष्ठ के नीचे क्रस्ट और मैण्टिल में मैगमा एवं गैसों के निर्माण एवं ऊपर की ओर प्रवाह एवं प्रसार की घटनाएं सम्पन्न होती हैं। इनके द्वारा कभी–कभी आन्तरिक भाग में मैगमा के घनीभूत होने से ठोस रूप में स्थल रूपों (बैथोलिथ, फैकोलिथ, सिल, डाइक आदि) का निर्माण होता है।

(ब) वाह्य रूप : ज्वालामुखी–क्रिया के बाह्य रूप में तप्त पदार्थ एवं गैसों के धरातल पर प्रकट होने की सारी क्रियाएं, यथा– मैगमा का धरातलीय प्रभाव, ऊष्ण जल सोते, गेसर, धुँआरे, पंक निस्सरण आदि सम्मिलित है।

3.3.5 ज्वालामुखी से निःसृत पदार्थ

ज्वालामुखी से निःसृत पदार्थ अनेक प्रकार के होते हैं। अवस्था के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– (अ) ठोस पदार्थ, (ब) द्रव पदार्थ, (स) गैसीय पदार्थ एवं जलवाष्प।

(अ) ठोस पदार्थ : ठोस पदार्थों का आकार सूक्ष्म कणों से लेकर कई मीटर व्यास के विखण्डित शिलाखण्डों तक होता है। संयुक्त रूप से 'ज्वालामुखी पदार्थ' या 'पायरोक्लास्ट' कहते हैं। सबसे बड़े टुकड़ों को 'ब्लॉक' कहते हैं। नुकीले टुकड़ों को 'ब्रेसिया' कहा जाता है। गोल, अण्डाकार या नाशपातीनुमा टुकड़ों को 'ज्वालामुखी बम' कहते हैं। मटर के दानों सदृश्य टुकड़ों को 'लैपिली' तथा इससे भी छोटे आकार के टुकड़ों को 'स्कोरिया' कहा जाता है। गैसों के मिश्रण से वायु में ठोस हुए लावा के स्पंज के समान क्षेत्र में टुकड़ों को 'झमक' या 'प्यूमाइस' कहते हैं। अत्यन्त छोटे पदार्थों को ज्वालामुखीय बालू, धूल या राख कहते हैं।

(ब) द्रव पदार्थ : ज्वालामुखी उद्‌गार के साथ पिघलता हुआ पदार्थ बाहर आता है तो उसे 'लावा' कहते। सिलिका की मात्रा के आधार पर इसे दो वर्ग है –

(i)अम्लीय लावा : सिलिका की मात्रा अधिक होती है।

(ii) क्षारीय लावा : इसमें सिलिका की मात्रा कम, किन्तु लोहा एवं मैग्नीशियम की मात्रा अधिक होती है। इसके, विखण्डित होने या जमने के स्वरूप के आधार पर कई नाम ं है, यथा– लावा ब्लॉक, लावा आहे, पीलो लावा, लावा टनल आदि।

(स) गैसीय पदार्थ : कई प्रकार के गैसीय पदार्थ निःसृत होते हैं। इन पदार्थों में जलवाष्प की मात्रा 60 प्रतिशत से 90 प्रतिशत तक होती है। शेष गैसीय पदार्थों में कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन, सल्फर डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन ऑक्साइड आदि गैसें प्रमुख है। गैस पदार्थ ही ज्वालामुखी उद्‌गार की प्रेरक शक्ति होते हैं।

3.3.6 ज्वालामुखी अग

ज्वालामुखी की सम्पूर्ण रचना उसकी आभ्यान्तरिक एवं बाह्य क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होती है। भूपटल का वह छिद्र या दरार, जिससे भूगर्भ का अत्यन्त तप्त मैगमा जैसे जलवाष्प एवं विखण्डित ठोस पदार्थ प्रकट होता है, 'ज्वालामुखी छिद्र' या 'ज्वालामुखी दरार' कहा जाता है। निःसृत पदार्थ जब ज्वालामुखी छिद्र के चारों तरफ क्रमशः जमा होने लगते हैं, तो 'ज्वालामुखी शंकु' का निर्माण होता है। जब शंकु काफी बड़ा हो जाता है, तो उसे 'ज्वालामुखी पर्वत' कहा जाता है। शंकु का ऊपरी गर्त, जो ज्वालामुखी छिद्र के ऊपर

स्थित होता है, 'क्रेटर' कहलाता है। कभी–कभी क्रेटर का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है, तो उसे 'काल्डेरा' कहते हैं। क्रेटर से भूगर्भ को जोड़ने वाली नलिका 'ज्वालामुखी नली' या 'द्रोणी' कहलाती है। कभी–कभी इस द्रोणी से कुछ उपनलिकाएँ भी निकली होती हैं, जो मुख्य शंकु पर छोटे शंकु का निर्माण करती हैं, इन्हें 'परिपोषित शंकु' कहते हैं। कम्पोजित शंकु के (चित्र 3.7) द्वारा ज्वालामुखी संरचना को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

3.3.7 ज्वालामुखी उद्‌गार के कारण

वस्तुतः निम्नलिखित तथ्यों में ही इसके कारणों की व्याख्या निहित है –

- भूपटल के निर्बल क्षेत्रों में एक नवीन पर्वतीय क्षेत्रों में 'ज्वालामुखियों' का पाया जाना स्पष्ट करता है कि इस क्रिया का सम्बन्ध धरातलीय संरचना उसकी निर्माण प्रक्रिया एवं भूकम्प से है, लेकिन हिमालय पर्वतीय क्षेत्र इसका अपवाद है। हिमालय की संरचना नवीन एवं वलित है,

- जल एवं ज्वालामुखी उद्‌गार में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

- दरारें उद्‌भेदनों में बेसाल्टिक लावा का 90 प्रतिशत से अधिक निस्सरण यह स्पष्ट करता है कि इसका सम्बन्ध भूगर्भ की एक ऐसी परत है, जो तरल या ठोस बेसाल्ट की बनी है,

- केन्द्रीय उद्‌भेदनों में सभी आग्नेय शैलों का मिलना इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि ज्वालामुखी उद्‌गार का सम्बन्ध किसी परत विशेष से नहीं है।

- उद्‌गार के समय तक लावा का निकलना उद्‌गार एवं तापमान के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों का द्योतक है।

- प्लेट टेक्टानिक्स

सारांशत ज्वालामुखी उद्‌गार की प्रक्रिया इसके कारणों का स्पष्ट संदेश देती है। इसे क्रमशः इस रूप में समझा जा सकता है– भूगर्भ में स्थाई या स्थानीय रूप से रेडियोधर्मी पदार्थों के विघटन के कारण ताप का अधिक होना– अत्यधिक ताप के कारण या दबाव के कम हो जाने पर गलनांक के गिरने से लावा भंडार की उत्पत्ति– गैसों एवं जलवाष्प की उत्पत्ति लावा का ऊपर की ओर प्रवाह।

3.3.8 ज्वालामुखियों का वर्गीकरण

वर्गीकरण के दो आधार हैं– (1) उद्‌गार के स्वरूप एवं तीव्रता के आधार पर, (2) उद्‌गार की अवधि के आधार पर।

3.3.8.1 उदगार के स्वरूप एवं तीव्रता के आधार पर वर्गीकरण

इस आधार पर ज्वालामुखी दो वर्गों में विभक्त है– (अ) केन्द्रीय उद्भेदन वाले ज्वालामुखी, (ब) दरारें उद्भेदन वाले ज्वालामुखी।

(अ) केन्द्रीय उद्भेदन वाले ज्वालामुखी : विनाशकारी स्वभाव है इन ज्वालामुखियों का विस्फोट प्रायः एक सकरी नदी या द्रोणी के सहारे एक छिद्र से होता है।

(i) **हवायन तुल्य ज्वालामुखी** : इसका उद्गार शान्त ढंग से होता है। इनसे निकलने वाला लावा पतला, गैसों की मात्रा कम एवं विखण्डित पदार्थ नगण्य होते हैं। ऐसे उद्गार प्रायः हवाह्य द्वीप पर अधिक होते हैं, इसलिए ऐसे स्वभाव वाले सभी ज्वालामुखियों को हवाइयन तुल्य ज्वालामुखी कहा जाता है।

(ii) **स्ट्रांबोलियन तुल्य ज्वालामुखी :** हवाइयन तुल्य ज्वालामुखियों की तुलना में इनका उद्गार अपेक्षाकृत तीव्र होता है। इनसे निकलने वाला लावा कुछ गाढ़ा तथा गैसों एवं विखण्डित पदार्थों की मात्रा कुछ अधिक होती है। तीव्रता के कारण विखण्डित पदार्थ काफी ऊँचाई तक ऊपर उछाल दिए जाते हैं। भूमध्यसागर मे स्ट्रांबोली हैं। ऐसे ज्वालामुखियों को 'स्ट्रांबोलियन तुल्य ज्वालामुखी' कहा जाता है।

(iii) वलकैनियन तुल्य ज्वालामुखी : इसका उदगार अत्यन्त तीव्र, भयंकर एवं विनाशकारी होता है। लावा अत्यन्त गाढ़ा एवं चिपचिपा होता है, जो प्रायः क्रेटर में ही जमकर उसके मुख को बन्द कर देता है। इसलिए अगला विस्फोट एकत्रित गैसों की तीव्रता के कारण अत्यन्त भयंकर होता है। राख और धूल के विशालकाय बादल आकाश में काफी ऊँचाई तक गोभी के फूल की आकृति में छा जाते हैं। लिपारी द्वीप समूह में वलकैनो ज्वालामुखी के नाम पर ऐसे ज्वालामुखियों को 'वलकैनियन तुल्य ज्वालामुखी कहा जाता है।

(iv) **पीलियन तुल्य ज्वालामुखी :** सर्वाधिक विनाशकारी एवं विस्फोटक तथा अति भयंकर स्वभाव वाले ज्वालामुखियों को इस श्रेणी में रखा जाता है। इससे निःसृत लावा अत्यन्त गाढ़ा एवं चिपचिपा होता है, जो शीघ्र ही जमकर ज्वालामुखी मुख को बन्द कर देता है, इसलिए अगला उद्गार बेहद शक्तिशाली एवं भयंकर होता है। इससे निःसृत पदार्थों की मात्रा सर्वाधिक होती है। पश्चिमी द्वीप समूह के मार्टिनिक द्वीप पर पीलियन तुल्य ज्वालामुखी के नाम पर ऐसे स्वभाव वाले ज्वालामुखियों को 'पीलियन तुल्य ज्वालामुखी' कहते हैं।

(v) विसुवियस तुल्य ज्वालामुखी : इनका उद्गार प्रायः वलकैनियन की ही भाँति होता है, लेकिन इसमें गैसों का वेग अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण राख एवं धुँए का बादल अत्यधिक ऊँचाई पर पहुँचकर पहले गोभी के फूल के सदृश तथा बाद में गोलाकार रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार का उद्भेदन सन 1979 ई० में इटली के विसूवियस में हुआ था, जिसका प्रथम सर्वेक्षण प्लिनी महोदय ने किया था। अतः ऐसे उद्गार वाले ज्वालामुखियों को 'विसूसियस तुल्य' या 'प्लीनियन तुल्य' ज्वालामुखी कहा जाता है।

(ब) दरारी उद्भेदन वाले ज्वालामुखी : ज्वालामुखियों का उद्गार एक या कई लम्बी दरारों से अत्यन्त शान्त रूप में होता है। शांतिपूर्वक प्रवाहित होते हुए लावा के साथ पायरोक्लास्टिक पदार्थों एवं गैसों की मात्रा अत्यन्त न्यून होती है। विगत भूगर्भिक काल में भारतीय प्रायद्वीप पर इसी तरह का ज्वालामुखी उद्गार हुआ था। सन् 1783 ई० में आइसलैण्ड में एक 27 किलोमीटर लम्बी दरार से होकर लावा का उद्गार हुआ था। (चित्र 3.9)।

3.3.8.2 उद्गार की अवधि के आधार पर वर्गीकरण

सक्रियता के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है– (अ) सक्रिय या जागृत ज्वालामुखी, (ब) प्रसुप्त ज्वालामुखी, (स) शांत ज्वालामुखी।

(अ) सक्रिय या जागृत ज्वालामुखी : ऐसे ज्वालामुखी, जिनके विस्फोट के बाद उनके मुख या छिद्र से गैस, लावा, राख, जलवाष्प आदि का प्रवाह निरन्तर होता रहता है, जागृत ज्वालामुखी कहा जाता है। भूमध्य सागर का स्ट्रांबोली ज्वालामुखी इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। विश्व में सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या लगभग 500 है।

(ब) प्रसुप्त ज्वालामुखी : ऐसे ज्वालामुखी जो दीर्घकाल तक शान्त रहने के बाद अचानक फिर सक्रिय हो जाते हैं, उन्हें प्रसुप्त ज्वालामुखी कहा जाता है। विसुवियस ज्वालामुखी उदाहरण है।

(स) शान्त ज्वालामुखी : ज्वालामुखी जो एक बार उद्गार के पश्चात् आजतक शांत है। सामान्यतया इनके क्रेटर में पानी भर जाने के कारण झील बन जाती है। बर्मा का पोपा तथा कोह सुल्तान इसी प्रकार के शांत ज्वालामुखी है।

3.3.9 ज्वालामुखियों का भौगोलिक वितरण

विश्व स्तर पर ज्वालामुखियों के तीन मुख्य क्षेत्र हैं –

(अ) प्रशान्त पेटी, (ब) मध्य महाद्वीपीय पेटी, (स) मध्य अटलांटिक पेटी।

(अ) प्रशान्त पेटी : इस पेटी का विस्तार प्रशान्त महासागर के चारों ओर है, इसीलिए यह पेटी अग्निवल 'Ring of Fire' भी कहलाती है। इस पेटी के महत्वपूर्ण ज्वालामुखी फ्यूजीयामा (जापान) माउण्ट ताल, मेंयान (फिलीपाइन) शस्ता, टेनियर, हुड (यू०एस०ए०) चिम्बरेजो, कोटोपैक्सी (इक्वाडो)र आदि है। फिलीपाइन एवं इक्वाडोर इस शृंखला के सबसे प्रमुख ज्वालामुखी केन्द्र है।

(ब) मध्य महाद्वीपीय पेटी : यह पेटी यूरेशिया महाद्वीप के मध्यवर्ती भाग में नवीन पर्वत शृंखलाओं के सहारे पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत है। इस पेटी की कई शाखाएं हैं। भूमध्यसागर, ईरान, काकेशस, आर्मीनिया, इण्डोनेशिया एवं पूर्वी अफ्रीका के ज्वालामुखी इस पेटी के अन्तर्गत आते हैं।

(स) मध्य अटलांटिक पेटी : अटलांटिक महासागर के मध्यवर्ती कटक के सहारे यह पेटी विस्तृत है। इसका मुख्य क्षेत्र लघु एंटीलीस से लेकर दक्षिण एंटीलीस तक है।

उपरोक्त तीनों पेटियों के अलावा कुछ बिखरे क्षेत्रों में भी ज्वालामुखी पाए जाते हैं। इनमें अधिकांश हिन्द महासागर तथा अण्टार्कटिका महाद्वीप के चारों ओर स्थित द्वीपों पर मिलते हैं।

3.3.10 ज्वालामुखी क्रिया से उत्पन्न भू आकृतियां

ज्वालामुखी क्रिया चूँकि भूगर्भ एवं भूपृष्ठ दोनों से ही सम्बन्धित है, अतः इनसे बनने वाले स्थलाकृतियों को दो भागों में बांटा जा सकता है– (1) आभ्यान्तरिक स्थलाकृतियाँ (2) वाह्य स्थलाकृतियाँ।

3.3.10.1 आभ्यान्तरिक स्थलाकृतियां

ये वे भूआकृतियां होती हैं, जिनका निर्माण पृथ्वी के आन्तरिक भाग में ही दरार आदि में मैगमा के जमा हो जाने से होता है। इन्हें आभ्यान्तरिक भूआकृतियां कहा जाता है। प्रमुख भू–आकृतियां निम्न है (चित्र 3.10) –

बैथोलिथ : जब आन्तरिक भाग में लावा का जमाव काफी गहराई तक एक असमान गुम्बदाकार रूप में हो जाता है, तो उसे बैथोलिथ कहते हैं।

(ii) लैकोलिथ : पृथ्वी के आन्तरिक भाग में मैगमा निर्मित वृहद आकार का होता है, उत्तल ढाल होता है। यह परतदार चट्टानों के बीच पाए जाते हैं।

(iii) फैकोलिथ : मोड़दार पर्वतों की अपनतियों एवं अभिनतियों में लावा के जमाव से फैकोलिथ आकृति का निर्माण होता है। न्यू हैम्पशायर क्षेत्र में मेस्कोमा फैकोलिथ उसका प्रमुख उदाहरण है।

(iv) लोपोलिथ : आन्तरिक भाग में जब लावा का जमाव नतोदर आकार वाली परतदार शैलों के मध्य होता है, तो तश्तरीनुमा आकृति बनती है, जिसे लोपोलिथ कहा जाता है। अफ्रीका के ट्रांसवाल क्षेत्र में ऐसी आकृतियां पाई जाती हैं।

(v) सील एवं शीट : आन्तरिक भाग में जब मैगमा परतदार चट्टानी स्तरों के मध्य क्षैतिज (परतों के समानान्तर) मोटी परत के रूप में जम जाता है, तो उसे सिल कहते हैं। इसकी मोटाई कई मीटर तक होती है। मोटाई कम (पतली) होती है तो उसे शीट कहते हैं।

(vi) डाइक : जब मैगमा किसी दरार में लम्बवत् रूप में जम जाता है तो उसे डाईक कहते हैं। वस्तुतः यह सिल का लम्बवत स्वरूप है। ऊपरी सतह के अपरदन के पश्चात् डाइक एक ऊँची दीवार की भाँति दिखाई देती है,

(vii) स्टाक तथा बास : यह बैथोलिथ का ही ग्रुप है, जिसका स्वरूप गोलाकार एवं क्षेत्र छोटा होता है। स्टॉक का लघु रूप बास कहलाता है।

3.3.10.2 वाह्य स्थलाकृतियां

प्रमुख वाह्य स्थलाकृतियाँ निम्नलिखित हैं –

(i) उदगार छिद्र : ज्वालामुखी प्रक्रिया में उद्‌गार छिद्र से भूगर्भिक पदार्थ धरातल पर प्रकट होते हैं।

(ii) ज्वालामुखी शंकु : ज्वालामुखी–प्रक्रिया द्वारा निर्मित यह ऊँचे उठे हुए भाग होते हैं। इनका आकार शंकु जैसा या त्रिकोणाकार होता है। यह शंकु कई प्रकार (चित्र 3.11) होते हैं।

सिण्डर शंकु : इनके निर्माण में ज्वालामुखी धूल राख एवं विखण्डित पदार्थों का सहयोग होता है। ये प्रायः कम ऊँचे होते हैं एवं ढाल क्रेटर की तरफ अवतल होता है। इसमें तरल पदार्थों का योग नहीं होता।

मिश्रित या कम्पोजिट शंकु : ज्वालामुखी छिद्र से निःसृत विविध प्रकार के ज्वालामुखी पदार्थों के क्रमशः परतों के रूप में जमने के कारण निर्मित इन शंकुओं को 'मिश्रित' या 'कम्पोजिट' शंकु कहते हैं।

परपोषित शंकु : ज्वालामुखी शंकु के अति अधिक विस्तार हो जाने के कारण उसकी मुख्य श्रेणी से अनेक उपशाखायें निकल आती है। इन उपशाखाओं के मुखों से भी लावा आदि पदार्थ निकल कर मुख्य शंकु के पृष्ठ पर जमा होने लगते हैं। चूँकि इन छोटे–छोटे शंकु का पोषण ज्वालामुखी की मुख्य नली से ही होता है, इसलिए इन्हें 'आश्रित', 'परजीवी' या परपोषित शंकु कहते हैं।

पैठिक लावा शंकु : सिलिका की न्यूनता के कारण अत्यन्त तरल लावा जब छिद्र से निकलकर काफी दूर तक प्रवाहित होकर ठोस होता है तो उसे क्षारीय लावा शंकु, बेसिक लावा शंकु या पैठिक लावा शंकु कहते हैं। आकार में चपटे, कम ऊँचे एवं विस्तृत स्वरूप एक शील्ड की तरह दिखाई देते हैं, 'शील्ड शंकु' कहते है।

एसिड लावा शंकु : सिलिका की अधिकता के कारण अत्यन्त गाढ़ा एवं चिपचिपा लावा जब छिद्र से निकलता है कमदूरी मे शीघ्र जमकर ठोस हो जाता है, उत्तल ढाल के शंकों का निर्माण होता है। इसे स्ट्राम्बोली प्रकार का शंकु भी कहते हैं।

गाइआट शंकु : वस्तुतः यह अन्तर समुद्री ज्वालामुखी उद्‌गारों से निर्मित शंकु है, जिनकी ऊपरी चोटी के समुद्री लहरें काटकर सपाट कर देती है। इनकी ऊँचाई तलहटी से लगभग 800 मीटर होती है।

(iii) ज्वालामुखी डाट : जब ज्वालामुखी शान्त हो जाता है तो उनसे निर्मित मिश्रित शंकु का धीरे–धीरे अपरदन होने लगता है, किन्तु ज्वालामुखी ग्रीवा में जमे हुए अपेक्षाकृत कठोर लावा का अपरदन नहीं हो पाता और वह दीवाल की भाँति खड़ा रहता है। इसे 'ज्वालामुखी डाट कहते हैं।

(vi) लावा गुम्बद : यह अम्लीय लावा शंकु का ही विशिष्ट स्वरूप है जिसमें लावा का जमाव गुम्बदाकार होता है। ढाल में उत्तलता अधिक होती है और ऊँचाई कुछ मीटर से सैकड़ों मीटर तक हो सकती है। इसके शीर्ष पर क्रेटर नहीं पाया जाता।

(v) क्रेटर : ज्वालामुखी छिद्र को 'क्रेटर' कहते हैं। इनकी आकृति कीपाकार होती हैं व्यास 300 मीटर से 400 मीटर तक होता है। ज्वालामुखी उद्‌गार के साथ क्रेटर का आकार भी बढ़ता है। आकार एवं ढाल में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

(v) काल्डेरा : काल्डेरा क्रेटर का ही विशाल रूप है। इसके निर्माण के विषय में दो संकल्पनाएं प्रचलित हैं–**प्रथम विस्फोटक द्वारा**; डेली इस मत के प्रमुख समर्थक हैं। **द्वितीय धँसाव द्वारा;** कोल्डेरा के विविध रूप निम्नलिखित हैं।

विस्फोटी काल्डेरा : जब किसी ज्वालामुखी का पूर्ववर्ती क्रेटर किसी भयंकर विस्फोट के कारण उड़ जाता है, तो वहाँ एक विशाल गर्त बन जाता है।

निपात काल्डेरा : जब किसी ज्वालामुखी का पूर्ववर्ती क्रेटर विस्फोट के पश्चात वहीं नीचे धसक जाता है,

घोसलादार काल्डेरा :काल्डेरा के अन्दर पुनः उद्‌गार होने से एक या अनेक छोटे–छोटे शंकु निर्मित हो जाते हैं, तो उसे 'घोसलादार काल्डेरा' कहते हैं।

सुपर काल्डेरा : अत्यधिक विस्तृत काल्डेरा को 'सुपर' या 'दीर्घ काल्डेरा' कहा जाता है।

(vii) लावा पठार : जब लावा का प्रवाह किसी दरार के सहारे शान्तिपूर्वक तरीके से होता है, एक विशाल प्रदेश उस अनवरत हुए लावा प्रवाह से भर जाता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप एक विस्तृत पठारी आकृति का निर्माण होता है, जिसे 'लावा पठार' कहते हैं। भारत का दकन का पठार ऐसे ही लावा पठार है

(viii) लावा मैदान : जब दरारी प्रवाह से निकला हुआ लावा अत्यन्त पतला व मात्रा में कम होता है, तो वह धरातल की सतह को भरकर उसे सपाट व चौरस बना देता है। इसे 'लावा मैदान' कहते हैं।

(ix) मेसा तथा बूटे : जब किसी लावा पठार या मैदान पर नदियों के अपरदन से लावा की परतें धीरे–धीरे नष्ट होने लगती हैं, तो कालान्तर में कठोर लावा की खड़ी अवशेष चट्टाने 'मेसा' कहलाती हैं, जबकि टोपी के रूप में अवशेष चट्टाने 'बूटे' कहलाती हैं।

(x) ज्वालामुखी द्वीप :जब ज्वालामुखी का उद्‌गार सागर तली पर होता है, तो उसका शंकु विकसित होता हुआ सागर सतह के ऊपर आ जाता है। 'ज्वालामुखी द्वीप' कहते हैं।

(xi) गेसर या गीजर : कतिपय ज्वालामुखी क्षेत्रों में खौलते जल के ऐसे फव्वारे पाए जाते हैं, जिनसे अनवरत या कुछ अन्तराल पर उछाल के साथ अत्यन्त उष्ण जल एवं वाष्प तीव्रता से निकलती है। इन्हीं प्राकृतिक फव्वारों को 'गीजर' या 'गेसर' कहा जाता है। **पी०जी० वारसेस्टर (1939)** के अनुसार– "'गीजर या गेसर' उष्ण जल के स्रोत होते हैं, जिनसे जल फव्वारे के रूप में निकलता है। इनकी उत्पत्ति के विषय में यह मत प्रायः सर्वमान्य है कि, इनकी उत्पत्ति तभी होती है, जब भूमिगत जल का सम्पर्क पृथ्वी के आन्तरिक तप्त भाग से हो जाता है। आइसलैण्ड में गेसर बहुतायत से पाए जाते हैं। गर्म जल का वाष्प के निष्कासन की मात्रा के आधार पर इन्हें दो वर्गों में बाँटा जाता है –

कुण्ड गेसर : ऐसे गेसरों में बड़े छिद्रों से अधिक प्रवाह होता है।

तंग गेसर : ये गेसर सँकरे छिद्र वाले होते हैं, जिनसे कम प्रवाह होता है।

(xii) धुँआरे : ज्वालामुखी प्रदेशों में ये कुछ ऐसे छिद्र होते हैं, जिनसे अनेक प्रकार की गैसें, धुएं के बादल एवं जलवाष्प लगातार निकलती रहती है। प्रायः धुँआरे ज्वालामुखी की अन्तिम अवस्था के प्रतीक होते हैं। अलास्का 'Valley of Ten Thousand Smokes' कहा जाता है जो धुँआरे गंधक प्रधान होते हैं,उन्हें 'सोलफतारा' कहते हैं।

3.4 भूकम्प :

पृथ्वी पर अकस्मात् कम्पन 'भूकम्प' कहलाता है। इस धरती पर मानव के लिए यह कोई नवीन घटना नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भूकम्प मानव के सम्मुख एक समस्या बनकर उपस्थित होता रहा है। प्राचीन काल में इसे दैवी प्रकोप समझा जाता था, लेकिन आज इसके तमाम वैज्ञानिक कारण खोज लिए गए हैं। इसके बावजूद आज भी इसकी भविष्यवाणी सम्भव नहीं है। वस्तुतः यह एक ऐसी महत्वपूर्ण आकस्मिक घटना है, जिसका सम्बन्ध भूगर्भ से है। वस्तुतः 'भूकम्प' भूगर्भ में क्षणिक अव्यवस्था जनित तरंगों के संचरण से उत्पन्न ऊर्जा का एक स्वरूप है, जिसका प्रवाह लहरों के रूप में अपने उत्पत्ति केन्द्र से चारों तरफ क्षैतिज रूप में होता है। ऊर्जा के इस उत्पत्ति केन्द्र को 'भूकम्प मूल' (Focus) कहते हैं और इस ऊर्जा से उत्पन्न लहरों का जहाँ सर्वप्रथम अनुभव किया जाता है, उसे 'भूकम्प केन्द्र' या अधिकेन्द्र (Epicentre) कहते हैं चित्र (3.12)।

3.4.2 भूकम्प की उत्पत्ति के कारण

भूकम्पों के आगमन का मूल कारण 'पृथ्वी की सन्तुलन व्यवस्था में आकस्मिक व्यतिक्रम का उत्पन्न होना है।' इस आकस्मिक व्यतिक्रम के कुछ सम्भावित कारण हो सकते हैं, जो निम्नलिखित हैं –

(i) विवर्तनिक घटनाएं : विवर्तनिक शक्तियां पृथ्वी के आन्तरिक भाग की चट्टानों में विक्षोभ पैदा करती है। 'तनाव' एवं 'सम्पीडन' कि शक्तियां भूगर्भिक हलचलों द्वारा भूपटल पर भ्रंशन एवं वलन उत्पन्न करतीहै तो भूकम्प का अनुभव किया जाता है।

(ii) ज्वालामुखी–क्रिया ज्वालामुखी जनित भूकम्पों की तीव्रता ज्वालामुखी उद्‌गार की तीव्रता पर निर्भर है। पृथ्वी के आन्तरिक भाग से बाहर प्रकट होने के लिए जब तप्त लावा, जलवाष्प एवं गैस से भूपटल पर धक्के लगाती है तीव्र भूकम्प उत्पन्न होता है।सन् 1883 ई० का क्राकाटोवा ज्वालामुखी विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प का प्रभाव 12800 कि0मी0 दूर द0 अमेरिका में हार्न अन्तरीप देखागया था।

(iii) समस्थितिक समायोजन :भूपटल पर्वत, पठार, मैदान, सागरतटीय क्षेत्र, सागरीय तलहटी सन्तुलन की अवस्था में मिलते हैं। जब कभी इनके सन्तुलन में क्षणिक या दीर्घकालिक आकस्मिक अव्यवस्था का आविर्भाव होता है, तो भूकमप का अनुभव किया जाता है। 4 मार्च सन् 1949 ई० में हिन्दुकोह का भूकम्प,

(iv) कृत्रिम जल भंडारण: इस कृत्रिम जल भंडारण से उत्पन्न भार एवं दबाव के कारण जल भंडार की तली के नीचे स्थित चट्टानों में संरचनात्मक परिवर्तन होने लगता है। 11 दिसम्बर, सन् 1967 का कोयना भूकम्प उदाहरण है।

(v) गैसों का फैलाव : जब पृथ्वी के आन्तरिक भाग में जल रिस कर नीचे पहुँच जाता है तो वह तप्त होकर जलवाष्प एवं गैसों का रूप धारण कर लेता है।गैसे भूपटल के नीचे धक्के लगाती हैं।जो भूकम्प का कारण बनता है।

(vi) भूपटल संकुचन :विकिरण प्रक्रिया द्वारा ताप ह्रास से पृथ्वी के आन्तरिक तापमान में गिरावट आ रही है; परिणामस्वरूप क्रस्ट (भूपर्पटी) में संकुचन उत्पन्न हो रहा है। संकुचन से उत्पन्न बल भी कभी–कभी भूकम्पों का कारण बनता है।

(vii) प्लेट विवर्तनिकी : इसके अनुसार स्थलमंडल एवं सागर तलहटी कठोर भूप्लेटों से निर्मित है। यह भूप्लेटें सदैव गतिशील रहती है। कहीं दो भूप्लेटें विपरीत दिशा में जाती हैं, तो कहीं परस्पर टकराती है। दोनों ही अवस्थाओं में भूकम्पों का आविर्भाव होता है। भूप्लेटों की एक तीसरी स्थिति (संरक्षी प्लेट सीमान्त) भी होती है, जिसमें दो प्लेटें एक–दूसरे के अगल–बगल सरक जाती है, जिससे रूपान्तर भ्रंश बनता है जो भूकम्पों को जन्म देता है। चित्र (3.13)।

(viii) अन्य कारण : , यथा– समुद्र तटीय क्षेत्र में कगारों का टूट कर नीचे गिरना, बेगवती सुनामिस लहरों का तटीय भाग से टकराना, कार्स्ट प्रदेशों में कन्दराओं की छतों का अकस्मात् नीचे गिरना, पर्वतीय क्षेत्रों में आकस्मिक भूस्खलन एवं हिमस्खलन, अणु बम परीक्षण आदि।

3.4.3 भूकम्पों का वर्गीकरण

भूकम्पों के स्वरूप, उनके उद्‌गम केन्द्रों की गहराई, उनकी उत्पत्ति के स्थान के आधार पर विद्वानों ने भूकम्पों का वर्गीकरण किया जौ निम्नवत् है –

3.4.3.1 स्वरूप के आधार पर भूकम्प का वर्गीकरण

ऐसे भूकम्प के दो वर्ग है– (अ) कृत्रिम भूकम्प, (ब) प्राकृतिक भूकम्प।

(अ) कृत्रिम भूकम्प :जिनकी उत्पत्ति मानवीय कार्यों (यथा–विस्फोट, परमाणु परीक्षण, सुरंग निर्माण) के परिणामस्वरूप होती है, उन्हें कृत्रिम भूकम्प कहते है।

(ब)प्राकृतिक भूकम्पवे भूकम्प जिनकी उत्पत्ति प्राकृतिक कारणों से होती है, ये भूकम्प विनाशकारी होते हैं पृथ्वी पर आने वाले अधिकांश भूकम्प इसी कोटि के होते हैं।

3.4.3.2 उद्‌गम केन्द्र की गहराई के आधार पर भूकम्पों का वर्गीकरण

ऐसे भूकम्पों के तीन वर्ग हैं– (अ) उथले भूकम्प, (ब) मध्यवर्ती भूकम्प, (स) गहरे भूकम्प।

(अ) उथले भूकम्प : इनका उद्‌गम केन्द्र धरातल से लगभग 50 किलोमीटर की गहराई पर होता है, उन्हें 'उथले' या 'साधारण' भूकम्प कहा जाता है।

(ब) मध्यवर्ती भूकम्प : इनका उद्‌गम केन्द्र 50 किलोमीटर से 250 किलोमीटर की गहराई पर होता है,

(स) गहरे भूकम्प : इनका उद्‌गम केन्द्र 250 किलोमीटर से 700 किलोमीटर की गहराई पर होता है, उन्हें 'गहरे' या 'पातालीय' भूकम्प कहा जाता है।

3.4.3.3 उत्पत्ति के स्थान पर भूकम्प का वर्गीकरण

ऐसे भूकम्प के दो वर्ग हैं– (अ) स्थलीय भूकम्प, (ब) सागरीय भूकम्प

(अ) स्थलीय भूकम्प– जब'स्थल परभूकम्प आता है,तो उसे 'स्थलीय भूकम्प' कहते हैं। मानव जाति को प्रभावित करने वाले अधिकांश भूकम्प स्थलीय ही होते हैं।

(ब) सागरी भूकम्प : महासागरीय तली में आने वाले भूकम्पों को 'सागरीय भूकम्प' कहा जाता है। सागरी भूकम्प से सुनामिस सागरीय लहरें उत्पन्न होती ह

3.4.3.4 उत्पत्ति के कारणों के आधार पर भूकम्प का वर्गीकरण

ऐसे भूकम्पों के प्रमुख चार वर्ग हैं– (अ) ज्वालामुखी भूकम्प, (ब) भ्रंश मूलक भूकम्प, (स) सन्तुलन मूलक भूकम्प (द) प्लूटानिक भूकम्प।

(अ) ज्वालामुखी भूकम्प :ज्वालामुखी उद्‌गार के समय आने वाले भूकम्पों को ज्वालामुखी भूकम्प कहते हैं।इनका प्रभाव स्थल , सागर दोनों भागों पर होता है।

(ब) भ्रंश मूलक भूकम्प : भ्रंशन के कारण उत्पन्न भूकम्प को भ्रंश मूलक भूकम्प कहा जाता है। इन भूकम्पों की गहराई धरातल से 4 कि.मी. से 24 कि.मी. के मध्य होती है।

(स) सन्तुलन मूलक भूकम्प : भू–सन्तुलन में व्यतिक्रम उत्पन्न होने से अद्‌भुत भूकम्पों को इसमें रखा जाता है। नवीन मोड़दार पर्वतीयक्षेत्रों में ये भूकम्प आते हैं।

(द) प्लूटानिक भूकम्प : धरातल से अत्यधिक गहराई (250 किलोमीटर से 700 किलोमीटर) पर उद्‌भूत भूकम्प को 'प्लूटानिक भूकम्प' कहा जाता है। इस प्रकार के भूकम्प बहुत कम आते हैं

3.4.4 भूकम्पों का विश्व वितरण

अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण विश्व को निम्नलिखित चार भूकम्पीय मेखलाओं में विभाजित किया गया है– (अ) परिप्रशान्त महासागरीय मेखला, (ब) मध्य अटलांटिक मेखला (स) मध्य महाद्वीपीय मेखला (द) पूर्वी तथा मध्य अफ्रीकन मेखला।

(अ) परिप्रशान्त महासागरीय मेखला : यह मेखला प्रशान्त महासागर के दोनों 'तटों' पर विस्तृत है। पूर्वी प्रशान्त तटीय मेखला अलास्का से आरम्भ होकर राकीज एवं एण्डीज पर्वतों के सहारे–सहारे दक्षिणी अमेरिका में चिली तथा अण्टार्कटिका में ग्राह्यलैण्ड तक विस्तृत है। पश्चिमी प्रशान्त तटीय मेखला एशिया के उत्तरी–पूर्वी भाग में कमचटका से प्रारम्भ होकर क्यूराईल, जापान, फारमूसा, फिलीपाइन द्वीप समूहों से होती हुई पूर्वी द्वीप समूह तक पहुँचती है और वहाँ से पूर्व की ओर मुड़कर आस्ट्रेलिया के उत्तरी किनारे के सहारे–सहारे न्यूजीलैण्ड तक विस्तृत है। इस मेखला में भूकम्पों की प्रमुखता के चार प्रमुख कारण हैं–1. नवीन मोड़दार पर्वतीय क्षेत्रों का पाया जाना, 2.सागरीय एवं स्थलीय मिलन क्षेत्रों की बहुलता 3.ज्वालामुखी क्षेत्रों की प्रधानता,4.विनाशी प्लेट सीमाओं का अपसरण। समस्त ग्लोब के लगभग 63 प्रतिशत भूकम्प इसी वर्ग में आते हैं।

(ब) मध्य अटलांटिका मेखला : यह भूकम्पीय मेखला मध्य अटलांटिक कटक के सहारे–सहारे उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत है। उत्तर में स्पिटबर्जेन तथा आइसलैण्ड से प्रारम्भ होकर यह मेखला अजोर्स, मेडोरा, कनारी, केपवर्डे आदि द्वीपों से होती हुई भूमध्य रेखा को पार कर दक्षिण में प्रिंस एडवर्ड एवं बोवेट द्वीप तक विस्तृत है। इस मेखला की एक अन्य शाखा दक्षिण जॉर्जिया एवं दक्षिणी सैंडविच दीपों से होती हुई अण्टार्कटिका में मिल जाती है। इस मेखला की हिन्द महासागरीय शाखा का विस्तार प्रिंस एडवर्ड द्वीप से उत्तर–पूर्व की ओर रियूनियन, मारीशस एवं सेचलीस आदि द्वीपों से होता हुआ आस्ट्रेलिया तक है। इस मेखला में प्रायः उथले भूकम्प आते हैं।

(स) मध्य महाद्वीपीय मेखला : इस मेखला का विस्तार यूरेशिया महाद्वीप के लगभग मध्य में है। यह पेटी यूरोप में पुर्तगाल से प्रारम्भ होकर भूमध्य सागर व आल्पस पर्वतीय क्षेत्रों से होती हुई टर्की, ईराक, काकेशेश पर्वत, अफगानिस्तान व हिमालय पर्वत माला के सहारे–सहारे म्यामार तक पहुँचती है। म्यांमार से यह पेटी दक्षिण की ओर मुड़कर मलेशिया होती हुई परिप्रशान्त महासागरीय मेखला में मिल जाती है। ग्लोब के लगभग 21 प्रतिशत भूकम्प इसी पटीमें आते हैं।

(द) पूर्व तथा मध्य अफ्रीकन मेखला : यह मेखला अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी–पूर्वी भाग में स्वेज नहर से आरम्भ होकर लाल सागर के सहारे–सहारे इथोपिया तक विस्तृत है। इथोपिया से यह मेखला एक चाप की आकृति में यूगाण्डा, तंजानिया, न्यासा झील होते हुए मलागासी तक चली गई है। अतः यहाँ आने वाले भूकम्प प्रायः भ्रंश मूलक होते हैं।

उपरोक्त चार प्रमुख पेटियों के अलावा कुछ छुट–पुट भूकम्प ग्रस्त क्षेत्र भी मिलते हैं जिनका प्रभाव प्रायः हिन्द महासागरीय क्षेत्र में देखा जाता है। इन्हें 'अन्य क्षेत्र' भी कहा जा सकता है।

3.4.5 भूकम्पों का प्रभाव

प्रभावों के दृष्टिकोण से प्रकृति की इस भयावह एवं प्रलयंकारी घटना के दो पहलू हैं– (अ) विनाशात्मक प्रभाव, (ब) लाभकारी प्रभाव।

(ब) विनाशात्मक प्रभाव

1. मानव सभ्यता का विनाश हो जाता है। रचनात्मक वस्तुओं की क्षति एवं विध्वंस से जन–धन की अपार क्षति एवं नगरों की अकूत हानि होती है।
2. धरातल फट जाता है, भूस्खलन होता है, नदी मार्ग अवरुद्ध होने या बदल जाने से बाढ़ों का प्रकोप होता है, स्थलीय भागों में उभार या धँसाव होता है।
3. सागरों में भयंकर सुनामी लहरें पैदा होती हैं जो तटीय क्षेत्रों का व्यापक विनाश करती है।
4. आबादी वाले क्षेत्रों में प्रज्वलित अग्नि भूकम्पों के आने से कभी–कभी विकराल रूप धारण कर लेती है, जिससे अपार जन–धन एवं पशुओं की हानि होती है।

(ब) लाभकारी प्रभाव

1. भूकम्पीय दरारों द्वारा खनिजों काज्ञान एवं उनका उत्खनन कार्य आसान हो जाता है।
2. भू–उत्थान से नवीन समुद्री द्वीपों का जन्म होता है।
3. सागर तटीय भागों के धँसकने से नवीन प्राकृतिक बन्दरगाहों का निर्माण होता है।

4. भूकम्प द्वारा चट्टानों वलन एवं धवंसन से नवीन जल स्रोतों का जन्म होता है।

5. भूकम्प द्वारा स्थलीय भागों में आकस्मिक धँसाव से धँसे भागों में जल भर जाने से नवीन झीलों का निर्माण होता है।

6. भूकम्प द्वारा चट्टानों का विखण्डन होता है, विखण्डन से वे कमजोर हो जाते हैं, जिससे उनका शीघ्र विघटन एवं वियोजन होने लगता है। इस तरह परोक्ष रूप से भूकम्प मृदा निर्माण में सहायक होते हैं।

7. भूकम्पों की वजह से जब ज्वालामुखी उद्‌गार होता है, तो पिघला हुआ लावा निकलता है, जो कालान्तर में अपक्षयित एवं अपरदित होकर काली मिट्टी का निर्माण करता है।

8. भूकम्प पृथ्वी के आन्तरिक भाग के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक भी होते हैं।

3.5 चट्टान एवं उनका वर्गीकरण

चट्टानें पृथ्वी के भूवैज्ञानिक इतिहास के पृष्ठ हैं, भूपटल के वर्तमान भू–दृश्य का आधार है, विभिन्न खनिजों का समुच्चय है, विविध जैविक अवशेषों की सुसम्बद्ध संचयन है। सामान्य भाव में 'चट्टान' शब्द का तात्पर्य किसी भी कठोर या दृढ़ भाग से लिया जाता है, परन्तु यह सत्य नहीं है। एक भूगोल के विद्यार्थी के लिए 'चट्टान' शब्द का तात्पर्य भूपटल के उन सभी पदार्थों से है, जिससे उसका निर्माण हुआ है। यह पदार्थ ग्रेनाइट की भाँति कठोर हो सकते हैं और चीका की भाँति मुलायम भी हो सकते हैं। इस तरह 'चट्टान' शब्द का अर्थ व्यापक है। इनकी उत्पत्ति का आधार व भारी व ठोस प्राथमिक शैले हैं जिनका निर्णय पृथ्वी की उत्पत्ति के पश्चात उसके निरन्तर ठण्डे होने के परिणामस्वरूप पिघले हुए पदार्थों के क्रमिक रूप से शीतल होकर ठोस रूप में जमने से हुआ है। सूक्ष्मावलोकन से चट्टानों के निर्माण में चक्रीय व्यवस्था का आभास होता है (चित्र 3.15)।

3.5.1 चट्टान की परिभाषा

विभिन्न भूगर्भशास्त्रियों ने चट्टान को परिभाषित करने का प्रयास किया है, यथा–

पी०जी० वारसेस्टर (1939) के अनुसार– "प्रायः सभी चट्टानों में दो या अधिक खनिज होते हैं अर्थात चट्टाने कुछ निश्चित शैल कर खनिजों से बनी होती हैं।

ए०के० लोबेक (1939) के अनुसार– "चट्टाने अपने वातावरण का प्रतिफल होती है। जब वातावरण बदलता है, तो चट्टानें भी बदल जाती है।

आर्थर होम्स (1975) के अनुसार– "अधिकांश चट्टानें खनिजों का सम्मिश्रण है।"

सारांशतः चट्टान की रचना खनिजों के सम्मिश्रण से होती है। ऐसे शैल निर्माणकारी खनिजों की संख्या लगभग 2000 है, लेकिन ऑक्सीजन (O), सिलिकॉन (Si),

एल्यूमिनियम (Al), लोहा (Fe), कैल्शियम (Ca), सोडियम (Na), पोटैशियम (K) एवं मैग्नीशियम (Mg) ऐसे खनिज हैं, जिनका चट्टानों के निर्माण में प्रमुख योगदान है चित्र (3. 16)।

3.5.2 चट्टानों का वर्गीकरण

एक सामान्य विभाजन के अन्तर्गत चट्टानों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है– (1) रवेदार चट्टान, (2) ढेर युक्त यानी शैल चूर्ण से निर्मित चट्टान। लेकिन यदि देखा जाए तो निर्माण की प्रक्रिया के आधार पर किया गया इनका वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत है। इस आधार पर चट्टानों के तीन वर्ग हैं– (1) आग्नेय चट्टान, (2) अवसादी चट्टान, (3) रूपान्तरित चट्टान।

3.5.3 आग्नेय चट्टान परिभाषा एवं विशेषताएं

परिभाषा : 'आग्नेय' शब्द अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Igneous' है, जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Ignis' शब्द से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ अग्नि 'Fire' है। वस्तुतः इन चट्टानों का निर्माण अग्नि की तरह लाल, तप्त एवं तरल मैगमा (लावा) के शीतल होकर ठोस रूप में जमने से होता है। इसलिए इन्हें 'आग्नेय चट्टान' कहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार– "आग्नेय चट्टाने में चट्टाने होती हैं, जो भूगर्भ से उत्पन्न होने वाले द्रवित शैल तत्वों के कठोर होने या घनीभूत होने के परिणामस्वरूप निर्मित होती है। चूँकि आग्नेय चट्टानें पृथ्वी की प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम निर्मित होने वाली चट्टानें हैं, इसलिए इन्हें 'प्राथमिक चट्टान' भी कहा जाता है।

विशेषताएं

- स्वभाव से आग्नेय चट्टाने कठोर होती है, लेकिन दीर्घकाल तक वातावरण के प्रभाव में रहने से पर्याप्त मुलायम भी हो जाती हैं।

- आग्नेय चट्टानें दानेदार एवं रवेदार होती हैं, लेकिन इनके कणों के आकार एवं स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। कणों का आकार कोणीय होता है, गोलाकार नहीं।

- स्वभाव से अप्रवेश्य इन आग्नेय चट्टानों में संधियाँ पायी जाती हैं। इन्हीं संधियों के सहारे जब ये बड़ी कठिनाई से अन्दर प्रवेश कर पाता है। इसलिए रासायनिक अपक्षय का प्रभाव इन पर बहुत कम होता है।

- आग्नेय चट्टानों में परतों का अभाव होता है, कारण कि लावा जनित पदार्थों के घनीभवन के परिणामस्वरूप इनका निर्माण होता है। लेकिन कभी–कभी लावा के उत्तरोत्तर प्रवाह एवं क्रमिक घनीभवन के कारण परतों की आशंका होने लगती है, किन्तु परतें होती नहीं है।

- आग्नेय चट्टानों में वनस्पतियों एवं जीवो के अवशेष नहीं पाए जाते, कारण कि इनकी रचना भूगर्भ से निर्गत तप्त, तरल मैगमा से होती है, जहाँ वनस्पतियों एवं जीवों का अस्तित्व नहीं है और यदि कहीं उनका अस्तित्व है भी तो तप्त मैगमा की अधिक ऊष्णता के कारण जीवावशेष एवं वनस्पति अवश्य नष्ट हो जाते हैं।

- आग्नेय चट्टाने मैगमा या लावा के शीतलन से बनती है, इसलिए उनमें खनिजों के मिलने की सम्भावना रहती है।

- आग्नेय चट्टानों पर भौतिक या यांत्रिक अपक्षय का प्रभाव अधिक होता है, जिसकी वजह से चट्टानों में विघटन एवं वियोजन शीघ्र होने लगता है।

- आग्नेय चट्टानों का रचनात्मक सहसम्बन्ध ज्वालामुखी–प्रक्रिया से होने के कारण इनका वितरण प्रमुखतः ज्वालामुखी क्षेत्रों में ही होता है।

3.5.4 आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

आग्नेय चट्टानों के वर्गीकरण के प्रमुख रूप से तीन आधार हैं– (1) उत्पत्ति मूलक प्रक्रिया, (2) रासायनिक संरचना, (3) कणों की बनावट।

3.5.4.1 उत्पत्ति मूलक प्रक्रिया के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

ज्वालामुखी उद्‌गार के समय निकलने वाला लावा दो रूपों में घनीभूत होता है– (अ) धरातल के नीचे, (ब) धरातल के ऊपर। इस आधार पर इन चट्टानों के दो प्रमुख वर्ग हैं– (अ) अन्तर्वेधी आग्नेय चट्टान, (ब) बर्हिवेधी आग्नेय चट्टान।

(अ) अन्तर्वेधी आग्नेय चट्टान : ज्वालामुखी उद्‌गार के समय जब लावा भूपटल पर प्रकट हुए बिना आन्तरिक भाग में ही शीतल होकर ठोस हो जाता है, तो इस प्रक्रिया से निर्मित चट्टान को अन्तर्वेधी आग्नेय चट्टान कहा जाता है। गहराई के आधार पर इसके पुनः दो उपवर्ग बनाए गए हैं–(i) पातालीय आग्नेय चट्टान, (ii) मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान।

(i) पाताली आग्नेय चट्टान : पृथ्वी के आन्तरिक भाग में अत्यधिक गहराई पर ज्वालामुखी लावा के जमकर ठोस हो जाने के कारण इन्हें पातालीय आग्नेय चट्‌टान कहा जाता है। इनका नामकरण पातालीय देवता 'प्लूटो' के नाम पर किया गया है। लावा के शीतल होने की गति अत्यधिक मन्द होने के कारण इन चट्‌टानों के रवे (कण) आकार में बड़े और संख्या में अधिक होते हैं। ग्रेनाइट नामक आग्नेय चट्‌टान पातालीय आग्नेय शैल का सर्वोत्तम उदाहरण है। इन चट्टानों का आधार कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

(ii) मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान : जब ज्वालामुखी लावा पातालीय क्षेत्र के ऊपर किन्तु धरातलीय सतह के नीचे ही शीतल होकर ठोस हो जाती है, तो इसे मध्यवर्ती आग्नेय चट्टान कहा जाता है। अपेक्षाकृत शीघ्र शीतल होने के कारण इन चट्टानों में रवे मध्यम

आकार के होते हैं। चूँकि इनका जमाव लावा के प्रवाह मार्ग की चट्टानों की संधियों एवं दरारों में धरातलीय सतह के नीचे होता है, इसलिए अपरदन के बाद जब यह चट्टाने धरातल पर दृष्टिगोचर होती है, तब इन्हें विभिन्न रूपों में पहचाना जाता है, यथा–**बैथोलिथ** (असमान, लम्बे एवं उभरे हुए तथा खड़े पार्श्व ढाल वाले आग्नेय शैल प्रतिरूप), **लैकोलिथ** (लावा उद्‌गार के दबाव से परतदार चट्टानी प्रदेशों में बनने वाले गुम्बदाकार, किन्तु उत्तल चाप वाले आग्नेय शैल प्रतिरूप), **फैकोलिथ** (मोड़दार पर्वतों की अपनति एवं अभिनति में जमने वाले आग्नेय शैल प्रतिरूप), **लोपोलिथ** (अवतल आकार वाली छिछली तश्तरीनुमा बेसिन में लावा के जमाव से उद्‌भूत आग्नेय शैल प्रतिरूप), **सिल** (मौलिक चट्टानों की परतों के समानांतर अधिक मोटाई में समूह रूप में जमने वाली आग्नेय शैल प्रतिरूप), **डाइक** (एक दीवाल की तरह जमने वाली आग्नेय शैल का आन्तरिक प्रतिरूप) आदि। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह अन्तर्वेधी आग्नेय चट्टान के विभिन्न रूप हैं, प्रकार नहीं (चित्र 3.10)।

(ब) बर्हिवेधी आग्नेय चट्टान : ज्वालामुखी–प्रक्रिया के अन्तर्गत जब तप्त–तरल लावा भूपटल को तोड़कर धरातलीय सतह पर आकर शीघ्र जमकर ठोस हो जाता है, तो इस प्रकार से निर्मित चट्टान को बर्हिवेधी आग्नेय चट्टान कहा जाता है। तप्त मैगमा के शीघ्र ठण्डे होने के कारण इनमें या तो रवे बनते ही नहीं है या फिर बनते हैं तो अत्यन्त सूक्ष्म, जिन्हें माइक्रोस्कोप की सहायता से भी देखना कठिन होता है। ब्रेसाल्ट, गैब्रो, आब्सीडियम इन चट्टानों के प्रमुख उदाहरण हैं। इनके भी दो उप वर्ग हैं–(i) शान्त उद्‌गारित आग्नेय चट्टान, (ii) विस्फोट उद्‌गारित आग्नेय चट्टान।

(i) शान्त उद्‌गारित आग्नेय चट्टान : जब ज्वालामुखी लावा किसी दरार के माध्यम से शान्त रूप में धरातल पर प्रवाह के रूप में प्रकट होकर दूर–दूर तक फैल कर जमकर ठोस हो जाता है तो इस प्रक्रिया से निर्मित चट्टान को शान्त उद्‌गारित आग्नेय चट्टान कहते हैं। उत्तरोत्तर प्रवाह से पठार एवं लावा के परत–दर–परत जमाव के कारण परतदार शैलों का भ्रम पैदा करने वाली इन चट्‌टानों से कालान्तर में लावा पठार एवं लावा मैदान का निर्माण होता है।

(ii) विस्फोटक उद्‌गारित आग्नेय चट्टान : गैसों एवं जलवाष्प के प्रचण्ड दबाव के कारण जब भूगर्भ का मैगमा अत्यन्त तीव्र विस्फोट के साथ धरातल पर प्रकट होता है, तो ऐसी प्रक्रिया से बनने वाली चट्टानों को विस्फोट उद्‌गारित आग्नेय चट्टान कहते हैं। इसमें लावा के विविध शंकुओं के अतिरिक्त ब्रेसिया, बम, लैपिली, स्कोरिया, प्यूमाइस, टफ कुमार? आदि प्रमुख है। ये चट्टानें अपक्षय एवं अपरदन से शीघ्र प्रभावित होकर आसानी से फट जाती है।

3.5.4.2 रासायनिक संरचना के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

रासायनिक संरचना के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण करते समय सिलिका की मात्रा एवं उसके घनत्व का आकलन किया जाता है। इस आधार पर इन चट्टानों के चार उपवर्ग हैं –

(अ) अम्ल प्रधान या अधिसिलिक आग्नेय चट्टान : इसमें सिलिका की मात्रा 65 प्रतिशत से अधिक होती है और इसका औसत घनत्व 2.5 से 2.7 ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर होता है। ये भार में हल्की एवं स्वभाव में कठोर होती है। ग्रेनाइट इस प्रकार की सेल का प्रमुख उदाहरण है।

(ब) बेसिक या मध्य सिलिक आग्नेय चट्टान : इनमें सिलिका की मात्रा 55 से 65 प्रतिशत तक होती है और औसत घनत्व 2.7 से 2.8 ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर होता है। गहरे रंग वाली ये चट्टानें वजन में भारी होती है। बेसाल्ट, ग्रेबो, डोलेराइट इसके प्रमुख उदाहरण है।

(स) क्षारीय या अल्पसिलिक आग्नेय चट्टान : इनमें सिलिका की मात्रा 45 से 55 प्रतिशत तक होती है तथा औसत घनत्व 2.8 से 3.0 ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर होता है। काले रंग एवं बारीक कणों वाली यह चट्टानें वजन में भारी एवं अपरदन से शीघ्र प्रभावित होती है। डायोराइट, एण्डेसाइट इसके प्रमुख उदाहरण है।

(द) अल्ट्राबेसिक या अत्यल्प सिलिक अग्नि चट्टान : इसमें सिलिका की मात्रा 45 प्रतिशत से कम होती है और औसत घनत्व 3.0 से 3.5 ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर होता है। पेरिडोटाइट, डूनाइट इसके प्रमुख उदाहरण है।

3.5.4.5 कणों की बनावट के आधार पर आग्नेय चट्टानों का वर्गीकरण

इसके प्रमुखतः छः उप वर्ग हैं –

i. बृहद्कणीय या फेनेरिटिक अग्नि चट्टान

ii. बृहद् एवं स्थूलकणीय या पैगमैटिटिक आग्नेय चट्टान

iii. सूक्ष्म कणयुक्त या अफैनिटिक आग्नेय चट्टान

iv. कणविहीन या ग्लासी अग्नि चट्टान

v. मिश्रित कणयुक्त या पोरफायरिटिक आग्नेय चट्टान

vi. खण्डीय या फ्रॉगमेण्टल आग्नेय चट्टान।

वस्तुतः आग्नेय चट्टानों में कणों का निर्माण एवं उनकी बनावट तीन परिस्थितियों पर निर्भर करती है– (अ) लावा की उत्पत्ति तथा उसके शीतलन का स्थान, (ब) लावा के शीतलन एवं ठोस होने की गति, (स) तरल लावा के साथ उपस्थित जलवाष्प एवं गैस की मात्रा।

3.5.5 अवसादी चट्टान परिभाषा एवं विशेषताएं

परिभाषा : 'अवसादी' शब्द अंग्रेजी पर्यायवाची 'Sedimentary' शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति लेटिन भाषा के 'Sedimentum' शब्द से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– 'नीचे बैठना'।

चूंकि इन चट्टानों का निर्माण चट्टान चूर्ण के एकत्र होकर परत– दर–परत नीचे जमा होते जाने से ही होता है, इसलिए इन्हें अवसादी, परतदार, तलहटी या स्तरीय चट्टान कहते हैं।

पी०जी० वारसेस्टर (1939) के अनुसार – "अवसादी चट्टान जैसा कि अवसाद शब्द से ही व्यक्त होता है, प्राचीन चट्टानी टुकड़ों एवं खनिजों से निर्मित है, जो कमोवेश रूप में संगठित हो गई है और परतों या स्तरों में व्यवस्थित है।"

विशेषताएं

- अवसादी चट्टानों में अनेक परतें पाई जाती है। अवसादों की भिन्नता इनका विशेष गुण है।
- अवसादी चट्टानों में वनस्पतियों एवं जीव–जन्तुओं के अवशेष पाए जाते हैं। इन्हीं जीवाश्मों की उपस्थिति के कारण इन चट्टानों के निर्माण काल का निर्धारण होता है।
- अवसादी चट्टानें संगठित भी हो सकती हैं और असंगठित भी। उनकी यह प्रकृति संयोजक पदार्थों की उपलब्धता पर निर्भर होती है।
- अवसादी चट्टानों में सन्धियां, भ्रंश एवं वलन अधिक पाए जाते हैं।
- अवसादी चट्टानें भेद्य एवं प्रवेश्य होते हैं।
- अवसादी चट्टानें मुलायम भी हो सकती हैं, जैसे– चीका मिट्टी एवं पंक; तथा कठोर भी हो सकती है, जैसे– बालुका पत्थर। कोमल होने के कारण इन पर अपक्षय एवं अपरदन का प्रभाव शीघ्र होता है।
- नदियों द्वारा तलछट के रूप में बिछाई गई पंक मिट्टी (जलोढ़) तथा चीका में सूर्य के प्रखर ताप से दरारें पड़ जाती हैं, जिनका आकार प्रायः बहुभुजी होता है।
- अवसादी चट्टानों में कभी–कभी लहरों तथा धाराओं के चिन्ह भी मिलते हैं।
- भूपृष्ठ के लगभग 75 प्रतिशत भाग को आवृत करने वाली इन अवसादी चट्टानों का भूपृष्ठ के निर्माण में योगदान केवल 5 प्रतिशत है। शेष 95 प्रतिशत भाग में आग्नेय एवं कायान्तरित चट्टानें हैं।

3.5.6 अवसादी चट्टानों का वर्गीकरण

अवसादी शैलों का वर्गीकरण दो प्रमुख आधारों पर किया जाता है –

1. निर्माण में सम्मिलित अवसादो के आधार पर वर्गीकरण

2. निर्माण में भाग लेने वाले कारकों के आधार पर वर्गीकरण।

3.5.6.1 निर्माण में सम्मिलित अवसादो के आधार पर अवसादी चट्टानों का वर्गीकरण

अवसादी चट्टानें अनेक प्रकार के अवसादो (चट्टानों के टुकड़ों से प्राप्त अवसाद) के निक्षेपण से बनती है। ये अवसाद प्राचीन चट्टानों के अपक्षय एवं अपरदन से, जल में घुली रासायनिक पदार्थों से या कार्बनिक तत्वों से प्राप्त हो सकते हैं। अतः अवसादों की उत्पत्ति के आधार पर अवसादी चट्टानों को तीन भागों में बाँटा गया है –

(अ) यांत्रिक क्रियाओं या चट्टान चूर्ण से निर्मित अवसादी चट्टान : जब कोई पूर्व निर्मित चट्टान अपक्षय की क्रियाओं द्वारा यांत्रिक या भौतिक विधि से विघटित एवं वियोजित होकर तथा अपरदन के विभिन्न अभिकर्ताओं द्वारा अपरदित होकर चट्टान चूर्ण में बदलती है और यह चट्टान चूर्ण जब परिवर्तित होकर किसी स्थान (सागर, झील, छिछले मैदानी गर्त एवं मरुस्थल आदि) पर परत–दर–परत निक्षेपित होता है तो इस प्रक्रिया से जिस परतदार शैल का निर्माण होता है, उसे 'यांत्रिक क्रियाओं या चट्टानों से निर्मित अवसादी चट्टान' कहते हैं। बालुका पत्थर, कांग्लोमेरेट, सिल्ट, चीका मिट्टी, शेल, लोयस इसी श्रेणी की प्रमुख चट्टानें हैं।

(ब) जैविक तत्वों से निर्मित अवसादी चट्टान : जैविक तत्वों अर्थात् वनस्पतियों एवं जीवजन्तुओं के अवशेष किसी उपयुक्त स्थान पर धीरे–धीरे जमा होकर जब काफी समय तक दब जाते हैं, तो कालान्तर में संगठित होकर वे ठोस चट्टान का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसी चट्टानों को जैविक तत्वों से निर्मित अवसादी चट्टान कहते हैं। चूने, कार्बन एवं सिलिका की मात्रा के आधार पर इन्हें तीन उप वर्गों में विभाजित किया गया है –

(i) चूना प्रधान अवसादी चट्टान, (ii) कार्बन प्रधान अवसादी चट्टान, (iii) सिलिका प्रधान अवसादी चट्टान।

(i) चूना प्रधान अवसादी चट्टान : चूना प्रधान अवसादी चट्टानों का निर्माण प्रायः विशाल झीलों एवं सागरों में वनस्पतियों के अवशेषों तथा छोटे–छोटे जीवधारियों (मोलास्का प्रवाल आदि) के अस्थि पंजरों के जमाव से होता है। इनमें कैलशियम कार्बोनेट ($Caco_3$) की प्रधानता रहती है। यह चट्टानें घुलनशील, मुलायम एवं प्रवेश्य होती है। चूना पत्थर, खरिया मिट्टी, डोलोमाइट इसी श्रेणी की प्रमुख चट्टाने हैं।

(ii) कार्बन प्रधान अवसादी चट्टान : कार्बन प्रधान अवसादी चट्टानों की रचना प्रत्यक्ष रूप में वनस्पतियों के अवशेषों के भूगर्भ में दब जाने पर अत्यधिक ताप एवं दाब के प्रभाव से संगठित हो जाने से होती है। इसमें कार्बन तत्व की प्रधानता होती है। पीट, लिग्नाइट, विटूमिनस, एन्थ्रासाइट (ये सभी कोयले के विविध रूप हैं) एवं आयल शैल **(**Oil Bearing Rocks**)** इस श्रेणी की प्रमुख चट्टाने हैं।

(iii) सिलिका प्रधान अवसादी चट्टान : सिलिका प्रधान अवसादी चट्टानों का निर्माण प्रायः सागरों में रेडियालेरिया तथा स्पंज जीवों तथा डायटम पौधों के अवशिष्ट भागों के संगठन से होता है। इनमें सिलिका की प्रधानता होती है। ग्लोबीजेरिना, रेडपंक इसी के उदाहरण है।

(स) रासायनिक तत्वों से निर्मित अवसादी चट्टान : प्रवाहित होते हुए जल का सम्पर्क जब मार्ग में अन्य चट्टानों से होता है तो जल के साथ सम्पन्न हुई रासायनिक क्रिया के कारण उन चट्टानों के घुलनशील पदार्थ जल के साथ धूल कर मिल जाते हैं और दबाव की कमी और वाष्पीकरण की क्रियाओं के चलते उपयुक्त स्थानों पर परतों के रूप में नीचे बैठने लगते हैं और कालान्तर में एक चट्टान का रूप धारण कर लेते हैं। इन्हीं चट्टानों को 'रासायनिक तत्वों से निर्मित अवसादी चट्टान' कहते हैं। जिप्सम या सेलखरी तथा नमक की चट्टान इसी श्रेणी की प्रमुख चट्टाने हैं।

3.5.6.2 निर्माण में भाग लेने वाले कारकों के आधार पर अवसादी चट्टानों का वर्गीकरण

अपरदन के प्रक्रमों के आधार पर इन अवसादी चट्टानों को तीन मुख्य वर्गों में बांटा गया है– (अ) जल द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें, (ब) वायु द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें, (स) हिमानी द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें।

(अ) जल द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें : जब प्रवाहित जल द्वारा कंकड़, बजरी, चीका मिट्टी, रेत आदि का जमाव झीलों या सागरों में होता है, तो अनवरत जमाव से बढ़ते दबाव के कारण यह परतों के रूप में संगठित होकर चट्टानी रूप धारण कर लेते हैं। इस तरह से इन अवसादी चट्टानों का निर्माण होता है। जल में जन्म लेने के कारण इन्हें 'जलज चट्टान' कहते हैं। जब इनका जमाव तलछट के रूप में नदियों की घाटियों में होता है, तो इन्हें 'सरिता निर्मित चट्टान' कहा जाता है।

(ब) वायु द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें : रेगिस्तानी प्रदेशों में यांत्रिक अपक्षय की तीव्र एवं प्रभावी सक्रियता के कारण चटाने विघटित एवं वियोजित होकर चूर–चूर हो जाती है। तीव्र गति से चलने वाली हवाएं इस चट्टानी चूर्ण को उड़ा कर दूसरे स्थानों पर परत–दर–परत जमा करती रहती है। निरन्तर जवानों से कालान्तर में जिन चट्टानों का निर्माण होता है, उन्हें 'वायु द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें' कहा जाता है। 'लोयस' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जिसका जमाव चीन, मध्य योरोप एवं मध्य संयुक्त राज्य अमेरिका में पाया जाता है। लोयस निर्मित चट्टानें मुलायम एवं प्रवेश्य होती हैं तथा इनका अपरदन शीघ्र होता है।

(स) हिमानी द्वारा निर्मित अवसादी चट्टानें : अपरदन के अन्य अभिकर्ताओं की तरह हिमनद भी अपनी घाटी में चट्टानों का अपरदन एवं अपरदित पदार्थों का परिवहन एवं निक्षेपण करते हैं। इनके द्वारा निक्षेपण कार्य उनके 'हिमनदों के पिघलने पर आरम्भ होता है। इनके द्वारा किए गए जमाव को 'हिमोढ़' या 'मोरेन' कहते हैं। हिमोढ़ के निक्षेप के स्थान के आधार पर इसे चार प्रकारों में विभक्त करते हैं (1) जब हिमोड़ का जमाव पार्श्व में होता है तो उसे

'पार्श्वती हिमोढ़' कहते हैं, (2) जब जमाव तली में होता है तो उसे 'तलस्थ हिमोढ़' कहते हैं। (3) दो हिमनदों के मिलन स्थल पर हिमोढ़ के जमाव को मध्यस्थ हिमोढ़ कहते हैं और जब हिमनद पूर्णतया पिघल जाता है तो उस स्थान पर हुए हिमोढ़ जमाव को अंतस्थ हिमोढ़ या टर्मिनल हिमोढ़ कहते हैं चित्र (3.17)।

3.5.7 रूपान्तरित चट्टान परिभाषा एवं विशेषताएं

परिभाषा : 'रूपान्तरित' शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Metamosphic' है, जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Meta' तथा 'Morphe' शब्दों से मिलकर हुई है। 'Meta' का अर्थ है 'परिवर्तन' और 'Meorphe' का अर्थ है 'रूप' या 'आकृति'। इस प्रकार 'Metamosphic' शब्द रूप या आकृति के परिवर्तन के अर्थों में प्रयुक्त होता है। वस्तुतः जब किसी चट्टान, चाहे वह अग्नि हो या अवसादी के रूप या आकार तथा संगठन में परिवर्तन हो जाता है, तो उसे 'रूपान्तरित' या 'कायान्तरित' चट्टान कहते हैं।

पी०जी० वारसेस्टर (1939) के अनुसार– "रूपान्तरित चट्टानों के अन्तर्गत उन चट्टानों को सम्मिलित किया जाता है, जिनके आकार अथवा संगठन में विघटन के बिना ही परिवर्तन होता है।"

वस्तुतः चट्टानों में **रूपान्तरण** के लिए तीन प्रमुख **अभिकर्ता** उत्तरदायी होते हैं (1) उष्मा अथवा तापमान, (2) दबाव या संपीड़न, (3) रसायन सक्रिय द्रव या घोल रूपान्तरण के यह कारक कभी–कभी अलग कार्य करते हैं और कभी एक साथ मिलकर सक्रिय होते हैं; यही कारण है कि रूपान्तरण के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं, यथा– तापीय एवं संस्पर्शीय रूपान्तरण, क्षेत्रीय तथा गतिक रूपान्तरण, '**जलीय रूपान्तरण एवं ताप–जलीय रूपान्तरण। तापीय एवं संस्पर्शीय रूपान्तरण'** को 'तापीय' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें ताप (ऊष्मा) का विशेष योगदान रहता है। 'संस्पर्शीय' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह रूपान्तरण चट्टान विशेष एवं मैगमा के पारस्परिक सम्पर्क से होता है। **'क्षेत्रीय तथा गतिक रूपान्तरण'** में सम्पीड़न तथा ताप दोनों का योगदान रहता है। जब रूपान्तरण की यह क्रिया विस्तृत क्षेत्रों में घटित होती है, तो ऐसे रूपान्तरण को 'क्षेत्रीय' अथवा 'प्रादेशिक रूपान्तरण' कहते हैं। जब सम्पीड़न गति के कारण स्थलीय भागों में हुए खिसकाव की वजह से रूपान्तरण होता है, तो ऐसे रूपान्तरण को 'गतिक रूपान्तरण' कहते हैं। इसके विपरीत यदि धरातल के नीचे जाने पर चट्टानों की बढ़ती गहराई के साथ दबाव एवं तापमान बढ़ता जाता है और इस वजह से जब चट्टानों में रूपान्तरण होता है तो उसे 'स्थैतिक रूपान्तरण' कहते हैं (चित्र 3.18)। **जलीय एवं ताप–जलीय रूपान्तरण** वस्तुतः रसायन सक्रिय द्रव या घोल का परिणाम है जिसमें जलीय दबाव भी कभी–कभी सक्रिय कारक बन जाता है, परन्तु यह रूपान्तरण सीमित क्षेत्र वाला होता है और इसे पहचानना भी मुश्किल होता है।

विशेषताएं

- रूपान्तरित चट्टान प्रायः रवेदार एवं अभेद्य होती हैं।
- मूल चट्टानों में रूपान्तरण के दौरान उनका विघटन नहीं होता।
- अत्यधिक ताप वह दबाव के कारण रूपान्तरित चट्टानों में जीवावशेष के चिन्ह समाप्त हो जाते हैं।
- रूपान्तरित चट्टानों में कण प्रायः व्यवस्थित रूप में मिलते हैं।
- मूल चट्टानें रूपान्तरित होकर पहले से अधिक कठोर हो जाती है, इसलिए यह अपक्षय–अपरदन से कम प्रभावित होती है।
- भौतिक एवं रासायनिक रूपान्तरण के कारण नवीन खनिजों का जन्म होता है, जैसे– हीरा, संगमरमर।
- रूपान्तरित चट्टानों का विस्तार प्रायः पर्वतीय प्रदेश में पाया जाता है।
- कभी–कभी रूपान्तरित शैल का भी रूपान्तरण होता है, इस क्रिया को पुनः रूपान्तरण कहते हैं।

3.5.8 रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण प्रमुखतः दो आधारों पर किया जाता है– (अ) मौलिक चट्टान के आधार पर, (ब) स्तरों के संरचना के आधार पर।

3.5.8.1 मौलिक चट्टान के आधार पर रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

मौलिक चट्टानों के आधार पर रूपान्तरित चट्टानों को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं–

(अ) आग्नेय चट्टानों से रूपान्तरित चट्टान : आग्नेय चट्टानों के रूपान्तरण से निर्मित होने वाली चट्टानों को 'आग्नेय रूपान्तरित चट्टान' या 'परिआग्नेय चट्टान' या (Meta-igneous Rock या Ortho-Metamorphic Rock) कहते हैं। उदाहरण के लिए ग्रेनाइट के रूपान्तरण से नीस का निर्माण होता है।

(ब) अवसादी चट्टानों से रूपान्तरित चट्टान : अवसादी चट्टानों के रूपान्तरण से निर्मित होने वाली चट्टानों को 'परिअवसादी चट्टान' (Parametamorphic Rock या Meta-sedimentary Rock) कहते हैं। उदाहरण के लिए चूना पत्थर के रूपान्तरण से संगमरमर का निर्माण होता है।

(स) पुनः या द्विरूपान्तरित चट्टान : जब रूपान्तरित चट्टान स्वयं एक या अनेक बार पुनः रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरती है, तो ऐसी चट्टान को 'पुनः रूपान्तरित' या

'द्विरूपान्तरित' या 'बहुरूपान्तरित' (Multi-metamorphic) चट्टान कहा जाता है। कोयले का ग्रेनाइट में एवं ग्रेनाइट का हीरे में रूपान्तरण इसी प्रकार का है।

3.5.8.2 स्तरों की संरचना के आधार पर रूपान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण

इस आधार पर रूपान्तरित चट्टानों को दो मुख्य वर्गों में रखते हैं–

(अ) पत्राभिकृत चट्टानें : इन चट्टानों में खनिज कणों की व्यवस्था समानान्तर होती है, जिसकी वजह से इनमें स्तरों का विकास पाया जाता है। ये तोड़ने पर सतह के समानान्तर निश्चित क्रम में टूटती है, जिसे 'विदलन' कहते हैं। स्लेट, शिष्ट, नीस इसी श्रेणी की रूपान्तरित चट्टानें है।

(ब) अपत्राभिकृत चट्टाने : इन चट्टानों में खनिज कण व्यवस्थित नहीं होते। संरचना में ठोस होने के कारण इनमें स्तरों का विकास नहीं पाया जाता। जलीय परिवर्तनों से बनने वाली या संस्पर्शीय रूपान्तरण से अस्तित्व में आने वाली ये चट्टाने अव्यवस्थित रूप से मिलती है। संगमरमर, क्वार्टजाइट, सर्पेंटाइन, एन्थ्रसाइट आदि इसी श्रेणी की चट्टाने हैं।

3.5.9 रूपान्तरित चट्टानों का चक्रीय निर्माण

धरातल पर पाई जाने वाली रूपान्तरित चट्टानों के अपक्षय एवं अपरदन से उत्पन्न चट्टान चूर्ण से भी अवसादी चट्टानों का निर्माण होता है। अवसादी चट्टानों के रूपान्तरण से रूपान्तरित चट्टानें निर्मित हो सकती हैं। इसके साथ ही मूल रूपान्तरित चट्टानों के पुनः रूपान्तरण से आग्नेय चट्टानें बन सकती हैं तथा इनके रूपान्तरण से रूपान्तरित चट्टानों का आविर्भाव हो सकता है। इस तरह से यदि देखा जाए तो रूपान्तरित चट्टानें चक्रीय निर्माण की अवस्थाओं से गुजरती है।

3.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप यह भली–भाँति समझ गए होंगे कि भौतिक भूगोल के अध्ययन में भूसन्तुलन की संकल्पना कितनी महत्वपूर्ण है, कारण कि यह संकल्पना आपको उन विचारों के निकट ले जाती है जो घूमती हुई पृथ्वी के वाह्य क्रस्ट और अधोशायी स्तरों के बीच स्थापित सन्तुलन सम्बन्धों की व्याख्या करने में सहज समर्थ हैं। भूसन्तुलन से सम्बन्धित संकल्पनाओं के अनुशीलन से आपको यह स्पष्ट हो गया है कि भू–सन्तुलन कोई शक्ति नहीं है, न ही कोई भूगर्भिक साधन है, यह मात्र एक दशा है जो आन्तरिक एवं वाह्य शक्तियों की कार्यप्रणाली एवं परिणामों के मध्य स्थापित होती है।

इस इकाई में ज्वालामुखी एवं भूकम्प के अध्ययन से आप यह भली–भाँति जान गए होंगे कि यह दोनों घटनाएं आकस्मिक हैं जिनके घटने के अनेक कारण है। ज्वालामुखी उद्‌गारों की प्रक्रिया उसके घटित होने के कारणों का स्पष्ट संकेत देती है। उद्‌गारों में भिन्नताएं भी मिलती हैं और इन्हें भिन्नताओं के कारण अनेक आभ्यान्तरिक एवं बाह्य स्थलाकृतियों का जन्म भी होता है। इस इकाई के अध्ययन से आपको यह भी स्पष्ट

हुआ कि भूकम्प भूगर्भ में क्षणिक अव्यवस्थाजनित तरंगों के संचरण से उत्पन्न ऊर्जा का एक स्वरूप है जिसका प्रवाह लहरों के रूप में अपने उत्पत्ति केन्द्र से चारों तरफ क्षैजित रूप में होता है। भूकम्प के कारणों, स्वरूपों एवं दुष्प्रभावों से भी आप इकाई के माध्यम से परिचित हुए हैं। साथ ही यह भी जाना कि पृथ्वी पर इन भूकम्प के आगमन के सुनिश्चित क्षेत्र हैं, जहाँ इनका प्रभाव अधिक होता है।

इसी इकाई में चट्टानों के अध्ययन से आपने यह समझा की चट्टान शब्द का अर्थ व्यापक है। इसका सम्बन्ध भूपटल के उन सभी पदार्थों से है, जिनसे उसका निर्माण हुआ है। लेकिन यह पदार्थ एक जैसे नहीं है और न उनकी निर्माण प्रक्रिया एक जैसी है यही कारण है कि आपको चट्टानों के तीन प्रमुख वर्ग– आग्नेय, अवसादी, रूपान्तरित देखने को मिलते हैं। यह तीनों प्रमुख वर्ग अपनी विशेषताओं के कारण पर्याप्त आर्थिक महत्व वाले भी हैं।

37 शब्द सूची

भू–सन्तुलन	Isostasy	जड़ संकल्पना	Root Hypothesis
समतोल तल	Isostatic Level	उद्‌गार	Eruption
भूगणितीय	Geodetic	ज्वालामुखी क्रिया	Vuleancity
क्षतिपूर्ति रेखा	Line of Compensation	ज्वालामुखी विवर	Crater
क्षतिपूर्ति तल	Level of Compensation	शंकु	Cone
क्षतिपूर्ति मंडल	Zone of Compensation	तरलता	Fluidity
प्लायवन	Floatation	ज्वालामुखी क्षिप्त पदार्थ	Pyroclastic Materials
समस्थितिक संतुलन	Isostatic Balance	लम्बी दरार	Fissure
द्रव्यमान	Mass	सक्रिय	Active
प्रसुप्त	Dormant	बालुकामय	Arenacious
शान्त	Extinct	शैल विज्ञानी	Petrologist
परिपोषित शंकु	Paracite Cone	आभ्यांतरिक	Intrusive
ज्वालामुखी ग्रीवा	Volcanic Neck	वायूढ़ शैल	Aeolian Rock
ज्वालामुखी कुण्ड	Caldera	सूक्ष्म कणीय	Aphinitic
ज्वालामुखी उत्पाद	Volcanic Produets	कण विहीन	Glassy
मिश्रित	Composite	जलीय शैल	Aqueous Rock
झाँवा	Pumice Stones	मिश्रित कणयुक्त	Porphyritic
अग्निवलय	Ring of Fire	खण्डीय	Fragmental
विवर्तनिक	Tectonic	उष्णोत्स/गेसर	Geyser
प्रव्यास्थ पुनश्चलन	Flastic Rebound	अति बेसिक	Ultrabasic

वितलीय / पातालीय	Plutonic	सरोवरी शैल	Lacustine Rock
पत्राभिकृत	Foliated	अश्मीकरण	Lithification
सरिता निर्मित	Riverine	अवसादी / पर्तदार	Sedimentary
तापीय	Thermal	चट्टान चूर्ण से निर्मित	Clastic
स्थलजात	Terrigenous	गुम्बदाकार	Laccolith
रूपान्तरित	Metamosphic	दबाव	Pressure
प्रचूर्णित	Pulverized	न्यूनीकरण	Reduction
चूनायुक्त	Calcareous	निर्बल क्षेत्र	Weak Zone
मृण्डय / जलज	Argillaceous	भेद्य	Pervious
आग्नेय	Igneous	प्रवेश्य	Porus
गढ़न	Texture	विदलन	Cleavage

38 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. 'भू–सन्तुलन' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया?
   (अ) जे०ए०स्टीयर्स (ब) आर्थर होम्स (स) जार्ज एयरी (द) सी०ई० डटन
2. 'स्थलरूपों की ऊँचाई और घनत्व में उल्टा अनुपात होता है', यह किसने कहा?
   (अ) जार्ज एयरी (ब) जे०एच० हेफोर्ड (स) जे०एफ० हेफोर्ड (द) आर्थर होम्स
3. 'अग्नि वृत' किसे कहा जाता है?
   (अ) मध्य अटलांटिक पेटी (ब) मध्य महाद्वीपीय पेटी (स) परि प्रशान्त पेटी (द) हिंद महासागरीय पेटी

4. ज्वालामुखी छिद्र के शीर्ष पर मिलने वाले गर्त को कहते हैं–
(अ) उद्‌गार छिद्र (ब) ज्वालामुखी शंकु (स) काल्डेरा (द) क्रेटर

5. भूकम्प मापी यंत्र कहलाता है –
(अ) क्लाइमोग्राफ (ब) सीसमोग्राफ (स) ईडियोग्राफ (द) हीथरग्राफ

आदर्श उत्तर –

1. (द) 2. (ब) 3. (स) 4. (द) 5. (ब)

3.9 सन्दर्भ / उपयोगी पुस्तकें –

अग्रवाल, के०एम०एल०, (2000) : 'भौतिक भूगोल', साहितक भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।०

बागला, सीताराम एवं बागला, शरद, (1974) : 'भूगोल के भौतिक आधार,' किताब घर, आचार्यनगर, कानपुर।

चौहान, वीरेन्द्र सिंह, (1972–73) : 'भौतिक भूगोल,' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ।

Hotms, A., (1975) : 'Principles of physical Geography,' Thomas Nelson and sons Ltd., London.

लाल० डी० एस०, (2012) : 'भौतिक भूगोल' शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद Lobeck, A.K., (1939) : 'Geomorphology', Mc Graw Hill Book Company, New York.

Macelwane, J.B., (1953) : 'Seismology Physics of the Earth', Part I, National Research Council, Delhi.

मामोरिया, सी०बी० एवं सिसौदिया, एम०एस०, (2012–13) : 'भौतिक भूगोल' एस०बी०पी०डी० पब्लिशिंग हाउस, आगरा।

पवार, आर०एस० एवं बंसल, एस०सी० (1994) : 'भौतिक भूगोल,' जय श्री प्रकाशन, मुजफ्फरनगर।
Singh, Savindra, (2018) : 'Geomorphology,' Pravalika Publication, University Road, Allahabad.
Strahlar, A.N., (1961) : 'Introduction to Physical Geography,' John wiley and Sons, New York
Wooldridge, S.W. and East, W.G.. (1951) : 'The Spirit and purpose of Geoaraphy,' Mutechinsons and Uriversity Library.
Wooldridge, S.W. and Morgan, R.S. (1959) : 'An Outline of Geomorphology', Orient Longman, London.
Worcester, P.G., (1939) : 'A Text Book of Geomorphology', D. Von Nostrand Co. Inc., New York.

3.10 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

1. भू–सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसकी उपयोगिता की विवेचना कीजिए।
2. 'समस्थिति' क्या है? इसके नियम तथा प्रयोग को समझाइये।
3. एयरी तथा प्राट के 'भू–सन्तुलन' सम्बन्धी विचारों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।
4. 'ज्वालामुखी' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके उत्पत्ति के कारणों एवं प्रभावों की समीक्षा कीजिए।
5. 'ज्वालामुखी–प्रक्रिया' से निर्मित स्थल रूपों की व्याख्या कीजिए।
6. 'ज्वालामुखी क्रिया' क्या है? ज्वालामुखी के प्रकारों का उल्लेख करते हुए उसके विश्व वितरण को समझाइये।
7. 'भूकम्प' क्या है? भूकम्प के कारणों एवं प्रभावों की समीक्षा कीजिए।
8. भूकम्प कैसे उत्पन्न होते हैं? विश्व में इनके भौगोलिक वितरण की सकारण समीक्षा कीजिए।
9. भूकम्पीय क्रिया द्वारा बनने वाली विभिन्न भूआकृतियों का वर्णन कीजिए।
10. चट्टानों से क्या अभिप्राय है? आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति विधि समझाते हुए उनका वर्गीकरण कीजिए।
11. अवसादी शैलों की विशेषताएं बताते हुए उनका विशद वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
12. रूपान्तरण क्या है? रूपान्तरित चट्टानों की विशेषताएं बताइये एवं उनका वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।

नोट– इकाई का अध्ययन कर अभ्यास प्रश्नों के उत्तर स्वयं लिखिये।

इकाई 4– अपवाह प्रणाली एवं अपवाह प्रतिरूप, अपक्षय एवं उसके कारक, अपरदन एवं उसके कारक : नदी, पवन, हिमानी एवं भूमिगत जल एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 अपवाह प्रणाली एवं अपवाह प्रतिरूप
4.2.1 अपवाह प्रणाली : अर्थ एवं संकल्पना
4.2.2 सरिता वर्ग एवं अपवाह प्रणाली
4.2.3 प्रमुख अपवाह प्रणालियाँ
4.2.4 अपवाह प्रतिरूप : अर्थ एवं संकल्पना
4.2.5 अपवाह प्रतिरूप को प्रभावित करने वाले कारक
4.2.6 अपवाह प्रतिरूपों के प्रकार
4.3 अपक्षय एवं उसके कारक
4.3.1 अपक्षय : परिभाषा एवं तात्पर्य
4.3.2 अपक्षय को प्रभावित एवं नियंत्रित करने वाले कारक
4.3.3 अपक्षय में भाग लेने वाले कारकों का विभाजन
4.3.4 अपक्षय का वर्गीकरण
4.3.4.1 भौतिक या यांत्रिक अपक्षय
4.3.4.2 रासायनिक अपक्षय
4.3.4.3 प्राणिवर्गीय अपक्षय
4.3.4.4 जैव–रासायनिक अपक्षय
4.3.5 अपक्षय का भ्वाकृतिक महत्व
4.4 अपरदन एवं उसके कारका : नदी, पवन, हिमानी एवं भूमिगत जल एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.1 अपरदन : परिभाषा, कार्य एवं प्रकार
4.4.2 अपरदन के कारक
4.4.3 नदी के कार्य एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.3.1 नदी : सामान्य परिभाषा, नदी विकास का स्वरूप एवं नदी प्रकार
4.4.3.2 नदी के कार्य : अपरदनात्मक कार्य एवं नदी अपरदन के रूप
4.4.3.3 नदी–अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक
4.4.3.4 नदी–अपरदन द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.3.5 नदी का परिवहनात्मक कार्य
4.4.3.6 नदी का निक्षेपात्मक कार्य
4.4.3.7 नदी–निक्षेप द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ

4.4.4 पवन के कार्य एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.4.1 पवन : सामान्य परिचय
4.4.4.2 पवन के कार्य : अपरदनात्मक कार्य एवं पवन अपरदन के रूप
4.4.4.3 पवन–अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक
4.4.4.4 पवन–अपरदन द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.4.5 पवन का परिवहनात्मक कार्य
4.4.4.6 पवन का निक्षेपात्मक कार्य
4.4.4.7 पवन के निक्षेपण कार्य द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.5 हिमानी (हिमनद) के कार्य एवं उनसे निर्भित भूआकृतियाँ
4.4.5.1 हिमानी (हिमनद) : सामान्य परिचय, हिमनदों के प्रकार एवं हिमनदों की गति
4.4.5.2 हिमानी (हिमनद) के कार्य
4.4.5.3 हिमानी (हिमनद) के अपरदनात्मक कार्य, हिमनद अपरदन का सिद्धान्त एवं अपरदन के रूप
4.4.5.4 हिमानीकृत भूआकृतियाँ : अपरदनात्मक भूआकृतियाँ
4.4.5.5 हिमानी (हिमनद) का परिवहनात्मक कार्य
4.4.5.6 हिमनद का निक्षेपात्मक कार्य
4.4.5.7 हिमानीकृत भूआकृतियाँ : निक्षेपजनित भूआकृतियाँ
4.4.6 भूमिगत जल के कार्य तथा उनसे निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.6.1 भूमिगत जल : सामान्य परिचय
4.4.6.2 भूमिगत जल : संभावित स्रोत, स्थिति एवं मण्डल
4.4.6.3 भूमिगत जल को प्रभावित करने वाले कारक
4.4.6.4 भूमिगत जल के कार्य
4.4.6.5 भूमिगत जल के अपरदनात्मक कार्य
4.4.6.6 भूमिगत जल–अपरदन द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ
4.4.6.7 भूमिगत जल का परिवहनात्मक कार्य
4.4.6.8 भूमिगत जल का निक्षेपात्मक कार्य
4.4.6.9 भूमिगत जल–निक्षेपण द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ

4.5 सारांश
4.6 शब्द सूची
4.7 स्वमूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर
4.8 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें
4.9 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

4.0 प्रस्तावना –

भूगोल में आधार पाठ्यक्रम UGGO–101 भौतिक भूगोल के प्रथम खण्ड की इस चतुर्थ एवं अन्तिम इकाई में आप अपवाह प्रणाली एवं अपवाह प्रतिरूप, अपक्षय एवं अपरदन के कारकों एवं उनसे निर्मित भूआकृतियों का अध्ययन करेंगे। भौतिक भूगोल में अपवाह प्रणाली एवं अपवाह प्रतिरूप के अध्ययन का पर्याप्त महत्व है; कारण की यह अध्ययन धरातल पर प्रवाहित जलधाराओं की उत्पत्ति से लेकर उनके स्थानीय धरातलीय स्वरूप एवं ढाल प्रवणता दिशा की एक पारस्परिक प्राकृतिक व्यवस्था में आबद्ध सम्पूर्ण विकास यात्रा को बताता है, साथ ही उनके वाह्य ज्यामितिक स्वरूप तथा उनकी स्थानिक व्यवस्था को भी स्पष्ट करता है। विभिनन उदाहरणों एवं चित्रों के माध्यम से आप इस इकाई में यह स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।

आप इस इकाई में अपक्षय एवं उसके कारकों का भी अध्ययन करेंगे। आप यह भलीभाँति जान सकेंगे कि अपक्षय की क्रिया धरातल पर किस प्रकार सम्पन्न होती है। वस्तुतः धरातल पर सम्पन्न होने वाली यह एक स्थैतिक प्रक्रिया है। जिसमें परिवहन की क्रिया का कोई योगदान नहीं होता है। भौतिक, रासायनिक, प्राणिवर्गीय तथा जैव–रासायनिक जैसे कई रूपों में सम्पन्न होने वाली इस प्रक्रिया से अनेक भूआकारों का जन्म होता है।

इसी इकाई में आप बहता हुआ जल (नदी), पवन, हिमनद (हिमानी) तथा भूमिगत जल जैसे महत्वपूर्ण अपरदन के कारकों एवं उनसे निर्मित भूआकृतियों का भी अध्ययन करेंगे। अध्ययन से आपको यह स्पष्ट हो जायेगा कि अपरदन के ये कारक स्वभाव में एक–दूसरे से पूर्णतः भिन्न होते हैं। उनके कार्यक्षेत्र भी भिन्न होते हैं और अपने कार्यक्षेत्र के विशिष्ट स्वभाव के कारण ही ये विभिन्न भूआकृतियों को जन्म देने में समर्थ हो पाते हैं। वहाँ की स्थानीय भौगोलिक एवं पारिस्थितिकीय दशाएं उन्हें उनके कार्यों में सहायता प्रदान करती है, और उन्हें प्रभावित भी करती हैं।

4.1 उद्देश्य –

इस चौथी एवं अंतिम इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- अपवाह प्रणाली के विभिन्न रूपों से परिचित हो सकेंगे,
- अपवाह प्रतिरूप के विभिन्न प्रकारों एवं स्वरूपों को समझ सकेंगे,
- धरातल के भौतिक जगत में अपक्षय क्रिया एवं उसकी महत्ता को जान सकेंगे,
- अपरदन के लिए उत्तरदायी कारकों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे,
- धरातल पर प्रवाहित जल, हिमनद, भूमिगत जल तथा वायुमण्डल में प्रवाहित पवन अपरदन एवं निक्षेपण के सक्रिय कारक के रूप में धरातल पर व्यापक परिवर्तन

करके नये भूरूपों को जन्म देते हैं आपको इस तथ्य का भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

4.2 अपवाह प्रणाली एवं अपवाह प्रतिरूप अपवाह प्रणाली

4.2.1 अपवाह प्रणाली : अर्थ एवं संकल्पना –

धरातल पर विभिन्न सरिताओं के उद्भव एवं उनके विकास परक पारस्परिक सम्बन्ध को 'अपवाह प्रणाली' या 'अपवाह तंत्र' कहते हैं। 'अपवाह' प्रत्यक्ष रूप से स्थानीय ढाल के अनुसार मनमानी दिशा में होते हुए भी एक प्रणाली (System) में व्यवस्थित होकर सागर की ओर प्रवाहित होता है। इस तरह से यदि देखा जाय तो–'जल धाराओं की उत्पत्ति से लेकर उनकी स्थानीय धरातलीय स्वरूप एवं ढाल प्रवणता दिशा की एक पारस्परिक प्राकृतिक व्यवस्था में आबद्ध सम्पूर्ण विकास यात्रा को 'अपवाह प्रणाली' की संज्ञा दी जा सकती है'। थार्नबरी (1969) के अनुसार–'प्रवाह प्रणाली वह व्यवस्था है जिसका निर्माण किसी क्षेत्र की सहायक एवं मुख्य नदियों से होता है।'स्ट्राहलर (1961) के अनुसार–क्रमशः निम्नतर सतह एवं अंततोगत्वा सागर में विलीन होने के लिए प्रयत्नशील अपवाह, जल प्रवाह प्रणाली में व्यवस्थित हो जाता है। सारांशतः मुख्यनदी एवं सहायक नदियों का बहाव व रूप ही अपवाह प्रणाली है।

4.2.2 सरिता वर्ग एवं अपवाह प्रणाली –इसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है– (अ) क्रमवर्ती सरिता, (ब) अक्रमवर्ती सरिता।

(अ) क्रमवर्ती सरिता – भौमिकीय संरचना के साथ समायोजित होकर ढाल के अनुरूप प्रवाहित होने वाली सरिता 'क्रमवर्ती सरिता' कहलाती है। अनुवर्ती, परवर्ती, प्रति अनुवर्ति एवं नवानुवर्ती सरिताएं इसी श्रेणी की सरिताएं हैं।

(ब) अक्रमवर्ती सरिता – भौमिकीय संरचना के प्रतिकूल एवं प्रादेशिक ढाल का अनुसरण न करने वाली सरिता 'अक्रमवर्ती सरिता' कहलाती है। जैसे पूर्ववर्ती तथा श्वारोपित (अध्यारोपित) सरिताएं

4.2.3 प्रमुख अपवाह प्रणालियाँ –

(अ) क्रमवर्ती अपवाह प्रणाली –

ढालों के अनुरूप प्रवाहित होने वाली नदियों के अपवाह तंत्र को 'क्रमवर्ती अपवाह प्रणाली' के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। ये प्रमुखतः चार हैं–

(1) अनुवर्ती सरिता (अपवाह प्रणाली) : ऐसी सभी नदियाँ जिनका प्रवाह मार्ग आरम्भिक भौम्याकृति का परिणाम होता है, अनुवर्ती सरिता कही जाती हैं। यह क्षेत्र की प्रधान एवं सबसे लम्बी नदी होती है एवं प्रायः ढाल–नति के सहारे प्रवाहित होती है; इसीलिए उन्हें

'नति सरिता' भी कहा जाता है। अनुवर्ती नदियों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जाता है –

(क) अनुदैर्ध्य अनुवर्ती – ये मोड़दार संरचना में अभिनतियों का अनुसरण करके प्रवाहित होती हैं।

(ख) पार्श्ववर्ती अनुवर्ती – ये अपनतियों के पार्श्वभागों पर विकसित होती हैं।

प्रायद्वीपीय भारत के तटीय मैदानों में प्रवाहित होने वाली अधिकांश नदियाँ इसी अपवाह प्रणाली की नदियाँ हैं जो अपने उद्‌गम क्षेत्र से निकलकर प्राकृतिक ढाल का अनुसरण करती हुई बंगाल की खाड़ी एवं अरब सागर में विलीन होती हैं।

चित्र 4.1

(2) परवर्ती सरिता (अपवाह प्रणाली)– अनुवर्ती जलधारों के बाद उत्पन्न तथा उनके द्वारा निर्मित घाटी के स्थानीय आधार तल को प्राप्त करने हेतु स्थानीय ढाल का अनुसरण करती हुई कुछ अन्य जल धाराएं अपने लघु जलग्रहण क्षेत्र से जल लेकर मुख्य अपवाह धारा में मिलने लगती हैं। ऐसी सहायक जलधाराओं को 'परवर्ती सरिता' कहा जाता है। प्रायः अनुवर्ती के सहायक के रूपों में समकोण पर मिलता है।

(3) प्रति अनुवर्ती सरिता (अपवाह प्रणाली)– ऐसी वे सहायक जलधाराएं जिनका प्रवाह आरंभिक अनुवर्ती जलधाराओं के विपरीत दिशा में पाया जाता है, उन्हें 'प्रति अनुवर्ती सरिता' कहा जाता है। प्रति–अनुवर्ती जलधारा परवर्ती से समकोण पर मिलती हैं। इन जलधाराओं के विकास की अनुकूल दशाएं अपनति संस्तरों वाले प्रदेशों में मिलती हैं जहाँ क्वेस्टा जैसे कगारीय भाग मिलते हैं।

(4) नवानुवर्ती सरिता (अपवाह प्रणाली)– ये जलधाराएं परवर्ती जलधाराओं के सहायक के रूप विकसित हेाकरं प्रधान अनवर्ती जलधारा की दिशा के अनुसारे प्रवाहित होती है। चूँकि इनका उद्‌भव एवं विकास प्रधान अनुवर्ती की तुलना में बहुत बाद में निचले भौम्याकृतिक तल पर नूतन आधार तल के सन्दर्भ में होता है, इसीलिए इन्हें 'नवानुवर्ती सरिता' कहा जाता है। ये जलधाराएं परवर्ती जलधारा से समकोण पर मिलती हैं।

(ब) अक्रमवर्ती अपवाह प्रणाली– इसके अन्तर्गत दो तरह की अपवाह प्रणालियाँ आती हैं – (1) पूर्ववर्ती अपवाह प्रणाली, (2) पूर्वारोपित या अध्यारोपित अपवाह प्रणाली।

(1) पूर्ववर्ती अपवाह प्रणाली– इस अपवाह प्रणाली के अन्तर्गत उन जल धाराओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनका आविर्भाव स्थल खण्ड के उत्थान के पहले हो चुका होता है और जो स्थल खण्ड के उत्थान के बावजूद अपने पूर्ववर्ती मार्ग को समायोजित रखने में समर्थ होती हैं। इनका स्वरूप अनुप्रस्थ घाटी के समान होता है जिनके प्रवाह मार्ग भौमिकीय संरचना को आर–पार काटते हैं। उत्थान आकस्मिक है और अल्पकाल में ही पूर्ण हो जाता है, तो ऐसी नदियों का अपने पूर्ववर्ती मार्ग पर बने रहना संभव नहीं होगा।

इसके विपरीत क्रमशः मन्द गति से उत्थान की दशा में ऐसी नदी उत्थान के साथ–साथ अपनी घाटी गहरी करती हुई अपने पूर्व मार्ग पर प्रवाहित होती रहेगी। ऐसी नदियों द्वारा निर्मित घाटी को 'पूर्ववर्ती घाटी' कहते हैं और 'पूर्ववर्ती जलधाराओं के सामूहिक क्रम को पूर्ववर्ती अपवाह प्रणाली कहते हैं। 'हिमालय क्षेत्र की अधिकांश नदियाँ (यथा–ब्रह्मपुत्र, सिन्धु, सतलज, गंगा, काली गंडक, तीस्ता आदि) पूर्ववर्ती अपवाह प्रणाली की ही नदियाँ हैं।

(2) पूर्वारोपित या अध्यारोपित अपवाह प्रणाली –

इस अपवाह प्रणाली के अन्तर्गत उन जलधाराओं को सम्मिलित किया जाता है जो अपनी ऊपरी संरचना में निर्मित घाटियों का आरोपण निचली संरचना में करती हैं, चाहे वह संरचना किसी भी प्रकार की क्यों न हो। दूसरे शब्दों में–ये जलधाराएं अपने प्रवाह स्थल की संरचना के साथ समायोजित नहीं होती। उनका ऊपरी शैल आवरण पर होता है। यह अपवाह प्रणाली उपरिशायी संस्तरों की विशेषताओं के अनुसार विकसित होती है, जिसका विस्तार निम्न कटाव द्वारा अंतःशायी संरचना पर भी होता है, चाहे वह कितनी ही भिन्न प्रकार की हो। इस प्रकार अन्तःशायी संरचना को उपरिशायी शैल आवरण में निर्मित घाटी के आकार एवं स्वभाव को अंगीकार करना होता है। यह उसकी मजबूरी होती है। इस प्रकार ऊपरी शैल आवरण वाली घाटी का निचली संरचना पर आरोपण 'पूर्वारोपण' या 'अध्यारोपण' कहलाता है। इसकी दो प्रमुख पहचाने होती हैं– (1) घाटियों के ऊपर उपरिशायी शैल के, जिसके ऊपर सर्वप्रथम नदी घाटी का विकास हुआ था, अवशेष दिखाई पड़ते हैं; (2) इन नदियों की घाटियाँ संरचना के विपरीत होती हैं।

मध्य प्रदेश में दक्षिणी रीवा पठार में कैमूर श्रेणियों एवं खैन्जुआ श्रेणियों के आर–पार प्रवाहित होने वाली सानेनदी और उसकी सहायक छोटी नदियाँ पूर्वारोपित या अध्यारोपित अपवाह प्रणाली का उदाहरण है (चित्र 4.2) सुवर्ण रेखा नदी द्वारा छोटा नागपुर पठार पर च्रन्दिल ? के पश्चिम में डाल्मा एवं फाइलाट पहाड़ियों पर किया गया है।

अपवाह प्रतिरूप

4.2.4 अपवाह प्रतिरूप : अर्थ एवं संकल्पना –

किसी क्षेत्र या प्रदेश में अपवाह प्रणाली के वाह्य ज्यामितिक स्वरूप या आकारीकीया जलधाराओं की स्थानिक व्यवस्था को 'अपवाह प्रतिरूप' कहते हैं। **थार्नबरी (1969) अनुसार–** 'आपवाह प्रतिरूप एक विशेष खाका या अभिकल्पन को सन्दर्मित करता है, जिसका निर्माण एकाकी सरिता धाराओं के सम्मिलित रूप से होता है।' सारांश रूप में यदि यह कहा जाय कि– 'हवाई अवलोकन के दौरान किसी क्षेत्र के अपवाह बेसिन में सरिताओं की एक व्यवस्था ही अपवाह प्रतिरूप होती है; तो अधिक उचित होगा।

4.2.5 अपवाह प्रतिरूप को प्रभावित करने वाले कारक –

किसी भी अपवाह बेसिन में स्थानीय धरातलीय ढाल, स्थलीय संरचना एवं आकारिकी, विवर्तनिक कारक एवं भूगर्मिक हलचलें, आवरण शैलों का स्वभाव, जलवायु एवं वनस्पति का स्वरूप आदि कारक होते हैं, जो वहाँ भी जलधाराओं की अवस्थिति, संख्या एवं प्रवाह दिशा को निर्धारित करके उन्हें एक अलग प्रतिरूप प्रदान करते हैं। चूँकि इन कारकों में स्थानिक भिन्नता होती है, इसीलिए इनके प्रभाव भी स्थान परिवर्तन के साथ भिन्न हो जाते हैं।

4.2.6 अपवाह प्रतिरूपों के प्रकार –

अपवाह प्रतिरूपों को निम्न प्रकारों में बाँटा जा सकता है–

(1) जालीनुमा अपवाह प्रतिरूप – इस प्रतिरूप का विकास किसी अभिनति मे प्रवाहित मुख्यनदी (प्रधान अनुवर्ती सरिता) तथा उसके दोनों पार्श्व कटकों से आकर उसमें प्रायः समकोण पर मिलने वाली सहायक जलधाराओं के प्रवाह जाल द्वारा होता है। समानान्तर अपनतीय कटकों तथा अभिनतीय घाटियों वाली सरल वलित संरचना वाले भाग इस अपवाह प्रतिरूप के उद्‌भव वाले आदर्श प्रदेश माने जाते हैं। इस प्रतिरूप में जलधाराओं की उपसमानान्तर प्रणाली विकसित होती है जिसमें सरिताओं के प्रवाह मार्गों में ढाल एवं संरचना का विशिष्ट नियंत्रण झलकता है। यह प्रतिरूप आयताकार प्रतिरूप से भी मिलता जुलता है। अन्तर केवल सरिताओं की बीच की दूरी के आधार पर किया जाता है। यदि सरिताएं पास–पास एवं ढाल के अनुरूप विकसित होती हैं, तो प्रतिरूप जालीनुमा होता है और यदि सरिताएं दूर–दूर और शैल सन्धियों के अनुसार विकसित होती हैं तो प्रतिरूप आयताकार होता है।

चित्र 4.3A

(2) द्रुमाकृतिक अपवाह प्रतिरूप – इसे पादपाकार या बृक्षाकार अपवाह प्रतिरूप भी कहते हैं। एक ही प्रकार की संरचना वाले प्रदेशों में होता है। किसी अवरोध या भिन्नता के न होने के कारण नदियाँ बृक्ष व उसकी शाखाओं के रूप में विकसित हो जाती हैं। इस अपवाह प्रतिरूप को देखने पर एक सूरवे बृक्ष की आकृति बनती है जिसका तना मुख्यनदी एवं शाखायें सहायक जलधाराओं की प्रतीक होती हैं; गंगा बेसिन में इस प्रकार का अपवाह प्रतिरूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें हर सहायक जल धारा मुख्य जलधारा में न्यूनकोण पर मिलती है।

चित्र 4.3B

(3) आयताकार अपवाह प्रतिरूप –

इस प्रकार का अपवाह प्रतिरूप आयताकार संधियों वाले चट्‌टानी प्रदेशों में विकसित होता है। सन्धियों के इन्हीं कमजोर भागों पर जलधाराएं धीरे–धीरे अपनी नवीन

घाटियाँ विकसित करती हैं और प्रवाहित होते हुए एक–दूसरे से प्रायः समकोण पर मिलती हैं। **चित्र 4.3C**

(4) अपकेन्द्रीय अपवाह प्रतिरूप –

जब किसी केन्द्रवर्ती उच्चभाग से निकलकर सरिताएं ढालों का अनुसरण करती हुई चारों तरफ प्रवाहित होती हैं, तो उसे 'अपकेन्द्रीय अपवाह प्रतिरूप' कहा जाता है। इसे 'अरीय' या 'केन्द्रत्यागी' अपवाह प्रतिरूप भी कहते हैं, कारण कि इनका आकार पहियों के अरों या वृत्त के अर्द्धव्यासों के समान हुआ करता है। ये अपवाह प्रतिरूप गुम्बदाकार पर्वत या ज्वालामुखी शंकुओं में मिलती हैं। झारखण्ड प्रान्त में हजारीबाग पठार के मोरचा पहाड़ तथा लुगु पहाड़ तथा राजस्थान का माउण्ट आबू आदि उदाहरण हैं।**चित्र 4.3D**

(5) अभिकेन्द्रीय अपवाह प्रतिरूप –

इसे 'केन्द्रोन्मुख अपवाह प्रतिरूप' भी कहा जाता है, इसमें नदियाँ विभिन्न क्षेत्रों से आकर एक केन्द्र पर मिलती हैं। यह केन्द्र कोई झील, दलदल, घोल रन्ध्र, क्रेटर झील या अंतःस्थलीय अवतलित बेसिन हो सकता है। इस प्रकार का अपवाह प्रतिरूप लद्रदाख एवं तिब्बत प्रदेश में विकसित है। इसे 'अन्तर्देशीय अपवाह प्रतिरूप' भी कहते हैं, इसका सम्बन्ध सागर से नहीं हो पाता।**चित्र 4.4A**

(6) वलयाकार अपवाह प्रतिरूप –

इस अपवाह प्रतिरूप में नदियों की जलधाराएं किसी प्रौढ़ धर्षित गुम्बकीय संरचना वाले प्रदेश में वृत्ताकार या चक्राकार क्रम में प्रवाहित होती हैं। एक तरह से वे गुम्बदों की परिक्रमा करते हुए उनके ढाल के साथ नहीं, बल्कि उनकी संरचना के साथ सामंजस्य स्थापित करती हैं। अमेरिका के ब्लैक हिल्स गुम्बद में तथा ग्रेट ब्रिटेन के वेल्ड प्रदेश आदि उदाहरण हैं। **चित्र 4.4B**

(7) कंटकीय अपवाह प्रतिरूप –

इस अपवाह प्रतिरूप का विकास प्रायः सरिता अपहरण वाले क्षेत्रों में होता है, जहाँ मुख्य नदियों के ऊपरी भाग में उनकी सहायक जलधाराएं विपरीत दिशा से उसमें समाहित होती हैं। मुख्य नदी अपने शीर्ष अपरदन द्वारा विपरीत दिशा में बहने वाली नदी–जल का अपहरण कर लेती है। ब्रह्मपुत्र एवं सिन्धु नदियों के ऊपरी अपवाह प्रदेश में इस तरह का अपवाह प्रतिरूप मिलता है।**चित्र 4.4C**

8. परनुमा अपवाह प्रतिरूप –

यह अपवाह प्रतिरूप पत्तियों की नसों के समान अथवा पक्षियों के पंरव के आकार का होता है। ऐसे अपवाह प्रतिरूप का विकास प्रायः खड़े ढाल वाली श्रेणियों से घिरी सकरी अनुदैर्ध्य घाटियों में होता है, जहाँ पार्श्ववर्ती खड़े ढालों से जलधारायें उतरकर

संकरी घाटी में प्रवाहित मुख्य जलधारा में न्यूनकोण पर आकर मिलती हैं। ऊपरी सोन नैदी एवं नर्मदा का अपवाह प्रतिरूप उदाहरण है।**चित्र 4.5A**

9– हेरिंग अस्थि अपवाह प्रतिरूप –

इस अपवाह प्रतिरूप का विकास पर्वतीय क्षेत्रों में होता है, जहाँ मुख्य जलधारा की घाटी चौड़ी एवं विस्तृत होती है किन्तु पार्श्ववर्ती ढाल काफी तीव्र होते हैं। इन पार्श्ववर्ती तीब्र ढालों से छोटी–छोटी जलधाराएं निकलकर घाटी में प्रवाहित मुख्य जलधारा में प्रायः समकोण पर इस तरह से मिलती हैं इसका स्वरूप ''हेरिंग मछली की हड्डियों के ढाँचे के समान' या 'मनुष्य की पसलियों के समान' (Rib Pattern) दृष्टिगोचर होता है। झेलम नदी के ऊपरी भाग में इस तरह के अपवाह प्रतिरूप का विकास हुआ है।

चित्र 4.5B

10– समानान्तर अपवाह प्रतिरूप –

यह अपवाह प्रतिरूप एक विस्तृत तथा लम्बे क्रम में स्थित पर्वत श्रेणियों, ढलुआ सागर तटीय मैदानों या क्वेस्टा मैदानों में विकसित होता है, जहाँ नदियाँ प्रादेशिक ढाल का अनुसरण करती हुई एक दूसरे के समानान्तर प्रवाहित होती हैं। भारत के पश्चिमी एवं पूर्वी तटीय मैदानों पर समानान्तर अपवाह प्रतिरूप पाया जाता है **चित्र 4.5C**

11– अनिश्चित अपवाह प्रतिरूप –

जब किसी क्षेत्र विशेष में अव्यवस्थित धरातलीय संरचना के कारण वहाँ प्रवाहित जलधाराओं का कोई निश्चित क्रम विकसित नहीं हो पाता, तो उसे अव्यवस्थित, जटिल, मिश्रित, असमान या अनिश्चित अपवाह प्रतिरूप कहा जाता है। यह प्रतिरूप हिमानी प्रभावित अनेक झीलों से परिपूर्ण उत्तरी कनाड़ा में मिलता है। फिनलैण्ड का अपवाह प्रतिरूप उदाहरण है।**चित्र 4.5D**

12– प्रच्छन्न अपवाह प्रतिरूप –

इसे 'आन्तरायिक' या 'विशेषात्मक' अपवाह पतिरूप भी कहते हैं।इसमे नदिया मौसमी होती हैं या फिर प्रवाह क्रम में जिनका जल थोड़े समय के लिए पथरीली एवं बड़े–बड़े कंकड़वाली भूमि में लुप्त हो जाता है तथा कुछ दूरी तय करने के बाद फिर प्रकट होता है। उत्तरी भारत का भावर क्षेत्र उदाहरण है।

13– भूमिगत अपवाह प्रतिरूप –

यह अपवाह प्रतिरूप मुख्य रूप से चूने की चट्टानों वाले प्रदेश में विकसित होता है, जहाँ धरातलीय जल रिसकर धरातल के नीचे पहुँचकर मन्दगति से चलने वाली

जलधाराओं के रूप में विकसित होता है। यह अदृश्य अपवाह प्रतिरूप है, जो दिखाई नहीं देता। इंग्लैण्ड के सेरे प्रदेश में इस अपवाह प्रतिरूप का विकास हुआ है।

4.3 अपक्षय एवं उसके कारक –

4.3.1 अपक्षय : परिभाषा एवं तात्पर्य –

सामान्य रूप से चट्टानों के अपने ही स्थान पर टूटने एवं बिखरने की प्रक्रिया को 'अपक्षय' या 'मौसमीक्षरण' कहा जाता है। इस प्रक्रिया में चट्टान–चूर्ण के परिवहन को सम्मिलित नहीं किया जाता। वस्तुतः यह एक स्थैतिक प्रक्रिया है।

'इसके लिए चट्टानों का विघटित एवं वियोजित होना अनिवार्य है।

विघटन क्या है?– जब भौतिक या यांत्रिक विधि द्वारा (दैनिक तापान्तर, तुषार पात, वायु, वर्षा आदि) चट्टानों ढीली पड़कर अपने ही स्थान पर बिखर जाती हैं, तो यह क्रिया 'विघटन' कहलाती है। इस क्रिया में चट्टानों के खनिज तत्वों में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

वियोजन क्या है?– जब रासायनिक विधि द्वारा (आक्सीडेशन, कार्वोनेशन हाइड्रेशन आदि) चट्टाने क्षयित हों, जिससे उनके खनिज तत्वों में भी अन्तर आ जाय, तो वह क्रिया 'वियोजन' या 'अपघटन' कहलाती है।

'स्थैतिक क्रिया होने के कारण अपक्षय में विदीर्ण पदार्थ (चट्टान चूर्ण) का 'व्यापक स्थानान्तरण' नहीं होता, किन्तु 'गुरूत्व' के कारण विदीर्ण पदार्थ का 'सामूहिक रूप से स्थानान्तरण' अवश्य हो सकता है।

4.3.2 अपक्षय को प्रभावित एवं नियंत्रित करने वाले कारक–

अपक्षय की प्रक्रिया को प्रभावित एवं नियंत्रित करने वाले कारक पाँच हैं– (1) चट्टानों की संरचना तथा उनका संगठन, (2) धरातलीय ढाल की प्रकृति (3) जलवायु की दशायें, (4) वानस्पतिक प्रभाव, (5) समय की अवधि।

4.3.9 अपक्षय में भाग लेने वाले कारकों का विभाजन –

अपक्षय में भाग लेने वाले कारकों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(अ) भौतिक या यांत्रिक कारक– (1) वाही जल, (2) वर्षा जल, (3) सूर्यातप, (4) तुषार या पात्रा (5) वायु, (6) दबाव।

(ब) रासायनिक कारक– (1) आक्सीजन, (2) कार्बनडाई आक्साइड, (3) हाइड्रोजन।

(स) जैविक या प्राणिवर्गीय कारक– (1) वनस्पतियाँ, (2) जीवजन्तु, (3) मानव

उपरोक्त कारकों की भी सक्रियता ही अपक्षय के स्वरूप एवं प्रकार को निर्धारित करती है।

4.3.4 अपक्षय का वर्गीकरण –

विघटन एवं वियोजन में भाग लेने वाले कारकों के आधार पर अपक्षय को चार प्रमुख वर्गों में बाँटा गया है –

(1) भौतिक या यांत्रिक अपक्षय, (2) रासायनिक अपक्षय, (3) प्राणिवर्गीय अपक्षय, (4) जैव–रासायनिक अपक्षय।

4.3.4.1 भौतिक या यांत्रिक अपक्षय–

भौतिक या यांत्रिक अपक्षय का तात्पर्य चट्टानों की उस टूट–फूट से है जिसमें इसके विभिन्न कारकों, यथा–सूर्यताप, जल, तुषार, वायु, दबाव, गुरुत्व आदि द्वारा चट्टानें विघटित होने लगती हैं। इस विघटन से चट्टानों के भौतिक रंग–रूप में ही परिवर्तन होता है; उनके रासायनिक संगठन में कोई अन्तर नहीं आता। यांत्रिक अपक्षय की क्रिया निम्नरूपों सम्पन्न होती है–

(1) ताप परिवर्तन के कारण चट्टानों का बड़े टुकड़ों में विघटन –

अधिकांश चट्टानें दो या दो से अधिक खनिजों से निर्मित होती हैं, जिसके फलस्वरूप उन चट्टानों में ताप परिवर्तन के कारण समान दर से प्रसरण या संकुचन नहीं होता। इस विविधता के कारण प्रतिबल उत्पन्न होता है प्रसरण एवं संकुचन क्रिया गर्म रेगिस्तानी प्रदेशों में अधिक होती है, कारण कि वहाँ दिन व रात के तापमान में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। प्रसरण एवं संकुचन क्रियाओं की दैनिक पुनरावृत्ति के कारण चट्टानों में धीरे–धीरे संधियों का विकास होने लगता है, और कालान्तर में इन्हीं संधियों के सहारे चट्टानें बड़े–बड़े टुकड़ों में विघटित हो जाती है।

(2) ताप परिवर्तन के कारण चट्टानों का छोटे टुकड़ों में (कणदार) विघटन –

जब किसी चट्टान की संरचना में ऐसे खनिज कणों का योग होता है जिनके प्रसरण गुणांक में पर्याप्त भिन्नता होती है, तो वह चट्टान दैनिक तापान्तर की अधिकता के कारण जटिल प्रतिबल उत्पन्न होने से छोटे–छोटे टुकड़ों (कणों) में विघटित हो जाती हैं;

(3) ताप एवं वर्षा जल द्वारा चट्टानों का टूट–टूट कर बिखरना –

गर्म प्रदेशों में ताप की अधिकता के कारण चट्टानें अत्यन्त तप्त हो जाती हैं। आकस्मिक वर्षा के कारण इन तप्त चट्टानों पर जब वर्षा जल की बूँदे अचानक पड़ती हैं, तो ये चटक कर खण्डित हो जाती हैं और टूटकर छोटे–छोटे कणों में बिखरने लगती हैं। रेगिस्तानी प्रदेशों में आकस्मिक बृष्टि के कारण यह क्रिया अधिक घटित होती है।

(4) तुषार क्रिया के कारण चट्टानों का बड़े टुकड़ों में विघटन –

शीत व शीतोष्ण जलवायु प्रदेशों तथा उच्च पर्वतों के ऊपरी भागों पर चट्टानों के विखण्डन का एक महत्वपूर्ण कारण तुषार क्रिया है। यह क्रिया दो रूपों में सम्पन्न होती है– (1) चट्टानों के कणों के अन्दर स्थित जल के जमने तथा पिघलने से, (2) चट्टानों की संधियों में स्थित जल के माध्यम से। इन दोनों ही रूपों में जल के बार–बार हिमीकरण एवं द्रवीकरण के कारण चट्टानों के आयतन में क्रमशः विस्तार एवं कमी होती रहती है, जिससे चट्टानों की दरारें चौड़ी होती रहती हैं और अंततः विशालकाय चट्टान बड़े–बड़े खण्ड़ों में टूट जाती है।

(5) ताप एवं वायु के कारण चट्टानों का अपदलन –

मानसूनी, शुष्क तथा अर्धशुष्क प्रदेशों में दिन एवं रात की तापीय भिन्नता के कारण चट्टानों की ऊपरी परतें क्रमिक प्रसरण एवं संकुचन की वजह से ढीली पड़ जाती हैं। ये ढीली परतें पवन के प्रभाव से मुख्य चट्टान की परतों से प्याज के छिलकों की भाँति अलग होने लगती हैं। यह क्रिया 'अपदलन' या 'अपपत्रण' कहलाती है। इस प्रक्रिया द्वारा चट्टानें प्रायः गोलाभ आकृति धारण कर लेती हैं, अतः इसे 'गोलाभ अपक्षय' या 'ओनियन अपक्षय' भी कहते हैं।

(6) दाब मुक्ति के कारण चट्टानों का अपदलन एवं विघटन –

बहुत सी आग्नेय और रूपान्तरित चट्टानें धरातलीय चट्टानों के नीचे काफी गहराई तक दबी होती हैं, परिणामतः उनपर दबाव भी अधिक होता है। जब अपरदन या अन्य किसी कारणवश धरातलीय चट्टानों का लोप हो जाता है, तो नीचे की चट्टानें पर से दबाव हट जाता है; फलतः चट्टानें स्पंज की भाँति ऊपर की ओर फैलती हैं। इस प्रक्रिया में उन चट्टानों पर दरारें पड़ जाती हैं तथा उनका अपदलन एवं विघटन प्रारम्भ हो जाता है। प्रायः बैथोलिथ गुम्बदों का अपदलन इसी प्रकार होता है।

4.3.4.2 रासायनिक अपक्षय –

'चट्टानों का रासायनिक विधि द्वारा वियोजित होना ही रासायनिक अपक्षय कहलाता है'। इस तरह के अपक्षय को चार विधियों में विभक्त करते हैं – (1) आक्सीडेशन या आक्सीकरण, (2) कार्बोनेशन या कार्बनीकरण, (3) हाइड्रेशन या जलयोजन, (4) डिसिलिकेशन या सिलिका का पृथक्करण।

(1) आक्सीडेशन या आक्सीकरण –

जब वायुमण्डल की आक्सीजन गैस (0) स्वतंत्र रूप में अथवा जल में घुले हुए रूप में चट्टानों के खनिजों से संयोग करती हैं, तो उन्हें आक्साइड में बदल देती है। यह क्रिया 'आक्सीकरण' कहलाती है। जिन चट्टानों में लौह खनिज तत्व अधिक होते हैं, उनमें इस क्रिया के प्रभाव से जंग लग जाता चट्टान वियोजित होने लगती है। इसी तरह

पाइराइट पर आक्सीजन तथा जल के संयोग से गन्धक अम्ल उत्पन्न होता है, चट्टानें गलने लगती हैं। लाल, पीली, भूरी, हरी मिट्टियाँ आक्सीकरण का ही परिणाम हैं।

(2) कार्बोनेशन या कार्बनीकरण –

कार्बनडाई आक्साइड गैस (Co_2) का संयोग जल (H_2o) से होने पर कार्बोनट बनते हैं। जल में आसानी से घुलकर ये कार्बोनेट चट्टानों से उनके घुलनशील तत्वों को अलग करते हैं। इसी क्रिया को 'कार्बोनेशन' कहते हैं। इससे चट्टानें वियोजित होने लगती हैं। उदाहरण के लिए कैलशियम आक्साइड (Cao) पर कार्बनडाई आक्साइड की क्रिया होने से कैलशियम कार्बेनेट बनता है, जिससे चूना युक्त चट्टानें क्षयित होती हैं। चूना पत्थर भी जल तथा कार्बनडाई आक्साइड के साथ संयोगकर कैलशियम बाई कार्बोनेट बनाता है। यह घुलनशील है, जिससे भूमिगत कंदराओं एवं उनमें स्टैलेग्माइट एवं स्टैलेग्टाइट का निर्माण होता है।

(3) हाइड्रेशन या जलयोजन –

चट्टानों का सम्पर्क जब जल (H_2o) से होता है, तो जल की हाइड्रोजन से चट्टानी खनिजों में हाइड्रेशन की क्रिया होती है। दूसरे शब्दों में–'जल के सम्पर्क में आने पर चट्टानें जल को सोख लेती हैं, जिसकी वजह से चट्टानों के आयतन में बृद्धि हो जाती है। आयतन में बृद्धि से चट्टानों के कणों एवं खनिजों में तनाव पैदा होता है और वे फैलकर टूटने लगती हैं'। आग्नेय चट्टानें हाइड्रेशन की क्रिया से अधिक प्रभावित होती हैं। फेल्सपार (आर्थोक्लेज) खनिज हाइड्रेशन की क्रिया द्वारा क्ओलिन या चीनी मिट्टी में बदल जाता है। हाइड्रेशन की क्रिया से ही कैलशियम सल्फेट जिप्सम में बदल जाता है। बाक्साइट धातु भी इसी किया का परिणाम है।

(4) डिसिलिकेशन या सिलिका का पृथक्करण –

रासायनिक विधि द्वारा चट्टानों से सिलिका के अलग होने की प्रक्रिया को 'डिसिलिकेशन' कहा जाता है। यह क्रिया जल द्वारा होती है। इससे चट्टान कमजोर तथा ढीली पड़ने लगती है और उसका वियोजन शीघ्रता से होने लगता है। परतदार चट्टानों की तुलना में आग्नेय चट्टानों का वियोजन इस क्रिया से जल्दी होता है, परतदार चट्टानों में सिलिका के कण क्वार्ट्ज के रूप में रहते हैं जो जल में शीघ्रता से नहीं धुल पाते।

4.3.4.3 प्राणिवर्गीय अपक्षय –

जीव–जन्तुओं वनस्पतियों एवं मानव द्वारा होने वाला अपक्षय 'जैविक' या 'प्राणिवर्गीय' अपक्षय कहलाता है। इन तीनों प्रक्रमों के आधार पर ही आपक्षय के इस स्वरूप को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है– (1) जीव–जन्तुओं द्वारा अपक्षय, (2) वानस्पतिक अपक्षय, (3) मानव द्वारा अपक्षय।

(1) जीव–जन्तुओं द्वारा अपक्षय –

सूक्ष्म जीवों, जन्तुओं, कीड़े–मकोड़ों तथा पशुओं द्वारा होने वाला अपक्षय इस श्रेणी में आता है। सूक्ष्म जीवों में फन्जाई (Fungi) से अम्ल तथा लवण पैदा होता है; नाइट्रोजन युक्त जीवाणु वायु से नाइट्रोजन प्राप्त कर नाइट्रिक एसिड बनाते हैं; डायटम जीव चट्टानों के सिलीकेट तत्व नष्ट करते हैं; लिचेन या काई से आक्सेलिक अम्ल बनता है। सूक्ष्म जीव–जन्तुओं की ये सभी क्रियायें अन्ततः चट्टानों को कमजोर बनाकर उन्हें वियोजित करती है। जीव–जन्तु एवं कीड़े–मकोड़े (खरगोश, गीदड़, लोमड़ी, चूहे, केचुए, चींटियाँ, दीमक आदि) अपनी बिलकारी क्रियाओं द्वारा शनैः शनैः चट्टानों के अपक्षय में सहयोगी भूमिका निभाते हैं। बड़े–बड़े पशु भी अपने चलने–फिरने से चट्टानों को विघटित करते हैं। इस तरह अपक्षय–प्रक्रिया पर जीव–जन्तुओं एवं कीड़े–मकोड़ों का पर्याप्त प्रभाव रहता है।

(2) वानस्पतिक अपक्षय –

वनस्पतियों से होने वाला अपक्षय रासायनिक और भौतिक भी है। वनस्पतियों के नष्टप्राय अवशेषों से तथा जड़ों से ह्यूमिक अम्ल निकलता है जो खनिजों एवं जैवीय अम्लों के साथ मिलकर चट्टानों का वियोजन करता है। पौधों की जड़ों में जलीय बैक्टीरिया चट्टानों के खनिजों को धुलाकर उनसे अलग कर चट्टानों को कमजोर बना देते हैं। भौतिक अपक्षय के अन्तर्गत वनस्पतियों की जड़े चट्टानों की दरारों एवं सन्धियों में प्रवेश कर उनमें तनाव उत्पन्न करती हैं; फलतः चट्टानें विखण्डित होने लगती हैं। वनस्पतियाँ जहाँ एक ओर अपक्षय का कारण हैं, वहीं दूसरी ओर अपक्षय–क्रिया में बाधक भी बनती हैं। घनी वनस्पतियाँ कवच के रूप में अपक्षय के कारकों से चट्टानों को बचाती हैं तथा उनकी जड़े ऊपर की मिट्टी को बाँधकर रखती हैं।

(3) मानव द्वारा अपक्षय –

वर्तमान प्रौद्योगिक युग में मानव स्वयं अपक्षय का एक बहुत बड़ा कारक बन गया है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्पादन की प्रक्रिया में उसने कई तरह से चट्टानों के विघटन एवं विखण्डन को बढ़ावा दिया है, वननाशन खाने खोदना, सुरंगे बनाना, नदियों पर बाँध बनाना, सड़कों एवं भवनों के निर्माण हेतु पत्थर प्राप्त करने के लिए डायनामाइट द्वारा पहाडियों को उड़ाना, खेतों को जोतना आदि ऐसे तमाम कार्य हैं जिनसे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अपक्षय की क्रिया को बढ़ावा मिलता है। प्राकृतिक कारकों एवं प्रक्रियाओं द्वारा जो अपक्षय हजारों वर्षों में संभव हो सकता था, वह मानव ने चन्द वर्षों में ही कर दिया है। प्रौद्योगिक मानव अपक्षय का सर्वाधिक शक्तिशाली कारक बन गया है।

4.3.4.4 जैव–रासायनिक अपक्षय –

पौधों एवं जीव–जन्तुओं द्वारा सम्मिलित रूप से किए गए अपक्षय को 'जैव–रासायनिक अपक्षय' की श्रेणी में रखा जाता है। कैटायन, चेलेशन, धोलीकरण आदि

ऐसी जैव–रासायनिक प्रक्रियायें हैं, जिनके कारण चट्टानों में विघटन एवं वियोजन होता है।

4.3.5 अपक्षय का भ्वाकृतिक महत्व –

अपक्षय एक ऐसा प्रक्रम है जिसके द्वारा स्थल रूपों में परिवर्तन एवं परिवर्धन होता है। यद्यपि अपक्षय द्वारा प्रत्यक्ष रूप से केवल कुछ ही स्थल रूपों का आविर्भाव होता है (यथा–टार), सैन्ड स्टोन ऐनविल आदि), ऐसे उदाहरणों में जालीदार पत्थर, हागबैक, छत्तेदार शैल, अपदलित गुम्बद शैल दीवालों में खोखले स्थान, शैल फलक, वेदिकाएं, टालस पंख जैसे भूस्वरूप भी मिलते हैं। इनके अलावा अपक्षय की प्रक्रिया से शैल चूर्ण का निर्माण होता है एवं अपरदन सामग्री की उपलब्धता सुनिश्चित होती है। धरातल का नीचा होना, कगारों का पीछे हटना आदि भी अपक्षय की क्रिया के ही परिणाम हैं।

4.4 अपरदन एवं उसके कारक : नदी, पवन, हिमानी एवं भूमिगत जल एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ –

4.4.1 अपरदन : परिभाषा, कार्य एवं प्रकार अपरदन : परिभाषा एवं तात्पर्य –

'अपरदन का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Erosion' है, जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Erodere' शब्द से हुई है जिसका अर्थ' कुतरकर ले जाना' (To gnaw away) से है। इस प्रकार 'अपरदन' शब्द का तात्पर्य 'भूपटल के उन समस्त कारकों से है जो चट्टानों को काटकर उनके मलवे को दूर तक ले जाते हैं।' वस्तुतः अपरदन एक गतिक प्रक्रिया है जिसका व्यापक अर्थों में प्रयोग होता है। तकनीकी दृष्टि से चट्टानों के अपधर्षण, क्षरण तथा शैल मलवे के परिवहन के सामूहिक रूप को अपरदन कहा जाता है।

डब्ल्यू०डी० थार्नबरी (1969) के अनुसार – 'अपरदन एक विस्तृत शब्द है जो गतिशील कारकों द्वारा चट्टानी मलवे को प्राप्त करने तथा हटाने के विभिन्न तरीकों के लिए प्रयुक्त होता हैं'।

अपरदन के कार्य –

अपरदन के अन्तर्गत सामान्यतः निम्न प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है–

- अपरदन के विभिन्न कारकों द्वारा अपक्षय जनित चट्टानी मलवे का अधिग्रहण करना,
- अपरदन के विभिन्न कारकों द्वारा स्वयं विभिन्न प्रकार से शैलों का घर्षण एवं उनकी काट–छाँट करना,
- अपरदन के विभिन्न कारकों द्वारा उपलब्ध शैल मलवा का परिवहन करना, एवं

- परिवहन के दौरान शैल चूर्ण का पारस्परिक घर्षण के फलस्वरूप लघुकणों में परिवर्तन।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अपरदन के कारक किसी भी कारणवश जहाँ भी शिथिल पड़ते हैं, या उनकी सक्रियता में अवरोध आता है; वहीं उनके द्वारा परिवहित शैल मलवा उपयुक्त स्थानों पर निक्षेपित होने लगता है।

अपरदन के प्रकार – अपरदन 'भौतिक' एवं 'रासायनिक' दो प्रकार का होता है।

(अ) भौतिक अपरदन – अपरदन के कारकों का सर्वाधिक प्रमुख कार्य चट्टानों की तोड़–फोड़ है। विभिन्न रूपों में सम्पन्न होने वाली चट्टानी तोड़–फोड़ की इस प्रक्रिया को ही भौतिक अपरदन कहते हैं। भौतिक अपरदन की यह क्रिया कई रूपों में सम्पन्न होती है, यथा–अपघर्षण, सन्निघर्षण, जलगति क्रिया, अपवाहन, उत्पादन एवं गुहिकायन आदि?

(1) अपघर्षण – अपघर्षण का तात्पर्य यांत्रिक रूप से चट्टानी मलवा के द्वारा शैलों के घिसने, रगड़ने एवं टकराने की क्रिया से शैलों के विखण्डन से होता है। मलवा अपरदन यंत्र के रूप में कार्य करता है। अपरदन के ये यंत्र अपने कारकों के साथ जिन चट्टानों के ऊपर से गुजरते हैं, उन्हें वे खुरचते हुए आगे बढ़ते हैं। यही क्रिया 'अपधर्षण' कहलाती है।

(2) सन्निघर्षण – अपरदन के कारक जब शैल मलवे का परिवहन कहते हैं, तो वह मलवा परस्पर टकराकर, रगड़ खाकर टूटता–फूटता रहता है यही क्रिया 'सन्निघर्षण' कहलाती है। रेत का प्रादुर्भाव इसी प्रक्रिया से होता है।

(3) जलगति क्रिया – यह जल की एक भौतिक क्रिया या यांत्रिक विधि है। वस्तुतः बहता हुआ जल जब मार्ग की चट्टानों पर तेजी से प्रहार करता है, तो जल के तीव्र बेग एवं दबाव के कारण चट्टानें टूटने लगती हैं। इस प्रकार से चट्टानों का विघटित होना 'जलगति क्रिया' का ही रूप एवं परिणाम है। इस प्रक्रिया में किसी अन्य पदार्थ या मलवे का योगदान नहीं होता, वरन् केवल जलधारा का वेग एवं दबाव ही पृष्ठीय एवं पार्श्ववर्ती शैल को प्रभावित करता है।

(4) अपवाहन – प्रायः तीव्र गति से बहने वाली पवनें जब अपक्षय द्वारा ढीली की गई चट्टानी परतों को उधेड़कर अपने साथ उड़ा ले जाती हैं तथा निचली परतों को भी अपक्षय एवं अपरदन के लिए खुला छोड़ देती हैं, तो इस क्रिया को 'अपवाहन' कहते हैं। यह क्रिया मुख्यतः वायु द्वारा शुष्क रेगिस्तानी प्रदेशों में सम्पन्न होती है।

(5) उत्पाटन – हिमानी प्रदेशों में जब हिमनद आगे बढ़ते हैं तो मार्ग में आने वाले बड़े–बड़े शिलाखण्ड़ों को उखाड़कर अपने साथ ले जाते हैं। यह क्रिया 'उत्पाटन' कहलाती है।

(6) गुहिकायन – जब प्रबल जलधाराएं भँवर की आकृति में चलती हैं तो बलशाली प्रघाती तरंगों का आविर्भाव होता है। ये तरंगे अपने सम्पर्क में आने वाली शैलों को विखण्डित

करती हैं। विखण्डित शैलों के स्थानान्तरण से गुटिका का निर्माण होता है। इस प्रकार के होने वाले अपरदन को 'गुहिकायन' कहते हैं।

(ब) रासायनिक अपरदन –

रासायनिक अपरदन प्रक्रियायें से शैल खनिजों का वियोजन होता है। इसमें संक्षारण प्रमुख है। संक्षारण : यह जल के द्वारा सम्पन्न होने वाली एक रासायनिक क्रिया है जो चट्टानों में मिले हुए खनिजों को घोलकर अपने साथ मिला लेता है। यह क्रिया प्रायः पाँच रूपों में सम्पन्न होती है– (1) आवसीकरण, (2) कार्बनीकरण, (3) जल योजन, (4) जल विच्छेदन, एवं (5) धोलीकरण।

अपरदन का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य चट्टानी मलवे का परिवहन करना भी है। शैल मलवा परिवहन का यह कार्य कई रूपों में पाया है। परिवहन के प्रमुख रूप निम्न हैं – (1) लुढ़ककर या फिसलकर, (2) उछलकर या उत्परिवर्तन द्वारा, (3) घोल के रूप में, (4) तैरते हुए या लटककर, (5) उड़ाकर या अपवाहन द्वारा, एवं (6) हिमनद के साथ गुथे हुए रूप में।

4.4.2 अपरदन के कारक –

सामान्यतः अपरदन में भाग लेने वाले कारकों को अपरदन के 'कारक' या 'आभिकर्ता' कहते हैं। विभिन्न जलवायु दशाओं एवं प्रदेशों में सक्रिय रहने वाले अपरदन के ये कारक कई प्रकार के हैं। इनका स्वभाव एवं अपरदन की पद्धतियाँ भी एक दूसरे से भिन्न हैं; यहाँ तक कि इनके कार्यक्षेत्रों में भी विशिष्टता देखने को मिलती है। अपरदन के ये प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं– (1) नदी या प्रवाही जल, (2) पवन, (3) हिमानी या हिमनद, (4) परिहिमानी, (5) भमिगत जल, एवं (6) सागरीय लहरें, धाराएं, ज्वारीय तरंगें एवं सुनामी।

4.4.3 नदी के कार्य एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ –

4.4.3.1 नदी : सामान्य परिभाषा, नदी विकास का स्वरूप एवं नदी प्रकार नदी : सामान्य परिभाषा –

सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत–'नदी निश्चित मार्ग में सीमित प्रवाहित जल का एक बृहद् पिण्ड हैं, अथवा 'धरातल पर प्राकृतिक प्रवाह की रेखा हैं, नदी के विकास में वर्षा जल के अतिरिक्त झीलों, हिमानियों और भूमिगत जल का योगदान रहता है। भूमि के ढाल एवं शैल संरचना द्वारा भी नदी का स्वरूप निर्धारित होता है। अतः नदी की एक **वैज्ञानिक परिभाषा** निम्नवत प्रस्तुत की जा सकती है –

'जब वर्षा एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त जल एक निर्धारित मार्ग से उच्च जल से निम्न ढाल की ओर गुरूत्व शक्ति के कारण प्रवाहित होने लगता है, तो उसे नदी कहते हैं'।

नदी–विकास का स्वरूप –

वस्तुतः धरातल पर जल का मूल स्रोत वर्षाजल, हिमनद एवं भूमिगत जल है। प्रारम्भ में स्थलीय प्रवाह का स्वरूप गुरूत्व एवं ढाल के अनुरूप 'चादरी प्रवाह' के रूप में होता है, जो शीघ्र ही छोटी–बड़ी अनेक 'अवनलिकाओं, एवं 'लघु सरिताओं में बदल जाता है। ये अवनलिकाएं एवं लघु सरिताएं मिलकर 'नदी' को जन्म देती हैं। कई छोटी नदियाँ मिलकर 'मुख्य नदी' बनाती हैं। मुख्य नदी तथा उसकी सहयक नदियों के सम्मिलित प्रतिरूप को 'नदीतंत्र' कहते हैं।

नदी–प्रकार –

प्रवाह की प्रकृति एवं विस्तार के आधार पर नदियों को तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है– (1) सतत्वाही या स्थाईनदी, (2) अल्पकालिक नदी, एवं (3) आन्तरायिक नदी।

4.4.3.2 नदी के कार्य : अपरदनात्मक कार्य एवं नदी अपरदन के रूप नदी के कार्य –

नदियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य धरातल का समतलीकरण करना है। नदियों के इस कार्य के दौरान तीन मुख्य क्रियायें होती हैं– (1) चट्टानों का अपरदन, (2) अपरदित पदार्थों का परिवहन, एवं (3) परिवहित पदार्थों का यथोचित स्थानों पर निक्षेपण। ये तीनों क्रियायें नदियों के उद्गम से लेकर उनके मुहाने तक साथ–साथ चलती हैं। नदियों के द्वारा किये जाने वाले ये तीनों कार्य 'त्रिकल कार्य' या 'त्रिपथ कार्य' कहे जाते हैं।

नदी का अपरदनात्मक कार्य –

नदी के जल में अपरदन की अपरिमित शक्ति होती है। सेलिसबरी ने कहा था कि– 'नदी के प्रमुख कार्यों में से एक कार्य स्थल का सागर तक ले जाया जाना है।' नदी के दो अपरदनात्मक कार्य हैं–

(1) भौतिक अपरदन – इसमें प्रवाहित जल तथा चट्टानी मलवा नदी की तलहटी एवं किनारे की शैलों का अपरदन करते हैं जिन्हें क्रमशः 'लम्बवत अपरदन' एवं 'पार्श्विक अपरदन' कहते हैं।

(2) रासायनिक अपरदन – इसमें नदी अपने मार्ग की शैलों के खनिज कणों को आक्सीकरण, कार्बनीकरण एवं जलयोजन की क्रिया कर उन्हें अपने में घोलकर बहा ले जाती है।

नदी–अपरदन के रूप –

नदियों द्वारा होने वाला भौतिक एवं रासायनिक अपरदन मुख्यतः चार रूपोंमें सम्पन्न होता है।

(1) धोलीकरण या संक्षारण – नदी के जल के सम्पर्क में आने वाली शैलों के धुलनशील पदार्थ आक्सीकरण, कार्बनीकरण तथा जलयोजन की रासायनिक क्रियाओं से धुलकर चट्टानों से पृथक हो जाते हैं तथा जल में समाहित हो जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार–'विश्व की समस्त नदियाँ प्रतिवर्ष लगभग 500 करोड़ टन खनिजों को घोलकर सागर तक पहुँचाती है।'

(2) अपघर्षण– नदी जल के साथ बहते हुए चट्टानी टुकड़े नदी घाटी की चट्टानों को क्षैतिज एवं लम्बवत अपरदन द्वारा घर्षित कर रेगमाल की तरह खुरचकर काट देते हैं। नदी घाटी की चौड़ाई एवं गहराई में बृद्धि होती है।

(3) सन्निघर्षण– नदी बोझ में सम्मिलित कंकड़ों आदि की पारस्परिक रगड़ तथा घर्षण द्वारा टूटने की क्रिया को 'सन्निघर्षण' कहते हैं। इस क्रिया द्वारा कंकड़–पत्थर अत्यधिक महीन तथा बारीक हो जाते हैं, जिससे उनका परिवहन आसानी से हो जाता है।

(4) जलगति क्रिया– तीब्र वेग से प्रवाहित नदी जल के दबाव के कारण चट्टानों के विघटन की क्रिया 'जलगति क्रिया' कहलाती है। चट्टानी मलवे तथा रासायनिक वियोजन के बिना ही केवल नदी–जल के वेग या प्रवाह की शक्ति से सम्पन्न होती है।

4.4.3.3 नदी–अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक

सामान्यतः नदी अपरदन को निम्नलिखित कारक प्रभावित करते हैं– (1) नदी का वेग, (2) जल की मात्रा या आयतन, (3) नदी मार्ग का ढाल, (4) नदी के किनारों की प्रकृति, (5) नदी बोझ, (6) नदी तलहटी के चट्टानों की संरचना, एवं (7) नदी का आधार तल।

(1) नदी का वेग– नदी का वेग मुख्यतः नदी–मार्ग के ढाल, नदी के किनारों की प्रकृति, नदी बोझ एवं जल की मात्रा (आयतन) पर निर्भर करता है। सामान्यतः यदि नदी–मार्ग का ढाल तीब्र है; नदी के किनारे संकीर्ण हैं; नदी का बोझ कम है और नदी में जल की मात्रा अधिक है तो नदी का वेग अधिक होता है। नदी का वेग अधिक होने पर अपरदन भी अधिक होता है। साधारण रूप में नदी के वेग एवं अपरदन शक्ति में वर्ग का अनुपात होता है। इसे इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है : **अपरदन शक्ति (नदी का वेग)^2**; अर्थात् यदि नदी का वेग दो गुना कर दिया जाय तो अपरदन शक्ति चौगुनी हो जायेगी।

(2) जल की मात्रा या आयतन –जल की मात्रा या आयतन अधिक होने पर नदी का वेग प्रभावित होता है; परिणामतः उसी अनुपात में अपरदन भी अधिक होता है।

(3) नदी मार्ग का ढाल – नदी–जलमार्ग की ढाल प्रवणता पर नदी का वेग आधारित होता है। मार्ग का ढाल तीब्र है, तो नदी का वेग भी अधिक होगा फलतः अपरदन भी अधिक होगा। तीब्र ढाल के ही कारण पहाड़ी क्षेत्रों में नदियों का वेग अधिक होता है, जिसकी वजह से शीर्ष या लम्बवत् अपरदन द्वारा वे अपनी घाटियों को गहरा करती हैं।

(4) नदी के किनारों की प्रकृति – यदि नदी के तट संकीर्ण (सँकरे) होते हैं तो वे अपेक्षाकृत सीधे व खड़े ढाल वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में नदी वेग अधिक होने से अपरदन भी अधिक होता है। इसके विपरीत यदि नदी की चौड़ाई अधिक है, तो घर्षण की अधिकता से एवं जल के फैलाव से नदी वेग कम हो जाता है; अतः अपरदन भी कम होता है।

(5) नदी बोझ–यदि नदी में अवसाद भार कम होता है, तो अपरदन भी कम होता है और यदि नहीं बोझ आवश्यकता से अधिक होता है, तब भी अपरदन कम होता है वस्तुतः नदी बोझ की आदर्श एवं संतुलित मात्रा में ही अपरदन अधिक होता है। इसे ही 'अपरदन का सामान्य सिद्धान्त' कहते हैं।

(6) नदी तलहटी की चट्टानों की संरचना –यदि तलहटी की चट्टानें अत्यधिक कठोर एवं संगठित, संधियों से विहीन, अभेद्य एवं अप्रवेश्य हैं, तो अपरदन सरलता से नहीं हो पाता। इसके विपरीत मुलायम, असंगठित, संधियुक्त, भेद्य एवं प्रवेश्य चट्टानें सरलता से अपरदित हो जाती हैं।

(7) नदी का आधार तल – किसी नदी के निम्न अपरदन (कटाव) की अन्तिम सीमा को 'नदी का आधार तल' कहते हैं। आधारतल को नदी अपरदन की अंतिम सीमा कहलाता है। इस विचारधारा का प्रतिपादन जे०डब्ल्यू० पावेल ने सर्वप्रथम सन् 1875 ई० में किया था। पावेल का मानना था कि 'सागर तल मुख्य आधार तल को प्रदर्शित करता है, जिसके नीचे शुष्क स्थल खण्ड का अपरदन नहीं हो सकता हैं। वस्तुतः 'आधार तल वह काल्पनिक सतह है जो प्रमुख नदी के निचले भाग की ओर धीरे–धीरे झुकता जाता है'। स्थाई, अस्थाई एवं स्थानीय उद्देश्यों के लिए नदी अपरदन के निम्नलिखित तीन आधार तल हो सकते हैं–

4.4.3.4 नदी–अपरदन द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ –

नदी अपरदन से अनेक स्थलरूपों का उद्भव एवं विकास होता है। कुछ प्रमुख भूआकृतियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) घाटी का विकास –

नदी छोटी हो या बड़ी, सभी अपनी स्वनिर्मित घाटियों में प्रवाहित होती हैं। घाटी के विकास के अन्तर्गत घाटी का गहरा होना, घाटी का चौड़ा होना तथा घाटी का लम्बा होना सम्मिलित किया जाता है। युवावस्था में नदी निम्न कटाव द्वारा अपनी घाटी को गहरा करती है, जिससे 'V' आकार की घाटी का निर्माण होता है। प्रौढ़ावस्था में निम्न कटाव की अपेक्षा पार्श्विक अपरदन अधिक सक्रिय रहता है, फलतः घाटी की चौड़ाई बढ़ती जाती है। बृद्धावस्था में नदी घाटियाँ अत्यन्त चौड़ी, विस्तृत एवं उथली होती हैं। शीर्ष अपरदन, नदी अपहरण, विसर्प एवं डेल्टा निर्माण की प्रक्रियाओं द्वारा नदी–घाटी की लम्बाई में बृद्धि होती है।**चित्र 4.6**

(2) गार्ज– वास्तव में जब 'V' आकार की घाटी का ढाल अधिक तीव्र एवं खड़ा हो जाता है, तो गार्ज का निर्माण होता है। गार्ज का निर्माण कठोर चट्टानी भूभागों में नदी द्वारा तीव्र गति से निम्न काटव द्वारा होता है। रीवा पठार पर बीहर नदी का चचाई गार्ज, महाना नदी का केवटी गार्ज एवं टोंस नदी का पुरवा गार्ज काफी प्रसिद्ध है। जबलपुर में नर्मदा नदीपर भेड़ाघाट गार्ज विश्व विख्यात है।

(3) कैनियन– इसे 'संकीर्ण नदी कन्दरा' भी कहते हैं। यह वास्तव में गार्ज का विकसित एवं विस्तृत स्वरूप ही होता है। इनके निर्माण में अपक्षय एवं बृहद् क्षरण का विशेष हाथ होता है। इसकी रचना उन्हीं प्रदेशों में होती है जहाँ कठोर एवं संगठित चट्टानें होती हैं। हिमालय पर्वत पर गिलगिट के समीप सिन्धु नदी पर 5666 मीटर (लगभग 71000 फीट) गहरी कैनियन पाई जाती है।**चित्र 4.6**

(4) खाँचें– जब नदी का बोझ कठोर स्वभाव वाला होता है, तो वह चट्टानी नदी तल को इस प्रकार अपघर्षित करता है कि नदी तल चिकना होने के साथ–साथ उसपर खरोंचे भी बन जाती हैं। ये खरोंचे एक नक्काशी के समान प्रतीत होती हैं, जिन्हें 'खाँचे' कहा जाता है।

(5) जल गर्तिका– नदियों में जिन स्थानों पर पानी में भँवर बनती है, वहाँ धारा के साथ प्रवाहित पत्थरों के छोटे–छोटे टुकड़े भँवर में फँसकर एक ही स्थान पर तेजी से चक्कर लगाते हुए नदीतल को घिसकर छोटे–छोटे गर्तों का निर्माण करते हैं। धीरे–धीरे इनका आकार बढ़ता जाता है और इस तरह उत्पन्न स्थल रूप को 'जलगर्तिका' कहा जाता है। इनका व्यास कुछ सेन्टीमीटर से लेकर कई मीटर तक हो सकता है।

(6) अवनमन कुण्ड–प्रायः प्रपातों के नीचे जाने वाले कुण्ड 'अवनमन कुण्ड' कहलाते हैं। इन कुण्ड़ों का निर्माण नदी जल की तेज धार एवं अपरदन सामग्री के निरन्तर एक ही स्थान पर गिरने से जलगति क्रिया द्वारा होता है।

(7) क्षिप्रिका या द्रुतवाह– नदी प्रवाह मार्ग में कठोर प्रतिरोधी चट्टानों के आ जाने के कारण जब नदी का वेग एकाएक बढ़ जाता है, तो उसे 'क्षिप्रिका' या 'द्रुतवाह' कहा जाता है। कभी–कभी इनका निर्माण स्वंतत्र रूप से नदी के प्रवाह ढाल के अचानक तीव्र हो जाने के कारण भी होता है। प्रपातों के पीछे हटने से भी क्षिप्रिकाओं का निर्माण होता है।

(8) जल प्रपात– जब नदी का जल किसी स्थान पर ऊँचाई से खड़े ढाल पर अथवा कगार के ऊपरी भाग से अत्यधिक वेग से नीचे की ओर गिरता है, तो उसे 'जल प्रपात' कहते हैं। नदी के मार्ग में कगार या खड़ा ढाल कई कारणों से बन सकता है, यथा–कठोर एवं मुलायम चट्टानों का नदी द्वारा असमान गति से अपरदन; चट्टानों की संरचना एवं उच्चावच्च में विमेद; भूगर्मिक कारणों से नदी मार्ग का उत्थान या अवतलन आदि। प्रपात कई प्रकार के होते हैं, यथा– सोपानी प्रपात, पठारी प्रपात, भ्रंश प्रपात, उत्थान द्वारा निर्मित प्रपात, नदी की लटकती घाटी वाला प्रपात, निकप्वाइंट प्रपात आदि। भारत में एक

सुनिश्चित प्रपात रेखा विकसित है जो प्रायद्वीपीय पठार के उत्तरी अग्र प्रदेश के सहारे पश्चिम में टोंस नदी के पुरवा प्रपात (70 मीटर) से प्रारम्भ होकर पूर्वी बिहार में सासाराम तक चली गई है। इस रेखा के सहारे 15 मीटर से 180 मीटर के मध्य ऊँचाई वाले सैकड़ों प्रपात अवस्थित हैं।**चित्र 4.7**

(9) अन्तर्ग्रथित पर्वत स्कन्ध– पर्वतीय प्रदेशों में जहाँ नदियों के मार्ग में चट्टानी अवरोध होते हैं, वहाँ वे अवरोधों का चक्कर लगाती हुई विसर्पी मार्ग से आगे बढ़ती हैं; परिणामतः अवतल किनारे वाले पर्वत स्कन्धों की रचना होती है। एक–दूसरें की ओर बढ़े होने के कारण ये पर्वत स्कन्ध परस्पर गुथे हुए दिखाई देते हैं।

(10) नदी वेदिकाएं– नदी घाटी के दोनों ओर सीढ़ीनुमा आकृति को 'नदी वेदिकाएं' कहते हैं। इनकी रचना तब होती है जब प्रौढ़ावस्था में नदी में नवोन्मेष होता है। इन नवोन्मेष के फलस्वरूप नदी अपनी चौड़ी विस्तृत घाटी में एक नवीन सँकरी घाटी का निर्माण करती है। नवोन्मेष के अनुसार इनकी संख्या एक या अधिक हो सकती है। **चित्र 4.8A**

(11) संरचनात्मक सोपना– जब नदी मार्ग में मुलायम एवं कठोर चट्टानें एकान्तर रूप में क्षैतिज अवस्था में होती हैं, तो मुलायम एवं कठोर चट्नों का कटाव भिन्नदर से होता है। कठोर चट्टानों की अपेक्षा कोमल चट्टानें शीघ्र फट जाती हैं तथा कठोर चट्टानें आगे की ओर निकली रहती हैं। इस तरह घाटी के दोनों ओर सोपानाकार सीढ़ियों का निर्माण होता है। ये सोपानाकार सीढ़ियाँ ही 'संरचनात्मक सोपान' कहलाती हैं।**चित्र 4.8B**

(12) नदी विसर्प– प्रौढ़ावस्था में जब नदियाँ मैदानों में प्रवेश करती हैं, तो उनके द्वारा लम्बवत् अपरदन की अपेक्षा पार्श्विक अपरदन अधिक होता; परिणामतः नदी की धारा चौड़ी हो जाती है। जब नदी के मार्ग में प्रवाहित जलोढ के अतिमार या असमान धरातलीय संरचना के कारण थोड़ा भी व्यवधान होता है, तो नदी टेढ़े मार्ग को अपना लेती है। नदी के इन्हीं धुमावदार मोड़ों को 'नदी विसर्य' कहा जाता है। अपनी निर्माण प्रक्रिया, संरचना भिन्नता एवं नहीं के अपरदन के अनुसार–विसर्प कई तरह के हो सकते हैं, यथा–सामान्य विसर्प, बेमेल विसर्प, गभीरीभूत विसर्य, घिरा हुआ विसर्प, अघःकर्तित विसर्प, अन्तःकर्तित विसर्प आदि। यह कोई आवश्यक नहीं कि मैदानी भागों में ही नदी विसर्प निर्मित हों; कठोर चट्टानी प्रदेशों में भी विसर्प बनते देखे गए हैं।**चित्र 4.9A**

(13) गोरवुर या छाड़न झील– जब सामान्य विसर्प धीरे–धीरे बढ़ते हुए वृत्ताकार स्वरूप धारण कर लेते हैं, तो ऐसी स्थिति में विसर्प ग्रीवा क्रमशः सँकरी होती हुए परस्पर मिल जाती है; फलतः नदी को प्रवाहित होने के लिए सीधा मार्ग मिल जाता है। विसर्प के द्वारा छोड़ा हुआ भाग जिसमें जल स्थिर रहता है, 'गोरवुर' या 'छाड़न' झील कहलाता है।**चित्र 4. 9B**

(14) समप्राय मैदान– जब नदी अपनी जीर्ण अवस्था में पार्श्व अपरदान द्वारा धरातलीय असमानताओं को दूर करते हुए उच्चावच्च विहीन विशाल मैदान की रचना करती है, तो

उसे 'समप्राय मैदान' इस रचना में शैतिज अपरदन व निक्षेप दोनों ही महत्वपूर्ण होते हैं। इस मैदान में कहीं–कहीं कठोर चट्टानी भाग अवशिष्ट टीलों के रूप में दिखाई देते हैं जिन्हें 'मोनाडनाक' (Monadnock) कहते हैं। स्ट्राहलर महोदय ने 'समप्राय मैदान' को आवरण क्षय चक्र की जीर्णावस्था में उत्पन्न 'मन्द उच्चावचन वाला मैदान' कहा है।

4.4.3.5 नदी का परिवहनात्मक कार्य –

नदियों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य शैल मलवे का स्थानान्तरण है। स्थानान्तरण का यह कार्य नदी की घाटी में उद्गम से लेकर मुहाने तक कहीं भी हो सकता है। शैल मलवा का यही स्थानान्तरण 'नदी का परिवहनात्मक कार्य' कहलाता है। नदियाँ अपना यह कार्य कई रूपों में सम्पन्न करती हैं, यथा–कर्षणद्वारा या लुढ़ककर, उत्परिवर्तन द्वारा, लटकन विधि द्वारा, खनिज कणों को घोलकर आदि। नदी की परिवहन शक्ति उसके वेग की छठी शक्ति के अनुपात में होती है। इसे 'Gilbert's Sixth power Law' कहते हैं। अर्थात् यदि नदी का वेग दो गुना कर दिया जाय, तो नदी की परिवहन शक्ति 64 गुनी अधिक हो जायेगी। इस गुर को निम्न सूत्र से प्रदर्शित कर सकते हैं–

परिवहन शक्ति 0 (नदी का वेग)^6

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि नदी का परिवहन कार्य भूआकृतियों के निर्माण में सहायक है। स्वयं परिवहन द्वारा किसी भूआकृति का निर्माण नहीं होता है।

4.4.3.6 नदी का निक्षेपात्मक कार्य –

नदियों द्वारा परिवहित सामग्री का जमाव 'निक्षेपण' कहलाता है। सामान्यतः नदियाँ अपरदित पदार्थों को समुद्र में ले जाकर जमा करती हैं, किन्तु दोस्थितियाँ ऐसी होती हैं जब नदी स्वयं द्वारा परिवहित अवसाद भार को अपनी घाटी में ही जमा करने के लिए बाहय हो जाती है। ये दो स्थितियाँ है– (1) या तो नदी–वेग में कमी आ जाय, (2) या फिर नदी बोझ (अवसाद भार) में बृद्धि हो जाय। नदियों के वेग में कमी के कुई कारण हो सकते हैं, यथा–नदी के जलमार्ग ढाल में कमी, नदी जल के आयतन में कमी, नहीं घाटी का अध्यधिक विस्तार, या फिर नदी मार्ग में अवरोध।

इसी तरह नदी के बोझ (अवसाद भार) में भी बृद्धि के कई कारण हो सकते हैं, यथा–नदी के शीर्ष भाग में अधिक अपरदन, सहायक नदियों द्वारा मुख्य नदी में अधिक अवसाद का लाया जाना, हिमानी जलोढ़ द्वारा नदी के अवसाद भार में बृद्धि, नदी मार्ग में अधिक अपरदन के कारण अवसाद भार में बृद्धि आदि।

नदी वेग में कभी या नदी बोझ में बृद्धि के कारण जब नदियों द्वारा परिवाहित शैल मलवा घाटी में उपयुक्त स्थानों पर जमा होने लगता है, तब विभिन्न प्रकार की भूआकृतियाँ जन्म लेती हैं।

4.4.3.7 नदी–निक्षेप द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ –

नदी निक्षेप द्वारा निर्मित भूआकृतियों को रचनात्मक स्थल रूप कहते हैं। कुछ प्रमुख निक्षेपात्मक स्थल रूप निम्नलिखित हैं –

(1) जलोढ़ पंख–

जब कोई नदी पहाड़ी यात्रा समाप्त कर समतल क्षेत्र में प्रवेश करती है, तो नदी मार्ग ढाल एवं नहीं वेग में अचानक आई कमी के कारण उसके द्वारा परिवहित शैल मलवा पर्वतपदीय भाग में जमा होने लगता है। इस जमाव की आकृति अर्धवृत्ताकार या पंखाकार होती है, इसीलिए इस निक्षेप को 'जलोढ पंख' कहते हैं। इस जमाव की प्रक्रिया में बड़े शैल खण्ड़ों का जमाव पहले होता है, जब कि महीन चूर्ण का जमाव बाद में होता है।**चित्र 4.10A**

(2) जलोढ़ शंकु–

जब कोई पहाड़ी नदी अपेक्षाकृत ऊँचे भाग से समतल क्षेत्र में उतरती है, तो प्रारम्भ में जलोढ़ पंख निर्मित होते हैं। किन्तु क्रमशः जमावद्वारा इनकी ऊँचाई बढ़ती जाती है। जिससे शंक्वाकार आकृति का निर्माण होता है। यही आकृति 'जलोढ़ शंकु' कहलाती है। जलोढ़ पंख एवं जलोढ़ शंकु में सरचनात्मक समरूपता होती है; अन्तर केवल उसके वाह्य स्वरूप का होता है। जलोढ़ शंकु का ढाल तीब्र होता है और ऊँचाई अधिक होती है। इसका विस्तार भी सीमित होता है। **चित्र 4.10B**

(3) पर्वत पदीय जलोढ़ –

कभी–कभी निकटवर्ती जलोढ़ पंख विस्तृत होते हुए परस्पर मिल जाते हैं, तब पर्वत पदीय क्षेत्र में एक विस्तृत जलोढ़क मैदान का निर्माण होता है; जिसे 'पर्वतपदीय जलोढ़ मैदान' कहते हैं।

(4) प्राकृतिक तटबन्ध –

विस्तृत मैदानी प्रदेशों में नदी की लम्बाई में उसके दोनों किनारों पर हुए जलोढ़क के जमाव को तटबन्ध कहते हैं। चूँकि ये प्राकृतिक रूप से सृजित होते हैं, इसलिए इन्हें 'प्राकृतिक तटबन्ध' कहते हैं। इनकी रचना अत्यन्त सरल है। वस्तुतः बाढ़ के समय जब नदी का जल फैल जाता है, तो नदी द्वारा परिवाहित मलवा उसके किनारों पर जमा होने लगता है, कारण कि किनारों पर पानी का वेग काफी कम होता है। क्रमशः निक्षेप होते हुए कालान्तर में दोनों तट मैदान की सतह से ऊँचे हो जाते हैं और तटबन्ध का रूप धारण कर लेते हैं।

(5) बाढ़ के मैदान –

नदी घाटी का वह क्षेत्र जिसमें बाढ़ के समय नदी का जल फैलकर जलोढ़क का निक्षेप करता है, 'बाढ़ का मैदान' कहलाता है। वस्तुतः नदी की प्रौढ़ावस्ता एवं

जीर्णावस्था में ढाल की कमी के कारण बाढ़ का पानी किनारों को पारकर आस–पास के समस्त क्षेत्र में फैल जाता है। ऐसी अवसथा में नदी की मुख्य घाटी में तो जब धारा का प्रवाह होता है, किन्तु बाढ़ ग्रस्त क्षेत्र में जल लगभग स्थिर रहता है; अतः पानी के साथ आया हुआ जलोढ़क तलहट के रूप में समस्त बाढ़ग्रस्त क्षेत्र में जमा हो जाता है। इस तरह से एक 'बाढ़ के मैदान' का निर्माण होता है।**चित्र 4.11**

(6) बालुकाद्वीप एवं दीवाल –

प्रायः विस्तृत मैदानी प्रदेशों में जब नदी जल एवं नदी जलमार्ग ढाल में कमी हो जाती है तो नदी जलधारा विभक्त होकर कई धाराओं में बँटकर प्रवाहित होने लगती है। ऐसी स्थिति में नदी द्वारा परिवहित जलोढ़क घाटी के मध्य में स्थानीय रूप से जमा हो जाता है जिसे बालुका द्वीप एवं दीवाल के नाम से पुकारते हैं। पानी की मात्रा अधिक होने पर ये जलमग्न हो जाते हैं।

(7) डेल्टा –

नदी द्वारा निर्मित रचनात्मक स्थल रूपों में डेल्टा का सर्वाधिक महत्व है। सागर या झील में विलीन होते समय जब नदी प्रवाह में अवरोध या वेग में निहायत कमी के कारण नदी जलधारा के कई भागों में बँट जाने से उसका मलवा निक्षेपित होने लगता है तो 'डेल्टा' की उत्पत्ति होती है। यह एक त्रिमुजाकार आकृति की रचना होती है, जो लैटिन भाषा के डेल्टा अक्षर (Δ) से मिलती–जुलती है। प्रत्येक नदी डेल्टा नहीं बनाती, कारण कि डेल्टा निर्माण के लिए कुछ आवश्यक भौगोलिक दशाओं का होना अनिवार्य है, यथा–

1. नदी में जलोढ़क की मात्रा पर्याप्त हो,
2. मुहाने के पास नदी का ढाल एवं वेग अत्यन्तमन्द हो,
3. नदी मुहाने के पास न तो सागरीय लहरों की प्रबलता हो और न ही ज्वारीय धाराओं की तीब्रता हो,
4. नदी का मुहाना उत्थान एवं अवतलन की क्रियाओं से मुक्त हो, एवं
5. नदी मुहाने के पास समुद्र उथला हो।

आकृति के आधार पर डेल्टा को पाँच वर्गों में (चापाकार डेल्टा, पंजाकार डेल्टा, ज्वारनद मुखी डेल्टा, रूण्डित डेल्टा एवं क्षीणाकार डेल्टा) तथा विस्तार के आधार पर तीन वर्गों (बाधित डेल्टा, विकासोन्मुखडेल्टा एवं विमुक्त डेल्टा) में विभाजित किया गया है।

डेल्टा आर्थिक तंत्र के मजबूत आधार हैं। कितने ही प्राचीन नगर इन पर बसे हुए हैं, जैसे–नील नदी डेल्टा पर अलेक्जेंडिया, गंगा–ब्रह्मपुत्र डेल्टा पर कोलकता, राइन

डेल्टा पर अमेस्टर्डम, यांगटिसी डेल्टा पर शंघाई तथा मिसीसिपी डेल्टा पर न्यू आर्लियन्स।**चित्र 4.12**

4.4.4 पवन के कार्य एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ –

4.4.4.1 पवनः सामान्य परिचय –

पवन भी एक महत्वपूर्ण भूआकृति निर्माणक प्रक्रम है। भूआकृति निर्माणक कारक के रूप में पवन की कुछ विशिष्टताएं हैं जो इसे अन्य भूआकृतिनिर्माणक कारकों से अलग करती हैं इसका कोई सुनिश्चित प्रवाह–पथ नहीं होता अल्प घनत्व के कारण इसकी बड़े कणों को परिवाहित करने की क्षमता सीमित हो जाती है, जब कि सुनिश्चित प्रवाह–पथ के अभाव में यह विशाल क्षेत्र पर तथा वायुमण्डल में काफी ऊँचाई तक प्रवाहित होती है। लेकिन भूआकृति निर्माण की दृष्टि से वे क्षेत्र इसके लिए आदर्श क्षेत्र हैं–

- जहाँ वर्षा की अपेक्षा वाष्पीकरण अधिक होता है;
- वानस्पतिक आवरण का प्रायः अभाव रहता है; और
- रेत का अव्यधिक विस्तार पाया जाता है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो अर्ध शुष्क (वार्षिकवर्षा 25 सेमी० से 50 सेमी०) एवं शुष्क (वार्षिक वर्षा 25 सेमी० से कम) मरूस्थलीय क्षेत्र पवन कार्यों के लिए आदर्श एवं महत्वपूर्ण क्षेत्र होते हैं।

4.4.4.2 पवन के कार्य : अपरदनात्मक कार्य एवं पवन अपरदन के रूप पवन के कार्य–

पवन के कार्यों को भी तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है– (1) अपरदनात्मक कार्य, (2) परिवहनात्मक कार्य,(3) निक्षेपात्मक कार्य।

पवन का अपरदनात्मक कार्य –

पवन का अपरदन कार्य उसकी गति के साथ सम्पन्न होता है। गतिहीन वायु का भूआकृतिक दृष्टिकोण से कोई महत्व नहीं होता। गति के आधार पर ही उसके कार्यों की महत्ता का आकलन होता है। पवन का अपरदनात्मक कार्य मुख्यतया भौतिक या यांत्रिक रूप से सम्पन्न होता है। रासायनिक अपरदन गौण या प्रायः शून्य होता है। अपरदन कार्य में अपक्षय की भूमिका का बड़ा महत्व है। दैनिक तापान्तर की अधिकता के कारण शुष्क एवं अर्धशुष्क प्रदेशों की चट्टानें ढीली होकर विघटित हो जाती हैं। इसके अलावा तप्त चट्टानें आकस्मिक वर्षा के कारण भी मंजित होती हैं।

पवन–अपरदन के रूप –

पवन द्वारा सम्पन्न होने वाला अपरदन कार्य मुख्यतः तीन रूपों में सम्पन्न होता है– (1) अपवाहन, (2) अपघर्षण, एवं (3) सन्निघर्षण।

(1) अपवाहन –

पवन द्वारा असंगठित शैल चूर्ण को क्रमिक रूप में धीरे–धीरे उड़ाकर स्थानान्तरित करने की क्रिया को 'अपवाहन' कहते हैं। वस्तुतः इस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषाके 'deflare' शब्द से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'उड़ाना' होता है; इसीलिए इसे 'उड़ाव की क्रिया' भी कहते हैं। इस क्रिया से असंगठित शैल कणों की छँटाई होती है। अनवरत सक्रियता से धरातलीय चट्टानें नग्न होने लगती हैं तथा कालान्तर में पथरीली सतहकी उत्पत्ति होती है जिसमें स्थान–स्थान पर छोटे–छोटे छिद्र व गर्त बन जाते हैं।

(2) अपघर्षण –

पवन के साथ उड़ने वाले रेत एवं धूलकणों (अपरदनात्मक यंत्रों) द्वारा शैलों के घर्षण एवं परिमार्जन की प्रक्रिया को 'अपघर्षण' कहते हैं। घर्षण का स्वरूप एवं परिणाम शैलों की स्थिति एवं संरचना पर निर्भर करता है। अपघर्षण का कार्य प्रायः दो मीटर की ऊँचाई तक ही अधिक प्रभावी होता है, इससे अधिक ऊँचाई पर बालू के कणों के आकार व उनकी मात्रा में बहुत कमी हो जाती है।

(3) सन्निघर्षण –

तीव्र वेग वाली वायु के साथ उड़ने वाले शैल कणों के आपस में रगड़ खाकर यांत्रिक ढंग से टूटने की क्रिया को 'सन्निघर्षण' कहते हैं। इस क्रिया में शैलकण छोटे, चिकने व गोल हो जाते हैं।

4.4.4.3 पवन–अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक –

पवन–अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं– (1) शुष्क जलवायु, (2) पवन वेग, (3) पवन के अपरदनात्म यंत्रों की मात्रा एवं प्रकृति, (4) शैल संरचना, एवं (5) वानस्पतिक आवरण।

4.4.4.4 पवन–अपरदन द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ –

पवन–अपरदन से अनेक स्थल रूपों का उद्‌भव एवं विकास होता है। कुछ प्रमुख भूआकृतियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) अपवाह बेसिन या वातगर्त –

रेगिस्तानी प्रदेशों में पवन अपनी उड़ाव क्रिया द्वारा शैलों को असंगठित करके उनके कणों को निरंतर अपने साथ प्रवाहित करती रहती है, जिससे वहाँ स्थान–स्थान पर छोटे–छोटे गर्त बन जाते हैं जिन्हें 'अपवाह बेसिन' या 'वातगर्त' कहा जाता है। इन गर्तों

का आकार तश्तरीनुमा होता है। इन गर्तों गहराई की अंतिम सीमा भौमजल स्तर द्वारा निर्धारित होती है मिश्र का 'कतरा गर्त' विश्व प्रसिद्ध गर्त है जिसकी गहराई सागर तल से 140 मीटर नीचे है।

(2) इन्सेलबर्ग –

अपक्षय एवं अपरदन द्वारा कोमल शैलें तो आसानी से कर जाती हैं, लेकिन कठोर शैलें आसानी से नहीं कट पातीं। इन्हीं कठोर शैलों के अवशिष्ट भाग गुम्बदाकार स्वरूप में सामान्य सतह से ऊँचे उठे हुए दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें 'इन्सेल बर्ग' कहा जाता है। 'इन्सेल बर्ग' जर्मन भाषा का शब्द है जिसका तात्पर्य 'पर्वद्वीप' या द्वीपीय पर्वत' होता है। ये मरूस्थलों के मध्य उसी प्रकार दिखाई पड़ते हैं जैसे सागर के बीच द्वीप दिखाई देते हैं। इनका दूसरा नाम 'बानेहार्ट' भी है। ये प्रायः ग्रेनाइट या नीस चट्टानों के अपक्षय एवं अपरदन से बनते हैं। इनका ढाल तीव्र एवं आधार निक्षेप रहित होता है।**चित्र 4.13A**

(3) छत्रक शिला –

पवनों द्वारा होने वाला अपघर्षण कार्य धरातलीय सतह से प्रायः दो मीटर की ऊँचाई तक सर्वाधिक होता है। इसके ऊपर यह क्रमशः कम होता जाता है। परिणामतः पवन मार्ग में पड़ने वाली चट्टानों के निचले स्तरों में अपघर्षण का कार्य और भी तीव्रता से होता है। चूँकि हवाएं सभी दिशाओं से चलती हैं, इसलिए चट्टानों का अपघर्षण भी चारों ओर से होता है। इस प्रकार के अपरदन से छतरीनुमा चट्टानी भूआकारों का निर्माण होता है जिसे 'छत्रक शिला' कहा जाता है। सहारा में 'गारा' कहते हैं।**चित्र 4.13B**

(4) भूस्तम्भ –

शुष्क प्रदेशों में यह स्थल रूप उस समय बनता है जब कोमल शैल के ऊपर कठोर शैल का अवरण होता है। कठोर शैल का यह आवरण निचली कोमल शैलों को संरक्षण प्रदान करता है, परन्तु समीपी कोमल शैल का चारों ओर से अपरदन होता है। इस प्रक्रिया स भूस्तम्भों उद्भव होता है,

चित्र 4.13C

(5) ज्यूजेन –

दवातनुमा आकृति वाले ये भूदृक्षय अपक्षय एवं अपरदन के फलस्वरूप मरूस्थलीय प्रदेशों जहाँ कठोर एवं कोमल संस्तरों का क्षैतिज विन्यास समानान्तर पट्टियों में मिलता है। इनके निर्माण में तुषारपात की क्रिया का महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्रायः रात्रि के समय चट्टानों की संधियों में ओस का जल भर जाता है जो हिम के रूप में जमकर इन दरारों को चौड़ा कर देता है। दिन के समय चलने वाली हवाएं विघटित कणों को इन दरारों से उड़ा ले जाती हैं। चट्टानों का यह क्षय मुलायम चट्टानों में अपेक्षाकृत

अधिक होता है जो कालान्तर में 'ज्यूजेन' नामक भूआकृति को जन्म देता है। यह भूआकृति 40 मीटर तक ऊँची होती है।**चित्र 4.14A**

(6) यारडंग –

यारडंग वस्तुतः तीब्र पवनों की दिशा के समानान्तर स्थित लम्बात्मक चट्टानी कट को का समूह होता है। पवन एक ही दिशा में प्रवाहित होती है तथा शैलों के संस्तर क्रमशः कठोर एवं कोमल रूप में लम्बवता दशा में विस्तृत होते हैं। कोमल शैलें वायु द्वारा अपरदित हो जाती हैं, कठोर शैलें यथावत रहती हैं। कठोर शैलों के कटकों के पार्श्वों पर नालियाँ बन जाती हैं। यही 'यारडंग' कहलाते हैं। इनकी ऊँचाई प्रायः 6 मीटर तक और चौड़ाई 10 से 40 मीटर तक होती है। **चित्र 4.14B**

(7) ड्राइकान्टर –

पथरीले धरातल पर पड़े शिलखण्डों पर बालू युक्त पवन के तीब्र प्रहार द्वारा खरोंचे बन जाती हैं। चूँकि पवन प्रवाह की दिशा बदलती रहती है, अतः चट्टानी टुकड़े अनेक दिशाओं से नक्काशी युक्त हो जाते हैं। ये शैल खण्ड कई फलक वाले होते हैं। जहाँ तीन फलक मिलते हैं, ऐसे ही चट्टानी खण्ड़ों को 'त्रिफलक' या 'ड्राइकान्टर कहते हैं।

(8) जालीदार शिला या जालक –

जब रेत युक्त तीब्र पवनों के सामने विविध संरचना वाली चट्टानें आ जाती हैं, तो उनके प्रहार से मुलायम एवं कमजोर भाग कटकर उड जाते हैं। फलतः छिद्रयुक्त चट्टान का जन्म होता है। 'जिसे'जालीदार शिला' कहते हैं।

(9) पवन–खिड़की तथा पवन–पुल –

रेतीली पवनों के निरन्तर प्रहार से जालीदार शिला के छिद्र विस्तृत होकर जब आर–पार हो जाते हैं, तो उसे 'पवन–खिड़की' कहते हैं। इस खिड़की का निचला कटाव जब आधार तक पहुँच जाता है, तो मेहराब जैसी आकृति बन जाती है जिसे 'पवन–पुत्र' कहते हैं।

(10) अपवाहन कवच –

भरूस्थलीय भूभागों में अनवरत अपरदन के बावजूद बड़े–बड़े शिलाखण्ड धरातल पर शेष रह जाते हैं। इन शिला खण्डों को पवन उड़ाकर ले जाने में असमर्थ होती है। शिलाखण्ड अपनी निचली चट्टानों को अपरदन से बचाकर उन्हें संरक्षण प्रदान करते हैं। ऐसे अवशिष्ट पथरीले आवरण को ही 'अपवाहन कवच' कहते हैं।

4.4.4.5 पवन का परिवहनात्मक कार्य –

असंगठित शैल कणों का पवन प्रवाह के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण ही 'पवन परिवहन' कहलाता है। सामान्यतः पवन का परिवहन कार्य वायु वेग शैल कणों के आकार तथा घनत्व पर निर्भर होता है। पवन का परिवहनात्मक कार्य पवन वेग और पवन दिशा कारण अनिश्चित होती है। कणों के आकार एवं घनत्व के अनुसार पवन का परिवहन कार्य प्रायः तीन रूपों में सम्पन्न होता है –

निलम्बन द्वारा –पवन अपेक्षाकृत बारीक चट्टान चूर्ण एवं धूलकणों को अपने साथ लटकाकर ले जाती है;

उत्परिवर्तन द्वारा चट्ान चूर्ण वायु के साथ उछलकर या लुढ़ककर आगे बढता है;

पृष्ठीय सर्पण–भारी चट्टान चूर्ण वायु के झोंकों के साथ धरातल पर खिसकते है।

4.4.4.6 पवन का निक्षेपात्मक कार्य –

भूआकृतियों के निर्माण की दृष्टि निक्षेपात्मक कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमे पवन वेग में कमी का होना आवश्यक है। वेग में कभी आते ही उसके द्वारा परिवहित सामग्री उसकी वहन क्षमता से अधिक हो जाती है और उसके द्वारा वह वहित सामग्री निक्षेपित होने लगती है। निक्षेपण के लिए पवन मार्ग में अवरोध का होना भी आवश्यक है। यह अवरोध वनों, झाड़ियों, दलदलों, नदियों, जलाशयों दीवालों आदि किसी भी रूप में हो सकता है।

4.4.4.7 पवन के निक्षेपण कार्य द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ –

पवन के निक्षेपण कार्य द्वारा अनेक भूआकृतियों का जन्म होता है। कुछ प्रभाव भूआकृतियाँ निम्ललिखित हैं –

(1) तरंग चिन्ह या उर्मिकाएं –

बालू प्रधान रेगिस्तानों में अपेक्षाकृत धीमें धीमे पवन प्रवाह के कारण रेतीली सतह पर पानी की लहरों के समान आकृतियाँ बन जाती हैं, जिन्हें 'तरंगचिन्ह' 'उर्मिकाएं' कहते हैं। इन तरंग चिन्हों की ऊँचाई कुछ सेन्टी मीटर होती है। ये तरंगे पवन दिशा के समकोण पर होती है; तथा पवन दिशा के साथ इनकी दिशा में भी परिवर्तन होता रहता है।

(2) बालुका स्तूप –

एक सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत–'पवन प्रवाहित बालू के विस्तृत संचयी भूदृश्य 'बालुका स्तूप' कहलातें हैं।' इनका निर्माण एवं आकार तीब्र पवन वेग, रेत की प्रचुरता, वायु मार्ग में अवरोध, स्तूप' कहलाते हैं।' वस्तुतः बालुका स्तूप पवन द्वारा निक्षेपित बालू के शिखर युक्त विशिष्ट टीले हैं। इनका निर्माण एवं आकार तीब्र पवन वेग, रेत की प्रचुरता, वायु मार्ग में अवरोध, स्तूप निर्माण के लिए उचित स्थान, वायुदिशा पारिवर्तन आदि अनेक

करकों पर निर्भर करता है। अर्थात् यदि पवन तीव्र वेग वाली है; उसरे साथ रेत की मात्रा भी पर्याप्त है; उसके मार्ग में अचानक (वर्षा आदि के रूप में) कोई अवरोध आ जाता है, तो कुछ ही घण्टों के अन्दर विस्तृत बालुका स्तूप का निर्माण हो जाता है। सामान्यतः बालुका स्तूपों का पवनमुखी भाग लम्बा व मन्द ढाल वाला (5^0–15^0) तथा पवनविमुखी भाग छोटा व तीव्र ढाल (20^0–30^0) वाला होता है। इनकी आकृति कहीं स्तूपाकार, कहीं अर्ध चन्द्रकार, कहीं वलायाकार तो कहीं रेखीय होती है। जिन भागों में वायु की दिशा अनिश्चित होती है, वहाँ इनका आकार भी अनिश्चित होता है। प्रायः बालुका स्तूपों की लम्बाई 100 मीटर से लेकर 4–5 किलोमीटर तक तथा ऊँचाई 50 मीटर से 100 मीटर तक होती है। किन्तु इससे भी विस्तृत स्तूप पाये जाते हैं।

बालुका स्तूपों का विस्तार केवल मरूस्थलीय प्रदेशों तक ही सीमित नहीं है। जहाँ कहीं भी शुष्क रेत, वायुवेगवान, अवरोध हो वहीं पर स्तूपों का निर्माण हो जाता है; चाहे शुष्क हो या अर्धशुष्क सागर तटीय भाग हो या जलाशयों, झीलों का रेतीला तट। बालुका स्तूप प्रायः समूह में मिलते हैं। इस तरह के स्तूपों को 'Dune Chain' या 'Dune Colony' या 'Dune Comlex' कहते हैं। स्थिति के आधार पर बालुका स्तूपों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है– (1) मरूस्थलीय बालुका स्तूप, (2) सागर तटीय बालुका स्तूप, (3) नदी तटीय बालुका स्तूप, एवं (4) अर्धचन्द्राकार बालुकासूत्र अर्धचन्द्रकार बालुका स्तूपों को 'बरखान' भी कहा जाता है।**चित्र 4.15**

(3) लोयस –

पवन द्वारा मरूथलों से उड़ाकर ले जाये गए अति सूक्ष्मकणीय धूल व सिल्ट, जिसका निक्षेप मरूस्थलों की सीमा के बाहर होता है, को 'लोयस' कहते हैं। 'लोयस' का नाम करण फ्रांस के अलसेस प्रान्त के 'लोयस' कस्बे के नाम पर हुआ है, मरूस्थलों से चलने वाली धूल भरी आँधियाँ अपने साथ बड़ी मात्रा में बारीक धूल कणों को लेकर चलती हैं। ये धूलकण अन्यत्र विस्तृत क्षेत्र में जमाव होने से 'लोयस' का निर्माण होता है। लोयस की मोटाई एक मीटर से 300 मीटर तक होती है। इसमें परतों का अभाव होता है। यह अत्यन्त सरन्ध्र तथा मुलायम होती है। नदियाँ इसे काटकर गहरी घाटियों का निर्माण करती हैं। आक्सीकरण की क्रिया के कारण प्रायः लोयस कारंग पीला होता है। 'लोयस' के हांगहों नदी में निरन्तर गिरने से यह नदी 'पीली नदी' के नाम से भी विख्यात है। इसी प्रकार चीन का तप्वर्ती सागर 'पीला सागर' (Yellow Sea) इसी लोयस की वजह से 'पीला सागर' कहलाता है। चीन में लोयस का जमाव मध्य एशिया के गोबी के मरूस्थल से चलने वाली आँधियों से हुआ है।

(4) बालुका तटबन्ध या हेल पृष्ठ –

मरूस्थलों में बालू के ऐसे टीले, जिनका शीर्ष चपटा होता है, तथा जो प्रचलित हवाओं की दिशा में विस्तृत होते हैं तथा जिनमें गिरता हुआ अग्रभाग नहीं होता, को

'बालुका तटबन्ध' कहते हैं। यह आकृति देखने में हेल (मछली) के पीठ सदृश दिखाई देती है, इसीलिए इसे 'हेल पृष्ठ' भी कहते हैं। मिश्र के मरूस्थल में ऐसी आकृतियाँ देखने को मिलती हैं।

(5) बालू परत '–

रेगिस्तानी भागों में जहाँ बालू के साथ कंकड़ों का भी प्रसार होता है, वहाँ स्तूपों का निर्माण नहीं हो पाता बल्कि बालू की विशाल चादर फैली हुई होती है और उस पर केवल हल्की पवन लहरों के चिन्ह ही दिखाई देते हैं। ऐसे विस्तृत क्षेत्र को 'बालुका सागर' कहते हैं। लीबिया मरूस्थल की सेलिमा बालू परत इसका प्रमुख उदाहरण है जो लगभग 5000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत है।

(6) बालू प्रवाह और बालुका पात –

दो अवरोधों के मध्य स्थित अन्तराल में रेत के निक्षेप को पवनाभिमुखी दिशा में 'बालू का प्रवाह' कहा जाता है। यह अन्तराल पवनाभिमुखी दिशा में कीप के समान होता है जिससे होकर वायुराशि बहती है। इसी तरह जब कगार या मृगु के ऊपर से वायु प्रवाहित होती है, तो रेत नीचे गिरती है। इसे 'बालुका पात' कहते हैं।

4.4.5 हिमानी (हिमनद) के कार्य एवं उनसे निर्मित भूआकृतियाँ

4.4.5.1 हिमानी (हिमनद) : सामान्य परिचय, हिमनदों के प्रकार एवं हिमन दों की गति

हिमानी (हिमनद) : सामान्य परिचय –

सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत–'जब ठोस हिम की परतें किसी दिशा में अग्रसर होने लगती हैं तो उसे 'हिमानी' या 'हिमनद' कहते हैं।' या फिर–'प्रवाहित विशाल काय बर्फ की राशि को 'हिमानी' या 'हिमनद' कहते हैं।' या फिर–'व्यापक क्षेत्र में हिम रिवसकाव को ही 'हिमानी' या 'हिमनद' कहा जाता है।' 'हिमानी या हिमनद वास्तव में बर्फ एवं हिम के समूह होते हैं जो 'हिमक्षेत्र' से गुरुत्व के कारण किसी भी दिशा में प्रवाहित होते हैं। हिमक्षेत्र की निचली रेखा को 'हिमरेखा' कहते हैं और इस हिम रेखा के ऊपर स्थित भाग जो कि सदैव हिमाच्छादित रहते हैं, 'हिमक्षेत्र' कहे जाते हैं। यहाँ पर दो तथ्य उल्लेखनीय हैं– प्रथम यह कि 'हिमरेखा' की ऊँचाई भूपृष्ठ के समस्त भागों पर समान नहीं होती; द्वितीय यह कि ऋतुवत् परिवर्तन के साथ 'हिमक्षेत्रों' के विस्तार में भी परिवर्तन होता है। इस तरह हिमरेखा एवं हिमक्षेत्र दोनों पर जलवायु का सर्वाधिक प्रभाव रहता है।

हिमानी या हिमनदों के प्रकार –

हिमनदों का वर्गीकरण उनकी स्थिति, आकृति तथा विस्तार के आधार पर किया जाता है। इस आधार पर हिमनदों के चार प्रकार हैं –

(1) महाद्वीपीय हिमनद– जब हिमनद, सम्पूर्ण महाद्वीप और महाद्वीप के अधिकांश भाग पर विस्तृत हो 'महाद्वीपीय हिमनद' या 'हिमचादर' कहते हैं। वर्तमान में ग्रीन लैण्ड एवं अण्टार्कटिका इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं –

(2) हिमटोपियाँ– कुछ विद्वानों ने 'हिम टोपियों को महाद्वीपीय हिमनद या हिम चादर का ही रूप माना है'। इसके विपरीत अन्य विद्वानों के अनुसार–'पर्वतों की चोटियों पर स्थित (विस्तृत) हिम चादर को हिमटोपी कहते हैं।' अधिकांश विद्वान द्वितीय मत के ही पोषक हैं।

(3) घाटी हिमनद –उच्च पर्वतीय प्रदेशों में घाटियों के सहारे नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली हिमराशि को 'घाटी हिमनद' या 'पर्वतीय हिमनद' कहते हैं। अपने उद्‌गम स्थान पर घाटी हिमनद अधिक चौड़ा होता है; परन्तु जैसे–जैसे नीचे उतरता जाता है, वैसे–वैसे सँकरा होने लगत है। इन्हें 'अल्पाइन हिमनद' भी कहते हैं, इसका सर्वप्रथ्ज्ञम अध्ययन आल्प्स पर्वत पर हुआ था।

(4) पर्वत पदीय हिमनद– जब दो या अधिक घाटी हिमनद ` समतल भूभाग में आकर मिल जाते हैं तो वहाँ हिम की एक विशाल चादर बन जाती है, जिसे 'पर्वत पदीय' या 'गिरिपद हिमनद' कहते हैं। नीचे उतरने पर गिरिपद हिमनदों की गति मन्द पड़ जाती है। मेलास्पिना व बेरिंग हिमनद अलास्का के प्रसिद्ध पर्वतपदीय हिमनद हैं।

हिमानी या हिमनदों की गति –

स्विटजर लैण्ड के प्रोफेसर ह्यूजी (Hugi) ने सन् 1827 ई० में एवं फ्रांस के लुईस आगासीज ने सन् 1835 ई० में अपने प्रयोगों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि– (1) हिमनदों में गति होती है; (2) हिमनदों में पार्श्ववर्ती भागों की अपेक्षा मध्यवर्ती भागों में अधिक गति होती है; (3) हिमनदों में तली की अपेक्षा सतह पर गति अधिक होती है।

हिमनदों के निचले भाग में ऊपरी प्रचण्ड दबाव के कारण प्लास्टिकता आ जाती है, जिसकी वजह से गति उत्पन्न हो जाती है। इनका वेग कुछ सेन्टी मीटर से लेकर 30 मीटर प्रतिदिन तक होता है। ऋतुवत् गति में परिर्वन होता है। सर्वाधिक गति ग्रीष्मकाल में होती है। हिमनदों का ऊपरी भाग (लगभग 25 मीटर से 50 मीटर) 'विभंग क्षेत्र' तथा निचलाभाग 'प्रवाह क्षेत्र' कहलाता है। इसके प्रवाह में हिमराशि की मात्रा, ढाल एवं गुरुत्व की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

4.4.5.2 हिमानी (हिमनद) के कार्य –

अपरदन के अन्य कारकों की भाँति हिमानी या हिमनद भी तीन कार्य कहते हैं– (1) अपरदनात्मक कार्य, (2) परिवहनात्मक कार्य, एवं (3) निक्षेपात्मक कार्य।

4.4.5.3 हिमानी (हिमनद) के अपरदनात्मक कार्य : हिमनद अपरदन का सिद्धान्त एवं अपरदन के रूप हिमनद अपरदन का सिद्धान्त –

हिमनद द्वारा होने वाले अपरदन के विषय में दो प्रकार थी अवधारणाएं प्रचलित हैं –

(1) संरक्षण संकल्पना––'हिमनद शैल को संरक्षण प्रदान करता है, क्योंकि यह ऊपर से शैल को ढके रहता है; अतः हिमनद का अपरदनात्मक कार्य नगण्य होता है।'

(2) सामर्थ्य की संकल्पना.. हिमनद अपरदन का एक सक्रिय कारक होता है तथा इसके द्वारा विभिन्न स्थलरूपों का उद्भव एवं विकास होता है।'

फ्रांसीसी भूगोलविद् डी मार्तोनी (De Martoune) के अनुसार– 'यदि हिमनद की तली का ढाल समान नहीं है, , तो दरार क्षेत्र के दोनों ओर ऊपर तथा नीचे सर्वाधिक अपरदन होता है।'

इस सिद्धान्त के अनुसार हिमनद की तली प्रायः ऊबड़–खाबड़ होती है। जब हिमनद उभरे हुए अर्थात् उत्तल ढाल की ओर बढ़ता है, तो ऊपरी सतह में तनाव उत्पन्न होने से दरारें बन जाती हैं। इस दरार क्षेत्र के दोनों ओर अर्थात ऊपर और नीचे अधिक अपरदन होता है। इसके विपरीत अवतल ढाल पर न्यूनतम अपरदन होता है।

हिमनद अपरदन के रूप –

हिमनदों द्वारा होने वाला अपरदन मुख्यतः तीन रूपों में सम्पन्न होता है– (1) उत्पाटन, (2) आपघर्षण, एवं (3) सन्निघर्षण।

(1) उत्पाटन– प्रवाहित हिमद्वारा अपने मार्ग की बड़ी–बड़ी चट्टानों को तोड़कर या उखाड़कर अपने साथ ले जाने की प्रक्रिया 'उत्पादन' कहलाती है।

(2) अपघर्षण– हिमनद के साथ प्रवाहित विभिन्न प्रकार के चट्टानी टुकड़े हिमनदी की तलहटी एवं किनारों को अपने प्रचण्ड दबाव से रेती या रेग माल के समान खुरचते हुए चलते हैं। यह क्रिया 'अपघर्षण' कहलाती है। तली व पार्श्व में कई प्रकार की घाटियाँ बन जाती हैं जिनकी गहराई एक मीटर या इससे भी अधिक होती है।

(3) सन्निघर्षण– चट्टानी टुकड़े स्वयं भी क्षयित होकर चिकने व छोटे हो जाते हैं। यह क्रिया 'सन्निघर्षण' कहलाती है। इन चिकने चट्टानी टुकड़ों पर खरोंचों के चिन्ह भी अंतिम होते हैं।

4.4.5.4 हिमानीकृत भूआकृतियाँ : अपरदनात्मक भूआकृतियाँ –

हिमनदों के अपरदन द्वारा विभिन्न प्रकार की भूआकृतियाँ जन्म लेती हैं। कुछ प्रमुख भूआकृतियाँ निम्न हैं–

(1) 'यू' (U) आकार की घाटी –

हिमनदों द्वारा निर्मित घाटियों की तलहटी सपाट व चौरस तथा दोनों किनारें सीधे खड़े हुए एवं अवतल ढाल वाले होते हैं।इनका आकार अंग्रेजी के अक्षर 'U' की भाँति होने के कारण इन्हें 'U' आकर की घाटी कहा जाता है'। नदियों द्वारा निर्मित घाटियों को ही परिवर्तित एवं संशोधित करके उन्हें U (यू) आकार की बना देता है। **चित्र 4.16A**

(2) लटकती घाटी –

मुख्य हिमनद घाटी में मिलने वाली सहायक हिमानी घाटियों का तल मुख्य हिमानी घाटी से काफी ऊँचा होता है। इस स्थिति में सहायक हिमानी घाटियाँ मुख्य हिमानी घाटी में लटकती हुई प्रतीत होती हैं। इसी कारण इन्हें लटकती घाटियाँ कहते हैं। इससे प्रपात का निर्माण होता है। इसीलिए इन लटकती घाटियों को 'प्रपाती' घाटियाँ' भी कहा जाता है। **चित्र 4.16A**

(3) सर्क या हिम गहर –

स्थल रूपों में सर्क का सर्वाधिक महत्व है। सर्क हिमनद घाटी के शीर्ष भाग पर एक अर्धवृत्ताकार या कटोरे के आकार का विशाल गर्त होता है जिसकी आकृति गहरी सीट वाली आराम कुर्सी से मिलती–जुलती है। सर्क का पार्श्व या किनारा खड़े ढाल वाला होता है। ऊपरी चट्टानों के टूटने के कारण ऊबड़–खाबड़ होता है किन्तु निचला भाग मन्द ढाल वाला तथा तली चिकनी होती है। सर्क कभी हिम से भरे होते हैं, इसीलिए इन्ह 'हिम गहर', 'हिमागार' या 'हिमगर्त' भी कहते हैं। **चित्र 4.17**

(4) टार्न –

सर्क की तली (Basin) में हिमनद के अत्यधिक दबाव एवं अपरदन से कालान्तर में एक गेडढे का निर्माण हो जाता है जिसे 'राक बेसिन' कहते हैं। जब इ समे जल भर जाता है एक छोटी झील का निर्माण होता है जिसे 'टार्न' कहते हैं।**चित्र 4.17**

(5) तीक्ष्ण कटक या अरेत –

किसी पर्वत के दोनों ओर सर्क बनकर पीछे की ओर सरकते हैं तो उनके मध्य में नुकीले किनारे वाली कगार बनती है। लगातार अपरदन से धीरे–धीरे पूर्ण विकसित चोटी का निर्माण होता है। इस चोटी का ऊपरी भाग कंघी या आरे के दाँतों सहरा अत्यंत नुकीला होता है। ऐसी भूआकृति को 'तीक्ष्ण कटक' या 'अरेत' या 'कंघी कटक' भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'सिरेत' या 'सिरेटी' (Serrate) कहते हैं।

(गिरिश्रृंग या हार्न) –

जब किसी पहाड़ी के चारों ओर कई सर्क निर्मित हो जाते हैं, तो शीर्ष अपरदन द्वारा पीछे हटते हुए ये पिरामिड के आकार की नुकीली चोटी का निर्माण करते हैं। जिसे

'गिरिश्रृंग' या 'हार्न' कहलाती है। स्विटजर लैण्ड में आल्प्स पर्वत पर स्थित मैटरहार्न (84478 मीटर) इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।**चित्र 4.18**

(7) हिमानी दर्रा या कॉल –

जब किसी पहाड़ी के दोनों ओर निर्मित सर्क क्रमशः पीछे खिसकते हुए परस्पर मिल जाते हैं तो उस कटक के मध्य का भाग आर–पार खुल जाता है। यह खुला भाग 'हिमानी दर्रा' या 'कॉल' कहलाता है।

(8) नुनाटक –

हिमनदीय क्षेत्रों में हिमनदों के बीचे ऊँचे उठे हुए चट्टानी टीले जो हिम सतह के ऊपर दिखाई देते हैं, 'नुनाटक' कहलाते हैं। ये चट्टानी टीले हिमाच्छादित प्रदेश में द्वीप सदृश लगते हैं, नुनाटक को 'हिमान्तर द्वीप' भी कहते हैं।

(9) श्रृंग–पुच्छ –

जब हिमनद के मार्ग में बेसाल्ट या ज्वालामुखी गाँठ (Plug) का उत्थित भाग मिल जाता है, तो हिमनद प्रवाह के अपरदन से उत्थित भाग के ऊपर से कोमल शैलों का आवरण हट जाता है; जिसके परिणाम स्वरूप एक ऐसे स्थल रूप का आविर्भाव होता है जिसके प्रवाह की दिशा का ढाल सीधा एवं ऊबड़–खाबड़ होता है, लेकिन दूसरी ओर का ढाल मन्द होता है। कारण कि हिमनद के उतरते समय शैल संरक्षण सिद्धान्त के अनुसार अपरदन कम होता है। यह मन्द ढाल दूर तक मिलता है जो उत्थित भाग के पीछे एक लम्बी पूँछ की तरह दिखाई देता है। इस तरह इस भूआकृति के सामने वाले भाग को 'श्रृंग' और पीछे वाले भाग को 'पुच्छ' कहते हैं।**चित्र 4.18B(10)**

भेड़–पीढ शैल या रॉश मुटोने –

हिमानी क्षेत्रों में जब हिमनद के मार्ग में कठोर चट्टानों के टीले पड़ जाता हैं। हिमनद जब इन टीलो के ऊपर से गुजरते हैं, तो उस टीले को अपरदित कर घिसकर चिकना बना देते हैं। टीले का ढाल भी कम हो जाता है। इसके विपरीत दिशा में जहाँ हिमनद नीचे की ओर उतरते हैं, घर्षण कम होने के कारण ढाल अधिक तथा सतह ऊबड़–खाबड़ होती है। दूर से देखने पर ये चट्टानी टीले ऐसे दिखाई देते हैं, मानों भेड़े बैठी हों। इस टीलों को 'भेड़–पीठ शैल' या 'रॉशमुटोने कहते हैं।**चित्र 4.19A**

(11) हिम सोपान तथा पैटर नास्टर झीलें –

हिमनदों के अपरदन कार्य घाटी हिमनदों की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका नदियों के समान वक्राकार न होकर सीढ़ीनुमा होती है। घाटी में ऊपरी से नीचे की ओर अनेक सोपान (सीढ़ियाँ) होते हैं जिन्हे 'हिम सोपान' कहते हैं। इनके विस्तृत आकार के कारण

इन्हें 'दैत्याकार सोपान' भी कहा जाता है। हिम सोपान में कगार के नीचे एक गर्त पाया जाता है, जल भरता है। जिसे 'पैटरनास्टर झील' कहते हैं।**चित्र 4.19B**

(12) फियोर्ड – फियोर्ड स्थल में घुसे हुए सागर के वे लम्बे, सँकरे व गहरे भाग हैं, जिनकी दीवालें खड़ी व ऊँची होती हैं तथा जिनमें लटकती घाटियाँ पाई जाती हैं। वस्तुतः जब सागर तटीय किसी हिमनद की तलहटी समुद्रतल से नीची होती है, तो हिमनद के पिघलने के साथ ही समुद्री जल उस हिमनदीय घाटी में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार एक सँकरी एश्चुअरी का निर्माण होता है, जिसे 'फियोर्ड' कहते हैं।**चित्र 4.20**

4.4.5.5 हिमानी (हिमनद) का परिवहनात्मक कार्य –

अपरदन के अन्य कारकों की भाँति हिमनदों द्वारा भी परिवहनात्मक कार्य किया जाता है, किन्तु यह कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता; कारण कि पदार्थों के परिवहन की गति अत्यंत मंद होती है। हिमनदों में परिवहन की शक्ति अपरिमित होती है। इनके द्वारा परिवहन किए जाने वाले पदार्थों में मिट्टी, बालू, बजरी, चट्टान चूर्ण, गोलाश्म आदि से लेकर विशालकाय शिलाखण्ड तक होते हैं। ऐसे विस्थापित शिलाखण्ड़ों को 'इटैटिक' कहते हैं। परिवहित सामग्री का भाग घाटी के दोनों किनारों पर पंक्तिबद्ध रूप में परिवाहित होता हुआ जाता है जिसे 'पार्श्विक मोरेन' कहते हैं। सम्पूर्ण तलहटी के साथ खिसकने वाला मलवा 'तलीय मोरेन' कहलाता है। हिमनद का कुछ मलवा इसके अग्रभाग को ढेकेलकर आगे की ओर ले जाया जाता है, जिसे 'अन्तिम मोरन' कहते हैं। इन पदार्थों को सम्मिलित रूप से 'ग्लेशियल ड्रिफ्ट' कहते हैं।

4.4.5.6 हिमनद का निक्षेपात्मक कार्य –

हिमनद के पिघलने सें प्राप्त जलधाराएं इतनी सक्षम नहीं होती कि परिवहित मलवा को अपने साथ प्रवाहित कर सकें। इसलिए वह मलवा (Till टिल) निक्षेपित होकर भूआकृतियों को जन्म देता है जो अधोलिखित है।

4.4.5.7 हिमानीकृत भूआकृतियाँ : निक्षेपजनित भूआकृतियाँ –

(1) हिमोढ़ या मोरेन –

हिमनद द्वारा परिवाहित सामग्री के जमाव को 'हिमोढ़' या 'मोरेन' कहते हैं। स्थान के आधार पर चार प्रकारों में (चित्र 4.20ब) किया गया है– (1) अंतिम हिमोढ़, (2) पार्श्विक हिमोढ़, (3) मध्यस्थ हिमोढ़, एवं (4) तलीय हिमोढ़।

(1) अंतिम हिमोढ़– जब हिमनद की अंतिम सीमा पिघलने लगती है, तो हिमनद का आगे बढ़ना रूक जाता है उसके द्वारा परिवहित टिल (मलवा) वहीं वक्राकार कटक के रूप में निक्षेपित होने लगता है, जिसे 'अंतिम हिमोढ' कहते हैं।

(2) पाार्श्विक हिमोढ़– हिमनद का पिघलना प्रायः किनारों से प्रारम्भ होता है, वह संकुचित होता है मलवा किनारों लम्बे, पतले कटक के रूप में जमा होता है। जिसे पार्श्विक हिमोढ़ कहते हैं।

(3) मध्यस्थ हिमोढ़– जब दो या अधिक घाटी हिमनद आपस में मिलते हैं, भीतरी पार्श्विक हिमोढ़ मिलकर घाटी के मध्य में आगे बढ़ते हैं। जिसे मध्यस्थ हिमोढ़ कहते है

(4) तलीय हिमोढ़– जब टिल (परिवहित मलवा) सम्पूर्ण तलहटी में हल्की चादर के रूप जमा होता है, तो उसे 'तलीय हिमोढ़' कहते हैं।

(2) ड्रमलिन –

'ड्रमलिन' की संरचना मुख्यतः गोलाश्म मृत्तिका से हुई है इसका आकार उल्टी नौका या कटे हुए उल्टे अण्डे के समान होता है। ड्रमलिन मुख्य रूप से समूह में मिलते हैं, इसी कारण ऐसी स्थलाकृति को 'अण्डे की टोकरी की स्थलाकृति' (Basket of egg Topography) भी कहा जाता है। लम्बाई एक से तीन किलोमीटर तक तथा ऊँचाई 5 से 40 मीटर तक होती है।चित्र 4.21

(3) हिमनदीय जल (हिमानी जलोढ़) निक्षेप जनित भूआकृतियाँ–

तापमान के कारण हिमनद पिघलकर नदी के रूप में परिवर्तित होता है। जल मलवे को अपने साथ बहाकर ले जाता है और यथा स्थान उसका निक्षेप करता है। यह निक्षेप 'हिमानी–जलोढ़ निक्षेप' कहलाता है। इस वर्ग मे भूआकृतियाँ एस्कर, केम, केटिल तथा हमक एवं हिमनद अवक्षेप (चित्र 4.22) आदि हैं।**चित्र 4.22**

(1) एस्कर– हिमनद की जलधाराओं में सम्मिलित मलवे (हिमानी–जलोढ़) द्वारा निक्षेपित लम्बे, सँकरे, सर्पिलाकार एवं अपेक्षाकृत चिकनी सतह वाले कटक को 'एस्कर' कहते हैं। इनकी संरचना में वजरी, रेत तथा कंकड़–पत्थर मिलते हैं। इनका विस्तार जलधारा की दिशा के समानान्तर मिलता है। ये घाटी, दलदल, पहाड़ी के निचले भाग या कहीं भी कटक के रूप में बन सकते हैं। यातायात की दृष्टि से स्वीडन एवं फिनलैण्ड जैसे देशों में इनका पर्याप्त महत्व है।

(2) केम– हिमनद के पिघल जाने पर उसके अग्रभाग पर कुछ मलवा टीले के रूप में रह जाता है। इन्हीं टीलों को 'केम' कहते है। रचना में रेत, बजरी का योगदान है। केम की ऊँचाई 30 मीटर से 40 मीटर तक होती है।

(3) केटिल तथा हमक– केटिल की संरचना केम के विपरीत है। 'केटिल' गर्त के रूप में होते हैं जिनका निर्माण बड़े–बड़े हिम खण्ड़ों के पिघल जाने पर होता है। केटिल के मध्य में कई छोटे–छोटे टीले रहते हैं, जिन्हें हमक' कहते हैं। इनकी रचना पार्श्विक एवं तलस्थ हिमोढ़ के समान होती है।

(4) हिमनद अवक्षेप– जब हिमनद विलीन होता है, तो उसका जल अन्तिम मोरेन के पीछे जमा होने लगता है। अन्तिम मोरने के ऊपर से जल विस्तृत रूप में फैलकर बहने लगता है। प्रवाहित मलवा हिमोढ़ के अगले भाग जमा होता है। इस तरह के विस्तृत जमाव को 'हिमनद अवक्षेप' कहा जाता है। इस जमाव में बड़े कण पहले छोटे कण बाद मे जमा होते हैं। '

4.4.6 भूमिगत जल के कार्य तथा उनसे निर्मित भूआकृतियाँ –

4.4.6.1 भूमिगत जल : सामान्य परिचय –

धरातलीय सतह के नीचे दरारों एवं छिद्रों में स्थित जल को 'भूमिगत जल' कहते हैं। इसे 'तल जल' भी कहा जाता है। एक अनुमान के अनुसार–'भूमिगत जल' को यदि पृथ्वी की सतह पर फैला दिया जाय तो भूसतह पर 150 मीटर जल सतह छा जायेगी। इतनी विशाल भूमिगत जल राशि का स्रोत क्या है? इस पर सभी वैज्ञानिक एक मत नहीं हैं।

4.4.6.2 भूमिगत जल : संभावित स्रोत, स्थिति एवं मण्डल भूमिगत जल के संभावित स्रोत –

भूमिगत जल के तीन ही प्रमुख स्रोत हो सकते हैं–

(1) आकाशी जल– जल वर्षा एवं हिम के पिघलने से प्राप्त जल को 'आकाशी जल' कहते हैं। आकाशी जल धरातल पर पहुँचकर रिसकर नीचे अप्रवेश्य चट्टानों तक पहुँचकर भूमिगत जल का रूप धारण कर लेता है। **चित्र 4.23**

(2) सहजात जल–झीलों तथा सागरों में निक्षेपित परतदार शैलों के छिद्रों एवं सुराखों में स्थित जल को 'सहजात जल' कहते हैं।

(3) मैगमा जल– यह वह जल है जो ज्वालामुखी क्रिया के दौरान तप्त मैगमा के चट्टानों में प्रवेश करने के कारण वाष्पीय पदार्थों के धनीभूत होकर जल में बदलने से प्राप्त होता है।

.भूमिगत जल के मण्डल

भूमिगत जल की स्थिति को तीन मण्डलों में वर्गीकत है–

(1) असम्पृक्त मण्डल– भौम जल स्तर का सबसे ऊपरी क्षेत्र है जलरिसकर अप्रवेश्य चट्टानों तक पहुँचता है मण्डल सम्पृक्त नहीं होता। इस मण्डल में जल का वाष्पीकरण एवं वाष्पोत्सर्जन अधिक होता है।

(2) मध्य सम्पृक्त मण्डल– यह असम्पृक्त मण्डल के नीचे का भाग है जो प्रायः सम्पृक्त रहता है। इसे आन्तरायिक सम्पृक्त मण्डल भी कहते हैं। वर्षा के समय सबसे ऊँचे जल

तल तथा शुष्क मौसम के सबसे निचले भौमजलतल के बीच वाले भाग को 'मध्यसम्पृक्त मण्डल' कहते है।

(3) स्थाई सम्पृक्त मण्डल– यह भूमिगत जल का सबसे निचला क्षेत्र होता है जहाँ जल स्तर की स्थिति सदैव एक सी बनी रहती है। इस मण्डल पर धरातलीय शुष्कता एवं बाढ़ का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

4.4.6.3 भूमिगत जल को प्रभावित करने वाले कारक –

भूमिगत जल की उपलब्धता को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं– (1) सतह गत ढाल, (2) रंध्रीय शैल, (3) वर्षा की मात्रा एवं प्रकृति, (4) तापमान एवं वाष्पीकरण, (5) वानस्पतिक आवरण, (6) मृदा का स्वरूप एवं संरचना, (7) वायु की शुष्कता, एवं (8) अन्तः भौमिक जल की गति।

4.4.6.4 भूमिगत जल के कार्य –

अपरदन के अन्य कारकों के समान भूमिगत जल के कार्यों को भी तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है –

1. भूमिगत जल के अपरदनात्मक कार्य
2. भूमिगत जल के परिवहनात्मक कार्य
3. भूमिगत जल के निक्षेपात्मक कार्य

4.4.6.5 भूमिगत जल के अपरदनात्मक कार्य –

भूमिगत जल के अपरदनात्मक कार्य प्रायः चार माध्यमों से सम्पन्न होते हैं– (1) धुलन क्रिया, (2) जलगति क्रिया, (3) अपघर्षण, एवं (4) सन्निघर्षण।

(1) धुलन क्रिया– वर्षा का जल जब कार्बनडाई आक्साइड के सम्पर्क में आता है, तो यह एक सक्रिय घोलक कारक बन जाता है और अपने सम्पर्क में आने वाली शैलों के धुलनशील तत्वों को उनसे अलग कर लेता है। इस से शैलों में छोटे–छोटे रंध्र बनते हैं। रन्ध्रों से होकर यह घोलक जल धरातलीय सतह के नीचे पहुँचकर वहाँ भी सक्रिय घोलक की भूमिका अदा करता है।

(2) जलगति क्रिया– इस प्रक्रिया में जल अपने साथ हल्के पदार्थों को प्रवाहित करके ले जाता है जल की मन्दगति के कारण यह क्रिया कम महत्वपूर्ण होती है।

(3) अपघर्षण– इस क्रिया जल के साथ बहते हुए छोटे–छोटे कण स्वयं चट्टानों को घिसते हुए चलते हैं। यह क्रिया भी नगण्य होती है, कारण कि कण बारीक होते हैं जल का वेग भी मन्द होता है।

(4) सन्निघर्षण– जल मे प्रवाहित छोटे कण आपस में ही रगड़कर और बारीक होते रहते हैं। जल की गति मन्द के कारण यह क्रिया भी कम महत्व की होती है।

4.4.6.6 भूमिगत जल–अपरदन द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ –

(1) लैपीज –

चूना पत्थर प्रदेशों में वर्षा जल जब रंध्रों एवं पतली दरारों से गुजरता है तो घुलन क्रिया द्वारा रन्ध्रो को विस्तृत करने लगता है। इससे ऊपरी सतह अत्यंत असमान, ऊबड़–खाबड़, नुकीले कटक वाली एवं गर्तमय खाँचे युक्त हो जाती है। जिसे'लौपीज' कहते है। ऊपरी धरातल 'शिखरिका' युक्त नुकीला एवं कंटकीय होता है इस पर पैदल चलना कठिन होता है। ये शिखरिकाएं एक–दूसरे के समानान्तर होती हैं सँकरे विदर से अलग होती हैं। इसको विभिन्न प्रदेशों में भिन्न नाम है, इंग्लैण्ड में 'किलण्ट', जर्मनी में 'कैरेन', सर्बिया में 'बोगाज' आदि।**चित्र 4.24A**

(2) घोल रंध्र –

चूने की संरचना वाले धरातल पर जब वर्षा जल कार्बनडाई आक्साइड के साथ रासायनिक क्रिया करके एक सक्रिय घोलक बनता तो शैल संधियों के घुलनशील तत्वों के अलग कर देता है संधियों के विस्तार एवम असंख्य छिद्रों (रंध्रों) के विकास के कारण निर्मित होने वाले स्थल रूपों को 'रंध्र' कहा जाता है। इसके दो रुप है – (1) कीपाकार घोल रंध्र, (2) बेलनाकार घोल रंध्र।**चित्र 4.24B**

(3) विलयन छिद्र–

घोल रंध्रों का विस्तृत रूप ही 'विलयन छिद्र' है। इसके विस्तार के दो कारण हैं–प्रथमः घोलीकरण की तीब्रता के कारण इनका निरन्तर नीचे की ओर विकास; द्वितीयःऊपरी सतह के नीचे धँसने से। ऐसे छिद्रों को 'ध्वस्त छिद्र' भी कहतें है। इन के ढाल खडे होते हैं। कभी–कभी आकार विशाल होता हैं कि धरातलीय नदियाँ भी इसमें समा जाती हैं। नेपाल की पोखरा घाटी में 'डेविसफाल' विलयन छिद्र में फेवा नदी विलीन हो जाती है। **चित्र 4.24 स**

(7) डोलाइन –

विलयन छिद्रों के अत्यधिक विस्तार हो जाता है, तो इन्हें 'डोलाइन' कहते हैं। पूर्ववर्ती यूगोस्लाविया में इन्हें 'डोलाइन' तथा सर्बिया में 'डोलिनास' कहते हैं। **चित्र 4.24य**

(5) विलयन पटल –

उपनाम घोल पटल' है। यह डोलाइन से भिन्न छिद्र होता है; अर्थात् डोलाइन की अपेक्षा यह कम गहरा (उथला) परन्तु आकार में विस्तृत होता है।

(6) कार्स्ट झील –

जब कभी मृत्तिका द्वारा डोलाइन का निचला छिद्र बन्द हो जाता है, तथों जल भर जाता है जिसें 'कार्स्ट झील' कहते है। कभी–कभी छिद्र को बन्द करने वाले मलवा के हट जाने से ये झीलें लुप्त हो जाती हैं।

(7) कार्स्ट खिड़की –

डोलाइन या विलयन छिद्र के ध्वस्त होने से उत्पन्न छिद्र को 'कार्स्ट खिड़की' कहा जाता है। इस छिद्र से अन्य स्थल रूपों का देखा जा सकता है।

(8) युवाला –

निरन्तर घोलीकरण के फलस्वरूप जब कई डोलाइन मिलकर एक बृहदाकार गर्त का निर्माण करते हैं, तो उसे 'युवाला' कहा जाता है। असंख्य घोल रंध्रों के क्षैतिज रूप में विस्तारित होने से संयुक्त या मिश्रित घोल रंध्र को भी 'युवाला' कहा जाता है।विस्तृत युवाला मे सरिताएं लुप्त हो जाती है, जिससे उसकी घाटियाँ शुष्क प्रतीत होती हैं।**चित्र 4. 24 र**

(9) पोल्जे या पोलियें –

विस्तृत युवाला को 'पोल्जे' या 'पोलिये' कहा जाता है।` हिन्दी भाषी क्षेत्रों में इसे 'राजकुण्ड' कहते हैं। आकार विस्तृत होता है एक पोलिये में कई युवाला समाहित हो सकते हैं। **चित्र 4.24 व**

(10) धँसती निवेशिका –

कार्स्ट मैदान की ऊपरी सतह पर असंख्य घोल रंध्र पाये जाते हैं। जो सम्पूर्ण सतह छलनी के समान दिखाई देते हैं। जब घोल रन्ध्रों से सरिता जल रिसकर सतह के नीचे चला जाता है, तो उसे 'धँसती निवेशिका' कहते हैं और जिस स्थान पर जल नीचे की ओर प्रवेश करता है, उसे अवकुण्ड' कहते हैं।

(11) अन्धी घाटी –

कार्स्ट प्रदेश में कोई नदी अचानक किसी घोल रंध्र या डोलाइन में समाहित हो जाती है, तो उसकी घाटी दो भागों में विभक्त हो जाती हैं। एक भाग नदी उद्‌गम से घोल रंध्र या डोलाइन तक और दूसरा डोलाइन से आगे विलीन होने से आगे की सतह पर घाटी शुष्क रहती है और प्रवाह न होने से उथली रह जाती है, जबकि उद्‌गम से डोलाइन या घोलरंध्र तक प्रवाह होने से घाटी कार्स्ट मैदान से अधिक नीची हो जाती है। इस अवस्था में नदी घाटी का अन्त एक डोलाइन या घोलरन्ध्र पर ही हो जाता है। इसी घाटी को 'अन्धी घाटी' कहते हैं।

(12) कार्स्ट घाटी या घोल घाटी –

चूनापत्थर प्रदेशों में अधिक वर्षा के समय नदियाँ जल की अधिकता से दूरी तक प्रवाहित होती हैं।वह घोलीकरण प्रक्रिया से अपेक्षाकृत चौड़ी तथा यू (U) आकार की घाटी बनाती हैं। जिसको 'कार्स्ट घाटी' या 'घोल घाटी' कहते है।

(13) कन्दरा या गुफा –

चूनापत्थर प्रदेशो मे इसका निर्माण भूमिगत जल की घुलन क्रिया तथा अपघर्षण द्वारा होता है। सामान्यतया भूसतह के नीचे खाली क्षेत्र को कन्दरा या गुफा कहते हैं। खोखले स्थानों में जल प्रवाहित होना अनिवार्य नहीं हैं। इनका स्वरूप सामान्य या विषम , विस्तार लम्बवत या क्षैतिज भी होता है। **चित्र 4.24 ल**

(14) प्राकृतिक पुल –

प्राकृतिक पुल का निर्माण भूमिगत जल द्वारा घोलीकरण के कारण होता है। यह दो स्थितियों में बनता है – (1) कन्दरा की छत के कुछ भाग के ध्वस्त हो जाने पर उसका अवशिष्ट भाग एक पुल के रूप में कार्य करता है; (2) जब कोई सरिता विलयन छिद्र में लुप्त हो जाती है, तो नीचे जाकर घुलन क्रिया एवं अपघर्षण द्वारा कन्दरा का निर्माण करती है। जब यह सरिता पुनः धरातल पर प्रकट होती है, तो जल प्रविष्ट होने एवं पुनः प्रकट स्थल के बीच का भाग प्राकृतिक पुल के रूप में कार्य करता है।**चित्र 4.24श**

4.4.6.7 भूमिगत जल का परिवहनात्मक कार्य –

भूमिगत जल का परिवहन कार्य अपरदन एवं निक्षेप के मध्य की अल्पतन अवधि वाली नगण्य क्रिया है। फिर भी जो परिवहन होता है, उसमें खनिज लवणों का घोल ही प्रमुख रूप से प्रवाहित होता है। जैसे ही जल की गति में स्थिरता आती है, यह घुला हुआ पदार्थ निक्षेपित होने लगता है।

4.4.6.8 भूमिगत जल का निक्षेपात्मक कार्य –

सामान्यतया भूमिगत जल की प्रवाह क्षमता जहाँ शिथिल पड़ती है या समाप्त होती है, वहीं उसके द्वारा घुलाकर लाये गये पदार्थ यथा स्थान निक्षेपित होने लगते हैं। निक्षेपण के द्वारा कई प्रकार की भूआकृतियों का निर्माण होता है।

4.4.6.9 भूमिगत जल–निक्षेपण द्वारा निर्मित भूआकृतियाँ –

(1) आश्चुताश्म या स्टैलेक्टाइट –

कैलसाइट से निर्मित ऐसे स्थलरूप, जो किसी गुफा या कन्दरा की छत से नीचे की ओर ऊर्ध्वाकार दिशा में लम्बे किन्तु पतले आकार में स्तम्भों जैसे लटके रहते हैं, 'आश्चुताश्म' या 'स्टैलेफ्टाइट' कहलाते हैं। भौमजल स्तर के नीचा हो जाने से जल तल

नीचा हो जाता है तो कन्दरा की ऊपरी छत से जल रिसकर धीरे–धीरे टपकने लगता है। इस जल के साथ घुलना क्रिया से प्राप्त पदार्थ भी होते हैं। वाष्पीकरण के कारण जल तो सूखने लगता है, लेकिन उसके साथ घुलित पदार्थ कन्दरा की छत से निचले स्तर पर निक्षेपित होने लगता है। क्रमिक निक्षेपण से इस निक्षेप की लम्बाई कन्दरा के फर्श की ओर धीरे–धीरे बढ़ने लगती है। इसकी चौड़ाई कन्दरा के छत की ओर अधिक तथा फर्श की ओर क्रमशः कम होती जाती है। स्तम्भाकार रूप में नीचे की ओर लटकती हुई इस आकृति को 'अवशैल' भी कहते हैं। **चित्र 4.24 ष**

(2) निश्चुताश्म या स्टैलेग्माइट –

जब कैलसाइट निर्मित कन्दरा की छत से रिसने वाले जल की मात्रा अधिक होती है, तो वह टपककर सीधे कन्दरा की फर्श पर पहुँच जाता है। इस तरह से कन्दरा की फर्श पर भी इसी प्रक्रिया से जमाव होने लगता है; अर्थात् ताप की अधिकता से जल का वाष्पीकरण और जल घुलित पदार्थ का निक्षेपण। यह निक्षेपण नीचे से ऊपर की ओर एक स्तम्भ के रूप में होता है जिसकी वजह से आधार पर ये मोटे और शीर्ष की ओर क्रमशः पतले एवं नुकीले होते जाते हैं। ऐसी भूआकृति को 'निश्चुताश्म' या 'स्टैलेग्माइट' कहते हैं।**चित्र 4.24 ह**

(3) कन्दरा स्तम्भ –

कन्दरा मे छत से लेकर फर्श तक स्तम्भाकार आकृति को 'कन्दरा स्तम्भ' कहते हैं। इसका निर्माण दो स्थितियों में होता है–

(1) जब स्टैलेग्टाइट और स्टैलेग्माइट क्रमश; एक–दूसरे की ओर बढ़ते हुए आपस में मिल जाते हैं, (2) स्टैलेग्माइट की अपेक्षा स्टैलेग्टाइट की बृद्धि तीब्र होती है। यदि तीब्रता से बढ़ता हुआ स्टैलेक्टाइट कन्दरा की फर्श तक पहुँच जाता है, तो इस परिस्थिति में भी 'कन्दरा स्तम्भ' का निर्माण होता है। देहरादून में सहस्त्रधारा के पास स्थित टपकेश्वर में स्टैलेक्टरइट, स्टैलेग्माइट एवं कन्दरा स्तम्भ के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।**चित्र 4.27क**

(4) ड्रिप कर्टेन –

निक्षेपण की क्रिया से निर्मित है। कन्दरा की छत से जल किसी दरार के माध्यम से नीचे टपकता है, तो कन्दरा की फर्श पर परदे जैसा चौड़ा चूने का स्तम्भ निर्मित होने लगता है। चूने के इसी चौड़े स्तम्भ को 'ड्रिप कर्टेन' कहते हैं। **चित्र 4.24ख**

4.5 सारांश –

, इस इकाई में आपने सर्वप्रथम अपवाह प्रणालियों के स्वरूप से परिचित होकर उसके प्रमुख भेदों को समझा आपने यह भी जाना कि इन्हीं अपवाह प्रणालियों में विभिन्न अपवाह प्रतिरूपों का भी जन्म होता है जिनके लिए विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियाँ यथा–धरातलीय ढाल, स्थलीय संरचना, भूआकारिकी, विवर्तनिक कारक एवं आवरण शैलों का स्वभाव आदि उत्तरदायी होती हैं।इस इकाई में अपक्षय एवं उसके कारकों पर भी गहराई से विचार किया गया। इस इकाई के अध्ययन से आपने यह जमा कि अपक्षय जैसी स्थैतिक प्रक्रिया विभिन्न भौगोलिक कारकों से प्रभावित होती है और कई रूपों में भूपटल पर अनवरत सक्रिय रहती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा नवीन भूआकारों का जन्म तो होता ही है, साथ ही पुराने स्थलरूपों एवं परिवर्तन एवं परिवर्धन भी होता है।

इस अन्तिम इकाई में आपने अपरदन एवं उसके विभिन्न कारकों का भी विस्तार से अध्ययन किया है। बहता हुआ जल (नदी), पवन, हिमनद एवं भूमिगत जल जैसे

अपरदन के कारक अपने अपरदन एवं निक्षेपण कार्यों द्वारा अनेक भूआकारों को जन्म देते हैं–यह भी आपने विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से भलीभाँति समझा है। इस प्रकार यह इकाई अपवाह प्रणालियों एवं अपवाह प्रतिरूपों के विभिनन पक्षों पर प्रकाश डालने के साथ–साथ आपको अपक्षय एवं अपरदन के विभिन्न कारकों एवं उनसे उत्पन्न भूआकृतियों का विस्तृत परिचय कराती है।

4.7 स्व मूल्यांकन प्रश्न एवं आदर्श उत्तर स्वमूल्यांकन प्रश्न –

1. किसी झील या गर्त में गिरने वाली नदियाँ किस अपवाह प्रतिरूप से सम्बन्धित होती हैं?
   (अ) पंरवनुमा (ब) अरीय (स) अभि केन्द्री (द) अपकेन्द्रीय
2. भौमिकीय संरचना के आर–पार प्रवाहित होने वाली सरिता को कहते हैं–
   (अ) क्रमवर्ती सरिता (ब) अध्यारोपित सरिता (स) पूर्ववर्ती सरिता (द) परवर्ती सरिता
3. आक्सीडेशन का सर्वाधिक प्रभाव होता है –
   (अ) चूना पत्थर पर (ब) ग्रेनाइट चट्टानों पर (स) लौह खनिजों पर (द) बालुका पत्थर पर
4. अपक्षय का प्रमुख अभिकर्ता है –
   (अ) बहता हुआ जल (ब) भूमिगत जल (स) हिमनद (द) तापक्रम
5. अधः कर्तित विसर्प का सम्बन्ध किससे है?
   (अ) हिमनद से (ब) पवन से (स) भूमिगत जल से (द) नदी से
6. डेल्टा का निर्माण होता है –
   (अ) पर्वतीय क्षेत्रों में (ब) पर्वत पदीय क्षेत्रों में (स) पठारी क्षेत्रों में (द) समुद्र तटीय क्षेत्रों में

आदर्श उत्तर–

1. (स) 2. (ब) 3. (स) 4. (द) 5. (द) 6. (द)

4.8 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें–

Bloom, A.L., (1979) : 'Geomorphology : A Systematic Analysis of Late Cenoeoic Landfosms', Prentice Hall of India Pvt.Ltd, New Delhi.

Bunnet, R.B., (1965) : Physical Geography in Diagrams', Longman, London. Fox, C.S., (1982) : 'Physical Geography for Indian Stundents', Maemillan & co. London.

Kake, P. (1959) : 'Physical Geography,' Macmillan & Co., Calcutta.लाल, डी०एस०, (2012) : 'भौतिक भूगोल,' शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

Lobeck, A.K., (1939) : 'Geomorphology,' Mc Grow Hill Book co., New york.मामोरिया, सी०बी० एवं न्याती, जानकीलाल, (1977) : 'भौतिक भूगोल के तत्व,' शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा।

पवार, आर०एस०, (1992) : 'भूआकृतिविज्ञान, जयश्री प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, सिंह, सविन्द्र, (2018) : 'भौतिक भूगोल का स्वरूप,' प्रवालिका पब्लिकेशन्स, युनिवर्सिटी रोड़, इलाहाबाद।

Small, R.J., (1982) : 'The Study of Londforms', Cambride Clniversity Press, U.K.

Sparks, B.W.,(1960) : 'Geomorphology,' Longman, London.

Strahlar, A.N., (1961) : 'Introduction to Physical Geography', John wiley & Sons, New York.

Thosnbury, W.D., (1969) : 'Principles of Geomorphology,' John wiley & Sons, New york.
Trewartha, G.T. et. al, (1977) : 'Fundamentals of Physical Geography, Me Graw Hill Book Company, New York.

4.9 अभ्यास प्रश्न (सत्रान्त परीक्षा की तैयारी हेतु)

1. धरातल पर विकसित विभिन्न अपवाह प्रतिरूपों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
2. भारत का उदाहरण देते हुए पूर्वगामी एवं अध्यारोपित प्रवाह प्रणालियों के विकास पर प्रकाश डालिए
3. अपक्षय क्या है? इसके प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
4. अपक्षय एवं अपरदन में अन्तर स्पष्ट करते हुए अपक्षय पर प्रभाव डालने वाले कारकों का विवेचन प्रस्तुत कीजिए।
5. अपरदन से आप क्या समझते हैं? अपरदन के स्वरूपों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
6. निक्षेप जनित धरातलीय आकृतियों के विकास में बहते हुए जल के योगदान की समीक्षा कीजिए।
7. नदियों के अपरदन कार्य से बनने वाली भूआकृतियों का वर्णन कीजिए।
8. मरूस्थलीय प्रदेशों में भूदृश्यों के उद्भव एवं विकास की व्याख्या कीजिए।
9. अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण के अभिकर्ता के रूप में पवन के कार्यों की समीक्षा कीजिए।
10. हिमनद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
11. हिमनदियों के अपरदन एवं निक्षेपण कार्यों से उत्पन्न भूआकृतियों का वर्णन कीजिए।
12. अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण के कारक के रूप में भूमिगत जल के कार्यों की समीक्षा कीजिए।
13. कार्स्ट प्रदेशों की स्थलाकृतियों का वर्णन कीजिए।

नोट : इकाई का अध्ययन कर अभ्यास प्रश्नों के उत्तर स्वयं लिखिए।

इकाई 5

वायुमण्डल का संगठन एवं स्तरीकरण, सूर्यातप एवं तापमान

इकाई का रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 वायुमण्डल का संगठन

5.4 वायुमण्डल का स्तरीकरण

5.5 सूर्यातप

5.6 तापमान

5.7 सारांश

5.8 शब्दसूची

5.10 महत्वपूर्ण पुस्तकें संदर्भ

5.9 परीक्षोपयोगी प्रश्न

5.11 अभ्याश प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

जलवायु विज्ञान की यह पंचम इकाई है इस अध्याय में आप वायुमण्डल का संगठन एवं उनकी परतें/स्तरों के साथ–साथ उनमें पाये जाने वाले गैसों का विवरण व उनकी मानवीय जीवन हेतु उपयोगिता व उनके महत्व के साथ मौसम सम्बंधी घटित घटनाओं हेतु क्षोभमण्डल की उपयोगिता, अरोरा आस्ट्रेलिस व अरोरा वोरियालिस जैसी घटनाओं के लिए जिम्मेदार आयनमण्डल, वायुमण्डलीय संरचना सम्बंधित नवीन परिकल्पना, सूर्यातप, सूर्यातप को प्रभावित करने वाले कारक, सूर्यातप का वितरण, पृथ्वी का उष्मा बजट व सौर प्रकाश को प्रभावित करने वाले कारक जैसे प्रकिर्णन, परावर्तन व

अवशोषण तथा तापमान, तापमान का वितरण, तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक, तापमान का क्षैतिज वितरण, तापमान विसंगति, आदि कारकों का इस अध्याय में आप अध्ययन करेगें।

किसी स्थान के मौसम व जलवायु के निर्धारण में इन तत्वों का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान होता है अतः निश्चित ही इस अध्याय के अध्ययन से आपको मौसमी घटनाओं को समझने में सहूलियत होगी।

5.2 उद्देश्य

भूगोल की इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

- वायुमण्डलीय क्रियाविधि को समझ सकेंगे। जैसे– चक्रवात, बादल, शांत वायुमण्डल आदि।
- तापमान को ब्याख्या कर सकेंगे।
- सूर्यातप एवं उसका प्रभाव ब्याख्या कर सकेंगे।
- वायुमण्डलीय स्तर एवं वायुमण्डल के लाभ तथा जीवों पर पड़ने वाले असर को ब्याख्या कर सकेंगे।
- पृथ्वी पर जीवन के लिए उत्तरदायी गैसों को समझने में सहायता होगी।
- इस अध्याय के अध्ययन से सूर्यास्त के उपरान्त भी प्रकाश के होने की क्रियाविधि को ब्याख्या कर सकेंगे।

5.3 वायुमण्डल का संगठन

वायुमण्डल विभिन्न प्रकार के गैसों के मिश्रणों से बना है जो पृथ्वी के चारों तरफ कई सौ किलोमीटर की मोटाई में व्याप्त गैसों का आवरण है। वायुमण्डल पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति से ही पृथ्वी पर टिका है। वायुमण्डल के कारण पृथ्वी पर जीवन संभव है अन्यथा पृथ्वी भी विभिन्न ग्रहों की भाँति जीवन विहीन व विरान होती। वायुमण्डल का निर्माण विभिन्न गैसों के मिलने से हुआ है जैसे नाइट्रोजन, आक्सीजन, आर्गन, कॉर्बनडाई आक्साइड, नियान, हीलियम, ओजोन, हाइड्रोजन, क्रिप्टॉन, जेनान, रेडान आदि किन्तु लगभग 99% योगदान सिर्फ दो गैसों का है नाइट्रोजन (78%),आक्सीजन (21%) शेष अन्य गैसें 1% में पाई जाती हैं। गैसों के ऊँचाई पर पाये जाने में उनके भार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है अर्थात् भारी गैसे पृथ्वी के सतह से लगी होती हैं और हल्की गैसें वायुमण्डल की ऊँचाई पर पाई जाती हैं। उदाहरणस्वरूप कॉर्बनडाई ऑक्साइड 20 किमी. ऑक्सीजन और नाइट्रोजन 100 किमी.तथा हाइड्रोजन 125 किमी. की ऊँचाई तक पायें जाते हैं।

गैसों के अलावा वायुमंडल में कुछ सूक्ष्म ठोस कण एवं जलवाष्प भी पाये जाते हैं। वायुमण्डलीय घटनाओं के घटित होने में 'धूलकण' व 'सूक्ष्म ठोस' कणों का योगदान सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों रूपों में होता है। सूर्य की किरणों के प्रकीर्णन में इस सूक्ष्म कणों का योगदान होता है। जिससे ही आकाश का रंग नीला दिखाई देता है तथा सूर्योदय व सूर्यास्त के समय आकाश का रंग नयनाभिराम रंग का दिखाई देता है।

चित्र 5.1

वायुमण्डल में जलवाष्प जलवायु की दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण आवश्यक है। पृथ्वी पर विद्यमान जल क्षेत्र, मृदा एवं वनस्पतियों के वाष्पीकरण से वायुमण्डल में जलवाष्प की मात्रा की उपस्थिति होती है। वायुमण्डलीय आर्द्रता तापमान से सीधे सम्बन्धित होती है। वायुमण्डल में जलवाष्प की अधिकतम मात्रा 5 प्रतिशत होती है। उष्ण कटिबंधीय आर्द्र क्षेत्रों के धरातल में 2.6 प्रतिशत जलवाष्प की मात्रा, 0.9 प्रतिशत जलवाष्प 50^0 अक्षांश तथा 0.2 प्रतिशत जलवाष्प 70^0 अक्षांश पर पाया जाता है। धरातल से लगभग 5000 मीटर की ऊँचाई तक वायुमण्डल का लगभग 90 प्रतिशतजलवाष्प विद्यमान रहता है। क्रमशः धरातल से ऊँचाई पर जाने पर जलवाष्प की मात्रा कम होती है। समस्त वायुमण्डल में विद्यमान जलवाष्प को यदि संघनित कर जल में परिवर्तित कर दिया जाये तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर लगभग 2.5 सेमी. (1 इंच) मोटी परत का जलावरण हो जायेगा।

5.4 वायुमण्डल का स्तरीकरण

आधुनिक समय में वायुमण्डल सम्बंधित जानकारी के लिए विभिन्न प्रकार के उपकरणों जैसे– रडार, इनसैट, स्पूतनिक, अन्तरिक्षयान, राकेट आदि की सहायता से ग्रहण की जाती है। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर धरातल से वायुमण्डल की ऊँचाई 16 हजार से 29 हजार किलोमीटर तक ज्ञात किया गया है। किन्तु धरातल से लगभग 500 किमी. की ऊँचाई वायुमण्डल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वायुमण्डलीय परतों का निर्धारण तापमान तथा वायुदाब के आधार पर किया जाता है ये परतें निम्नलिखित हैं–

1. **क्षोभ मण्डल (Troposphere) 0-18 किलोमीटर**
2. **समताप मण्डल (Stratosphere) 18-50 किलोमीटर**
3. **मध्य मण्डल (Ozenosphere) 50-80 किलोमीटर**
4. **आयन मण्डल (Ionosphere) 80-480 किलोमीटर**
5. **बर्हि मण्डल (Exosphere) 480 किलोमीटरसे अधिक ऊँचाई तक**

उपरोक्त वायुमण्डलीय परतों के मध्य में एक संक्रमण क्षेत्र पाया जाता है इन संक्रमण क्षेत्रों को सीमास्तर (Pauses) कहते हैं। जो इस प्रकार क्षोभमण्डल एवं समताप मण्डल के बीच एक सकरी पेटी होती है जिसे क्षोभ सीमा (Tropopause) कहते हैं। समताप मण्डल एवं ओजोन मण्डल के बीच स्थित संक्रमण पेटी को स्ट्रेटोपाज (Stratopause) कहते हैं तथा मध्यमण्डल एवं आयन मण्डल के मध्य मेसोपाज (Mesopause) कहते हैं।

चित्र 5.2

1. क्षोभमण्डल (Troposphere)

धरातल के समीप से 12 किमी. की उचाई तक के भाग को क्षोभमण्डल कहते हैं। क्षोभमण्डल को परिवर्तन मण्डल के नाम से भी जानते हैं क्योंकि सामान्य ताप ह्रास की दर से (6.5 डिग्री सेंटीग्रेट/किलोमीटर) तापमान में गिरावट होती है, इसी मण्डल में समस्त वायुमण्डलीय घटनाएं तथा ऋतुओं में बदलाव को देखा जाता है। गर्मियों में इस मण्डल की ऊँचाई में वृद्धि तथा सर्दियों में ऊँचाई में कमी हो जाती है। ऊँचाई में कमी या वृद्धि अक्षांशों से प्रभावित होता है। भूमध्य रेखा पर 16 किमी. की ऊँचाई तथा वहीं ध्रुवों पर मात्र 6 किमी. की ऊँचाई तक पाई जाती है।

धरातल पर पाये जाने वाले जीवों का सम्बन्ध क्षोभमण्डल से ही होता है। इस मण्डल में अधिकतम भारी गैस, जलवाष्प तथा धुल कणों का अधिकतम भाग पाया जाता है। इस मण्डल में संचलन, विकिरण एवं संवहन द्वारा वायु गर्म एवं ठण्डा होता है। संवहन कि क्रिया एवं विक्षोभ की क्रिया इस मण्डल की एक परिघटना है। जिस कारण इस मण्डल को संवहन मण्डल एवं विक्षोभ मण्डल कहते हैं। मौसम सम्बन्धित समस्त घटनायें जैसे– आंधी, तूफान, विद्युत प्रकाश, मेघ गर्जन, बादल का बनना तथा बादल का फटना, कुहरा, ओला, तुषार, आदि इसी मण्डल की घटना हैं। क्षोभमण्डल के ऊपरी सीमा में लगभग 1.5 किमी. की मोटी परत के रूप में विद्यमान ट्रोपोपाज में मौसमी घटनाओं का स्थगन हो जाता है जो क्षोभमण्डल तथा समताप मण्डल की विभाजक होती है।

भूमध्य रेखा पर ट्रोपोपाज की ऊँचाइ जनवरी व जुलाई में जहां 17 किमी. है पर तापमान -70 ^{0}C वही ध्रुवों पर यह सीमा 9 से 10 किमी. पर तापमान -58 ^{0}C होता है। भूमध्य रेखा पर जहां तापमान अधिक होता है वहीं ध्रुवों पर कम होता है जबकि इसके ठीक विपरीत क्षोभमण्डल की ऊपरी सीमा पर अर्थात् ट्रोपोपास पर ध्रुवों पर तुलनात्मक रूप में तापमान अधिक (-58 ^{0}C) व विषुवत रेखा पर (-70^{0}C) कम पाया जाता है।

2. समताप मण्डल

यह क्षोभमण्डल के ऊपर स्थित होता है जिसकी ऊपरी सीमा को लेकर विद्वानों के मतों में भिन्नता है। क्रिचफिल्ड के अनुसार समताप मण्डल की ऊपरी सीमा मध्य अक्षांशों पर 25 किमी. तक होता है। इस मण्डल में तापमान परिवर्तन नाममात्र अथवा नगण्य होता है इसलिए इस मण्डल को समताप मण्डल कहते हैं। स्ट्रालर के अनुसार इस मण्डल की ऊँचाई 50 किमी. तक होती है। इस मण्डल का सर्वप्रथम आविष्कार टी जरेंस डी बोर्ट ने 1902 ने किया था। इस मण्डल में मौसमी घटनायें नहीं होती हैं। अतः यह मण्डल शांत होता है केवल इसी मण्डल में क्षैतिज हवायें चलती हैं।

ओजोन परत की सघनता समताप मण्डल के निचले भाग से मध्य तक लगभग 15 किमी. से 35 किमी. की ऊंचाई तक सर्वाधिक पाई जाती है, बिरल रूपों में ओजोन (O_3) 55 किमी. की उंचाई तक पाई जाती है जिससे इस क्षेत्र को ओजोन मण्डल कहते हैं। वायुमण्डल में पाये जाने वाली ओजोन की परत पृथ्वी पर जीवों के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह आवरण सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणों को अवशोषित कर पृथ्वी/धरातल के सुरक्षा कवच के रूप में कार्य करती है। यदि ओजोन परत नहीं होती और पराबैंगनी किरणें पृथ्वी के धरातल पर पहुंच जाती तो धरातलीय तापमान में अधिक वृद्धि हो जाती है जिससे धरातल, जल व वायुमण्डल में जीवन असम्भव हो जाता। सुपरसोनिक जेट विमानों के उड़ान से ओजोन मण्डल को क्षति पहुंचती है जिससे चर्म रोग व कैंसर जैसी बीमारियों में वृद्धि हो जाती है। अतः ऐसे में मनुष्य को अपने विकास को संयमित ढंग अर्थात् संपोषणीय ढंग से करने की जरूरत है अन्यथा मनुष्य का विकास व ज्ञान ही उसके विनाश का कारण बन सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता के लिए खतरानाक साबित होगा।

3. मध्यमण्डल (Mesosphere)

इस मण्डल की स्थिति बीच में होने के कारण ही इसे मध्यमण्डल कहते हैं। इसकी ऊँचाई 50-80 किमी. तक पायी जाती है। इस मण्डल में ऊँचाई पर जाने पर तापमान ह्रास होता है। इस मण्डल की ऊपरी सीमा को मेसोपाज कहते हैं। इस क्षेत्र का तापमान -120 फारेनहाइट (-80 ^{0}C) होता है। इस मण्डल के ऊपर तापमान गिरना रुक जाता है और तापमान में वृद्धि प्रारम्भ हो जाता है।

4. आयन मण्डल (Ionosphere)

यह मण्डल मध्यमण्डल के ऊपर स्थित है यह मण्डल धरातल से लगभग 80 किमी. से 480 किमी. की उचाई तक पाई जाती है। इस मण्डल में ऊँचाइ बढ़ने के साथ तापमान में वृद्धि होने लगती है। इसके ऊपरी सीमा को लेकर विद्वानों में मतभिन्नता है। कुछ 500 तक तो कुछ विद्वान हजारों किमी. तक ऊँचाई मानते हैं। इस मण्डल के बारे में सर्वप्रथम जानकारी रेडियो तरंगों द्वारा मिली थी।

इसी मण्डल में अरोरा आस्ट्रेलिस (दक्षिणी गोलार्द्ध) में और अरोरा बोरियालिस (उत्तरी गोलार्द्ध) में दिखाई पड़ता है। इसी मण्डल को D, E, F, G परतों में बाँटा जाता है।

5. बहिर्मण्डल (Exosphere)

इस मण्डल का मुख्यतः अध्ययन लेमन स्पिटजर महोदय ने किया था। इसकी ऊँचाई धरातल से लगभग 480 किमी. ऊँचाई के ऊपर मानी जाती है। इस मण्डल में हाइड्रोजन व हीलियम गैसों की प्रधानता पायी जाती है। वायुमण्डल के बहिर्मण्डल का तापमान बढ़कर लगभग 5568 ^{0}C तक हो जाता है। इतना अधिक तापमान होने पर भी यह ताप धरातलीय तापमान की तरह व्यवहार नहीं करता है बल्की यह भिन्न व्यवहार करता है ऐसा कहा जाता है अंतरिक्षयान में बैठा व्यक्ति यदि यान से अपना हाथ बाहर निकालेगा तो उसे गर्म भी महसूस नहीं होगा।

वायुमण्डलीय संरचना सम्बन्धित नवीन परिकल्पना

अन्तर्राष्ट्रीय भू–भौतिकी द्वारा किए गए वायुमण्डलीय नवीन शोध से इसकी संरचना में संशोधन करने की जरूरत महसूस हुई। वायुमण्डलीय परतें– क्षोभमण्डल, समतापमण्डल, मध्यमण्डल, आयनमण्डल एवं बहिर्मण्डल को मानते हुए उनके विस्तार एवं संरचना का नवीन विश्लेषण करने की जरूरत महसूस हुई। 1962 में अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरिक्ष विचार गोष्ठी की नवीन रिपोर्ट के आधार पर मर्सोले निकोलर महोदय ने वायुमण्डल को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया–

1. समताप मण्डल
2. विषम मण्डल

1. समताप मण्डल (Homosphere) :- यह मण्डल धरातल से वायुमण्डल की निचली परत है जिसकी सबसे ऊपरी सीमा लगभग 88 किमी. ऊंची है। सम मण्डल में मुख्य रूप से क्षोभमण्डल, समताप मण्डल एवं मध्य मण्डल को शामिल किया जाता है।

2. विषम मण्डल (Heterosphere) :- इस मण्डल के विषम मण्डल कहे जाने का मुख्य कारण है कि इस मण्डल की वायुमण्डलों की अलग–अलग परतों के रासायनिक एवं भौतिक गुणों का विषम होना। इस मण्डल की ऊँचाई बढ़ने के साथ तापमान में वृद्धि के कारण ही इस मण्डल को थर्मोस्फीयर कहते हैं। इस मण्डल के उच्चतम् तापमान का अनुमान 10,000 फारेनहाइट तक लगाया जाता है।

5.5 सूर्यातप (Isolation)

धरातल पर सम्पूर्ण ऊष्मा का मुख्य स्रोत सूर्य ही है। 'सूर्यातप' मुख्य रूप से सूर्य से प्राप्त कुल ऊर्जा को कहते हैं। जहां पृथ्वी पर प्राप्त सम्पूर्ण ऊर्जा का मुख्य स्रोत सूर्य है वहीं सूर्य की ऊष्मा की आपूर्ति नाभिकीय संलयन क्रिया द्वारा होती है।

सूर्य एक जलता हुआ आग का गोला है जो पृथ्वी के व्यास से 100 गुना बड़ा है तथा आयतन की दृष्टिकोण से एक लाख गुना अधिक है। अतः सूर्य के सम्पूर्ण भाग में तापमान की समानता नहीं पायी जाती है जहां सूर्य के धरातल का तापमान $6000\ ^0C$ (11,000 फारेनहाइट) है वहीं केन्द्रीय व आन्तरिक भाग का तापमान करोड़ों फारेनहाइट में बताया जाता है। सूर्य के बाहरी सतह को फोटोस्फीयर कहते हैं जो विद्युत चुम्बकीय तरंग द्वारा विकिरण होता है। फोटोस्फीयर से निकलने वाली ऊर्जा प्रायः स्थिर होती है। इस प्रकार पृथ्वी की सतह के प्रति इकाई क्षेत्र पर सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा को ही सौर स्थिरांक (Solar Constant) कहते हैं। यह प्राप्त ऊर्जा 2 ग्राम कैलोरी प्रति मिनट प्रति वर्ग सेंटीमीटर है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी अधिक होने के कारण सूर्य की कुल ऊर्जा का 1/2 अरबवां भाग ही पृथ्वी को प्राप्त होता है। सूर्य से मिलने वाली ऊर्जा के कारण ही धरातल पर जीवन सम्भव हो पाया है, ऊष्मा के परिणामस्वरूप ही पवन संचार, जलधारायें व प्रवाह, जलवायु परिवर्तन, मानसून, मौसम आदि जैसी घटनाओं का होना सिर्फ सूर्य से प्राप्त ऊष्मा का ही परिणाम है।

किसी भी वस्तु के गर्म व ठण्डा होने की प्रवृत्ति ही उसके विकिरण प्रवृत्ति को प्रभावित करती है। किसी वस्तु में जितना अधिक गर्मी धारण करने की क्षमता होती है, उसकी तरंगे उतनी ही छोटी होती हैं। अतः सूर्य की अधिक गर्म सतह के कारण ही उससे निकलने वाली उष्मा लघु तरंगों के रूप में होती है। इसके विपरीत कम गर्म सतह की तरंगें अधिक बड़ी होती हैं, जैसे पृथ्वी से वापस जाने वाली ऊष्मा दीर्घ तरंग के रूप में वापस जाती है।

5.5.1 सूर्यातप का धरातलीय वितरण :- भूमध्य रेखा पर सर्वाधिक मात्रा में सूर्यातप प्राप्त होता है जिसका प्रमुख कारण दिन व रात का बराबर होना व सूर्य का लम्बवत् होना मुख्य कारण है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने से सूर्यातप की मात्रा कम होने लगता है जिसका मुख्य कारण किरणों का तिरक्षछा व पृथ्वी का झुकाव है। अर्थात् ध्रुवों पर सबसे कम सूर्यातप की प्राप्ती होती है। इक्वीनास के समय अर्थात जब दिन रात बराबर होता है तो दोनों गोलार्द्धों में सूर्यातप की प्राप्ती में समता देखी जाती है जबकि इसके विपरीत संक्रांति के समय दोनों गोलार्द्धों में सूर्यातप के प्राप्ती में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है।

सूर्यातप के वितरण में वायुमण्डलीय घटनाएं जैसे प्रकीर्णन, परावर्तन और अवशोषण आदि का स्पष्ट प्रभाव होता है। कर्क एवं मकर संक्रांति के समय जब सूर्य क्रमशः उत्तरी गोलार्द्ध $23\frac{1^0}{2}$उत्तरीअर्थात् कर्क रेखा पर व $23\frac{1^0}{2}$ दक्षिणी अर्थात् मकर रेखा पर लम्बवत् होता है तो ध्रुवों पर

दिन की सर्वाधिक लम्बी अवधि होती है जबकि सूर्यातप सर्वाधिक नहीं हो पाता है। ऐसे में सर्वाधिक तापमान निम्न मध्य अक्षांश $30\text{-}40^0$उत्तर व दक्षिण में होता है। भूमध्य रेखा पर भी तापमान में सर्वाधिक वृद्धि नहीं हो पाती है क्योंकि विषुवत रेखा पर विद्यमान वायुमण्डलीय आर्द्रता तापमान को बढ़ने नहीं देता है। सम्पूर्ण ग्लोब को अक्षांशीय आधार पर पृथ्वी को तीन स्पष्ट मण्डलों में बाँटा जा सकता है–

1.निम्न अक्षांशीय मण्डल :- यह मण्डल कर्क व मकर रेखाओं के मध्य विस्तारित है। इस मण्डल में वर्ष भर तापमान (सूर्यातप) ऊँचा बना रहता है ऋतुवत परिवर्तन भी सूक्ष्म या बहुत कम होता है। सूर्य के उत्तरायन व दक्षिणायन होने की वजह से इस मण्डल में क्रमशः सूर्य की किरणें प्रत्येक स्थान पर दो बार लम्बवत् प्राप्त होता है जिससे दो बार अधिकतम सूर्यातप और दो बार न्यूनतम सूर्यातप की प्राप्ती होती है।

चित्र 5.3

2- मध्य अक्षांशीय मण्डल :-इस मण्डल का विस्तार $23\frac{1^0}{2}$ से $66\frac{1^0}{2}$अक्षांशों के मध्य उत्तरी गोलार्द्ध व दक्षिणी गोलार्द्ध में है। इन क्षेत्रों में सूर्य की किरणें वर्ष में एक बार न्यूनतम व एक बार अधिकतम प्राप्त होता है जिसके कारण ऋतुवत परिवर्तन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस मण्डल में लगभग वर्ष भर सूर्यातप कम व ज्यादा मात्रा में प्राप्त होता रहता है। सूर्य जब कर्क रेखा पर होता है तो गर्मी उत्तरी गोलार्द्ध में व इसी समय दक्षिणी गोलार्द्ध में ठण्डी पड़ती है और जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में होता है तो उत्तरी गोलार्द्ध में ठण्डी व दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मी का ऋतु होता है।

iii. ध्रुवीय मण्डल :-इस मण्डल का विस्तार $66\frac{1^0}{2}$से 90^0 उत्तरी व दक्षिणी गोलार्द्धों में पाया जाता है। ध्रुवों के चारों तरफ छः माह नाममात्र का सूर्यातप तथा दः माह सूर्यातप का अभाव पाया जाता है जिस कारण से ही इन क्षेत्रों में लगभग हमेशा हिमावरण रहता है तथा तापमान ऋणात्मक बना रहता है।

5.5.2 सूर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक

धरातल पर सूर्यातप की मात्रा में विविधता देखने को मिलता है क्योंकि वायुमण्डल की विविधता वाली परतों से गुजरते हुए सूर्यातप धरातल को प्राप्त होती है अतः वायुमण्डल की विविधता का प्रभाव सूर्यातप के वितरण पर भी पड़ता है। इसके अतिरिक्त सूर्य की किरणों का तिरछापन, सूर्य से पृथ्वी से

दूरी, दिन की अवधि, सौर कलंक आदि कारक भी पृथ्वी की सतह को प्राप्त होने वाली सूर्यातप को प्रभावित करता है–

1. **पृथ्वी के सापेक्ष सूर्य की किरणों का विस्थापन**
2. **सूर्य से पृथ्वी के मध्य की दूरी**
3. **सूर्यातप का पृथ्वी पर मिलने की अवधि (दिन के समय)**
4. **धरातलीय वायुमण्डलीय स्थिति**
5. **सौर कलंक**

1. पृथ्वी के सापेक्ष सूर्य की किरणों का तिरछापन :- पृथ्वी की आकृति जियोइड होने के कारण से सूर्य की किरणों का सतह पर असमान वितरण पाया जाता है। विषुवत रेखा पर जहाँ सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं जबकि अक्षांश रेखाओं में वृद्धि के साथ सूर्य की किरणों व पृथ्वी की सतह के मध्य कोण में कमी आती जाती है अर्थात् किरणों के तिरछेपन में वृद्धि होती जाती है। जहां विषुव के समय 21 जून व 22 दिसम्बर को क्रमशः कर्क व मकर रेखा पर सूर्य की किरणें लम्बवत् होती हैं। कर्क व मकर रेखाओं के ऊपरी अक्षांशों पर किरणों के तिरछेपन में वृद्धि होने लगती है। इसका प्रभाव मुख्य रूप से दो रूपों में देखने को मिलता है–

(अ) लम्बवत् किरणों को वायुमण्डल के कम परत को पार करना पड़ता है जिससे वायुमण्डल को गर्म करने में इनकी कम ऊर्जा का ह्रास होता है तथा धरातल को अधिक गर्म करती हैं। जबकि तिरछी किरणों को वायुमण्डल के अधिक परत को पार करना पड़ता है जिससे वायुमण्डल की अधिक परतें ऊष्मा को अवशोषित कर लेती हैं और सतह अपेक्षाकृत कम गर्म हो पाती है।

(ब) जहाँ लम्बवत् किरणें धरातल के कम क्षेत्रफल पर पड़ती हैं तथा अधिक ऊष्मा का कम स्थान पर पड़ने से तापमान को अधिक बढ़ा देती हैं जबकि तिरछी किरणें धरातल के अधिक क्षेत्रफल पर फैलकर पड़ती हैं जिससे अधिक क्षेत्रफल को गर्म करना पड़ता है जो तापमान को अधिक नहीं बढ़ा पाती हैं।

चित्र 5.4

2. सूर्य से पृथ्वी के मध्य की दूरी :- पृथ्वी सूर्य के चारों ओर वृत्ताकार मार्ग में परिक्रमा करती है। वृत्ताकार मार्ग में परिक्रमा के कारण से पृथ्वी की सतह व सूर्य के मध्य की दूरी में परिवर्तन होता रहता है। पृथ्वी और सूर्य के मध्य की औसत दूरी 14 करोड़ 96 लाख किमी. (93,000000 मील) है जबकि पृथ्वी व सूर्य के मध्य अधिकतम दूरी 3 जनवरी को होती है जिसे उपसौर या पेरिहेलियन कहते हैं। इस समय पृथ्वी व सूर्य के मध्य दूरी 14 करोड़ 70 लाख किलोमीटर (91,500,000 मील) होती है। पृथ्वी व सूर्य के मध्य की अधिकतम दूरी को अपसौर या एपेहेलियन कहते हैं जो 4 जुलाई को होता है। इस समय इसके मध्य की आपसी दूरी 15 करोड़ 20 लाख किमी. (94,500,000 मील) की दूरी होती है। सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि जिस समय सूर्य, पृथ्वी के समीप होगा उस समय तापमान अधिक और जिस समय दूर स्थित होगा, उस समय तापमान कम प्राप्त होगा लेकिन इसके विपरीत होता है। जुलाई के महीने में जिस समय सूर्य हमसे दूर होता है उस समय हमें अधिक तापमान गर्मी ऋतु जबकि जनवरी में जिस समय सूर्य, पृथ्वी नजदीक होता है उस समय कम तापमान की प्राप्ति होती है जिससे शीतकाल होता है। अतः उपसौर की स्थिति में उत्तरी गोलार्द्ध को 7% कम ऊष्मा प्राप्त होती है जिससे ठण्डी कम और अपसौर की स्थिति में उत्तरी गोलार्द्ध में 7% कम गर्मी की प्राप्ति होती है जिससे हम कह सकते हैं कि हमें गर्मी में भी 7% की राहत मिलती है अन्यथा उत्तरी गोलार्द्ध के कई उच्च ताप के क्षेत्र विरान हो जाते।

3. पृथ्वी पर मिलने वाली सूर्यातप की अवधि अर्थात् दिन की समय :- धरातल पर सूर्यातप की प्राप्ती का समय जितना अधिक होगा। तापमान उसी अनुपात में अधिक होगा किन्तु ऐसी स्थिति के लिए अन्य कारक नगण्य होने चाहिए। पृथ्वी अपनी धुरी का एक चक्कर लगभग 24 घण्टे में पूर्ण कर लेती है तथा अपनी कक्षा पर $66\frac{1^0}{2}$ का कोण बनाती है। पृथ्वी सूर्य का एक चक्कर लगभग एक वर्ष में पूरा करती है। पृथ्वी का सूर्य के परिक्रमण व अपने अक्ष पर परिभ्रमण के कारण विषुवत रेखा को छोड़कर अन्य स्थानों पर दिन व रात घटती व बढ़ती रहती है। विषुवत रेखा पर दिन लगभग हमेशा 12 घण्टे का होता है। जिससे प्रकाश वृत्त भूमध्य रेखा को दो बराबर भागों में बांटती है। जब सूर्य कर्क रेखा पर अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध में होता है तो उत्तरी ध्रुव पर 6 माह का दिन होता है। अतः 0^0से क्रमशः ध्रुवों की ओर बढ़ने से दिन के घण्टों में वृद्धि होती जाती है। ठीक इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में उस समय ध्रुवों पर 6 महीने की रात व विषुवत रेखा के दक्षिण जाने पर दिन के घण्टों में कमी व रात की अवधि में वृद्धि होती जाती है। ठीक इसके विपरीत जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में होता है तो विषुवत रेखा से दक्षिण में जाने पर दिन की अवधि में वृद्धि होती है जबकि उत्तरी गोलार्द्ध में रात की अवधि में वृद्धि व दिन की अवधि में कमी हो जाती है।

अक्षांश	0^0	17^0	41^0	49^0	63^0	66.5^0	$67^0 21'$	$78^0 2'$	90^0
दिन की अवधि	12 घण्टे	13 घण्टे	15 घण्टे	16 घण्टे	20 घण्टे	24 घण्टे	1 मास	4 मास	6 मास

4. धरातलीय वायुमण्डल की स्थिति :- सौर प्रकाश वायुमण्डल की मोटी परत को पार करके धरातल पर आती है अतः वायुमण्डलीय प्रकृति जैसे– वायुमण्डल की सघनता, विरलता, आर्द्रता, प्रदूषण, आदि सूर्यातप को प्रभावित करते हैं। वायुमण्डलीय कणों से सूर्यातप का अवशोषण, परावर्तन व प्रकीर्णन होता रहता है।

अवशोषण :- अवशोषण की क्रिया वायुमण्डल में मुख्य रूप से जलवाष्प, आक्सीजन, ओजोन व कॉर्बनडाइऑक्साइड के द्वारा किया जाता है। वायुमण्डल सूर्य से आने वाली लघु तरंगों के लिए पारदर्शी होता है किन्तु धरातल द्वारा इसका अवशोषण किया जाता। इसके उपरान्त ये दीर्घ तरंग में है जिससे ये पृथ्वी की ऊष्मा को नियंत्रित करने में सहायक होती हैं।

प्रकीर्णन :- सौर प्रकाश वायुमण्डल की मोटी परत को पार करने के दौरान वायुमण्डल में उपस्थित सूक्ष्म कणों से टकराकर सीधे दिशा में गति कर रही प्रकाश का बिखराव हो जाता है। प्रकीर्णन के कारण ही आकाश का रंग नीला दिखाई देता है। सूर्योदय व सूर्यास्त के समय दिखाई देने वाला लाल प्रकाश का प्रमुख कारण प्रकीर्णन ही है।

विसरण :- जब किरणों के मार्ग में ऐसे अणु या कण पड़ जाते हैं जिसका आकार सौर किरणों से बड़ी हो तो प्रकाश का कुछ भाग वापस लौट जाता है तथा कुछ भाग विसरित हो जाता है। जिसके कारण सूर्य के प्रकाश के न पहुंचने वाले स्थान पर भी प्रकाशमान हुआ रहता है। उदाहरणस्वरूप दिन के समय में जहां धूप नहीं भी पहुंचता है वहां पर प्रकाश की कमी नहीं महसूस होती है अर्थात् वस्तुएं स्पष्ट दिखाई देती हैं। यह सौर प्रकाश के विसरण के कारण ही सम्भव हो पात है।

5. सौर कलंक :- सौर तल पर दिखाई देने वाले काले धब्बों को ही सौर कलंक कहते हैं जिसका कोई निश्चित समय नहीं होता है ये बनते बिगड़ते रहते हैं। सोलर धब्बों के बढ़ने पर सूर्यातप की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। कुछ विद्वान सौर धब्बों की अवधि ग्यारह वर्ष तथा कुछ 7 से 17 वर्ष तक मानते हैं। सौर धब्बों के बढ़ने व घटने से सूर्यातप की कुल मात्रा में लगभग 2 प्रतिशत तक बदलाव होता है किन्तु वैश्विक स्तर पर जलवायु पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता है। मौजूदा समय में विद्वानों द्वारा इसके वैश्विक प्रभाव, बनने के कारण आदि जैसे विभिन्न बिन्दुओं पर अध्ययन कार्य चल रहा है।

5.5.3 पृथ्वी का ऊष्मा बजट :- सूर्य से विकीर्ण ऊर्जा का कुछ ही भाग पृथ्वी को प्राप्त हो पाती है। क्योंकि वायुमण्डल द्वारा प्रकिर्णन, परावर्तन व अवशोषण के द्वारा कुछ भाग पुनः अंतरिक्ष में वापस चला जाता है। कुछ भाग वायुमण्डल द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है तथा कुछ भाग वायुमण्डल में बिखेर दिया जाता है जिससे पृथ्वी एक खुले तत्व की भांति कार्य करता है जिससे पृथ्वी के तापमान की साम्यता लगभग बनी रहती है। अनेक अध्ययनों से यह साबित हो चुका है कि पृथ्वी अंतरिक्ष से जितना सौर्य विकिरण लघु तरंगों के रूप में प्राप्त करती है। उतनी ही ऊर्जा को अंततः मुक्त भी करती है। इस प्रकार पृथ्वी में तापमान संतुलन अवस्था में बना रहता है जो पृथ्वी के अन्तर्गत खाद्य, ऊर्जा एवं जीवमण्डल के विकास का आधार है।

मौजूदा समय में पृथ्वी के ऊष्मा बजअ में विसंगति के लक्षण दृष्टिगत होने लगे हैं, क्योंकि नगरीकरण व औद्योगिकरण हेतु अविवेकपूर्ण ढंग से वनस्पतियों का उन्मूलन तथा जीवाश्म ईंधन के अंधाधुंध उपयोग से वायुमण्डल की निचली परतों में ग्रीन हाउस गैसों का संकेंद्रण बढ़ रहा है। ये गैसें पृथ्वी के पार्थिव विकिरण की तरंगों को बाधित कर पुनः पृथ्वी की सतह की ओर वापस कर दे रही हैं जो अंततः वैश्विक तापन के प्रमुख करक के रूप में प्रकट हो रहा है। यह कारण है कि पृथ्वी का ऊष्मा बजट के सम्यक अध्ययन हेतु ग्रीन हाउस प्रभाव को छोड़ दे तो पृथ्वी का वायुमण्डल वर्तमान में भी ऊष्मा संतुलन का कार्य करता है।

पृथ्वी के द्वारा प्राप्त कुल सौर्य ऊर्जा को यदि 100 यूनिट माने तो वायुमण्डल द्वारा प्रकीर्ण 6 यूनिट, बादलों द्वारा परावर्तित, 27 यूनिट तथा 2 यूनिट धरातल द्वारा परवर्तित अतः कुल परावर्तन व प्रकीर्णन 35 यूनिट हुआ।

शेष सौर ऊर्जा के 65 यूनिट में से 18 यूनिट वायुमण्डल द्वारा अवशोषण किया जाता है तथा 47 यूनिट ऊर्जा लघु तरंग विकिरण को अवशोषित कर संवेदनशील ऊष्मा में परिवर्तन कर देती है जिससे पृथ्वी के तापमान में वृद्धि होती है। इस अवशोषित ऊष्मा का निष्कासन दीर्घ तरंग विकिरण (LWR) के रूप में वायुमण्डल के द्वारा 60 यूनिट तथा पृथ्वी की सतह द्वारा 5 यूनिट बाह्य अंतरिक्ष का निष्कासन होता है, उसकी प्राप्ति पृथ्वी की सतह के द्वारा वाष्पीकरण से जलवाष्प की सहायता से गुप्त ऊष्मा के रूप में 24 यूनिट, चालन विधि द्वारा 5 यूनिट संवेदनशील ऊष्मा के रूप में एवं दीर्घ विकिरण के द्वारा 13 यूनिट वायुमण्डल को प्राप्त होती है।

5.6 तापमान :- तापमान ऊष्मा की माप है जिसे, थर्मामीटर द्वारा अंशों में मापा जाता है। अन्य शब्दों में कहें तो किसी स्थान पर मानक अवस्था में मापी गई भूतल से लगभग एक मीटर ऊँची वायु की गर्मी को उस स्थान का तापमान कहते हैं। तापमान सूर्यातप का प्रभाव है अतः सूर्यातप तथा तापमान में कारण एवं प्रभाव का सम्बंध है।

5.6.1 तापमान का वितरण :- धरातल पर तथा निचले वायुमण्डल में तापमान के स्थानिक एवं कालिक वितरण का अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि विभिन्न प्रकार के मौसमी दशाओं, जलवायु प्रकारों एवं जलवायु प्रदेशों, वनस्पति प्रदेशों, जीव जन्तुओं तथा मानव का अस्तित्व तापमान के क्षैतिज एवं लम्बवत् वितरण पर आधारित होता है तापमान वितरण का अध्ययन कालिक एवं स्थानिक वितरण के रूप में किया जाता है। तापमान के क्षैतिज वितरण को प्रादेशिक वितरण के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। तापमान के स्थानिक वितरण पर कई कारकों का नियन्त्रण होता है, जैसे विषुवत रेखा से दूरी या अक्षांशीय स्थिति, स्थल एवं जल के गुण, धरातलीय सतह के गुण, सागर तल से ऊँचाई, सागर तट से दूरी, धरातलीय ढाल का स्वरूप, प्रचलित पवन, महासागरीय धारायें आदि। इन कारकों के प्रभाव के कारण धरातल पर एवं निचले वायुमण्डल में तापमान के वितरण में विभिन्नताएं पायी जाती हैं।

5.6.2 तापमान के क्षैतिज वितरण को प्रभावित करने वाले कारक :- धरातलीय सतह एवं निचले वायुमण्डल में तापमान के वितरण को नियंत्रित करने के प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं–

- **अक्षांश**
- **पृथ्वी सतह का सूर्यातप के संदर्भ में विभिन्न आचरण**
- **सागर तल से ऊँचाई**
- **सागर से दूरी**
- **अलविडो**
- **मेघाच्छादन**
- **ढाल की अधिमुखता**
- **प्रचलित पवन**
- **महासागरीय धारायें**

चित्र 5.5

-

5.6.3 तापमान का क्षैतिज वितरण (Horizonotal Distribution of Temperature)

ग्लोब पर तापमान का क्षैतिज वितरण विशेष रूप से अक्षांश रेखाओं के आधार पर निर्धारित होती है। सामान्य रूप से तापक्रम भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है। प्रायः भूमध्य रेखा के निकट के भाग बादलों से आच्छादित रहते हैं। बादलों से घिरे रहने से यहां पर सौर विकिरण की ऊष्मा का बहुत सा भाग बादलों तथा जलवाष्प द्वारा शोषित हो जाता है, जिस कारण भूमध्य रेखा पर कभी भी विश्व का उच्चतम् तापक्रम अंकित नहीं हो पाता है, ऐसे में कर्क और मकर रेखाओं पर प्रायः मेघाच्छादन

का आभाव होता है इसलिए इन क्षेत्रों में उच्चतम तापमान जून में कर्क रेखा पर व दिसम्बर में मकर रेखा पर दर्ज किया जाता है। इन रेखाओं के ऊपर जाने पर क्रमशः सूर्य की किरणों के तिरछेपन में वृद्धि बढ़ने लगती है जिससे सूर्यातप की कमी होती जाती है।

सामान्यतयः समताप रेखाएँ पूर्व–पश्चिम खींची जाती हैं, जो प्रायः अक्षांशों के समान्तर होती है। जहां सागर और स्थल का मिलन बिन्दु होता है। वहीं समताप रेखाओं की दिशाओं में परिवर्तन एवं विचलन हो जाता है। वर्षभर के तापमान को जनवरी और जुलाई के महीनों में अनुमानित किया जाता है क्योंकि यह महीना उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में तापमान की चरम स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

5.6.4 तापमान विसंगति (Thermal Anomaly)

किसी स्थान विशेष के औसत तापमान तथा उसी स्थान की अक्षांशीय औसत तापमान के अन्तर को तापमान विंसगति कहते हैं। यदि यह तापमान का अन्तर धनात्मक हो तो उसे धनात्मक तापमान विसंगति लेकिन यदि यही अन्तर ऋणात्मक हो तो उसे ऋणात्मक तापमान विसंगति कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्ड की अधिकता के कारण तापमान विसंगति अधिक पायी जाती है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में जल खण्ड की अधिकता के कारण तापमान विसंगति कम मिलते हैं। गर्मियों में महाद्वीपों पर धनात्मक तथा महासागरों पर ऋणात्मक विसंगति होती है।

5.7 सारांश

आपने इस खण्ड में वायुमण्डल के संगठन एवं स्तरीकरण, सूर्यातप एवं तापमान के अन्तर्गत वायुमण्डल की विभिन्न परतों एवं उनका धरातल पर प्रभाव सूर्यातप का धरातलीय वितरण व वितरण को प्रभावित करने वाले कारक जैसे– पृथ्वी व सूर्य के मध्य दूरी, सूर्य के किरणों का पृथ्वी के सापेक्ष तिरछापन, दिन की अवधि, धरातलीय वायुमण्डल की स्थिति, सौर कलंक तथा पृथ्वी का ऊष्मा बजट, तापमान, तापमान का वितरण व उन्हें प्रभावित करने वाले कारक जैसे– अक्षांश, सागर तल से दूरी तथा तापमान का क्षैतिज वितरण व तापमान विसंगति आदि जैसे प्रमुख बिंदुओं का अध्ययन किया। निश्चय ही आपका वायुमण्डलीय गतिविधियों को समझने में यह अध्याय काफी सहायोगी रहा होगा कुछ नवीन विचार भी आपके मन में उठ रहे होंगे? एवं वायुमण्डल की स्वच्छता का प्रभाव क्या होगा? इन सब बिन्दुओं पर आप मनन कर इस अध्याय की उपयोगिता सिद्ध कर सकते हैं।

5.8 शब्द.सूची

आर्द्रता ग्राही –Hygroscopic, नाभिक –Nuclui, ध्रुवीय प्रकाश –Aurora,
सौर्य स्थिरांक –Solar Constant, उपसौर –Perihilion, अपसौर –Aphelion,
विकिरण –Radiation, पार्थिव –Terrestrial, वायुमण्डल –Atmosphere,
प्रकीर्णन –Scattering, वरणात्मक –Selective, संवहन –Convection,

पतन दर –Lapse Rate, प्रतिलोमन –Inversion, विसंगति –Anomaly.

5.9 परीक्षापयोगी प्रश्न

प्रश्न–1 सामान्य ताप ह्रास दर है?

(a) 8.5 ^{0}C (b) 9.5 ^{0}C (c) 6.5 ^{0}C (d) 5.5 ^{0}C

प्रश्न–2 वायुमण्डलीय घटनायें घटित होती हैं?

(a) क्षोभ मण्डल (b) समताप मण्डल

(c) मध्य मण्डल (d) बहिर्मण्डल

प्रश्न–3 ध्रुवीय प्रकाश की घटना होती है?

(a) क्षोभ मण्डल (b) समताप मण्डल

(c) मध्य मण्डल (d) आयन मण्डल

प्रश्न–4 ओजोन मण्डल की सघनता पाई जाती है?

(a) 5-10 किलोमीटर (b)10-15 किलोमीटर

(c) 15-35 किलोमीटर (d) 35-80 किलोमीटर

प्रश्न–5 मर्सोले निकोलट महोदय ने वायुमण्डल को बांटा था?

(a) 2 (b) 3

© 7 (d) 8

प्रश्न–6 सौर स्थिरांक है?

(a)4 ग्राम कैलोरी/वर्ग/सेमी. (b)2 ग्राम कैलोरी/वर्ग/सेमी.

(c)2 ग्राम कैलोरी/वर्ग/किमी. (d)4 ग्राम कैलोरी/वर्ग/किमी.

प्रश्न–7 किस अक्षांश पर अधिकतम तापमान अंकित किया जाता है?

(a)0^0-10^0अक्षांश (b)30^0-40^0अक्षांश

(c)50^0-60^0अक्षांश (d)10^0-20^0अक्षांश

प्रश्न–8 पृथ्वी से सूर्य के मध्य औसत दूरी है?

(a)12 करोड़ 96 लाख किमी. (b) 14 करोड़ 96 लाख किमी.

(c)16 करोड़ 96 लाख किमी. (d) 18 करोड़ 96 लाख किमी.

प्रश्न–9 उपसौर होता है?

(a)4 जुलाई (b)3 जुलाई

(c)4 जनवरी (d)3 जनवरी

प्रश्न–10 पृथ्वी का एल्विडो है?

(a) 35 यूनिट (b) 45 यूनिट

(c) 55 यूनिट (d) 70 यूनिट

उत्तरमाला									
1 (C)	2 (A)	3 (D)	4 (C)	5 (A)	6 (B)	7 (B)	8 (B)	9 (D)	10 (A)

5.10 अभ्यास प्रश्न

1. वायुमण्डल की विभिन्न परतों को स्पष्ट करें?
2. वायुमण्डलीय संरचना की नवीन परिकल्पना को स्पष्ट करें?
3. सूर्यातप के वितरण की व्याख्या करें?
4. सूर्यातप के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों को स्पष्ट करें?
5. तापमान व तापमान विसंगति का उल्लेख करें?

5.11 महत्वपूर्ण पुस्तकें संदर्भ

1. डी. एस. लाल – जलवायु विज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज
2. डा. सविद्र सिंह – जलवायु विज्ञान, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर
3. डा. वाई. आई. सिंह – जलवायु विज्ञान, एशियन ह्यूमेनटिस प्रेस (AHP)
4. डा. चतुर्भुज मामोरिया – डा. एम. एस. सिसोदिया – जलवायु विज्ञान एवं समुद्र विज्ञान, साहित्य भवन कानपुर
5. के. सिद्धार्थ – जलवायु और समुद्र विज्ञान – किताब महल

UGGO-101 भौतिक भूगोल

इकाई–6

वायुदाब–प्रभावित करने वाले कारक, वायुदाब का वितरण

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 वायुदाब– अर्थ एवं परिभाषा
6.3 वायुदाब एवं पवनें

6.4 वायु दाब को प्रभावित करने वाले कारक
6.5 वायुदाब का वितरण
6.5.1 वायुदाब का उर्ध्वाधर वितरण
6.5.2 वायुदाब का क्षैतिज वितरण
6.5.3 वायुदाब पेटियों का ऋतुवार खिसकना
6.5.4 वायुदाब का क्षैतिज वितरण
6.6 सारांश
6.7 बोध प्रश्न
6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6-0 प्रस्तावनाः—(Preface)

पृथ्वी के भौतिक तत्वों का मानव जीवन पर विशेष प्रभाव होता है कहना अतिसयोक्ति नहीं होगा कि मानव जीवन का अस्तित्व ही भौतिक तत्वों द्वारा स्थापित है। प्रकृति के भौतिक तत्वों (घटकों) को तीन प्रमुख भागों स्थल, जल तथा वायु मण्डलों में विभाजित किया जाता है। वायु एवं इससे सम्बन्धित सभी तत्वों का अध्ययन जलवायु विज्ञान में किया जाता है। वायु इस प्रकृति का ऐसा घटक है जो जीवों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

वायु एक भौतिक वस्तु है जो विभिन्न गैसों के यान्त्रिक मिश्रण से बनती है। इस वायु का पृथ्वी के सापेक्ष जब अध्ययन किया जाता है तो पता चलता है कि वायुमण्डल में पृथ्वी पर वायु का कुछ निश्चित भार होता है जो कि पृथ्वी से वायुमण्डल की ऊपरी परत तक के वायु के स्तम्भ (प्रति की इंच अथवा सेमी0) के रूप में आंका जाता है। इस स्तम्भ के भार को वायुभार अथवा वायुदाब कहते है। यह वायुदाब हवाओं के चलने के लिए उत्तरदायी होता है। कहा जाता है कि—

'हवाएँ वायुदाब की विभिन्नता के परिणाम होती है। वायु दाब में अन्तर हवाओं के चलने का प्रमुख कारण होता है।'

पृथ्वी पर वायु दाब विभिन्न पेटियों में पाया जाता है जो विभिन्न गुणों वाली होती है। (प्रमुख रूप से उच्च एवं निम्न वायुदाब) वायु दाब का हमारे जीवन में प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। कभी–कभी चक्रवातीय दशाएँ (भारत में अरब सागर एवं बंगाल की खाड़ी में) उत्पन्न होती है तो हम समाचार पत्रों एवं न्यूज में देखते है और जानते है कि इन चक्रवातों के आने का कारण विभिन्न जलीय भागों में निम्न अथवा उच्च वायुदाब की स्थिति के वन जाना है।

प्रस्तुत इकाई में हम वायुदाब के अर्थ परिभाषा एवं प्रकार तथा उसके विश्व वितरण का अध्ययन करेंगे।

6.1 उद्देश्यः–(Objectives)

इस इकाई के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1– विद्यार्थियों को वायुदाब से अवगत कराना।

2– वायुदाब के प्रकारों एवं पेटियों के मानव जीवन पर प्रभाव से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

3– वायुदाब के कारण चलने वाली पवनों एवं उनके प्रभावों का मूल्यांकन करना।

4– वायुदाब के परिवर्तन से उत्पन्न पर्यावरणीय (मौसमी) घटनाओं के प्रति सचेत करना।

5– विभिन्न प्रकार की पवनों के चलने के कारणों को स्पष्ट करना।

6.2 वायुदाब अर्थ एवं परिभाषाः–

वायुदाब, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है कि किसी इकाई क्षेत्र पर पड़ने वाला वायु का दाब वायु एक भौतिक पदार्थ है जो विभिन्न गैसों के मिश्रण से बनती है। वायु पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण पृथ्वी पर दबाव डालती है। किसी स्थान का वायुमण्डलीय भार वहाँ पर धरातल से लेकर वायुमण्डल की उच्चतम सीमा तक फैले हुए वायु स्तम्भ का भार होता है। कहा जा सकता है कि–

''धरातल या सागर तल पर क्षेत्रफल की प्रति इकाई के ऊपर स्थित वायुमण्डल की समस्त परतों के पड़ने वाले भार को वायुदाब कहा जाता है।''

स्मरणीय :– वायुदाब की खोज सर्वप्रथम ग्यूरिक्स (Guericks) ने सन् 1651 में की थी।

1 मिलीबार = 1 ग्राम भार*

सागर तल से ऊँचाई बढ़ने के साथ–साथ वायुदाब में कभी होती जाती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सागर तल (1013.25 mb) पर वायुदाब सर्वाधिक होता है। वायुदाब का मापन इंच, सेमी0, मिलीबार (mb) में किया जाता है। तथा वायुदाब की गणना करने वाले यन्त्र को बैरोमीटर कहा जाता है। जो कि दो प्रकार का होता है–

I - फोर्टिन, बैरोमीटर

II - एनरायड बैरोमीटर

बैरोमीटर में वायुमण्डलीय दाब अर्थात् नली में पारे (Mercury) की ऊँचाई मापते हैं। बैरोमीटर में 0.1 इंच ऊँचा पारा 3.4 मिलीबार (mb) को दर्शाता है। फिंच एवं ट्रिलार्था ने अपनी पुस्तक elements of Geography (एलीमेन्टस आफ ज्योग्राफी) में इंच तथा मिलीबार में सम्बन्ध को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया हैं–

इंच	मिलीबार (mb)
27	914.3
28	948.2
28.50	965.1
29	982.1
29.50	999.00
29.75	1007.5
29.92	1013.2
30.00	1015.9
30.25	1024.4

वैसे तो भौगोलिक दृष्टिकोण से जलवायु के प्रमुख घटक के रूप में तापमान, वर्षा और आर्द्रता को महत्वपूर्ण माना जाता है परन्तु वायुदाब का महत्व कम नहीं है। इसका विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग महत्व होता है। वायु के चलने का प्रमुख कारण वायुदाब में अन्तर ही है। ऊँचाई के साथ वायुदाब में अन्तर (कमी) होने के कारण उच्च पर्वतीय प्रदेशों में मनुष्य न तो ठीक से सांस ले सकता है बल्कि उसका रक्त–चाप भी असंतुलित हो जाता है। निरन्तर ऊँचाई के साथ वायुदाब में कमी के कारण पर्वतीय चोटियों पर पर्वतारोहियों को

मूर्च्छा, बमन अथवा दिल की धड़कनों (स्वास सम्बन्धी) बीमारी हो जाती है। अधिक ऊँचाई पर जाने नाक एवं कान तथा आँखों से खून आने लगता है तथा घुटन बढ़ने लगती है। इस प्रकार वायुदाब का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

वायुदाब एक गतिमान घटक है। यह कभी कम तो कभी कभी अधिक हो जाती है। सागर तल का औसत वायुदाब 1013.25 mb होता है जो स्थाई नहीं होता बल्कि कम व अधिक होता रहता है। सामान्य तह सागरीय सतह का वायुदाब 982 mb से 1033 mb के बीच में घटता बढ़ता है परन्तु कभी–कभी चरम स्थिति उत्पन्न हो जाती है। 31 दिसम्बर 1968 में साइबेरिया के आगाता नामक स्थान पर अधिकतम वायुदाब (1083.8 mb) जबकि 12 अक्टूबर 1979 ई0 में प्रशान्त महासागर के 'गुआम' के पास न्यूनतम वायुदाब (870 mb) दर्ज किया गया।

6.3 वायुदाव एवं पवने :–(Air Pressure and winds)

वायुदाब एवं तापमान में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात् जब तापमान अधिक होता है तो वायुदाब निम्न होता है तथा जब तापमान निम्न होता है तो वायुदाब उच्च होता है। तथा हवायें उच्च वायुदाब से भिन्न वायुदाब की ओर चलती हैं। या यों कह सकते हैं कि पवनों के चलने का प्रमुख कारण वायुदाब में अन्तर का होना है। ग्लोग पर चलने वाली विभिन्न पवनें (पुरवा, पछँवा, स्थानीय आदि) वायुदाब में अन्तर उत्पन्न होने के कारण चलती है। विभिन्न प्रकार के चक्रवातों (उष्ण कटिबन्धीय एवं शीतोष्ण कटिबन्धीय) के आने में भी वायुदाब मुख्य भूमिका अदा करता है।

6.4वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारकः–(factors affecting Air pressure)

यूँ तो वायुदाब जलवायु का एक प्रमुख घटक है और यह अनेक तत्वों को (मानव सहित) प्रभावित करता है। परन्तु वायुदाब भी जलवायु के प्रमुख तत्वों एवं अन्य अनेक तत्वों द्वारा प्रभावित भी होता है। वायुदाब को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं–

6.4.1 तापमान :–(Temperature)

वायुदाब और तापमान का विशेष सम्बन्ध होता है। जिसका स्वभाव विपरीत होता है। जब तापमान में वृद्धि होती है तो वायु फैलती है और उसका घनत्व कम हो जाता है। वायु का घनत्व कम होने से उसका भार भी कम हो जाता है इसके विपरीत जब वायु का तापमान कम होता है तो वह सिकुड़ती है और उसका घनत्व अधिक हो जाता है और उसका भार अधिक हो जाता है। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है–

उच्चताप–निम्न वायुदाब (भार)

निम्न ताप–उच्च वायुदाब (भार)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि थर्मामीटर का पारा जितना ऊँचा होगा वैरोमीटर में पारा उतना ही नीचे गिरेगा। तथा थर्मामीटर का पारा जितना नीचे गिरेगा बैरोमीटर का पारा उतना ही ऊँचा उठेगा। यही कारण है कि भूमध्य रेखीय प्रदेशों में उच्च तापमान के कारण निम्न वायुदाब तथा ध्रुवीय प्रदेशों में निम्न तापमान के कारण उच्च वायुदाब मिलता है। चार्ल्स के नियमानुसार वायुदाब तथा आयतन दोनों ही तापमान से प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित होता है।

6.4.2 जलवाष्प :–(Water Vapour)

वायु की निचली परतों में उपस्थित नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन जैसी गैसों की तुलना में जलवाष्प का घनत्व 40% तक कम होता है। कहा जा सकता है कि जलवाष्प वायुमण्डल की निचली परतों में पायी जाने वाली गैसों में सबसे हल्की होती है। अतः नम वायु (आर्द्र वायु) का भार कम होता है जबकि शुष्क वायु का भार अधिक होता है। वर्षा ऋतु में वायु में जलवाष्प की मात्रा अधिक होने के कारण वायु शरद ऋतु की तुलना में हल्की होती है। परिणाम स्वरूप वर्षा ऋतु में शरद ऋतु की तुलना में वायुदाब कम होता है। इसी प्रकार स्थलीय वायु में नमी जलीय (सागरीय) वायु की तुलना में कम होती है। इसीकारण स्थलीय भागों में वायुदाब अधिक होता है।

6.4.3 समुद्र तल से ऊँचाई :–(Altitude)

समुद्र तल से ऊँचाई बढ़ने के साथ वायुदाब में कमी हो जाती है। वायुमण्डल की कुल परतों का धरातल पर दबाव होता है। स्वाभाविक है कि निचली परतों पर ऊपरी परतों का दबाव पड़ता है। जिस कारण निचली परतें और अधिक सघन होती है। परन्तु जैसे–जैसे ऊँचाई बढ़ती है वायु विरल हो जाती है। जिससे वायुदाब कम हो जाता है। समान्यतः 1000

फीट की ऊँचाई पर एक इंच या 34 mb की दर से वायुदाब में कमी आ जाती है। परन्तु यह गिरावट सिर्फ निचली परतों में होती है। क्योंकि ऊँचाई पर वायु की विरलता अधिक होने के कारण वायुदाब घटने की दर अधिक हो जाती है। सामान्यतः 1800 फीट (540 मीटर) की ऊँचाई तक वायुमण्डल का आधा (50%) दाब स्थित होता है। ऊँचाई एवं वायुदाब के सम्बन्ध को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है–

वायुदाब का उर्ध्वाधर स्वरूप

समुद्र तल से ऊँचाई (फीट)	वायुदाब	
	(इंच)	मिलीबार (mb)
समुद्र तल	25.92	1013.25
1000	28.86	976.5
2000	27.82	942.0
3000	26.81	910.0
4000	25.84	875.1
6000	23.94	812.0
10000	20.58	696.8
18000	14.94	506.0
40000	—	187.0

6.4.4 पृथ्वी की दैनिक गति (घूर्णन) :–(Rotation of Earth)

पृथ्वी के घूर्णन का प्रभाव वायुदाब पर विशेष रूप से पड़ता है। यदि वायुदाब पेटियों का अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि ताप जन्म पेटियों पर ताप का तो गति जन्म पेटियों पर पृथ्वी की घूर्णन गति का प्रभाव होता है। पृथ्वी की घूर्णन गति से अपकेन्द्रीय बल पैदा होता है। इसी कारण उपध्रुवीय भागों से वायु दूर हटती जाती है, जिससे वहाँ वायुदाब कम होता है। भूमध्य रेखा पर अपकेन्द्रीय बल सबसे अधिक होता है। इसीलिए वहाँ पर वायुदाब कम पाया जाता है।

चित्र 5.6

6.4.5 गुरुत्वाकर्षणः—(Gravitation)

वायुदाब का पाया जाना गुरुत्वाकर्षण के कारण होता है सभी वस्तुओं तत्वों की भाँति वायु को भी पृथ्वी अपनी ओर आकर्षित करती है। पृथ्वी के केन्द्र से दूर जाने पर गुरुत्वाकर्षण में कमी हो जाती है। इसलिए जो वायु पृथ्वी के केन्द्र के निकट होगी वहाँ वायुदाब अधिक होगा। ध्रुवीय क्षेत्र, भूमध्य रेखीय क्षेत्रों की तुलना में केन्द्र से अधिक समीप है। अतः वहाँ पर वायुदाब अधिक पाया जाता है।

6.4.6 दैनिक परिवर्तन की गतिः—(Diurnal Change)

दैनिक परिवर्तन का अर्थ है दिन रात के समय दाब व ताप में होने वाला परिवर्तन। यह परिवर्तन स्थिति तथा दशा के अनुसार अलग अलग स्थानों पर समय के साथ बदलता रहता है। वायुदाब का यह परिवर्तन स्थल के आन्तरिक भागों में दिन के समय अधिक होता है। जबकि सागर एवं सागर तटीय भागों में रात्रि के समय यह परिवर्तन अधिक होता है। मैदानी एवं पर्वतीय प्रदेशों के मध्य भी वायुदाब का दैनिक परिवर्तन एक दूसरे के विपरीत होता है। दिन में मैदानों तथा घाटियों का वायुदाब कम जबकि समीपवर्ती पर्वतों पर वायुदाब अधिक रहता है। रात्रि के समय मैदानी एवं घाटी भागों का वायुदाब अधिक तथा पर्वतीय भागों का वायुदाब कम हो जाता है।

सूर्य से धरातल को जो तापमान प्राप्त होता है। उसे पृथ्वी दिन के 10 बजे से सूर्यास्त तक ग्रहण करती है तथा उसी ताप को पृथ्वी रात्रि में विसर्जित करती है। वायुमण्डलीय तापक्रम के बढ़ने–घटने के साथ–साथ दाब भी परिवर्तनशील रहता है। बैरोमीट्रिक परीक्षण से पता चलता है कि प्रतिदिन वायुदाब प्रातः 10 बजे से सायं 6 बजे तक घटता है जबकि रात्रि में 10 बजे से सायं 6 बजे तक घटता है जबकि रात्रि में 10 बजे से प्रातः 10 बजे तक बढ़ता जाता है। यह बैरोमीट्रिक उतार चढ़ाव भूमध्य रेखीय प्रदेशों में अधिक होता है जबकि उच्च अक्षांशों में जाने पर कम होता जाता है। 60^0 उत्तरी अक्षांश से ध्रुव तक इसमें परिवर्तन बहुत कम होता है।

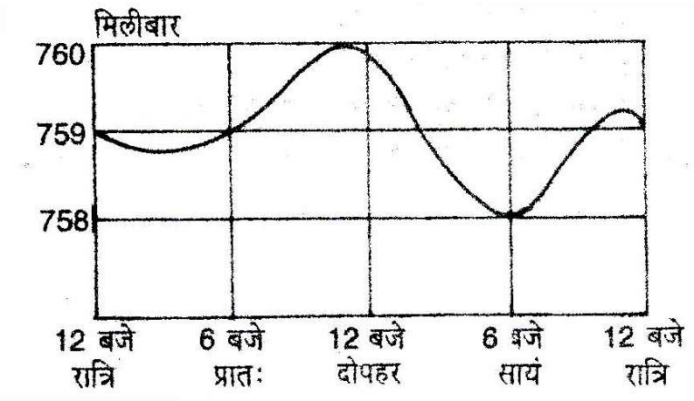

चित्र– 6.1 वायुदाब का दैनिक चलन

6.5 वायुदाब का वितरणः–

(Distribution of Atmospheric Pressure)

वायुदाब का वितरण दो रूपों में पाया जाता है–

1– वायुदाब का ऊर्ध्वाधर वितरण

2– वायुदाब का क्षैतिज वितरण

6.5.1 वायुदाब का ऊर्ध्वाधर वितरणः–

(Vertical Distribution of Atmospheric Pressure)

ऊँचाई बढ़ने के साथ–साथ वायुदाब निरन्तर घटता जाता है क्योंकि पृथ्वी के गुरुत्वकर्षण के प्रभाव से वायुमण्डल की निचली परतों में भारी गैसे अधिक पायी जाती हैं तथा ऊँचाई बढ़ने के साथ–वायुमण्डल की मोटाई धीरे–धीरे कम होती जाती है। सामान्यतः कहा जाता है कि समुद्र तल पर वायुभार सबसे अधिक होता है और ऊँचाई पर जाने पर वायुभार कम होता जाता है। हालाँकि ऊँचाई और वायुदाब के बीच कोई सीधा आनुपातिक सम्बन्ध नहीं है परन्तु सामान्यतः क्षोभ मण्डल में वायुदाब प्रति 300 मीटर की ऊँचाई पर 34 mb की दर से घट जाता है। (चित्र 6.2) इस चित्र में स्पष्ट है कि समुद्रतल पर वायुदाब 1013.25 mb हो जो 17 KM की ऊँचाई पर मात्र 100 mb रह जाता है।

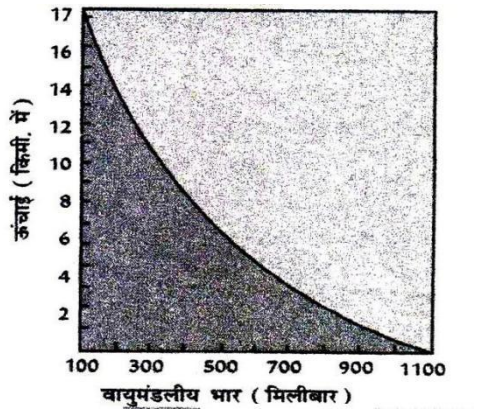

चित्र– 6.2 ऊँचाई के साथ वायुदाब के ह्रास की दर

इस तरह वायुदाब घटने के निम्नलिखित कारण हैं–

1– किसी भी स्थान का वायुदाब उस स्थान के ऊपर के वायु स्तम्भ के भार द्वारा निर्धारित होता है। समुद्र तल पर वायु स्तम्भ की ऊँचाई सबसे अधिक होती है। इसीलिए वायुभार भी अधिक पाया जाता है जबकि हम किसी पर्वतीय ढाल के अनुरूप ऊपर चढ़ते है तो वायु स्तम्भ की ऊँचाई कम होने लगती है और वायु भार भी (चित्र– 6.3)। वायुमण्डल का आधा भार उसकी 6 KM की ऊँचाई तक ही सीमित होता है। अतः 6 KM की ऊँचाई पर वायु का भार समुद्र तल के भार की अपेक्षा केवल आधा ही रह जाता है।

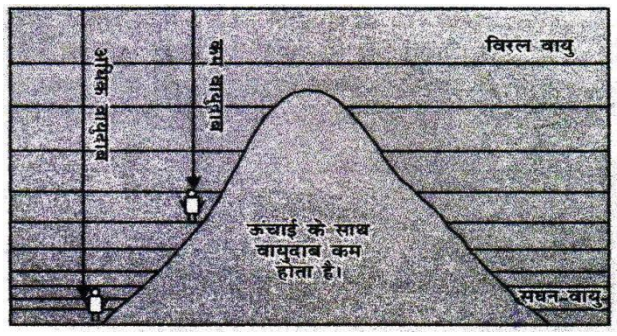

चित्र– 63 ऊँचाई के साथ वायुभार का घटना

2– क्योंकि वायु सम्पीडक (Compressible) है। इसीलिए इसकी निचली परतें ऊपरी परतों से दबकर सघन हो जाती है। इससे इसकी निचली परतों का भार अधिक और ऊपरी परतों का भार कम हो जाता है।

3– वायु मण्डल की निचली परतों की गैसों का भार ऊपरी परतों की गैसों के भार की तुलना में अधिक होता है। जिससे निचली परतों का वायुभार भी अधिक होता है।

4– वायुमण्डल की निचली परतों पर गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव अधिक होता है, जिससे ऊपरी परतों की अपेक्षा वायु भार भी अधिक पाया जाता है।

6.5.2 वायुदाब का क्षैतिज वितरणः–

(Horizontal Distribution of Atmospheric Pressure)

वायु दाब के अक्षांशीय वितरण को ही वायुदाब का क्षैतिज वितरण कहा जाता है क्योंकि इसका विस्तार क्षैतिज रूप में पाया जाता है। इस स्वरूप में वायु दाब विभिन्न कटिबन्धों एवं पेटियों में पाया जाता है। पृथ्वी के ताप एवं घूर्णन के प्रभाव से पृथ्वी पर 7 वायुदाब कटिबन्ध बनते है। भूमध्य रेखा एवं ध्रुवीय वायुदाब कटिबन्ध तापजन्य है जबकि 30^0 और 35^0 तथा 60^0 और 65^0 वायुदाब कटिबन्ध गतिजन्य हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी पर पाये जाने वाले 7 वायुदाब कटिबन्धों (पेटियों) का निम्नलिखित 4 वर्गो में रखा जाता है–

6.5.2। भूमध्यरेखीय निम्न वायुदाब पेटी (डोलड्रम या शान्त खण्ड क्षेत्रः–

(Equetorial Low Pressure Belt)

यह पेटी विषुवत रेखा से 5^0 उत्तर व 5^0 दक्षिण अक्षांशों के मध्य फैली है। इस पेटी का वास्तविक विस्तार भूतल पर सूर्य की स्थिति या मौसम के अनुसार उत्तरायण या दक्षिणायण होता रहता है। इस पेटी में वायुदाब निम्न होने के निम्नलिखित कारण है–

- इस पेटी में सूर्यातप अधिक प्राप्त होने से तापमान अधिक पाया जाता है। जिससे वायुदाब निम्न पाया जाता है।
- इस पेटी में सागरीय भाग अधिक होने से वायु में जल वाष्प की मात्रा अधिक होती है। पूर्व विदित है कि जलवाष्प का भार अन्य गैसों की तुलना में कम होता है। इसलिए वायुभार का भार कम हो जाता है।
- भूमध्य रेखा पर भू घूर्णन का वेग सबसे अधिक होता है, जिससे यहाँ पर अपकेन्द्रीय शक्ति अधिक होती है। अपकेन्द्रीय शक्ति वायु को भूपृष्ठ से बाहर की ओर धकेलती है जिससे वायु की मात्रा तथा उसका दाब कम रह जाता है।

इस कटिबन्ध में पवनें धरातल पर क्षैतिज रूप से नहीं चलती हैं अपितु अधिक तापमान के कारण वायु हल्की होकर ऊपर को उठती हैं और संवहनीय धाराओं (Convection

Currents) का जन्म होता है। इसीलिए इस कटिबन्ध को भूमध्यरेखीय 'शान्त कटिबन्ध' या 'डोलड्रम' (Doldrum) कहते हैं।

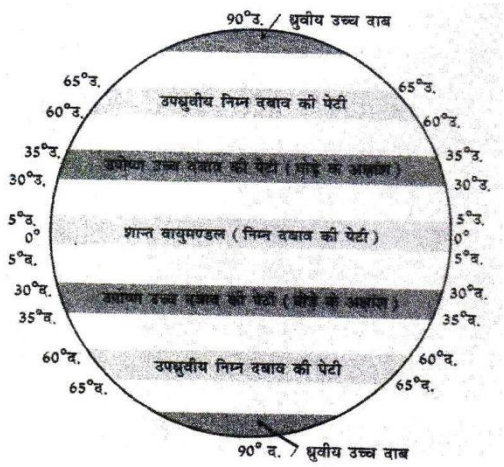

चित्र– 6.4 वायुदाब की पेटियाँ

6.5.2Bउपोष्ण उच्च वायुदाब पेटियाँः–

(Sub-tropical High Pressure Belts)

उपोष्ण उच्च वायुदाब पेटियों का विस्तार दोनों गोलार्द्धों में 30^0 से 35^0 अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। यहाँ शीत काल के दो महीनों को छोड़कर वर्ष भर उच्च तापमान पाया जाता है। ग्रीष्मकाल में तो ग्लोब का उच्चतम तापमान अंकित किया जाता है। इसके बाद भी यहाँ पर उच्च वायु दाब पाया जाता है जबकि नियमतः निम्न वायुदाब मिलना चाहिए। स्पष्ट है कि इसका कारण पृथ्वी (गति जन्म) घूर्णन गति है। भूमध्य रेखा से उठी वायु तथा उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की वायु इन अक्षांशों पर उतरकर नीचे बैठती है जिस कारण इनका आयतन कम होने से वायुदाब उच्च हो जाता है। इस पेटी को अश्व अक्षांश भी कहा जाता है, क्योंकि प्राचीन काल में घोड़े से भरा पालवाला जलयान जब इस पेटी में पहुँचा तो वायु की शान्ति के कारण जलयान आगे नहीं बढ़ पा रहे थे। अतः जलपान को हल्का करने की के लिए कुछ घोड़ों को समुद्र में फेंकना पड़ा। इसलिए इसे अश्व अक्षांश कहा जाता है।

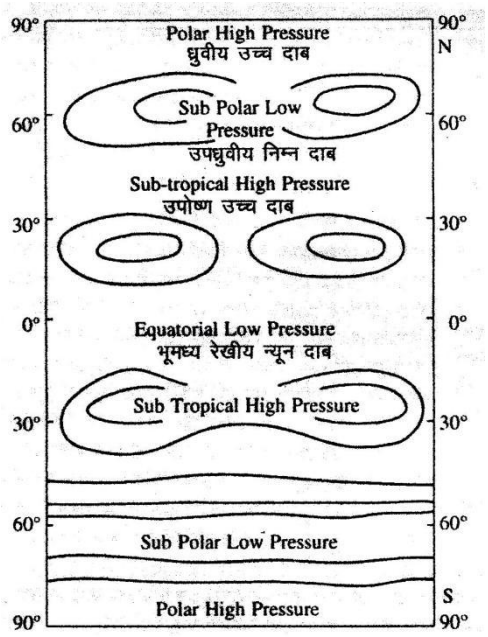

चित्र– 6.5 : वायुदाब का सामान्य आदर्श वितरण

6.5.2ब उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटियाँः–

(Sub Polar Low Pressure Air Pressure Belt)

दोनों गोलार्द्धों में 60^0–65^0 अक्षांशों के मध्य निम्न वायुदाब की पेटियाँ पायी जाती हैं जिन्हें उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटियाँ कहते हैं। इस पेटी में वर्ष भर निम्न तापमान रहने के बाद भी निम्न वायुदाब पाया जाता है। यहाँ पर कम वायुदाब पाये जाने पर तापमान का प्रभाव नहीं होता बल्कि पृथ्वी की घूर्णन गति का प्रभाव होता है। पृथ्वी की घूर्णन गति के कारण इन अक्षांशों की वायु फैलकर स्थानान्तरित हो जाती है जिस कारण गति जन्य निम्न वायुदाब का अपविर्भाव हो जाता है। हालांकि इस पेटी का विस्तार ध्रुवों पर होना चाहिए परन्तु वहाँ का तापमान इतना न्यून हो जाता है कि वहाँ पर गति (पृथ्वी की घूर्णन गति) का प्रभाव गौड़ हो जाता है। फलतः वहाँ उच्च वायुदाब पाया जाता है।

उपध्रुवीय वायुदाब पेटी में निम्न वायुदाब के अनेक केन्द्र पाये जाते हैं जिन्हें कोशिकाएँ भी कहा जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इस पेटी का विस्तार ध्रुवों के पास चला जाता है जिसका प्रमुख कारण है जल–थल का वितरण।

6.5.2Dध्रुवीय उच्च वायुदाब पेटियाँः–

(Polar high Pressure Belts)

ध्रुवीय प्रदेशों में तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में कठोर सर्दी, बर्फीले क्षेत्रों का विस्तार, हिमपात और सौर ऊर्जा की विशेष कमी आदि के कारण तापमान हिमांक बिन्दु से नीचे पाये जाते हैं तथा धरातल के निकट की वायु अत्यन्त शीतल और भारी होती है। पृथ्वी के घूर्णन के कारण ध्रवों पर पायी जाने वाली वायु परतें पतली हो जाती हैं तथापि वायु की अधिक शीतलता और भारीपन के कारण यहाँ पर उच्च वायुदाब पाया जाता है। इस पेटी में उच्च वायुदाब का आविर्भाव का प्रमुख कारण है इसीलिए पेटी को तापजन्य पेटी कहा जाता है। गतिजन्य नहीं।

6.5.3 वायुदाब पेटियों का ऋतुवार खिसकनाः–

(Longitudinal motion of Air Pressure Belts)

पृथ्वी अपने अक्ष पर 23½^{0}झुकी है जिसके परिणाम स्वरूप सौर ऊर्जा की प्राप्ति की दशाओं में परिवर्तन हो जाता है। सूर्य की किरणे एक ही अक्षांश पर (विषुवत रेखा) पर लम्बवत नहीं चमकती। इसी के प्रभाव से वायुदाब की पेटियों के विस्तार में भी कुछ परिवर्तन आ जाता है। गर्मियों में जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में होता है तो ये पेटियाँ 5^0 के आप–पास उत्तर की और सर्दियों में जबकि सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में चमकता है यह पेटियाँ औसत स्थिति से 5^0 दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं जबकि आदर्श स्थिति मात्र 21 मार्च एवं 23 सितम्बर के आस–पास ही रहती हैं जबकि सूर्य भूमध्य रेखा पर लम्बवत चमकता है।

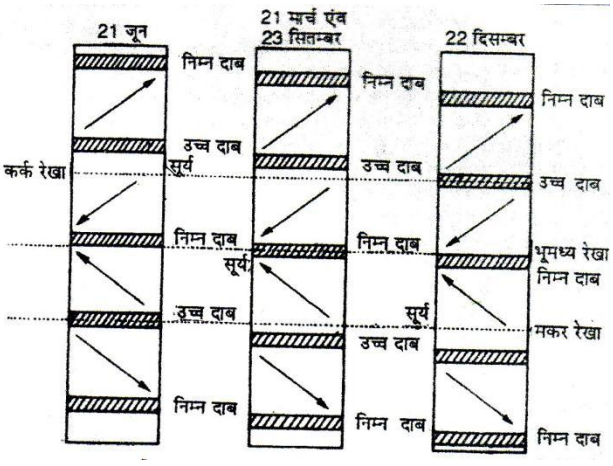

चित्र– 6.7 : वायुदाब एवं पवन पेटियों का ऋतुवार खिसकना

6.5.4 वायुदाब का समदाबी क्षैतिज वितरणः–

(Fsobaric Horisontal Distribution of Air Pressure)

समदाब रेखाएँ ऐसी कल्पित रेखाएँ होती हैं जो समान वायुदाब स्थानों को मिलाते हुए खीचीं जाती है। ग्लोब पर वायुदाब के मौसमी तथा वार्षिक क्षैतिज वितरण का अध्ययन जनवरी तथा जुलाई की समदाब रेखाओं द्वारा किया जाता है।

समदाब रेखाओं की आकृतियों से मौसमी दशाओं का अनुमान लगाया जाता है। यदि समदाब रेखाएँ गोलाकार आकार में मुड़ी होती हैं तो इन्हें वायुदाब कोशिकाएँ (Pressure Cells) कहते हैं। यदि इन कोशिकाओं का वायुदाब समुद्रतल से कम होता है तो इन क्षेत्रों को चक्रवात (Cyclone) या गर्त या निम्न दाब का क्षेत्र कहते हैं। और यदि वायुदाब अधिक होता है तो प्रतिचक्रवात कहते है। जब समदाब रेखाएँ V (वी) के उल्टी आकार में उच्चदाब के साथ मुड़ी हों तो उन्हें वेज (Wedge) कहा जाता है।

6.5.4। जनवरी में वायुदाब की स्थितिः–

चित्र 2.19 में जनवरी माह में वायुदाब की स्थिति दर्शायी गई है इस समय सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में मकर रेखा पर लगभग लम्बवत् चमकता है। इससे वहाँ पर तापमान अधिक तथा वायुभार कम होता है। निम्न वायुदाब के क्षेत्र दक्षिण अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के आंतरिक भागों में हैं। यहाँ पर महाद्वीपीय स्थल खण्ड अपने समीपवर्ती महासागरीय जल भागों में अधिक गर्म हो जाते हैं और उपोष्ण उच्च वायुदाब पेटी महाद्वीपों पर खण्डित हो जाती है जहाँ ठण्डी समुद्री धाराएँ अपना प्रभाव डालती हैं। उप–ध्रुवीय निम्न वायुभार की पेटी सम्पूर्ण महासागर पर एक द्रोणी के रूप में विकसित है।

उत्तरी गोलार्द्ध में पूर्णतः विकसित उपोष्ण उच्च–वायुदाब क्षेत्र महाद्वीपों पर पाए जाते हैं। उप–ध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटी उत्तरी अटलांटिक महासागर तथा उत्तरी प्रशांत महासागर में विकसित है। इन दो प्रधान निम्न वायुभार वाले क्षेत्रों को क्रमशः आइसलैंडिक निम्न वायुदाब तथा एल्यूशियन निम्न वायुदाब कहते हैं। महाद्वीपों पर तापमान कम होने के कारण वायुभार अधिक है।

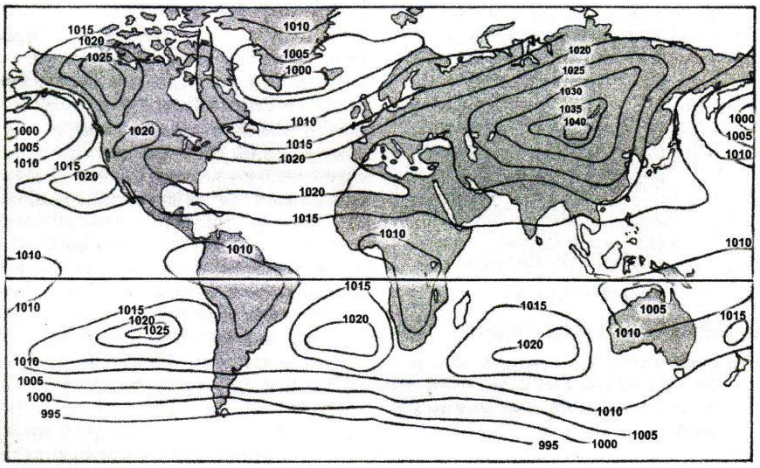

चित्र– 2.19 : जनवरी में वायुदाब का वितरण (अंक मिलीबार में)

6.5.4ठ जुलाई में वायुदाब की स्थितिः–

जुलाई में सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा पर लगभग लम्बवत् चमकता है, जिससे भूमध्य रेखीय निम्न–भार पेटी उत्तर की ओर खिसक जाती है। यह खिसकाव एशिया में सबसे अधिक होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्ड अधिक गर्म हो जाते हैं और वहाँ निम्न वायुदाब विकसित हो जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में उच्च वायुदाब की पेटी सम्पूर्ण विकसित होती है। उप–ध्रुवीय निम्नभार पेटी उत्तरी गोलार्द्ध में विखण्डित हो जाती है, जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में एक पूर्ण द्रोणी के रूप में विकसित हो जाती है। (चित्र 2.20)।

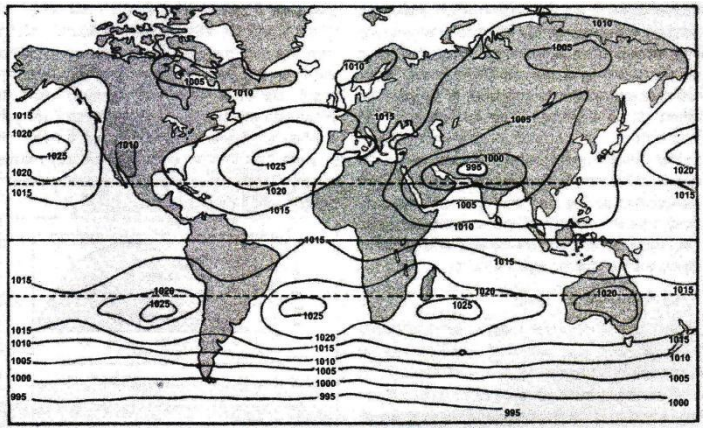

चित्र– 2.20 : जुलाई में वायुदाब का वितरण (अंक मिलीबार में)

6.6 सारांशः–

वायुदाब का अध्ययन, जलवायु एवं मौसम के विषय में जानकारी के लिए परम आवश्यक है। इस हेतु प्रस्तुत इकाई में वायुदाब के विभिन्न घटकों, परिभाषा, प्रकार प्रभावित करने वाले कारकों एवं इनके वितरण का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे वायुदाब सम्बन्धी तत्वों की जानकारी मिल जाती है। वायुदाब के प्रभाव से आने वाली विभिन्न प्रकार की वायु एवं चक्रवातीय दशाओं से जनमानस को बचने के लिए तैयार करेगी। प्रस्तुत इकाई छात्र/छात्राओं के वायुमण्डल सम्बन्धी जानकारी में वृद्धि करेगी।

6.7 बोध प्रश्नः–

दीर्घ उत्तरी (निबन्धात्मक) प्रश्न :–Long Answer type Question

प्र01 वायुदाब क्या है? भू पृष्ठ पर इसके वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

प्र02 वायुदाब से आप क्या समझते है? वायुदाब की विभिन्न पेटियों का सचित्र वर्णन कीजिए।

प्र03– वायुदाब को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख करते हुए इसके समदाब रेखीय वितरण का सचित्र वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरी प्रश्न :–Short Answer type Questions

प्र01 वायुदाब क्या है? परिभाषित करते हुए इसके प्रभावों का वर्णन कीजिए।

प्र02 विश्व में कितनी वायुदाब पेटियाँ है? सचित्र वर्णन कीजिए।

प्र03 जनवरी माह के वायुभार रेखाओं एवं उनके विस्तार का सचित्र प्रदर्शन कीजिए।

प्र04 कौन–कौन से कारक वायुदाब को प्रभावित करते है? वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर :–Objective type Question Answer

प्र01 मिलीबार एक इकाई है–

(i) वायुताप की (ii) वायुआर्द्रता की

(iii) वायुदाब की (iv) वायुवेग की

प्र02 वायुदाब मापने का यन्त्र है–

(i) थर्मामीटर (ii) बैरोमीटर

(iii) हाइग्रोमीटर (iv) एनीमोमीटर

प्र03 समुद्र तल पर औसत वायुदाब कितना होता है?

(i) 1013.25mb (ii) 914.3 mb

(iii) 948.2 mb (iv) 965 mb

प्र04 पृथ्वी पर वायुदाब पेटियों की संख्या कितनी है?–

(i) 3 (ii) 4 (iii) 5 (iv) 7

प्र05 विषुवत रेखीय प्रदेश (डोलड्रम) में किस प्रकार का वायुदाब पाया जाता है–

(i) उच्च वायुदाब (ii) निम्न वायुदाब

(iii) उच्च एवं निम्न वायुदाब (iv) इनमें से कोई नहीं

प्र06 30^0 से 35^0 अक्षांशों पर उच्च वायुदाब का प्रमुख कारण क्या है–

(i) तापमान (ii) पृथ्वी की घूर्णनगति

(iii) सूर्य की स्थिति (iv) आर्द्रता

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:–(Bibliography)

जलवायु विज्ञान– डॉ0 सविन्द्र सिंह

जलवायु विज्ञान– डॉ0 मो0 हारून

भौतिक भूगोल– डॉ0 सविन्द्र सिंह

भौतिक भूगोल– डॉ0 चतुर्भुज मामोरिया

भूगोल– डॉ0 डी0आर0 खुल्लर

इकाई 7

वायुराशि चक्रवात एवं प्रतिचक्रवात आर्द्रता तथा वर्षा के प्रकार एवं वितरण

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 वायुराशि

7.4 चक्रवात एवं प्रतिचक्रवात

7.5 आर्द्रता

7.6 वर्षा एवं वर्षा के प्रकार

7.7 वर्षा का वितरण

7.8 सारांश

7.9 शब्द सूची

7.10 परीक्षोपयोगी प्रश्न

7.11 अभ्यास प्रश्न

7.12 महत्वपूर्ण पुस्तकें संदर्भ

7.1 प्रस्तावना

जलवायु विज्ञान की यह सप्तम् इकाई है। इसके अन्तर्गत आप वायुराशि, वायुराशियों का वर्गीकरण जैसे– महासागरीय, महाद्वीपीय, वायुराशियों का परिवर्तन तथा चक्रवात, चक्रवात के प्रकार जैसे शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात व उष्णकटिबंधीय चक्रवात व इनके उपप्रकारों के साथ–साथ इनकी गति, उत्पत्ति क्षेत्र, विस्तार, क्रियाविधि व इनसे सम्बंधित सम्पूर्ण गतिविधियों का अध्ययन, आर्द्रता व आर्द्रता के स्वरूपों–विशिष्ट आर्द्रता, निरपेक्ष आर्द्रता सापेक्ष आर्द्रता व मिश्रित आर्द्रता अनुपात व इनका वितरण, प्रभाव के अध्ययन के साथ व वर्षा, वर्षा के प्रकार जैसे संवहनीय वर्षा, पर्वतीय वर्षा तथा चक्रवाती वर्षा व वर्षा के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों आदि का इस अध्याय में आप अध्ययन करेंगे अतः इस अध्याय के अध्ययन उपरान्त आपको वायुमण्डल में होने वाले इन समस्त गतिविधियों को समझने में आसानी होगी अतः हमें आशा है कि यह अध्याय आपको स्वीकार लगेगा।

7.2 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने से आप–

- वायुराशियों के वर्गीकरण के आधार को ब्याख्या कर सकेंगे।
- वायुराशियों की गतिविधियों का ब्याख्या कर सकेंगे।
- चक्रवात व प्रतिचक्रवात की क्रियाविधि एवं उनकी बारम्बारता में वृद्धि के कारण व उनसे बचने के उपाय को आसानी से ब्याख्या कर सकेगें।
- वायुमण्डलीय आर्द्रता एवं उसके प्रभाव को सकेगें।
- वर्षा की क्रियाविधि को ब्याख्या कर सकेगें।

- वर्षा के वितरण, प्रकार एवं वर्षा को प्रभावित करने वाले कारकों के विषय में जानकारी मिलेगी।
- इस अध्याय में आप वायुमण्डलीय क्रियाविधि का मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को आप आसानी से अध्ययन कर ब्याख्या कर सकेगें।

7.3 वायुराशि (Air Mass)

यह वायुमण्डल की वह क्षैतिज परत होती है जिसमें तापमान तथा आर्द्रता सम्बंधित समानता होती है। वायुराशि की उत्पत्ति उस समय होती है जब विस्तृत भू–भाग पर वायुमण्डलीय दशाएं सामान्यतः स्थिर रहती हैं। जिससे पृथ्वी की सतह से वायु नमी को और तापमान के गुणों को ग्रहण करता है। वायुराशियां उत्पन्न होने के बाद स्थिर नहीं होती हैं वे सदैव गतिशील रहती हैं तथा अपने मार्ग में पड़ने वाले क्षेत्रों को भी अपने गुण व विशेषता के अनुसार प्रभावित करती हैं। वायुराशियों में परिवर्तन मंद गति से होती है जिस कारण से इनके पूर्वकालिक विशेषताओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस क्षेत्र में वायुराशियों की उत्पत्ति होती है उनको वायुराशियों का उद्‌गम क्षेत्र कहते हैं। इनकी उत्पत्ति के लिए कुछ प्रमुख दशाएं होनी चाहिए जो निम्न हैं–

- वृहद क्षेत्रफल पर एक समान दशाएं होनी चाहिए, उत्पत्ति क्षेत्र चाहे स्थलीय हो या जलीय अर्थात् उत्पत्ति क्षेत्र में समता हो जिससे उन क्षेत्रों में तापमान व आर्द्रता सम्बंधित समानता हो। यदि उत्पत्ति क्षेत्र में समता नहीं होगी तो उसमें आर्द्रता व तापमान में भिन्नता रहेगी।
- वायु का प्रवाह क्षैतिज होनी चाहिए तथा वायु अभिसरण न करे बल्कि अपसरण प्रकार की होनी चाहिए।
- वायु के धरातलीय विशेषताओं को ग्रहण करने हेतु वायुमण्डल को दीर्घकाल तक स्थिर होने की आवश्यकता होती है।

7.3.1 वायुराशियों का वर्गीकरण:- वायुराशियों के वर्गीकरण को लेकर विद्वानों में मतैक्यता का अभाव है। इसके वर्गीकरण का मुख्य दो आधार है–

i. तल की प्रकृति

ii. क्षेत्र की स्थिति

☞ पेटर्सन महोदय ने उत्पत्ति की स्थिति के आधार पर 5 भागों में बाँटा है–

i. उष्ण कटिबंधीय वायु राशि

ii. आर्कटिक वायुराशि

iii. ध्रुवीय वायुराशि

iv. भूमध्यरेखीय वायुराशि

v. अण्टार्कटिक वायुराशि

☞ बायर्स महोदय ने 3 प्रमुख भागों में बाँटा है–

i. उष्णकटिबंधीय वायुराशि

ii. ध्रुवीय वायुराशि

iii. आर्कटिक वायुराशि

☞ ट्रिवार्था महोदय ने वायुराशि के उत्पत्ति क्षेत्र के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया है–

i.ध्रुवीय वायुराशि (Polar Air Mass):- इसके लिए अंग्रेजी के P अक्षर का प्रयोग करते हैं।

ii. उष्णकटिबंधीय वायुराशि (Tropical Air Mass):- इसके लिए अंग्रेजी के T अक्षर का प्रयोग करते हैं।

ट्रिवार्था महोदय ने बताया कि आर्कटिक, अण्टार्कटिक और विषुवत रेखीय वायुराशियों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है बल्कि ये वायुराशियां ध्रुवीय और उष्णकटिबंधीय वायुराशि का मिला–जुला रूप है।

☞ वायुराशियों को उनकी उत्पत्ति तल की प्रकृति के आधार पर दो भागों में बांटते हैं चाहे वह ध्रुवीय वायुराशि हो अथवा उष्णकटिबंधीय वायुराशि, पुनः तल की प्रकृति के आधार पर दो उपवर्गों में विभाजित किया जाता है–

I. महाद्वीपीय (Continental):- इसके लिए C अक्षर का प्रयोग करते हैं।

II. महासागरीय (Maritime):- इसके लिए M अक्षर का प्रयोग करते हैं।

महाद्वीपीयवायुराशियों की उत्पत्ति धरातलीय सतह अर्थात् महाद्वीप पर होती हैं तथा महासागरीय वायुराशियों की उत्पत्ति जल तल अर्थात् महासागरीय सतह पर उत्पत्ति होती है। अतः वायुराशियों की प्रकृति धरातल की सतह का होना एक स्वभाविक गुण है। जैसे– महाद्वीपीय वायुराशियों का शुष्क होना जबकि महासागरीय वायुराशियों का आर्द्र व नमी से परिपूर्ण होना स्वभाविक गुण होता है।

अतः वायुराशियों को उनके जनन क्षेत्र और प्रकृति के आधार पर 4 भागों में बाँटा गया है–

1. महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि (cP)

2. महासागरीय ध्रुवीय वायुराशि (mP)

3. महाद्वीपीय उष्ण कटिबंधीय वायुराशि (cT)

4. महासागरीय उष्ण कटिबंधीय वायुराशि (mT)

वायुराशियों का परिवर्तन:- वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़ने के बाद उनके भौतिक गुणों में बदलाव हो जाता है। यह बदलाव वायुराशियों के स्वभाव के अनुरूप ही होती है। जैसे– नमी, ताप व गति। किसी क्षेत्र का मौसम किस प्रकार होगा इसका निर्धारण अधिकतम मात्रा में भौतिक परिवर्तन पर निर्भर होता है। वायुराशियों में ऐसे परिवर्तन दो रूपों में देखे जाते हैं–

1. उष्मागतिक परिवर्तन

2. गतिज परिवर्तन

- वर्गरान महोदय ने उष्मागतिक परिवर्तन के आधार पर निम्न दो वर्गीकरण दिया–

i.K वायुराशि–यह धरातल की अपेक्षा ठण्डी होती है।

ii. W वायुराशि–यह धरातल की अपेक्षा गर्म होती है।

- पेटार्सन महोदय ने गतिज परिवर्तन के आधार पर निम्न दो वर्गीकरण दिया–

i.S (Stabel)- वायुराशि की ऊपरी भाग में स्थिरता

ii. U (Unstabel)- वायुराशि की ऊपरी भाग में अस्थिरता

अतः ऊपरी विवरणों के आधार पर वायुराशियों को मुख्यतः कुल 16 भागों में बांटा जा सकता है–

7.4 चक्रवात एवं प्रतिचक्रवात

चक्रवात (Cyclones):- चक्रवात निम्न वायुदाब का केन्द्र होते हैं जिसको चारों ओर से क्रमशः केन्द्र से बाहर की ओर निम्न से उच्च वायुदाब के वृत्ताकार तलय से घिरी होती है जिसके कारण हवायें परिधि से केन्द्र की ओर चलती हैं जिसकी दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में वामावर्त अर्थात् घड़ी के सुई के विपरीत जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त अर्थात् घड़ी के सुई के अनुरूप घूमती है। चक्रवातों की आकृति प्रायः अण्डाकार, गोलाकार व V अक्षर के समान होती है। मौसमी घटनाओं एवं जलवायु के

दृष्टिकोण से ये चक्रवात काफी महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि ये जिस स्थान पर जाते हैं वहाँ वर्षा तापमान व वायुमण्डलीय गतिविधियों में बदलाव कर देते हैं। स्थिति के अनुसार दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. **शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात**

2. **उष्ण कटिबंधीय चक्रवात**

1. शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Temperate Cyclones):- इसका निर्माण केन्द्र में निम्न वायुदाब तथा बाहर की ओर अधिक वायुदाब से होता है। जिसका आकार अण्डाकार, वेजाकार व गोलाकार होता है। जिन कारणों से इनको गर्त (Depression), लो (Low) व ट्रफ (Through) आदि नामों से भी जानते हैं। इनका निर्माण प्रायः दो विपरीत गुणों अर्थात् ठण्डी व उष्णार्द्र हवाओं के मिलने से होता है। ये चक्रवात प्रायः मध्य अक्षांशों अर्थात् 35^0-65^0अक्षांशोंके मध्य दोनों गोलार्द्धों में मिलते हैं–

शीतोष्ण चक्रवात के प्रकार

इनकी उत्पत्ति का मुख्य कारण दो विपरीत वायुराशियों के आपसी टकराव के कारण ही होते हैं। अपवाद स्वरूप कुछ स्थानीय चक्रवात का कारण भिन्न होते हैं जबकि इनके जनन का मूल कारण वायुदाबों में अन्तर ही होता है। इनको मुख्य निम्न प्रकारों में बांटा जा सकता है–

i.गतिक चक्रवात

ii.तापीय चक्रवात

iii. उप चक्रवात

गतिक चक्रवातः- इसकी उत्पत्ति ध्रुवीय शीतोष्ण वायु तथा नम व उष्ण सागरीय वायुराशियों के मिलने से ही इस वाताग्र की उत्पत्ति होती है। यह शीतोष्ण चक्रवात का सबसे प्रमुख रूप है। इसका प्रभाव क्षेत्र अधिक होता है।

तापीय चक्रवातः- इस चक्रवात को हम्फ्रीज और ब्रण्ट महोदय ने अलग–अलग स्वरूपों में परिभाषित किया है– ब्रण्ट महोदय ने बताया कि शीतोष्ण कटिबंधों में गर्मियों के महीनों में महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में तापमान वृद्धि से न्यून दाब बन जाता है। जिससे बाह्य भागों से आन्तरिक भागों की ओर हवाये चलने लगती हैं जो चक्रवात के जनन में सहायक होती हैं।

हम्फ्रीज महोदय ने बताया कि यह सूर्यातप चक्रवात है। ठण्डी के समय जब उष्ण सागर चारों ओर से ठण्डे धरातलीय भाग व उच्च वायु भार से घिरे होते हैं तो ऐसे समय में सागरीय न्यून वायुभार

का क्षेत्र होता है और हवायें तेजी से स्थल से सागर की ओर जाती हैं। अतः यह चक्रवात ताप जनित है जिसका सीधा सम्बंध सूर्यातप से है।

उपचक्रवात:- इसकी उत्पत्ति का मूलकारण मुख्य चक्रवात के समाप्ती के समय उसके पीछे शीत वाताग्र के ठण्डी हवा के गर्म सागर के ऊपर चलने के कारण बनता है। यह कम समय के लिए होता है।

आकृति, विस्तार तथा गति

शीतोष्ध कटिबंधीय चक्रवात की आकृति वृत्ताकार, अर्द्धवृत्ताकार व अण्डाकार होता है, किनारों पर उच्च वायुदाब तथा केन्द्र में निम्न वायुदाब होता है। कभी–कभी इनकी आकृति V अक्षर की तरह होती है। वायुदाब का अन्तर 10-20 mb तथा कभी–कभी 35 mb तक हो जाता है। इस चक्रवात का विस्तार 1040-1920 किलोमीटर तक पाया जाता है। अधिकाधिक ये चक्रवात पश्चिम से पूर्व दिशा में चलते हैं, परन्तु कभी–कभी दिशा बदल जाती है। गर्मियों में औसत गति 32 किलोमीटर/घण्टा तथा सर्दियों में 48 किलोमीटर/घण्टा तक हो जाता है।

चक्रवात गतिविधियाँ:- शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात में बाहर की ओर उच्च वायुदाब तथा केन्द्र में निम्न वायुदाब होने के कारण हवाओं का प्रवाह उच्च से निम्न अर्थात् बाहर से अन्दर की ओर प्रवाहित होती है। किन्तु इन हवाओं का प्रवाह सीधे ने होकर कोरियालिस बल के प्रवाह व रगड़ के कारण समदाब रेखाओं $20\text{-}40^0$का कोण बनाती हुई काटती हैं जिससे इन हवाओं का उत्तरी गोलार्द्ध में वामावर्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त अर्थात् घड़ी की सुई के घूमने के दिशा में चलती हैं। हवाओं के परिधि से केन्द्र की ओर चलने से अभिसरण होता है। हवाओं का केन्द्र की ओर समूहन न होकर हवायें ऊपर उठकर फैल जाती हैं जिससे निम्न वायुदाब का केन्द्र बना रहता है। इन चक्रवातों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण दो विपरीत गुणों वाली हवाओं के मिलने से होता है। उष्ण कटिबंधीय या उपोष्ण कटिबंधीय हवाओं का अधिकांश जनन पश्चिमी हवाओं के रूप में होता है जबकि पोलर हवाएं ठण्डी व पूर्वी होती हैं। इन दोनों हवाओं के मिलने से उष्ण वाताग्र, उष्ण वृत्तांश तथा शीत वाताग्र का निर्माण होता है।

तापमान:- शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात के विभिन्न भागों में तापमान में अन्तर देखने को मिलता है। जहाँ चक्रवात के दक्षिणी क्षेत्रों में गर्म हवायें व अधिक तापमान मिलता है वहीं इसके विपरीत पूर्वी, उत्तर पूर्वी व पश्चिमी भागों में ठण्डी हवायें व कम तापमान पाया जाता है जिसमें सर्वाधिक न्यून तापमान पश्चिमी भाग का होता है। चक्रवात का निर्धारण वायुराशियों के गुण, मौसम तथा उसमें उपस्थित नमी की मात्रा पर आधारित होते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में समताप रेखाएं मुख्य रूप से उत्तर,

उत्तर–पूर्व से दक्षिण–पश्चिम दिशा में होती हैं। ग्रीष्मकाल में सामान्यतः इनका ताप औसत से कम तथा शीतकाल में औसत से अधिक होता है।

चक्रवातों की उत्पत्ति व मार्ग

इनकी उत्पत्ति दोनों गोलार्द्धों के मध्य तथा उच्च अक्षांशों में पाये जाते हैं, जहां ये पश्चिम से पूर्व दिशा में चलती हैं। इन चक्रवातों का निश्चित मार्ग न होने के कारण ही इनके गमन पथ को मेखलाओं में प्रदर्शित करते हैं। इनके गमन पथ को 'झंझा पथ' कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवात की उत्पत्ति के दो प्रमुख क्षेत्र हैं–

- उत्तरी अमेरिका के उत्तरी पूर्वी तटीय भाग के पास उत्पन्न होकर ये चक्रवात पछुआ हवाओं के साथ पूर्व दिशा में चलते हैं तथा यूरोप के मध्यवर्ती भाग के पास पहुंचने तक विलुप्त हो जाती है।
- एशिया के उत्तर–पूर्वी तथा पूर्वी तटीय भाग में उत्पन्न होकर उत्तर–पूर्व दिशा में घूमते हुए तथा अल्यूशियन एवं उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तटीय भाग तक जाते हैं, यहीं ये विलुप्त हो जाते हैं–

शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात सम्बंधित प्रमुख सिद्धान्त

शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात सम्बंधित प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

- सर्वप्रथम 1863 में फिट्जराय महोदय ने बताया कि चक्रवातों का उद्‌भव दो अलग–अलग प्रकार की वायुराशियों के मिलने से होता है।
- सन् 1881 में नैपियर शा तथा लैम्फर्ट ने बताया कि चक्रवातों की उत्पत्ति अलग–अलग प्रकार की हवाओं का केन्द्र की ओर प्रवाह से होता है। यह सिद्धान्त गतिक सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।
- संवहन सिद्धान्त
- भवर सिद्धान्त
- बर्कनीज महोदय ने 1914 में तथा 1918 में अपने ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त को प्रतिपादित किया मौजूदा समय में कुछ हद तक इस सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है।

चक्रवात की उत्पत्ति अचानक व तीव्र होती है जबकि यह क्रमिक घटना होती है। अतः चक्रवात की उत्पत्ति से लेकर समाप्ति तक के समय को चक्रवात का 'जीवन चक्र' कहा जाता है। यह 6 क्रमबद्ध अवस्थाओं में सम्पन्न होती है–

- प्रथम अवस्था– इसमें गर्म तथा ठण्डी हवायें एक दूसरे के समानान्तर चलती हैं जिससे स्थायी वाताग्र की स्थिति बनती है।
- दूसरी अवस्था– इसमें हवाएं एक दूसरे के क्षेत्र में चली जाती हैं जिससे लहरनुमा वाताग्र का निर्माण होता है।
- तीसरी अवस्था– इसमें चक्रवात का रूप प्राप्त हो जाता है जिससे उष्ण तथा शीत वाताग्रों का पूर्ण विकास हो जाता है।
- चौथी अवस्था– इसमें शीत वाताग्र के तीव्रता से चलने के कारण उष्ण वृत्तांश का संकुचन प्रारम्भ होने लगता है।
- पाँचवी अवस्था– इसमें चक्रवात का अवसान प्रारम्भ हो जाता है।
- छठी एवं अंतिम अवस्था– उष्ण वृत्तांश के समाप्ती होने के कारण चक्रवात की पूर्णरूप में समाप्ती हो जाती है।

2. उष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Tropical Cyclone):- इस चक्रवात की उत्पत्ति का प्रमुख क्षेत्र कर्क व मकर रेखा के मध्य का है। इस चक्रवात में विभिन्नता देखने को मिलता है। इसके कई रूप होते हैं। जिनकी गति, आकार तथा मौसम सम्बंधित तत्वों में पर्याप्त अन्तर होने हैं। निम्न अक्षांशों के मौसम व वर्षा पर पर्याप्त प्रभाव होता है। इन चक्रवातों के बारे में अध्ययनों के पर्याप्तता का अभाव है जो इनकी सटीक व निश्चित व्याख्या कर सके ऐसे में पूर्वकालिक कुछ लक्षणों के आधार पर इनका पहचान किया जाता है–

- उष्णकटिबंधीय चक्रवातों के आकार में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है, सामान्य रूप में जहां इनका व्यास 80-300 किलोमीटर तक होते हैं वहीं कभी–कभी इनका व्यास घट कर 50 किलीमीटर तक आ जाता है।
- इनकी गतियों में भी पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है जहां कमजोर चक्रवात 32 किलोमीटर/घण्टा की चाल से गति करते हैं, वहीं हरिकेन 120 किलोमीटर/घण्टा की रफ्तार से चलता है जबकि सुपर चक्रवात की गति 200 किलोमीटर/घण्टा की रफ्तार से भी अधिक की गति से चलती है।
- ये चक्रवात सिर्फ जलीय क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं और स्थल के सम्पर्क में आते ही धीमा हो जाते हैं। यही कारण है कि ये चक्रवात समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों को ही प्रभावित करते हैं महाद्वीप के आन्तरिक भागों में जाते–जाते समाप्त हो जाते हैं।
- चक्रवात के केन्द्र में निम्न वायुदाब व समदाब रेखायें वृत्ताकार होती हैं लेकिन इनकी संख्याएं कम होती हैं जिससे तीव्रता अधिक होती है।

- उष्ण कटिबंधीय चक्रवात के प्रत्येक भाग में वर्षा होती है। इसमें वर्षा की कोशिकाओं का डिविजन नही होता है।
- उष्णकटिबंधीय चक्रवात कभी–कभी स्थाई हो जाती है तथा एक ही स्थान पर कई दिनों तक स्थाई हो जाती है तथा अधिक मात्रा में वर्षा करती है।
- उष्णकटिबंधीय चक्रवात शीतोष्ण चक्रवातों की तुलना में कम आते हैं तथा इनकी उत्पत्ति ग्रीष्मकाल में होती है। ये शीत काल में नही उत्पन्न हो पाते हैं।
- अपनी तीव्र गति तथा विकराल स्वरूप के कारण ये काफी विनाशकारी होते हैं। ये एक जगह रुक कर अधिक वर्षा कर देते हैं जिससे बाढ़ आ जाती है और लोगों को जीवन प्रभावित होता है। उदाहरणस्वरूप गुजरात तट पर आये विपरजॉय हाल ही में भारत की अरब सागर में आये चक्रवात ने पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशों को प्रभावित किया।

उष्ण कटिबंधीय चक्रवात के प्रकार

उष्ण कटिबंधीय चक्रवातों के मौसम, आकार तथा सामान्य स्वभाव में अन्तर अधिक होने की वजह से इनका स्पष्ट विभाजन कर पाना सम्भव नहीं है। वेग के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने इन्हें 4 भागों में बांटा है–

i. उष्णकटिबंधीय विक्षोभ

ii. उष्णकटिबंधीय अवदाब

iii. उष्णकटिबंधीय तूफान

iv. हरिकेन या टाइफून

जबकि उष्णकटिबंधीय चक्रवात को तीव्रता के आधार पर दो प्रमुख 4 उप प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

1. क्षीण चक्रवात

   i. उष्ण कटिबंधीय अवदाब

   ii. उष्ण कटिबंधीय विक्षोभ

2. प्रचण्ड चक्रवात

   i. हरिकेन या टाइफून

ii. टारनेडो

उष्ण कटिबंधीय चक्रवात की उत्पत्ति की दशाएं एवं मौसम

उष्णकटिबंधीय चक्रवातों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्यता का अभाव पाया जाता है। वाताग्र सिद्धान्त के समर्थक विद्वानों के मतानुसार चक्रवात की उत्पत्ति वाताग्र से होती है। विषुवत रेखीय क्षेत्रों में भी ये वायुराशियों के विरोधी स्वभाव वाली अर्थात् महासागरीय व महाद्वीपीय के मिलने से हो जाती है। प्रारम्भ में अनेक वाताग्र होते हैं किन्तु आगे चलकर समाप्त हो जाते हैं परन्तु इस मत को मान्यता नहीं प्राप्त है। क्योंकि उष्णकटिबंधीय चक्रवात की उत्पत्ति हेतु वाताग्र की नहीं बल्कि अन्य तथ्यों को भी ध्यान में रखना होता है।

- इस चक्रवात की उत्पत्ति ग्रीष्मकाल में होता है जिसके उत्पत्ति हेतु तापमान 27 ^{o}C से अधिक आवश्यक होता है।
- इनका विकास केवल गर्म महासागरों के ऊपरी सतहों पर होता है।
- भूमध्य रेखा के आस–पास इनकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है क्योंकि कोरियालिस बल का अभाव होता है। ग्रीष्म ऋतु में अन्तरा उष्ण कटिबंधीय अभिसरण के साथ होता है जो 5^{0}-30^{o}तक खिसक जाते हैं, विषुवत रेखा के उत्तर में पृथ्वी के अक्षीय गति व कोरियालिस बल के कारण ही हवाओं की व्यवस्था चक्रीय हो जाती है।

उष्णकटिबंधीय चक्रवात का जीवन चक्र लगभग 4 से 5 दिन तक होता है। इसके आने से मौसमी परिवर्तन अचानक ही हो जाता है। चक्रवात की उत्पत्ति तो महासागर में होती है किन्तु उत्पत्ति के उपरान्त चक्रवात तीव्र गति से स्थल की ओर चलती है तट पर पहुंचते–पहुंचते प्रचण्ड वेग धारण कर लेती है। केन्द्र में वायुभार अधिक होने के कारण हवाएं परिभ्रमित विन्यास में हवाएं तीव्र गति से आगे बढ़ती हैं। वायुदाब निरंतर कम होता जाता है एवं धीरे–धीरे प्रचण्ड वेग से वायु के झोके आते हैं आकाश में काले कपासी वर्षीले मेघ छा जाती है और विद्युत तथा गर्जन के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगती है। यद्यपि प्रचण्ड वेग की हवाएं केन्द्र की ओर अपसरित होती हैं किन्तु यह चक्रवात केन्द्र अथवा आँख से पहले ही ऊपर उठ जाती है। ये प्रक्रिया कपासी मेघों को ऊपर उठा देती है तथा ये मेघ केन्द्र को छोड़कर चारों ओर फैले होते हैं।

उत्तरी गोलार्द्ध में हवाएं केन्द्र से कुछ दाहिने ओर की गति अधिक होती है। इसी कारण चक्रवात धीरे–धीरे दाहिनी ओर वक्राकार मुड़ती जाती है। उष्ण कटिबंधीय चक्रवात में मुख्यता निम्न संरचना पायी जाती है–

- चक्रवात चक्षु (Eye of Cyclone)

- आँख की दिवार (Eyewall)
- सर्पिल पट्टिका (Spiral Bonds)
- वलयाकार मेखला (Annular Belt)
- वाह्य संवहनीय मेखला (Outer Convective Belt)

7.5आर्द्रता (Humidity):- वायुमण्डल में उपस्थित जल की मात्रा को आर्द्रता कहते हैं। वायुमण्डल में आर्द्रता अनेकों माध्यम से पहुंचती है। वायुमण्डलीय आर्द्रता की मात्रा के आधार पर ही वर्षा, तूफान, चक्रवात तथा वर्षा के प्रतिरूप आदि निर्धारित होते हैं अर्थात् आर्द्रता जलवायु विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है।

वायुमण्डलीय आर्द्रता का सम्बंध वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प से है। प्रत्येक पदार्थ की भाँति जल की भी तीन अवस्थाएं पाई जाती हैं– ठोस, द्रव व गैस। जल को हम ठोस रूप में बर्फ, तरल रूप में जल तथा गैसीय रूप में जलवाष्प के रूप में पाते हैं। वायु में अन्य गैसों के साथ विद्यमान जलवाष्प की भी उपलब्धता होती है जिसे वायुमण्डलीय आर्द्रता कहते हैं। वायुमण्डलीय आर्द्रता की मात्रा स्थान व ऊँचाई के अनुरूप बदलती रहती है, जहां वायुमण्डल में उपस्थित कुल जलवाष्प की मात्रा के लगभग 50% आर्द्रता मात्रा 2 किलोमीटर की ऊँचाई तक ही विद्यमान होते हैं। जलवाष्प के स्रोत के रूप में देखा जाये तो वर्षा की मात्रा, स्वरूप, पार्थिव विकिरण के द्वारा निष्कासित ऊष्मा की मात्रा, सतह का तापमान, वायुमण्डल की गुप्त ऊष्मा, वायुराशियों की स्थिरता व अस्थिरता आदि सागरीय विस्तार की अधिकता वायु को जलवाष्प के पोषण का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त नदियों, झीलो, तालाबों, नमभूमि, पेड़–पौधों, आदि से कुछ मात्रा में वायुमण्डल को जलवाष्प को निरन्तर प्राप्ति होती है।

वायुमण्डल में जल की तीन अवस्थाओं में पाया जाता है। जल के जलवाष्प में परिवर्तन की प्रक्रिया को वाष्पीकरण कहते हैं। वायु की तुलना में जल के सतह का तापमान अधिक होने पर वाष्पीकरण की दर अधिक होती है, वायु के तापमान की अधिकता से ही नमी धारण की क्षमता में वृद्धि होती है। जबकि तापमान की कमी से नमी धारण क्षमता में भी ह्रास होता है। वायु के अवरोहण, आरोहण, क्षैतिज स्थानान्तरण, जल से स्थल व स्थल से जल पर प्रवाह से वायु में आर्द्रता की मात्रा में कमी या वृद्धि होती है। किसी निश्चित ताप पर जब किसी वायु उसकी नमी धारण करने की क्षमतानुसार उसमें उपस्थित हो तो उस वायु को संतृप्त वायु कहते हैं। यदि वायु असंतृप्त हो तो उसमें नमी की मात्रा में वृद्धि कर अथवा तापमान को कम करके उसे संतृप्त वायु में बदला जा सकता है। जिस तापमान पर कोई वायु संतृप्त होती है उसे वायु का ओसांक बिन्दु कहते हैं।

आर्द्रता सामर्थ्य:- किसी निश्चित ताप पर वायु के निश्चित आयतन पर अधिकतम आर्द्रता धारण की क्षमता को ही आर्द्रता सामर्थ्य कहते हैं। वायुमण्डलीय आर्द्रता को प्रति घन फुट अथवा प्रति वर्ग सेमी में

मापते हैं। घन फुट को ग्रेन में तथा सेमी को ग्राम में व्यक्त करते हैं। वायु के तापमान व नमी में सकारात्मक सम्बंध होता है अर्थात् एक के बढ़ने से दूसरा भी बढ़ता है तथा एक से घटने से दूसरे की भी क्षमता घटती है।

विषुवत रेखीय क्षेत्रों में तापमान व जल की अधिकता के कारण वाष्पोत्सर्जन की अधिकता से वायुमण्डलीय नमी अधिक होती है इसके विपरीत ध्रुवीय क्षेत्रों तापमान की कमी के कारण वायुमण्डलीय नमी कम होती है, जबकि मरुस्थलीय क्षेत्रों में तापमान की अधिकता के बावजूद जलाभाव के कारण न्यून नमी होती है। आर्द्रता का मापन निम्न तारीकों से किया जा सकता है–

i. निरपेक्ष आर्द्रता

ii. विशिष्ट आर्द्रता

iii. सापेक्ष आर्द्रता

iv. मिश्रित अनुपात

i.निरपेक्ष आर्द्रता (Absolute Humidity):- किसी निश्चित आयतन की वायु में जलवाष्प की वास्तविक मात्रा को प्रकट करने की विधि को 'निरपेक्ष आर्द्रता' कहते हैं। वायु की निश्चित मात्रा में उपस्थित जलवाष्प की मात्रा को निरपेक्ष आर्द्रता कहते हैं। आर्द्रता का आयतन की इकाई घन फुट अथवा घन मीटर हो सकती है। इस प्रकार निरपेक्ष आर्द्रता का मापन ग्रेन घन फुट अथवा ग्राम घन मीटर में व्यक्त किया जाता है। आर्द्रता को आयतन में व्यक्त किया जाता है। इसलिए वायु के संकुचन व विस्तार का भी प्रभाव पड़ता रहता है।

ii. विशिष्ट आर्द्रता (Specific Humidity):- यह विधि भी वायु में उपस्थित आर्द्रता को व्यक्त करने की है, वायु के प्रति इकाई संहति तथा उसमें उपस्थित जलवाष्प के अनुपात को विशिष्ट आर्द्रता कहते हैं। इस विधि द्वारा प्रति किलोग्राम आर्द्र वायु में जलवाष्प की वास्तविक मात्रा को ग्राम में व्यक्त किया जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि एक किलोग्राम वायु में जलवाष्प की मात्रा 20 ग्राम है, तो उसकी विशिष्ट आर्द्रता 20 ग्राम प्रति किलोग्राम होगी। वायु की विशिष्ट आर्द्रता उसके वाष्पदाब का समानुपाती तथा वायुदाब का विलोमानुपाती होती है। वायु के आयतन के प्रसरण तथा संकुचन का यदि जलवाष्प की मात्रा स्थिर रहती है तो विशिष्ट आर्द्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

सम्पूर्ण वायुमण्डल में विशिष्ट आर्द्रता सर्वाधिक विषुवत रेखीय क्षेत्रों में होती है जबकि सबसे कम आर्द्रता ध्रुवीय क्षेत्रों में होती है। विषुवत रेखीय क्षेत्रों में तापमान की अधिकता व जल की अधिकता के

कारण नमी अधिक होती है जबकि ध्रुवों पर न्यूनतम ताप होने से उनकी आर्द्रता कम होती है। अतः विशिष्ट आर्द्रता का अंकन सर्वाधिक ग्रीष्म ऋतु में व न्यूनतम शीत ऋतु में होती है।

ट्रेवार्था के अनुसार:- विशिष्ट आर्द्रता का दैनिक चक्र अधिक जटिल है, क्योंकि जहाँ एक ओर तो सागर के ऊपर यह तापमान परिवर्तन का अनुसरण करती है, वहीं दूसरी ओर स्थल खण्डों पर चौबीस घण्टे में विशिष्ट आर्द्रता के दो अधिकतम तथा दो न्यूनतम मान अंकित किए जाते हैं।

iii. सापेक्ष आर्द्रता (Relative Humidity) :- वायुमण्डलीय आर्द्रता को व्यक्त करने का सबसे उपयुक्त तरीका उसकी सापेक्षिक आर्द्रता है। किसी निश्चित तापमान पर निश्चित आयतन वाली वायु की नमी धारण करने की क्षमता तथा उसमें मौजूद आर्द्रता की वास्तविक मात्रा (निरपेक्ष आर्द्रता) के अनुपात को ही सापेक्षिक आर्द्रता कहते हैं। किसी निश्चित ताप और दाब पर दिए गए आयतन की वायु के वास्तविक वाष्पदाब तथा संतृप्त वाष्पदाब के अनुपात को सापेक्ष आर्द्रता कहेंगे। इसे निम्नलिखित सूत्र की सहायता से निकाल सकते हैं–

सापेक्ष आर्द्रता = वायु में उपस्थित जलवाष्प की मात्रा/वायु को संतृप्त करने के लिए आवश्यक जलवाष्प की मात्रा $\times 100$

= वास्तविक वाष्पदाब/संतृप्त वाष्पदाब $\times 100$

सापेक्ष आर्द्रता सदैव प्रतिशत में निकाली जाती है अतः 100 से गुणा करके परिणाम को प्रतिशत में लिखा जाता है इस प्रकार यदि एक किलोग्राम वायु में किसी निश्चित वायुदाब एवं ताप पर 20 ग्राम नमी धारण की क्षमता है, किन्तु उसमें जलवाष्प की वास्तविक मात्रा केवल 10 ग्राम है तो ऐसी स्थिति में वायु की सापेक्ष आर्द्रता 50 प्रतिशत $(10/20 \times 100 = 50)$ होगा। यदि वायु के तापमान में वृद्धि कर दी जाये तथा जलवाष्प की मात्रा स्थिर रहे तो ऐसे में सापेक्ष आर्द्रता कम हो जाती है। इसके विपरीत स्थिर आर्द्रता पर तापमान को कम कर दिया जाये तो सापेक्ष आर्द्रता में वृद्धि हो जाएगी। तापमान में वृद्धि की दशा में वायु में नमी, धारण की क्षमता में वृद्धि जबकि तापमान में कमी से नमी धारण की क्षमता में कमी हो जाती है। जिस समय वायु में आर्द्रता सामर्थ्य 100% हो जाती है उसे संतृप्त वायु कहा जाता है। सापेक्ष आर्द्रता के द्वारा वाष्पीकरण की दर तथा उसकी मात्रा निर्धारित होती है। जलवायु के दृष्टि से सापेक्षिक आर्द्रता महत्वपूर्ण घटक होते हैं।

सापेक्षिक आर्द्रता का प्रादेशिक वितरण:- धरातल पर भूमध्य रेखीय क्षेत्रों में सर्वाधिक सापेक्षिक आर्द्रता पायी जाती है। इन क्षेत्रों के उत्तर तथा दक्षिण उपोष्ण कटिबंधीय उच्च वायुदाब पेटी की ओर सापेक्ष आर्द्रता धीरे–धीरे कम होती है। कर्क व मकर रेखाओं के मध्य सापेक्षिक आर्द्रता न्यूनतम होती है।

भूमध्य रेखीय क्षेत्रों से ध्रुवों की ओर वायु में जलवाष्प की मात्रा घटती जाती है, जबकि तापमान में कमी होने के कारण उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों से ध्रुवों की ओर सापेक्ष आर्द्रता बढ़ती जाती है।

सापेक्षिक आर्द्रता का मौसमी एवं दैनिक वितरण:- भूमध्य रेखा के 30^{o}उत्तर तथा दक्षिण के क्षेत्रों में प्रत्येक अक्षांश रेखा पर औसत सापेक्ष आर्द्रता शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में अधिक होती है जबकि उच्च अक्षांशों में शीत ऋतु में सापेक्ष आर्द्रता अधिक होती है। इसका मुख्य कारण महाद्वीपों का शीतकाल में अत्यधिक ठण्डा होना माना जाता है। महाद्वीपों के ऊपर सापेक्ष आर्द्रता पर जलवाष्प की वास्तविक मात्रा की अपेक्षा तापमान का अधिक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि स्थल खण्डों पर ग्रीष्म ऋतु में न्यूनतम तथा शीत ऋतु में उच्चतम सापेक्ष आर्द्रता अंकित की जाती है। इसके विपरीत मानसून तुल्य जलवायु वाले प्रदेशों में सापेक्ष आर्द्रता ग्रीष्म ऋतु में जबकि समुद्र में वाष्प भरी हवायें स्थल की ओर चलती हैं, शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक रहती हैं। सापेक्षिक आर्द्रता में दैनिक बदलाव भी उल्लेखनीय है। सुबह के समय जब तापमान कम रहता है तो सापेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है। किन्तु दोपहर के समय जब तापमान ऊँचा होता है तो उस समय सापेक्षिक आर्द्रता कम पायी जाती है।

iv. मिश्रित आर्द्रता अनुपात:- शुष्क वायु के निश्चित इकाई भार में उपस्थित वाष्प भार के अनुपात को मिश्रण अनुपात कहते हैं। विशिष्ट आर्द्रता तथा मिश्रित आर्द्रता अनुपात में नाममात्र का अन्तर पाया जाता है। इसलिए ये दोनों प्रायः समानार्थी रूपों में उपयोग किए जाते हैं। विशिष्ट आर्द्रता की भाँति इसे भी प्रति किलोग्राम शुष्क वायु में उपस्थित जलवाष्प को ग्राम में व्यक्त किया जाता है।

7.6 वर्षा:- वायुमण्डलीय गर्म व आर्द्र वायु के ऊपर उठने के दौरान संतृप्त होने व ओसांक की प्राप्ति के बाद तरल रूप में जल वर्षा व ठोस रूप में हिमपात के रूप में नीचे गिरने को ही वर्षण कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहे तो वायुमण्डलीय आर्द्रता के तरल या ठोस रूप में निक्षेप को वर्षण कहते हैं। गर्म एवं नम वायु के ऊपर उठने तथा एडियाबेटिक दर से ठण्डा होने के बाद ओसांक की स्थिति के प्राप्त होने के बाद वर्षा के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होती है।

प्रायः वायु के आरोहण हेतु कई कारक उत्तरदायी होते हैं। उदाहरण स्वरूप यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा वायु का आरोहण पर्वतीय अवरोध और वाताग्री प्रक्रिया के कारण होता है। तापीय जनित प्रक्रिया द्वारा वायु का आरोहण विकिरण द्वारा ऊष्मन तथा उससे उत्पन्न संवहन एवं विक्षोभ द्वारा होता है।

वर्षा की प्रमुख विधि व प्रक्रियाएं गर्म एवं नम वायु के एडियाबेटिक विधि से शीतलन, नम वायु के संघनन के द्वारा जलवाष्प का जल बूंद तथा हिम में बदलकर अन्ततः धरातल पर विभिन्न रूपों में गिरने की प्रक्रिया है।

वर्षा के लिए सर्वाधिक उपयोगी व आवश्यक तत्वों में असंख्य आर्द्रता ग्राही नाभिक व अस्थायी उष्णार्द्र वायु का होना आवश्यक होता है। गर्म व आर्द्र वायु ऊपर उठने के साथ ठण्डी होने के साथ संतृप्त होती जाती है तथा कभी–कभी संघनन के बाद बादलों के निर्माण के बावजूद भी वर्षा नहीं हो पाती है इसका तात्पर्य यह है कि वर्षा के लिए वायु का अत्यधिक संतृप्त होने की आवश्यकता होती है। वायुमण्डलीय वायु की सापेक्षिक आर्द्रता जल 100% हो जाती है तो वायु के ठण्डी हो जाने से संघनन प्रारम्भ होता है, परन्तु सबसे पहले बड़े आर्द्रता ग्राही नाभिक के चारों ओर संघनन प्रारम्भ होता है। इस प्रक्रिया के तहत बनी बूंदों को मेघ सीकर कहते हैं। इनके अधिक मात्रा में समूहन से बादल का निर्माण होता है। मेघ सीकर आसानी से वायु में लटके रहते हैं। ये मेघ सीकर तब तक वर्षा नहीं कर पाते है जब तक कि इन्हें वायुमण्डल रोकने में समर्थ होता है, जब वायुमण्डल नहीं रोक पाता है तो यही वर्षा का रूप धारण कर लेते हैं। यही कारण है कि कभी–कभी बादल निर्माण के बावजूद भी वर्षा नहीं हो पाती है अतः ऐसे में मेघ सीकरों के निर्माण में दो प्रक्रिया महत्वूपर्ण होती है–

- यदि उष्णार्द्र वायु इतनी अधिक ऊँचाई पर पहुंच जाये कि संघनन हिमांक के नीचे है तो कुछ जल सीकर तथा कुछ हिम सीकर का निर्माण हो जाता है। दोनों के वाष्प दाब में अन्तर के कारण जब सीकर वाष्प में बदल कर हिम सीकर से चिपक जाते हैं जिससे हिम सीकर का भार बढ़ जाता है और ताप अधिक होने पर बर्फ की गुटिका/सीकर नीचे जल वर्षा के रूप में होती है किन्तु तापमान कम होने पर ये ठोस बर्फ के रूप में भी गिरते हैं।
- बदलों में मेघ सीकर अलग–अलग आकार के होते हैं। ये मेघ सीकर अपने आकार में विभिन्नता के कारण विभिन्न गति से गिरकर आपस में टकराते रहते हैं जिससे बड़े मेघ सीकरों का आकार बढ़ता जाता है और जल सीकर का निर्माण होता है जब ये इतने बड़े हो जाते है कि ऊपर उठती वायु इनका भार सहने में असमर्थ हो जाये तो जल वर्षा होती है।

7.6.1 वर्षा के प्रकार (Types of Rainfall):- वर्षा के लिए वायु का आरोहण तथा वायु में पर्याप्त आर्द्रता के साथ–साथ संघनन की प्रक्रिया आवश्यक है बिना इन प्रक्रियाओं के वर्षा असम्भव होती है, वायु के आरोहण तीन कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है–

- तापमान की अधिकता से वायु गर्म होकर ऊपर उठती है क्योंकि गर्म वायु हल्की हो जाती है।
- प्रवाहित वायु के मार्ग अवरोध आ जाये जैसे– पर्वत, पठार आदि वायु का आरोहण हो जाता है।
- किसी चक्रवात वाताग्र के सहारे वायु का आरोहण होता है।

इन्हीं कारणों से वायु का आरोहण होता है अतः वर्षा के लिए यही कारक जिम्मेदार है इन्हीं के आधार पर वर्षा को मुख्य तीन प्रकारों में विभाजित किया जाता है–

1. संवहनीय वर्षा

2. पर्वतीय वर्षा

3. चक्रवातीय वर्षा

1. संवहनीय वर्षा (Convectional Rainfall):- संवहनीय धाराओं के कारण होने वाली वर्षा को ही संवहनीय वृष्टि की संज्ञा दी जाती है। धरातल के अत्यधिक ऊष्मन के कारण धरातल के समीप की वायु गर्म होकर हल्की हो जाती है जिससे ऊपर उठना प्रारम्भ कर देती है। तब ऊपर उठती वायु अर्थात् आरोहण करती वायु पुंज शुष्क रुद्धोष्म ताप ह्रास दर से ठण्डी होती है। जब आरोहण करती वायु संघनन तल के ऊपर जाती है तो वायु में उपस्थित जलवाष्प का संघनन होने लगता है। संघनन से मुक्त गुप्त ऊष्मा वायु को प्राप्त हो जाती है। गुप्त ऊष्मा की प्राप्ति से वायु का आरोहण संघनन तल के पश्चात् निरन्तर होता रहता है वायु के अधिक आरोहण से मेघों की मोटाई भी अधिक होती है।

स्वंहनीय वर्षा धरातलीय ऊष्मन तथा वायु में निहित जलवाष्प की मात्रा पर निर्भर होती है। ग्रीष्म काल में सूर्यातप की अधिकता के कारण ऊष्मन अधिक होता है। जिससे वायु का आरोहण अधिक ऊँचाई तक होता है। जिसके परिणाम स्वरूप वायुमण्डल में हजारों मीटर मोटी कपासी वर्षी बादल छा जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि संवहनीय वर्षा धरातलीय तापमान में वृद्धि से होता है फलस्वरूप ग्रीष्म ऋतु में तापमान की अधिकता के कारण अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं। इसकी प्रमुख विशेषता अल्पकालीन व तीव्र वर्षा होती है। वर्षा उपरान्त मौसम साफ व आकाश स्वच्छ हो जाते हैं।

2. पर्वतीय वर्षा (Orographic Rainfall):- पर्वतीय अवरोध के कारण यह वर्षा होती है इसलिए इसे पर्वतीय वर्षा कहते हैं। जब धरातलीय वायुमण्डल की नम हवायें अभिसरण पथ में पहाड़ियों से टकराकर आरोहित होती है तब ऐसी स्थिति में केवल कुछ वायु ही ऊपर उठती है, जिन हवाओं में संवहनीय अस्थायित्व पाया जाता है वही ऊपर उठती है इसके विपरीत जिन हवाओं में स्थायित्व पाया जाता है वे पर्वतीय अवरोध के कारण थोड़ी ऊँचाई तक ही ऊपर उठ पाती हैं। जिससे ये वर्षा हेतु सहायक नहीं होती हैं। किन्तु संवहनीय अस्थायित्व वाली हवायें जब ऊपर उठती हैं तो इनका शीतलन रूदोष्म दर से होता है। संघनन तल पर संघनन के दौरान गुप्त ऊष्मा की प्राप्ति होती है। इससे हवायें निरन्तर ऊपर उठती रहती हैं। इसके बाद आरोहित वायु का शीतलन आर्द्र रूदोष्म दर से होता है। इस प्रक्रिया से कपासी वर्षी मेंघ काफी ऊँचाई पर छा जाते हैं जिससे तीव्र व अधिक वर्षा की प्राप्ति होती है। पर्वतों की ढाल पर तो एक निश्चित ऊँचाई तक वर्षा में वृद्धि तो होती है किन्तु कुछ ऊँचाई के उपरान्त वर्षा में कमी देखने को मिलती है। इसका प्रमुख कारण है कि वायु में विद्यमान नमी धीरे–धीरे समाप्त हाने लगती है तथा पर्वतीय ढलान के शीर्ष पर पहुंचते–पहुंचते वायु की नमी समाप्त हो जाती है। जिस कारण से वर्षा नहीं हो पाती है। पर्वतों के विमुख ढाल पर वर्षा की मात्रा अचानक कम हो जाती है। पर्वतों को पार करके वायु जब अवरोहण होता है तब वायु का

तापमान रूदोष्म दर से बढ़ने लगता है। जिस कारण हवायें गर्म एवं शुष्क होती हैं। जिससे वृष्टि क्षमता समाप्त हो जाती है।

3. चक्रवाती (Cyclonic Rainfall):- जब दो विपरीत स्वभाव वाली हवाएं अलग–अलग दिशाओं से आकर मिलती हैं तो वाताग्र का निर्माण होता है। ऐसी स्थिति में गर्म हवाएं ऊपर उठ जाती हैं तथा ठण्डी हवाएं नीचे ही रह जाती हैं जिससे मोटी और विशाल क्षेत्र में फैली वायु राशि का आरोहण वाताग्र के सहारे होता है तब इसके द्वारा जो वर्षा होती है उसे वाताग्री वर्षा कहते हैं। वायु के आरोहण से गर्म वायु राशि में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। वायुमण्डल में कपासी मेघ छा जाते हैं जिनसे वर्षा होती है।

जब वायु का आरोहण होता है तो ऊपर उठती वायु सामान्य ताप ह्रास दर से ठण्डी होती रहती है यह प्रक्रिया जितना तीव्र होगी उस पर वर्षा उती अधिक तीव्रता से होगी जबकि यदि प्रक्रिया मंद होगी तो वर्षा भी मंद गति से होगी अर्थात फुहारे व हल्की वर्षा के रूप में।

उष्ण वाताग्र से जब वायु का आरोहण होता है तो इनसे निर्मित मेघों से वृष्टि फुहार के रूप में विस्तृत क्षेत्र में अधिक समय तक होती है। जबकि यदि वायु का आरोहण शीत वाताग्र के सहारे होता है तो इनसे निर्मित मेघों से वृष्टि, बिजली की चमक, गरज के साथ अल्पकालिक व मूसलाधार होती है। यह वर्षा उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में शीतकाल में होती है। यूरोप, अमेरिका व भारत में शीतकाल में तटवर्ती क्षेत्रों में चक्रवातीय वर्षा अल्पकालिक एवं मूसलाधार होती है।

7.7 वर्षा का वितरण:- वर्षा का सम्बंध तापमान तथा आर्द्रता से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है। धरातल पर वर्षा का एक समान वितरण नहीं पाया जाता है। वैश्विक स्तर पर वर्षा के वितरण को यदि देखा जाये तो औसत 97 सेन्टीमीटर है किन्तु अत्यधिक असमानता के साथ कहीं–कहीं 250 सेमी. वर्षा होती है तो कोई–कोई क्षेत्र वर्षों तक सूखा प्रभावित रह जाते हैं। धरातलीय स्वभाव, वनस्पतिक आवरण, जल–थल वितरण, हिमावरण आदि कारणों से वर्षा के धरातलीय प्रतिरूप में भिन्नता परिलक्षित होती है जिससे वर्षा का वितरण भी जटिल है।

वर्षा के लिए जहां नम वायु का आरोहण होना आवश्यक है वहीं कई अनेक अन्य कारक भी वर्षा हेतु उत्तरदायी होते हैं। जैसे वायुदाब पेटियों में बदलाव व खिसकाव, जल–थल का असमान वितरण, पवन परिसंचरण पर्वतीय तथा पठार अवरोहण आदि का पर्याप्त प्रभाव वर्षा को प्रभावित करता है। आज के समय में विश्व स्तर पर जो वर्षा का धरातलीय प्रतिरूप है उसके आधार पर वर्षा के वितरण के कारणों के विषय में अनुमान लगाया जाता है कि स्थलीय समुद्री तथा वायुमण्डली अनेक कारक हैं जिनके द्वारा वर्षा वितरण अत्यन्त जटिल हो गया है जिसका विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

वर्षा के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक:- वर्षा के वितरण को प्रभावित करने में अक्षांश, पर्वत पठार की स्थिति, जल स्थल का असमान वितरण स्थल स्वरूप, पर्वतीय अवरोध आदि वर्षा के धरातलीय वितरण को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि धरातल पर वर्षा का असमान वितरण है।

- अक्षांश
- स्थल तथा जल का असमान वितरण
- पर्वतीय अवरोध

वर्षण का कटिबंधीय वितरण:- वायुदाब तथा पवन का प्रभाव वर्षा की प्रकृति, संरचना एवं वितरण पर पड़ता है। धरातल पर पवन पेटियाँ व वायुदाब पाये जाते हैं। जिनका अनुसरण वर्षा द्वारा किया जाता है। इन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण धरातल को 6 वर्षा पेटियों में विभाजित किया गया है–

1. विषुवत रेखीय अधिकतम वर्षा की पेटी
2. सन्मार्गी पवनों की वर्षा वाली पेटी
3. उपोष्ण कटिबंधीय न्यून वर्षा की पेटी
4. भूमध्य सागरीय वर्षा की पेटी
5. मध्य अक्षांशीय अधिक वर्षा की पेटी
6. ध्रुवीय निम्न वर्षा पेटी

7.8सारांश:- आपने इस अध्याय में वायुराशि, चक्रवात एवं प्रतिचक्रवात, आर्द्रता तथा वर्षा के प्रकार एवं वितरण के अन्तर्गत वायुराशियों के वर्गीकरण व उनकी उत्पत्ति क्षेत्रों के आधार पर वर्गीकरण जैसे– शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात व उष्ण कटिबंधीय चक्रवात व उनके उत्पत्ति क्षेत्रों, गति, मार्ग, मौसम व चक्रवात सम्बंधित सिद्धान्तों आदि आर्द्रता व आर्द्रता के प्रकार जैसे निरपेक्ष सापेक्ष, विशिष्ट व मिश्रित आर्द्रता अनुपात व सापेक्ष आर्द्रता का मौसमी वितरण, प्रादेशिक वितरण व आर्द्रता के प्रभाव आदि, वर्षा, वर्षा के प्रकार, जैसे– चक्रवाती वर्षा, संवहनीय वर्षा व पर्वतीय वर्षा आदि वर्षा का वितरण व प्रभावित करने वाले कारकों को अध्ययन किया। निश्चय ही आपको यह अध्याय समस्त तथ्यों को समझने में सहायता करेगा। इसके इतर कुछ नवीन विचार उठ रहे होंगे? जो कि स्वाभाविक व अपेक्षित है, अतः ऐसे में आप वर्षा के वितरण में बदलाव, चक्रवातों की बारम्बारता में बदलाव, एवं इनके प्रभावों का अध्ययन व मनन कर सकते हैं।

7.9 शब्द सूची

अभिसरण–Convergence, अपसरण–Divergence, प्रवणता–Gradient, वाताग्र–Front, चक्रवात–Cyclones, मेघ–Cloud, वाष्पीकरण–Evaporation, संघनन–Condensation, गुप्त ऊष्मा–Latent Heat, पर्वतीय–Orographic, पवनमुखी–Wind Ward, वृष्टि छाया प्रदेश–Rain Shadow Region

7.10 परीक्षोपयोगी प्रश्न

प्रश्न–1 चक्रवात के प्रकार होते हैं?

A 2 B. 4
C. 6 D. 3

प्रश्न–2 चक्रवात की उत्पत्ति हेतु तापमान से अधिक होना चाहिए?

A 20 B. 22
C.24 D. 27

प्रश्न–3 वायुमण्डल की कुल आर्द्रता का लगभग 50 प्रतिशतकितनी ऊँचाई तक मिलती है?

A 1000 मीटर B. 2000 मीटर
C. 3000 मीटर D. 4000 मीटर

प्रश्न–4 किसी क्षेत्र की संतृप्त वायु कहते हैं?

A उष्ण वायु को B. शुष्क वायु को
C. क्षमतानुसार नमी से पूर्ण वायु को D. ठण्डी वायु को

प्रश्न–5 निम्न में आर्द्रता के मापन का घटक नहीं है?

A सापेक्ष आर्द्रता B. शुष्क आर्द्रता
C. निरपेक्ष आर्द्रता D. विशिष्ट आर्द्रता

प्रश्न–6 वर्षा का प्रकार नहीं है–

A संवहनीय वर्षा B. चक्रवातीय वर्षा
C. पर्वतीय वर्षा D. जंगलीय वर्षा

प्रश्न–7 वर्षा के वितरण को प्रभावित नहीं करता है–

A अक्षांश B. स्थल व जल का वितरण
C. पर्वतीय अवरोध D. वृक्षों का अवरोध

उत्तरमाला						
1 (A)	2 (D)	3 (B)	4 (C)	5 (B)	6 (D)	7 (D)

7.11 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न– 1 उष्ण कटिबंधीय चक्रवात को स्पष्ट करें?

प्रश्न– 2 आर्द्रता व आर्द्रता के प्रकार के साथ–साथ प्रभावित करने वाले कारकों को स्पष्ट करें।

प्रश्न– 3 सापेक्षिक आर्द्रता को स्पष्ट करें।

प्रश्न– 4 वर्षा को स्पष्ट करें।

प्रश्न– 5 वर्षा के प्रकार व वितरण को प्रभावित करने वाले कारक को स्पष्ट करें?

प्रश्न– 6 शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात की व्याख्या करें?

प्रश्न– 7 चक्रवात की व्याख्या करें।

प्रश्न– 8 वायु राशियों को स्पष्ट करें।

7.12 महत्वूपर्ण पुस्तकें

1. डी. एस. लाल – जलवायु विज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज
2. डा. सविद्र सिंह – जलवायु विज्ञान, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर
3. डा. वाई. आई. सिंह – जलवायु विज्ञान, एशियन ह्यूमेनटिस प्रेस (AHP)
4. डा. चतुर्भुज मामोरिया – डा. एम. एस. सिसोदिया – जलवायु विज्ञान एवं समुद्र विज्ञान, साहित्य भवन कानपुर
5. के. सिद्धार्थ – जलवायु और समुद्र विज्ञान – किताब महल

इकाई 8

विश्व की जलवायु का वर्गीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य .
8.2 कोपेन द्वारा प्रस्तुत जलवायु का वर्गीकरण
8.3 आलोचना
8.4 थार्नथ्वेट द्वारा प्रस्तुत जलवायु का वर्गीकरण
8.5 विश्व की जलवायु का वर्गीकरण
1. भूमध्यरेखीय या ऊश्ण कटिबन्धीय वर्शा वाले जलवायु–प्रदेष;
2. मानसूनी जलवायु
3. सबाना तुल्य जलवायु
4. ऊश्ण कटिबन्धीय जलवायु

5. मध्य अक्षांषीय स्टेपी जलवायु
6. भूमध्य सागरीय जलवायु
7. चीनतुल्य जलवायु प्रदेष
8. महाद्वीपीय जलवायु
9. सेण्ट लारेन्स तुल्य जलवायु
10. पष्चिमी यूरोपतुल्य जलवायु
11. टैगातुल्य जलवायु
12. टुण्ड्रा जलवायु
13. बर्फच्छादित अथवा आर्कटिक जलवायु
14. उच्च पर्वतीय जलवायु

8.0 प्रस्तावना

किसी भी क्षेत्र/प्रदेष की जलवायु वहाँ के मौसम के तत्वों (वायुमण्डलीय दषाओं) का प्रतिफल होती है। अतः जलवायु के वर्गीकरण में इन मौसमी तत्वों का योगदान होता है। विभिन्न विद्वानों ने जलवायु के वर्गीकरण में विविध तत्वों को आधार माना है।मॉकहाउस के अनुसार ''जलवायु का प्रादेषिक वर्गीकरण वास्तव में सुविधा का वर्गीकरण होता है''। समय, स्थान एवं आवष्यकता के अनुसार अनेक वर्गीकरण हैं। तापमान जलवायु का प्रमुख तत्व है। जर्मन विद्वान सूपन ने ताप के आधार पर ग्लोब को तीन कटिबन्धों में बाँटा है–

(1) ऊश्ण पेटी
(2) षीतोश्ण पेटी
(3) षीत पेटी

उपरोक्त विभाजन केवल तापमान के आधार पर किया गया है। अतः ये अर्पूण हैं। वर्शा जलवायु का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है। ब्लेयर ने संसार को 5 जलवायु प्रदेषों में बाँटा है () षुश्क प्रदेष (इ) अर्द्व षुश्क प्रदेष (ब) अल्पार्द्र प्रदेष (क) आर्द्र प्रदेष तथा (म) अति आर्द्र प्रदेष किन्तु यह विभाजन भी सीमित तथा अपर्याप्त है।

वनस्पति किसी भी प्रदेष की भौतिक दषाओं का परिणाम है। अतः कुछ विद्धानों ने वनस्पति के आधार पर भी विष्व की जलवायु का वर्गीकरण अनेक विद्वानों ने प्रदेषों का विभाजन किया है किन्तु आधुनिक समय में ऐसे वर्गीकरण अमान्य हैं। जलवायु विभाजन करने में हेटनर (1930),कोपेन (1936), फ्लोन (1950), थार्नथ्वेट (1931–1948), ट्रिवार्था (1954) आदि के योगदान प्रमुख हैं। यहाँ पर कोपेन एवं थार्नथ्वेट के ही वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

उद्देश्य .

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी व्याख्या कर सकेंगे
1. कोपेन की जलवायु विचारधारा।
2. विद्वान कोपेन और थार्न्थ्वेट में द्वारा प्रयुक्त वर्ण अक्षरों का अर्थ ।
3. विद्वान कोपेन और थार्न्थ्वेट द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण के आधार पर विश्व में किस स्थान का तापमान आर्द्रता वर्षा की विशेषताएं क्या है।
4. प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी यह व्याख्या कर सकेगे कि किस जलवायु प्रदेश में हमें किस तरह का व्यवहारिक कार्यक्रम निर्धारित करना है।

कोपेन द्वारा प्रस्तुत जलवायु का वर्गीकरण

प्रसिद्व जर्मन विद्वान ब्लाडीमीर कोपेन ने 1918 में विष्व जलवायु का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। बाद में कई बार उसमें परिमार्जन तथा संषोधन भी किया और अन्ततः 1931 एवम 1936 में अपना विषुद्ध वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जिसमें तापमान एवं वर्शा को प्रमुख आधार बनाया गया है। ज्ञातव्य है कि कोपेन का वर्गीकरण परिमाणात्मक है। कोपेन ने जलवायु का वर्गीकरण अंग्रेजी के अक्षरों के आधार पर किया है, इनका वर्गीकरण दुरुह भी हो गया है, क्योंकि प्रत्येक अक्षर का विषिश्ट एवं विषद् अर्थ होता है।

कोपेन ने केण्डाल द्वारा 1874 में प्रस्तावित विष्व के 5 वनस्पति मण्डलों (मेगाथर्मल, जेरोफाइट्स, मेसोथर्मल, माइक्रोथर्मल तथा हेकिस्टोथर्मल) के आधार पर विष्व की जलवायु को प्रमुख समूहों में बाँटा है, इसका नामकरण क्रमषः ।एठएब्एक तथा म अक्षरों से किया है।

A. षीत ऋतु रहित ऊश्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु
B. षुश्क जलवायु
C. सामान्य षीत ऋतु युक्त मध्य अक्षांषीय आर्द्र जलवायु (ऊश्णार्द्र समषीतोश्ण जलवायु)
D. मध्य अक्षांषीय षीतार्द्र जलवायु
E. ध्रुवीय जलवायु।

वर्शा के मौसमी वितरण हेतु अन्य वर्णाक्षर प्रयुक्त है–

F. वर्श भर वर्शा
s- ग्रीष्मकाल में वर्शा
w- षीतकाल षुश्क
S. अर्द्धषुश्क या स्टेपी जलवायु
W- षुश्क जलवायु।

केपेन ने 5 जलवायु समूहों को कई उपभागों में बॉटा है, इसका आधार वर्शा के मौसमी वितरण सम्बन्धी दषाएं, षीत तथा षुश्कता की प्रकृति है। कोपेन ने विष्व जलवायु को 11 जलवायु प्रकारों में विभक्त किया है।

A वर्ग की जलवायु–

यह ऊश्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु है, जिसमें न्यूनतापमान 18^0 सेण्टीग्रेड से ऊपर रहता है। इस जलवायु के दो उप–विभाग किये जाते हैं, प्रथम जिसमें वर्श भर वर्शा होती हो तथा दूसरा– वह जिसमें एक मौसम षुश्क होता हो।

Af = वर्श भर आर्द्र जलवायु, जिसके अतिषुश्क माह में भी वर्शा की प्राप्ति का औसत 6 सेमी0 से कम न हो।

Aw = षीत षुश्क जिसके अतिषुश्क माह में वर्शा का औसत 6 सेमी0 से कम रहता हो।

। वर्ग की जलवायु के साथ प्रयोग किये गये कुछ छोटे अक्षर निम्न प्रकार हैं–

m = मानसूनी जलवायु, जिसमें कुछ महीनों में विषेश तौर पर अधिक वर्शा होती है, ।उ तथा ।ू दोनों प्रकार की जलवायु में अतिषुश्क माह में वर्शा 6 सेमी0 से कम होती है।

w`= षरद् ऋतु में अधिकतम वर्शा

w``= ग्रीश्म षुश्क

s = ग्रीश्मकाल षुश्क

i= अधिकतम–न्यूनतम मध्य तापान्तर 5^0 सेण्टीग्रेड से कम हो।

j= उत्तरायणान्त से पूर्व अतिऊश्ण माह हो और वर्शा की प्रधानता ग्रीश्मकाल में हो।

ठ वर्ग की जलवायु–

यह षुश्क जलवायु अथवा मरुस्थलीय जलवायु है, कम वर्शा अधिक वाश्पीकरण होती है, दो उपविभाग हैं।

B = अर्द्वमरुथल या स्टेपी जलवायु (" को जमचचम जिसका अर्थ 'घास का मैदान) है।

Bw = मरुस्थलीय जलवायु (" जर्मन षब्द तपेजम से बना है जिसका अर्थ 'मरुथल' है)

ठ वर्ग की जलवायु को पुनः में उपविभागों वर्गीकृत करने हेतु कुछ अन्य अक्षर भी प्रयुक्त होते हैं।

H (hossis) = औसत वार्शिक ताप 18^0 सेण्टीग्रेड से अधिक

ठ्ठी और ठैी नामक जलवायु ऊश्ण कटिबन्धों में स्थित मरुस्थल या घास के मैदान हैं।

K (kalt) = औसत वार्शिक ताप 18^0 सेण्टीग्रेड से कम

k = अति ऊश्ण माह का ताप 18^0 सेण्टीग्रेड से कम रहता है।

s = ग्रीश्म षुश्क ग्रीश्मकालीन, षुश्कतम् माह में वर्शा का औसत 4से0मी0 से कम हो तथा षीतकालीन आर्द्रतम् माह की वर्शा एक तिहाई से भी कम हो।

w = षीत षुश्क षीतकालीन षुश्कतम माह की वर्शा ग्रीश्मकालीन आर्द्रतम माह की वर्शा के दसवें भाग से भी कम हो।

n (nobel) = कोहरे की बाहुलता

C वर्ग की जलवायु–

इसे गर्म षीतोश्ण आर्द्र जलवायु भी कहते हैं। षीत का तापमान 3^0–13^0 सेण्टीग्रेड के मध्य होता है। वर्शा के मौसमी वितरण के आधार पर इसको निम्न उप प्रकारों में रखा गया है।

cf = पष्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु, वर्श भर वर्शा होती है, ग्रीश्मकाल के षुश्कतम माह में 3 सेमी0 से अधिक वर्शा है।

Cw = चीन तुल्य जलवायु, षीतकाल षुश्क। षीतकाल के षुश्कतम् महीने की अपेक्षा ग्रीश्मकाल के सबसे आर्द्र महीने में दस गुनी वर्शा होती है। इसे के अन्तर्गत रखा जाता है।

Cs = भूमध्य सागरीय जलवायु, ग्रीश्म षुश्क है। ग्रीश्मकाल के षुश्कतम् महीने के 3 सेमी0 अधिकतम की अपेक्षा षीतकाल के सबसे आर्द्र महीने में तीन गुनी अधिक वर्शा होती है।

C जलवायु में प्रयुक्त अन्य वर्णो का तात्पर्य–

a = उश्ण ग्रीश्मकाल

b = सर्द ग्रीश्मकाल

c = सर्द लघु ग्रीश्मकाल

i,n,g अक्षरों का अर्थ ऊपर (A तथा B जलवायु में) स्पश्ट किया जा चुका है।

क वर्ग की जलवायु–

सबसे ठण्डे माह का औसत तापक्रम 3^0 सेण्टीग्रेड से कम है। ऊश्णतम् महीने का तापक्रम 10^0 सेण्टीग्रेड से अधिक है। धरातल कई महीने वर्फाच्छादित रहता है। इसके दो उप–विभाग हैं–

क ि= षीतार्द्र जलवायु, जिसमें षीतकाल होता है।

क ू = षीतार्द्र जलवायु जिसमें षीत षुश्क होता है।

क = सबसे ठण्डे महीने का तापक्रम 36.40 फा0 से कम। अन्य प्रयुक्त वर्णो (ऐएूएंएइएब) का ऊपर विवरण दिया गया है।

म वर्ग की जलवायु–

सबसे गर्म माह तापमान 10^0 सेण्टीग्रेड से कम है। इसके दो उपविभाग हैं–

म्ज = टुण्ड्रा जलवायु, सबसे गर्म माह का तापमान 10^0 सेण्टीग्रेड से कम किन्तु 0^0 सेण्टीग्रेड से अधिक है।

म्थ = सतत् हिमाच्छादित जलवायु, सभी माह में तापक्रम 0^0 सेण्टीग्रेड से हमेषा कम रहता है।

आलोचना

कोपेन ने विष्व मानचित्र पर विभिन्न जलवायु वर्गीकरण को प्रदर्षित किया है। ट्रिवार्था ने कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की समीक्षा करते हुए बताया है कि इस वर्गीकरण की प्रमुख विषेशता वर्णाक्षर द्वारा जलवायु की अधिकांष प्रवृत्तियों का चित्रण है। इनका वर्गीकरण दोशमुक्त नहीं है भूपृश्ठीय संरचना, वायुदाब में अन्तर, पवन दिषा और समुद्री धाराओं के प्रभावों का उल्लेख नहीं किया है। कोपेन के सूत्र निम्न मैदानों के लिए तो उपयुक्त हैं किन्तु उच्च भागों हेतु नहीं हैं। विद्वान कोपेन महोदय ने अपने जलवायु वर्गीकरण में सरलता से उपलब्ध होने वाले आंकड़ों के आधार पर व्याख्या करने का प्रयास किया है क्योंकि वनस्पतियों के विकास में तापमान, वर्षा दो महत्वपूर्ण चर प्रभावी होते हैं इसी को ध्यान में रखते हुए विद्वान को कोपेन ने तापमान और वर्षा को जलवायु वर्गीकरण का सर्वाधिक

महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार किया किसी स्थान या प्रदेश की वनस्पति वहां की जलवायु का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करती है जलवायु की समस्त विशेषताओं को इंगित करती है वनस्पतियों के विकास में इन चरों के आधार पर विद्वान कोपेन ने जलवायु वर्गीकरण को आधार माना इन्होंने जलवायु वर्गीकरण की योजना में मेघ, वर्षा के दिन, तापांतर, पवन प्रवाह, औसत मासिक तापमान, बादल की मात्रा, वायु राशि, चक्रवात आदि अनेक जलवायु के चरो कों शामिल नहीं किया । पूरी तरह से उपेक्षा किया है । इन्होंने अनेक वर्णाक्षरों का प्रयोग कर अपने जलवायु वर्गीकरण की योजना को कठिन कर दिया क्योंकि वर्णाक्षरों को स्मरण रखना कठिन है । कुछ वैज्ञानिक इनके वर्गीकरण को लेकर संदेह व्यक्त किए जैसे इन्होंने जलवायु प्रदेशों के मध्य सीमा का निर्धारण बहुत ही स्पष्ट कर दिया है जबकि व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता है तापमान और वर्षा धीरे–धीरे परिवर्तित होती है इस तरह से एक संक्रमण क्षेत्र भी उत्पन्न हो सकता है जिसकी व्याख्या इनके जलवायु प्रदेश में कर पाना मुश्किल है विद्वान को कोपेन का प्रस्तुत जलवायु वर्गीकरण योजना अनेक कमियों के बावजूद अत्यंत व्यवहारिक है यह अनुभव उपागम पर आधारित है यह आज भी प्रचलित है यह योजना सरल है ,वर्णनात्मक है, सरलता पूर्वक समझा जा सकता है ,इसका व्यापकसमर्थन भी प्राप्त है

थार्नथ्वेट का जलवायु वर्गीकरण–

प्रसिद्ध अमेरिकी जलवायु विज्ञानवेत्ता थार्नथ्वेट ने सन् 1931 में जलवायु वर्गीकण प्रस्तुत किया। मूलतः कोपेन के जलवायु वर्गीकरण के समान हैं। कोपेन की भॉति थार्नथ्वेट ने भी माना कि वनस्पति पर तापमान तथा वर्शा का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है तथा यह (वनस्पति) जलवायु से सहसम्बन्धित होती है। वर्शण प्रभाविता तथा तापीय दक्षता के आधार पर जलवायु प्रदेषों को बॉटा।

वर्शण प्रभाविता के आधार पर–

'वर्शण प्रभाविता' से तात्पर्य वर्श भर की वर्शा के केवल उस भाग से है जो पेड़–पौधों की वृद्धि एवं विकास में योगदान देती है। अतः थार्नथ्वेट वर्शण–प्रभाविता–अनुपात की गणना की। च्भ् अनुपात की गणना कुल मासिक वर्शा में कुल वाश्पीकरण से भाग देकर किया जाता है तथा बारहों महीने के च्भ् अनुपात को जोड़ करके वर्शण–प्रभाविता–सूची बना ली जाती है। इस संदर्भ में उन्होंने च्भ् अनुपात तथा च्भ् सूची ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र का उपयोग किया–

(i) वर्शण प्रभाविता अनुपात च्भ्त्र 11ण्5 $(\frac{r}{t-10})^{\frac{10}{9}}$

(ii) वर्शण प्रभाविता सूचकांक च्भ् प्दकमग त्र $\sum_{i=1}^{12} 11.5\left(\frac{r}{t-10}\right)^{10/9}$

त त्र औसत मासिक वर्शा (इंच में)

ज त्र औसत मासिक तापमान (0^0 फा0 में)

इस च्भ् सूचकांक के आधार पर उन्होंने विष्व को पाँच आर्द्रता प्रदेषों में बॉटा। प्रत्येक प्रदेष का सम्बन्ध विषिश्ट वनस्पतियों तथा प्रत्येक प्रदेष का नाम अंग्रेजी के वर्णो द्वारा रखा।

क्र. सं.	आर्द्रता प्रदेष	वर्ण	विशिश्ट वनस्पति	च्भ् सूचकांक
1.	अत्यधिक आर्द्र	I	वर्शा वन	128 से ऊपर

2.	आर्द्र	ठ	वन	64–127
3.	उपार्द्र	ड	घास के मैदान	32–63
4.	अर्द्ध–षुश्क	क	स्टैपी	16–31
5.	षुश्क	म	मरुस्थल	16 से कम

वर्शा के मौसमी वितरण के आधार पर उपर्युक्त प्रत्येक आर्द्रता प्रदेष को निम्नलिखित 20 उप–प्रदेषों में विभाजित किया गया–

A	B	C	D	E
1.Ar	5.Br	9.Cr	13.Dr	17.Er
2.As	6.Bs	10.Cs	14.Ds	18.Es
3.Aw	7.Bw	11.Cw	15.Dw	19.Ew
4.Ad	8.Bd	12.Cd	16.Dd	20.Ed

जिसमें–

त– सभी ऋतुओं में भारी वर्शा

`– ग्रीश्मऋतु में न्यूनतम वर्शा

ू– षीतऋतु में न्यूनतम वर्शा

क–सभी ऋतुओं में न्यूनतम वर्शा

तापीय दक्षता– वनस्पतियों के वृद्धि एवं विकास में तापमान की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। तापीय दक्षता को ज्ञात करने हेतु थार्नथ्वेट ने निम्न सूत्र दिया–

(i) तापीय दक्षता अनुपात ;ज्ध्म त्ंजपवद्ध त्र $\left(\frac{T-32}{4}\right)$

(ii) तापीय दक्षता सूचकांक ;ज्ध्म प्दकमगद्ध त्र $\sum_{i=1}^{12}\left(\frac{T-32}{4}\right)$

जहाँ ज = औसत मासिक तापमान, (^{0} फा0 में) ज्ध्म सूची के आधार पर उन्होंने पृथ्वी को 6 तापमान प्रदेषों में विभाजित कर अंग्रेजी वर्णो के द्वारा प्रदर्षित किया।

तापमान प्रदेष	ज्ध्म सूचकांक
1- ।' ऊश्ण कटिबन्धीय	128 से ऊपर
2- ठ' मध्य तापीय	64–127
3- ड' सूक्ष्म तापीय	32–63
4- क' टैगा	16–31
5- म' टुण्ड्रा	1–15
6- थ' हिमाच्छादित	0

थार्नथ्वेट ने वर्शण प्रभाविता, वर्शा के मौसमी वितरण तथा तापीय दक्षता के आधार पर जलवायु के कुल 120 प्रकार बनाये परन्तु थार्नथ्वेट ने सिर्फ 32 जलवायु प्रकारों को ही स्वीकार किया है, जो निम्नलिखित हैं–

1- ।।ष्त त्र ऊश्ण कटिबन्धीय अति आर्द्र जलवायु, वर्श भर भारी वर्शा।
2- ।ठष्त त्र मध्य तापीय अति आर्द्र जलवायु वर्श भर वर्शा।
3- ।ब्त त्र सूक्ष्म तापीय अति आर्द्र जलवायु वर्श भर वर्शा।
4- ठ।ष्त त्र ऊश्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु, सभी मौसमों में पर्याप्त वर्शा।
5- ठ।ू त्र ऊश्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु, षीतऋतु में कम वर्शा।
6- ठठष्त त्र मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, सभी मौसमों में वर्शा।
7- ठठू त्र मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, षीतऋतु में कम वर्शा।
8- ठठे त्र मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, ग्रीश्मऋतु में कम वर्शा।
9- ठब्त त्र सूक्ष्म तापीय अति आर्द्र जलवायु, सभी मौसमों में वर्शा।
ठब्े त्र सूक्ष्म तापीय अति आर्द्र जलवायु, ग्रीश्मऋतु में कम वर्शा।
10- ब।ष्त त्र ऊश्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसमों में वर्शा।
11- ब।ू त्र ऊश्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, षीतऋतु में कम वर्शा।
ब।ष्क त्र ऊश्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसमों में वर्शा।
12- ब्ठष्त त्र मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
13- ब्ठू त्र मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, षीतऋतु में कम वर्शा।
14- ब्ठे त्र मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, ग्रीश्मऋतु में कम वर्शा।
15- ब्ठष्क त्र मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
16- ब्ब्त त्र सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
17- ब्बे त्र सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु, ग्रीश्मऋतु में कम वर्शा।
18- ब्ब्क त्र सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
19- क।ू त्र ऊश्ण कटिबन्धीय अर्द्धषुश्क जलवायु, षीतऋतु में कम वर्शा।
20- क।ष्क त्र ऊश्ण कटिबन्धीय अर्द्धषुश्क जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
21- क्ठू त्र मध्य तापीय अर्द्धषुश्क जलवायु, षीतऋतु में कम वर्शा।
22- क।े त्र मध्य तापीय अर्द्धषुश्क जलवायु, ग्रीश्मऋतु में कम वर्शा।
23- क्ठष्क त्र मध्य तापीय अर्द्धषुश्क जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
24- क्ब्क त्र सूक्ष्म तापीय अर्द्धषुश्क जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
25- म।ष्क त्र ऊश्ण कटिबन्धीय जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
26- म्ठष्क त्र मध्य तापीय षुश्क जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
27- म्ब्क त्र सूक्ष्म तापीय षुश्क जलवायु, सभी मौसमों में कम वर्शा।
28- क्ू त्र टैगा तुल्य जलवायु।
29- म्ू त्र टुण्ड्रा तुल्य जलवायु।
30- सतत् हिमाच्छादित जलवायु।

थार्नथ्वेट द्वारा किया गया जलवायु वर्गीकरण सरल एवं सुग्राह्य हैं। इस वर्गीकरण में सबसे बड़ी कमी जलवायु से सम्बन्धित आँकड़ों की कमी है; विषेशतर वाश्पन–दर के आंकड़ों को प्राप्त करने में

समस्या प्रमुख है। सन् 1948 में थार्नथ्वेट ने अपने इस वर्गीकरण के संषोधन में जलवायु प्रदेषों का निर्धारण वर्शा तथा विभव वाश्पीकरण वाश्पोर्त्जन के आधार पर किया है।

1948 का वर्गीकरण

विद्वान थार्नथ्वेट महोदय ने 1948 में अपने पूर्व के वर्गीकरण वर्ष 1931 में संशोधन किया । सन 1948 के वर्गीकरण में इन्होंने वर्षण प्रभाविता, वर्षा का मौसम वितरण, तापीय दक्षता जैसे तीन सूचियों का प्रयोग किया । संशोधित वर्गीकरण में विद्वान ने वनस्पतियों के आधार पर जलवायु प्रदेश की सीमा का निर्धारण नहीं किया है बल्कि संभाव्य वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन तथा वर्षा को अधिक महत्व दिया है औसत मासिक तापमान के आधार पर संभाव्य वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन को ज्ञात किया गया है संभाव्य वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन का प्रत्यक्ष रुप से अंकन या उसका मापन नहीं किया गया है सूर्य के प्रकाश की अवधि अर्थात 12 घंटे को दिन की लंबाई के रूप में इन्होंने स्वीकार किया विद्वान थार्नथ्वेट ने संभाव्य वाष्पोत्सर्जन (PE) को सेंटीमीटर में ज्ञात किया है ।

$1.6(10t/I)^a$

जबकि संभाव्य वाष्पोत्सर्जन (PE)

i = 12 महीने के का योग (t/5)t.514

a =i कारक

t = तापमान

विद्वान थार्नथ्वेट ने चार सूचकांकों के आधार पर जलवायु प्रदेश की सीमाओं के निर्धारण का प्रयास किया है । .

(A). आर्द्रता सूचकांक

(B). तापीय दक्षता सूचकांक अथवा संभाव्य वाष्पोत्सर्जन सूचकांक

(C). आर्द्रता सूचकांक एवं शुष्कता सूचकांक

(D). संभाव्य वाष्पोत्सर्जन सांन्द्रण सूचकांक अथवा तापीय दक्षता सूचकांक

विद्वान प्रथम आर्द्रता सूचकांक का अर्थ बताया है कि यह आर्द्रता की अधिकता अथवा आर्द्रता की कमी से संबंधित है इसका गणितीय परिकलन निम्न सूत्र के द्वारा किया जा सकता है

$$im = (100S-60D)/PE$$

जबकि im = मासिक आर्द्रता सूचकांक

D = मासिक आर्द्रता की कमी

S = मासिक आर्द्रता की अधिकता

इस सूत्र के द्वारा इन्होंने 12 महीनों के प्राप्त आकडो के आधार पर वार्षिक आर्द्रता सूचकांक की गणना किया है ।

वार्षिक आर्द्रता सूचकांक (im)= $\sum_{i=1}^{12}(100S-60D)/PE$

तापीय दक्षता सूचकांक

इसी सूचकांक को दूसरे शब्दों में संभाव्य वाष्पोत्सर्जन का सूचक माना जाता है इसको मेट्रिक प्रणाली में सेंटीमीटर में पर अंकित किया जाता है इसके आकलन का सूत्र वही है जो ऊपर व्यक्त किया गया इसके आकलन का सूत्र संभाव्य वाष्पोत्सर्जन का सूत्र ही है ।

आर्द्रता सूचकांक एवं शुष्कता सूचकांक

आर्द्रता सूचकांक एवं शुष्कता सूचकांक के आधार पर आर्द्रता की उपलब्धता को मौसम के अनुसार उसके वितरण की व्याख्या की जाती है आर्द्र जलवायु में पूरे साल भर में जल की होने वाली कमी को वार्षिक संभाव्य वाष्पोत्सर्जन के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है । जबकि आर्द्रता सूचकांक को शुष्क जलवायु वाले क्षेत्र में जल की अधिकता को वार्षिक संभाव्य वाष्पोत्सर्जन के प्रतिंशत के रूप में प्रदर्शित किया जाता है ।

तापीय दक्षता का सांद्रण

तापीय दक्षता सांद्रण का अर्थ है कि गर्मी के 3 महीने में वार्षिक संभाव्य वाष्पोत्सर्जन का कितना प्रतिशत सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन हुआ है ।

थार्नथ्वेट ने आर्द्रता सूचकांक के आधार पर पूरे विश्व को 9 आर्द्रता मंडल में विभक्त किया है

क्र.सं.	आर्द्रता सूचकांक	आर्द्रता मंडल
1		
2		
3		
4		
5		
6		
7		
8		
9		

थार्नथ्वेट नें तापीय दक्षता सूचकांक के आधार पर विश्व को 9 तापीय मंडल मे बाटा है ।

क्र.स.	तपीय दक्षता सूचकांक	मंडल प्रकार
1	114 से उससे अधिक	A बृहद तापीय
2	99.7 से 114	B मध्य तापीय
3	85.5 से 99.7	B मध्य तापीय
4	71.2 से 85.5	B मध्य तापीय
5	57.0 से 71.2	B मध्य तापीय
6	42.7 से 57	C सूक्ष्म तापीय
7	28.5 से 42.7	C सूक्ष्म तापीय
8	14.2 से 28.5	D टुण्डा
9	14.2 से कम	E पाला

विद्वान थार्नथ्वेट ने तापीय दक्षता के ग्रीष्मकालीन सांद्रण के आधार पर भूमंडल को 8 भागों में बाटा है

क्र. स.	तापीय दक्षता के ग्रीष्मकालीन सांद्रण	मंडल के प्रकार
1	48.0	a ′
2	48.0 से 51.9	b
3	51.9 से 56.3	b3
4	56.3 से 61.6	b-2
5	61.6 से 68.0	b-1
6	68.0 से 76.3	c-2
7	76.3 से 88.0	c-1
8	88.0 से अधिक	d

थार्नथ्वेट ने आर्द्रता के मौसमी उपस्थिति और उसके परिवर्तन के आधार पर इन्होंने दो मुख्य और दस उप प्रकार के अंतर्गत जलवायु को निर्धारित करने का प्रयास किया है।

क. तर जलवायु A ,B, C 2	शुष्कता सूचकांक
1. r जल का अभाव नहीं	0—10
2. s ग्रीष्म काल में सामान्य जल का अभाव	10—20
3. w शीतकाल में जल का सामान्य अभाव	10—20
4. s2 ग्रीष्म काल में जल का अधिक अभाव	20 <
5. w2 शीतकाल में जल का अधिक अभाव	20<

ख. शुष्क जलवायु C 1, D, E	आर्द्रता सूचकांक
1. d जल की अधिकता नहीं	0—16.7
2. s शीतकाल में सामान जल की अधिकता	16.7—33.3
3 w.ग्रीष्म काल में सामान्य जल की अधिकता	16.7—33.3
4 s2 शीतकाल में अधिक जल की अधिकता	33.3 <
5. w2 ग्रीष्म काल में अधिक जल की अधिकता	33.3 <

विद्वान थार्नथ्वेट के जलवायु वर्गीकरण की इस योजना के आधार पर किसी भी स्थान या क्षेत्र की जलवायु को जलवायु के सूचकांकों एवम जलवायु के तत्वों के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है इनके जलवायु वर्गीकरण की योजना के आधार पर किसी प्रदेश की जलवायु का वर्णन 4 वर्णाक्षरों से व्यक्त किया जा सकता है जैसे आर्द्र A, मध्य तापीय B जिसमें तापीय दक्षता का ग्रीष्मकालीन सांद्रता 48.0 से 51.9 b, एवम ग्रीष्म ग्रीष्मकालीन जल का सामान्य अभाव s है । विद्वान थार्नथ्वेट के जलवायु वर्गीकरण की योजना 4 वर्णाक्षरों के प्रयोग के कारण से अत्यंत दुरुह और जटिल हो जाता है जटिलता के कारण वैश्विक स्तर पर इनका मानचित्र बनाया जाना संभव नहीं है । जलवायु के प्रकार का वर्णन व्यवहारिक रुप से अत्यधिक कठिन है ।

मूल्यांकन

विद्वान थार्नथ्वेट के जलवायु वर्गीकरण की योजना 2 वर्षों 1931 एवम 1048 में प्रस्तुत की गई इनका प्रथम वर्गीकरण जो वर्ष 1931 में सामने आया वह जर्मन विद्वान कापेन के जलवायु वर्गीकरण से कुछ समानता रखता है दोनों विद्वानों की जलवायु

वर्गीकरण की योजना आनुभविक थी मात्राकरण का प्रयोग किया गया है । वर्षा, तापमान को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है । वनस्पतियों को प्रमुख आधार माना गया है । विश्व में जलवायु वर्गीकरण को प्रदर्शित करने के लिए अनेकोंनेक वर्णाक्षरों का प्रयोग किया है । इतनी समानता के बावजूददोनों के वर्गीकरण में अनेक विषमता भी देखने को पाई जाती है विद्वान थार्नथ्वेट ने सन 1948 के जलवायु वर्गीकरण में सूचकांकों का प्रयोग किया है । इन सूचकांकों के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण करना, जलवायु की सीमा का निर्धारण करना, जलवायु का मानचित्र बनाना अत्यंत कठिन हो जाता है । विद्वान थार्नथ्वेट नें कोपेन के जलवायु वर्गीकरण की योजना से कई गुना विस्तत अपने जलवायु वर्गीकरण की योजना को प्रस्तुत किया है । इनकी योजना विद्वानों के अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण है। जलवायु विज्ञानियो, मौसम विज्ञानियों ने इस जलवायु वर्गीकरण की योजना को हृदय से स्वीकार नहीं किया । जलवायु वर्गीकरण की इनकी योजना में जिन आंकड़ों का वर्णन है वे आंकड़े पिछड़े, विकासशील पिछड़े राष्ट्रों में प्राप्त होना संभव नहीं है। आर्द्रता सूचकांक, तापीय दक्षता सूचकांक जैसे आंकड़ों के आधार पर बनाया गया जलवायु वर्गीकरण का मानचित्र बनाया जाना असंभव है इसी कठिनाई के कारण थार्नथ्वेट का जलवायु वर्गीकरण की वृहद योजना को लोकप्रियता उतनी प्राप्त नहीं कर पाई जितनी कोपेन के वर्गीकरण योजना को मिला । इनकी योजना कठिन एवं असहज है ।

विष्व की जलवायु का सामान्य वर्गीकरण–

भौगोलिक स्थिति के अनुसार पर एक समान जलवायु वाले प्रदेष को 'जलवायु प्रदेष' कहा जाता है, जो प्रायः एक ही अक्षांषों में पाये जाते हैं। अनेक विद्धानों ने समान जलवायु वाले प्रदेषों को कम संख्या वाले जलवायु प्रदेषों में विभाजित करने का प्रयास किया है। विष्व में जलवायु प्रदेष की सीमा स्पश्ट न होकर सक्रंमित रुप में पायी जाती है क्योंकि उच्चावच वर्शा तथा सागरीय प्रभाव इत्यादि कारक को प्रभाव पड़ता है।

विष्व के जलवायु प्रदेष तापमान, वर्शा, आर्द्रता, पवन, वायुदाब, वनस्पति का स्वरुप, जीव–जन्तु इत्यादि विषेशताओं के आधार पर निम्नलिखित है–

15. भूमध्यरेखीय या ऊश्ण कटिबन्धीय वर्शा वाले जलवायु–प्रदेष;
16. मानसूनी जलवायु
17. सबाना तुल्य जलवायु
18. ऊश्ण कटिबन्धीय जलवायु
19. मध्य अक्षांषीय स्टेपी जलवायु
20. भूमध्य सागरीय जलवायु
21. चीनतुल्य जलवायु प्रदेष
22. महाद्वीपीय जलवायु
23. सेण्ट लारेन्स तुल्य जलवायु
24. पष्चिमी यूरोपतुल्य जलवायु
25. टैगातुल्य जलवायु
26. टुण्ड्रा जलवायु

27. बर्फच्छादित अथवा आर्कटिक जलवायु
28. उच्च पर्वतीय जलवायु

भूमध्यरेखीय या ऊश्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु प्रदेष–

वितरण–इस प्रदेष भूमध्य रेखा 5^0 से 10^0 अक्षांष तक दोनों गोलार्द्धो में विस्तार है। सूर्य के उत्तरायण व दक्षिणायन होने वायुदाब पेटियों में परिवर्तन होने से इसका विस्तार कभी–कभी 15^0 अक्षांष तक दोनों गोलार्द्धो में हो जाता है।

इसके अन्तर्गत पूर्वी द्वीप समूह, इण्डोनेषिया, जावा, सूमात्रा, बोर्नियों, न्यू गिनी, फिलीपींस, मलेषिया का अधिकांष भाग, अफ्रीका में कांगो बेसिन तथा गिनी तट एवं दक्षिणी अमेरिका में अमेजन नदी का बेसिन सूरीनाम, फ्रेंचगुयाना, मध्य अमेरिकी क्षेत्र तथा पष्चिमी द्वीपसमूह इत्यादि षामिल हैं।

तापमान–यहाँ वर्श भर ऊँचा तापमान रहता है क्योंकि वर्शभर भूमध्य रेखा के आस–पास सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती है तथा दिन और रात समान होते हैं। यहाँ सर्वाधिक सूर्यातप मिलता है। औसत वार्शिक ताप 24^0 से 27^0 सेल्सियस तक पाया जाता है। वार्शिक तापान्तर बहुत कम रहता है। कुछ क्षेत्रों में तापान्तर लगभग 1^0 तक रहता है। महाद्वीपीय की अपेक्षा महासागरीय क्षेत्रों में तो यह तापान्तर और भी कम होता है जैसे पष्चिमी प्रषान्त महासागर के मार्षल द्वीप के जल्यूट में वार्शिक तापान्तर 0^0 सेल्सियस रहता है। पीरू के इक्वीटोस नगर का वार्शिक तापान्तर 2^0 सेल्सियस, अफ्रीका में नाइजर के मुहाने पर अकासा में 2^0 सेल्सियस से कम, सिंगापुर में 1^0 से 1.5^0 सेल्सियस से कम तापान्तर रहता है।

इस जलवायु प्रदेष में दैनिक तापान्तर एवं वार्शिक तापान्तर असमान होता है। दैनिक तापान्तर वार्शिक तापान्तर से 6^0 से 14^0 सेल्सियस तक अधिक पाया जाता है। दिन में तापमान 25^0 सेल्सियस रात का तापमान कभी–कभी 15^0 सेल्सियस कम हो जाता है। जो यहाँ के अनुसार काफी ठण्डी रात मानी जाती है। रात का समय यहाँ षीतकाल होती है जैसे– कांगो के बोलोवो का वार्शिक तापान्तर मात्र 1^0 सेल्सियस जो कि दैनिक तापान्तर 9^0 सेल्सियस से कम है।

इस प्रदेष में तेज धूप, आर्द्रता अधिक, उच्च तापमान तथा षान्त वातावरण के कारण मौसम अत्यधिक ऊमसभरा एवं असहनीय होता है। कभी–कभी रात को तापमान जब 5^0 सेल्सियस तक हो जाता है तो यहाँ के लोगों को ठण्डक महसूस होता है। इसलिये रात ही यहाँ 'षीत ऋतु' है।

वायुदाब एवं पवन–यहाँ सूर्य की किरणों के लम्बवत् होने के कारण वर्श भर तापमान ऊँचा होता है जिससे न्यून वायुदाब पेटी बनती है। वायुदाब प्रवणता में कमी के कारण वायु अत्यधिक मन्दगति से चलती है। जिससे वायुमण्डल प्रायः षान्त रहता है। इसे षान्त पेटी 'डोलड्रम्स (क्वसकतनउे) कहलाती है। इस क्षेत्र में धरातल से वायु गर्म होकर ऊपर उठती है तथा अनयवर्ती क्षेत्रों की ओर मुड़ जाती है। यहाँ पर विशुवतरेखीय पछुआ हवाएं चलती हैं। इस क्षेत्र में अयनवर्ती भागों से व्यापारिक हवाओं का आगमन होता है, जिससे चक्रवात तथा तड़ित झंझाओं के साथ तेज हवाएं चलती हैं, जो यहाँ के लोगों के लिए राहत का कार्य करती है। तटवर्ती क्षेत्र में सागर से चलने वाली हवाओं से भी ऊमसभरी गर्मी से कुछ राहत मिलती है।

वर्शा–इस क्षेत्र में वर्श भर अत्यधिक वर्शा (औसतन 250^0 सेण्टीमीटर वार्शिक वर्शा) होती है। यहाँ संवहनीय वर्शा दोपहर के बाद से सायंकाल तक होती है। कभी–कभी 40 घण्टे तक लगातार वर्शा भी होती है। वर्शा तड़ित झंझाओं के साथ सागरीय भागों में अधिक होती है, क्योंकि सागरीय क्षेत्रों की वायु अधिक नमी युक्त होती है। कभी–कभी स्थलीय पर्वतीय अवरोध वाले स्थान पर औसत से अधिक वर्शा हो जाती है, जैसे मध्य अफ्रीका के नाइजीरिया में स्थित कैमरून पर्वत की तलहटी में औसत वर्शा लगभग 1000 सेण्टीमीटर से अधिक है। इस प्रदेष में प्रतिदिन वर्शा होती है फिर भी वर्शा का असमान वितरण पाया जाता है। अमेजन घाटी में स्थित बेलम नगर में मार्च माह में सर्वाधिक तथा नवम्बर में न्यूनतम वर्शा होती है।

यहाँ अधिकांषतः कपासी बादल छाये रहते हैं जो कि वातावरण में आर्द्रता तथा आकाष में बादल के कारण यहाँ मौसम ऊमसभरी रहती है। दोपहर के बाद मूसलाधार बारिस तड़ित झंझाओं के रूप में बादलों की गरज तथा बिजली की चमक के साथ वर्शा होती है। डोलड्रम्स की पेटी में वर्श में 75 से 150 दिन तड़ित झंझाओं का प्रभाव होता है।

प्राकृतिक वनस्पति–भूमध्य रेखीय जलवायु प्रदेष में सघन सदाबहार चौड़ी पत्ती वाले वन पाये जाते हैं, रोजवुड, रबड़, चन्दन, महोगनी, सिनकोना, एबोनी, ताड़ तथा बेंत आदि के वृक्ष प्रमुख हैं। बहुत कम क्षेत्रफल में अनेक प्रजातियों के वृक्ष काफी लम्बे और घने पाये जाते हैं। यहाँ के पेड़–पौधों में सूर्य की रोषनी प्राप्त करने के लिये प्रतिस्पर्धा रहती है। पेड़ों का ऊपरी भाग आपस में सटे और फैले होते हैं जिससे धरातल पर अन्धकार रहता है। अनेक प्रकार की लतायें, फर्न आर्किड आदि वनस्पतियाँ धरातल को ढँके रहती है, जिससे इन वनों में प्रवेष कठिन है। ये वन आर्थिक दृश्टि से कम महत्व के हैं, क्योंकि एक प्रकार के वृक्ष एक समूह में नहीं मिलते हैं तथा घनी वनस्पति होने से पहुँच आसान नहीं होती है। यहाँ पर अनेक हानिकारक एवं विषैले कीट, पतंग तथा सर्प आदि पाये जाते हैं।

2. मानसूनी जलवायु–

वितरण–इस जलवायु का विस्तार भूमध्य रेखा के 5^0 से 30^0 अक्षांषों के बीच दोनों गोलार्द्धो में मिलता है। हवाओं के चलने की दिषा में मौसमी परिवर्तन होता है। ग्रीश्मकाल में 6 महीने हवाएं सागर से स्थल की ओर तथा षीतकाल में हवाएं स्थल से सागर की ओर चलती हैं। इस प्रदेष में भारत, बांग्लादेष, पाकिस्तान, म्यांमार, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, फिलीपींस, वियतनाम, लाओस, ताइवान, दक्षिणी चीन, अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी तटवर्ती देष गिनी तट, सियरालियोन तथ लाइबेरिया, संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण पूर्वी तटीय भाग एवं आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग आते हैं।

तापमान–इस प्रदेष में सबसे अधिक ग्रीश्मकाल में तापमान पाया जाता है। सूर्य की स्थिति उत्तरायण होती है तो तापमान उच्च दक्षिणायन होने पर तापमान निम्न पाया जाता है। यहाँ तीन प्रकार की ऋतुएं पायी जाती हैं। मार्च से जून तक ग्रीश्म ऋतु, जुलाई से अक्टूबर तक वर्शा ऋतु तथा नवम्बर से फरवरी तक षीतऋतु पाया जाता है। ग्रीश्मऋतु का औसत तापमान 30^0 सेल्सियस और षीतऋतु का औसत तापमान 10^0 से 15^0 सेल्सियस तक पाया जाता है। यहाँ तापान्तर अधिक पाया जाता है। तापक्रम पर महाद्वीपीयता का स्पश्ट प्रभाव दिखता है। तटवर्ती भागों में तापान्तर कम तथा आन्तरिक भागों में अधिक पाया जाता है। भारत में मई एवं जून माह में सर्वाधिक तापमान दर्ज किया जाता है। आन्तरिक भागों में 48^0 सेल्सियस तापमान दर्ज किया गया है, जबकि षीतकाल का तापमान 4^0 सेल्सियस तक गिर जाता है।

वायुदाब एवं पवन– यहाँ सूर्य की स्थिति के अनुसार उच्च एवं निम्न वायुदाब केन्द्र बनते हैं। ग्रीश्मऋतु में जब सूर्य उत्तरायण होता है तो कर्क रेखा पर सूर्य लम्बवत् चमकता है जिससे यहाँ पर उच्च तापमान होने से निम्न वायुदाब उत्पन्न हो जाता है जिससे महासागर से स्थल की ओर हवाएं चलती हैं। ये हवाएं आर्द्रतायुक्त होती हैं। इनकी दिषा दक्षिण–पष्चिम से उत्तर–पूर्व की ओर होती है। इन हवाओं से इन क्षेत्रों में अनुकूल परिस्थितियों में पर्याप्त वर्शा होती है।

षीतकाल में सूर्य के दक्षिणायन होने पर उत्तरी गोलार्द्ध के मानसूनी प्रदेषों में सूर्य की किरणें तिरछी हो जाती हैं जिससे यहाँ पर कम तापमान के कारण उच्च वायुदाब केन्द्र बन जाता है और स्थल से सागर की ओर हवाएं चलने लगती हैं। ये हवाएं षुश्क होती हैं लेकिन सागरो के ऊपर से चलनेपर आर्द्रता धारण कर वर्शा करती हैं। ये उत्तरी–पूर्वी मानसूनी हवाएं कहलाती हैं, जो मूलतः व्यापारिक पवने ही होती हैं।

वर्शा–इस प्रदेष में वर्शा का वितरण समान नहीं होता है। कुल वार्शिक वर्शा की सर्वाधिक मात्रा वर्शा ऋतु के 4 महीनों में मिलती है। यह वर्शा निरन्तर नहीं होती है तथा बीच–बीच में सूखे की स्थिति भी उत्पन्न रहती है। वर्शा ग्रीश्म ऋतु में होती है। जब सागरों से आर्द्रतापूर्ण हवाएं स्थल की ओर चलने लगती हैं तो पर्वतीय अवरोध के कारण यहाँ पर्याप्त वर्शा होती है। प्रायद्वीपीय भारत के पष्चिमी तटवर्ती

मैदान में पष्चिमी घाट के अवरोध के कारण अत्यधिक वर्शा होती है। हिमालय के दक्षिणी ढाल पर बंगाल की खाड़ी के मानसूनी हवाओं के टकराने पर असम से कष्मीर तक वर्शा होती है जबकि वितरण असमान होता है। पष्चिम की ओर वर्शा की मात्रा में कमी होती है। इस प्रकार पूर्वी एवं पष्चिमी क्षेत्र की वर्शा की मात्रा में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। यहाँ पर षीतकाल के जनवरी, फरवरी माह षुश्कतम होते हैं। उत्तरी मैदान में थोड़ी सी वर्शा षीतोश्ण कटिबन्धीय चक्रवातों से हो जाती है। इस जलवायु की सबसे बड़ी विषेशता वर्शा की अनिष्चितता तथा वितरण में असमानता है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति की विशमता वर्शा की मात्रा तथा वितरण पर निर्भर करती है। अत्यधिक वर्शा (200 सेण्टीमीटर से अधिक) वाले क्षेत्रों में भूमध्यरेखीय जलवायु प्रदेषों की तरह सदाबहार जंगल हैं। सदाबहार वन भारत में असम तथा मालाबार तट पर मिलती है जिनमें रबड़, बॉस, महोगनी, ताड़ गटापार्चा आदि प्रमुख हैं। 200 सेण्टीमीटर से कम वर्शा क्षेत्रों में पतझड़ वन, जिनमें आम, पीपल, सागौन, षीषम, नीम, महुआ, जामुन आदि वृक्ष प्रमुख हैं। 50 सेण्टीमीटर से कम वर्शा क्षेत्रों में कँटीली झाड़ियाँ मिलती है।

यहाँ षाकाहारी एवं मांसाहारी जीवों में नीलगाय, हिरन, जंगली भैस, षेर, बाघ, तेंदुआ, हाथी, भालू, सियार, गैंडा, गिलहरी, साँप आदि प्रमुख हैं।

3. सवाना तुल्य जलवायु

वितरण—भूमध्य रेखा से 5^0 से 20^0 उत्तर तथा दक्षिण अक्षांष के मध्य विस्तार है। यहाँ पर भूमध्यरेखीय जलवायु की अपेक्षा वर्शा कम तथा असमान होती है। यहाँ ग्रीश्मकाल में वर्शा, षीतकाल षुश्क होती है फलस्वरुप घासों के विस्तृत मैदान मिलते हैं, जिन्हें अफ्रीका में सवाना कहते हैं, इसलिए इसे सवाना जलवायु कहते है।

सवाना तुल्य जलवायु भूमध्यरेखीय तथा अर्द्धषुश्क स्टेपी जलवायु के बीच पायी जाती है। इसका सर्वाधिक विस्तार दक्षिणी अमेरिका के कोलम्बिया, बेनेजुएला, गायना, पराग्वे तथा दक्षिणी मध्य ब्राजील के कैम्पोज क्षेत्र, अफ्रीका के अंगोला, मोजाम्बिक, नाइजीरिया, युगाण्डा, कैमरुन, मध्य अफ्रीकी गणराज्य, घाना, आइवरी कोस्ट तथा सूडान के विस्तृत क्षेत्र में है। इसलिए इसे 'सूडान तुल्य जलवायु' भी कहते हैं। उत्तरी आस्ट्रेलिया के कुछ भागों में यह जलवायु पायी जाती है।

तापमान—इस जलवायु प्रदेष में वर्श भर उच्च तापमान रहता है क्योंकि यहाँ लगभग वर्श भर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। दिन एवं रात की लम्बाई में अन्तर कम ही मिलता है। औसत वार्शिक तापमान 25^0 सेल्सियस है। भूमध्यरेखीय जलवायु के तापमान ही यहाँ की जलवायु भी है। भूमध्यरेखीय जलवायु की अपेक्षा यहाँ पर वार्शिक तापान्तर अधिक होता है। तापान्तर की दृश्टि से यहाँ पर षीत, ग्रीश्म तथा वर्शा ऋतु में विभिन्नता पायी जाती है। षीतऋतु षुश्क, दोपहर के समय उच्च तापमान, षाम को कम तापमान रहता है। ग्रीश्म ऋतु में उच्च एवं षुश्क ऋतु रहती है। वर्शा ऋतु आर्द्रता के कारण कश्टकारक होती है।

वायुदाब तथा पवन—यहाँ पर उच्च तापमान तथा न्यून वायुदाब रहता है। सूर्य के उत्तरायण के समय यहाँ डोलड्रंम की निम्नदाब की पेटी का विस्तार हो जाता है। यह भाग अन्तरोश्ण अभिसरण क्षेत्र कहलाता है जिससे यहाँ पर चक्रवातीय दषायें बन जाती हैं। सूर्य के दक्षिणायन के समय यह क्षेत्र उपोश्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब के प्रभाव में आ जाता है जिससे यहाँ पर प्रतिचक्रवातीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रदेष के तटवर्ती क्षेत्रों में स्थलीय तथा जलीय पवनें चलती हैं। वर्शा ऋतु में ऊश्ण कटिबन्धीय विनाषकारी चक्रवात उत्पन्न होते हैं, जिन्हें पष्चिमी द्वीप समूहों में 'हरिकेन' कहते हैं तथा पूर्वी तटों पर व्यापारिक हवाएं चलती हैं।

वर्शा—यहाँ वार्शिक वर्शा औसतन 100 से 150 सेण्टीमीटर तक होती है। वर्शा की मात्रा में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। इस प्रदेष का फैलाव लगभग 5^0 से 20^0 अक्षांषों के मध्य में पाया जाता है, जिससे

भूमध्य रेखा वाले क्षेत्रों में अधिक वर्शा होती है जबकि भूमध्य रेखा से दूर वाले क्षेत्रों में वर्शा की मात्रा में क्रमषः कमी होती जाती है।

यहाँ षीत ऋतु षुश्क तथा ग्रीश्म ऋतु में वर्शा तड़ित झंझाओं के साथ होती है। मार्च से अगस्त तक वर्शा होती है। वर्शा की मात्रा पूर्व से पष्चिम की ओर घटती जाती है। प्रतिवर्श वर्शा की मात्रा मे भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। जिससे कभी–कभी अत्यधिक सूखा एवं अत्यधिक बाढ़ की स्थिति बन जाती है।

प्राकृतिक वनस्पति–यहाँ की प्रमुख वनस्पति 'सवाना' नामक लम्बी घास है जिसके नाम पर इसको सवाना जलवायु प्रदेष कहा जाता है। इन घास के मैदानों के बीच–बीच में छिट–पुट छोटे वृक्ष तथा झाड़ियाँ मिलती हैं। ये वृक्ष पर्णपाती होते हैं। वृक्षों के आकार तथा सघनता में भूमध्य रेखा से दूरी तथा वर्शा की मात्रा के अनुसार कमी होती जाती है।

सवाना घास के मैदान को प्राणि उद्यान भी कहते हैं। यहाँ पर मुख्य रुप से हिरन, हाथी, गैंडा, जेब्रा, जिराफ, जंगली भैंसे आदि बड़े षाकाहारी तथा षेर, चीता, तेंदुआ, लकड़बग्घे, जंगली कुत्ते, भेडियें आदि मांसाहारी जानवर पाये जाते हैं।

4. ऊश्ण कटिबन्धीय षुश्क मरूस्थलीय जलवायु–

वितरण–इसे सहारा तुल्य जलवायु भी कहते हैं। यह दोनों गोलार्द्धो में 15^0 से 35^0 अक्षांषों के बीच पायी जाती है। विष्व के सभी गर्म मरुस्थल इस जलवायु प्रदेष में पाये जाते हैं। कर्क तथा मकर रेखाएं इनके बीच से गुजरती हैं। इसमें एषिया के थार, सिंध, दक्षिणी बलूचिस्तान, अरब तथा ईरान, अफ्रीका में सहारा तथा कालाहारी, संयुक्त राज्य अमेरिका का दक्षिणी–पष्चिमी भाग तथा उत्तरी मैक्सिको का मरुस्थल, दक्षिणी अमेरिका का अटाकामा मरुस्थल तथा आस्ट्रेलिया का महान पष्चिमी मरूस्थल आते हैं। ये सभी मरूस्थल महाद्वीपों के पष्चिमी भागों में अवस्थित है। इस जलवायु प्रदेष में वर्श भर षुश्कता के निम्न कारण हैं– (क) ये मरुस्थल महाद्वीपों के पष्चिमी किनारों पर स्थित है, व्यापारिक पवनों द्वारा लाई गई आर्द्रता नहीं मिल पाती है क्योंकि पूर्वी किनारे पर अधिकांष वर्शा हो जाती है। (ख) षीतोश्ण कटिबन्धीय चक्रवात यहाँ तक पहुँच नहीं पाते है (ग) प्रतिचक्रवात तथा पूर्वी किनारों पर बहने वाली ठण्डी समुद्री जल धाराओं के कारण वायु की षुश्कता बढ़ जाती है अतः वर्शा की सामर्थ्य कम हो जाती है। जब कभी वर्शा होती है तो अत्यधिक धरातलीय ताप के कारण वह धरातल पर पहुँचने से पहले ही वाश्पित हो जाती है।

तापमान–महाद्वीपों के पष्चिमी किनारों पर अवस्थिति से यहाँ महाद्वीपीय प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है अर्थात् वार्शिक तापान्तर अत्यधिक (17^0 से 22^0 सेल्सियस) होता है। यहाँ पर स्पश्टतः दो ऋतुएं होती हैं– ग्रीश्म तथा षीत ऋतु। ग्रीश्म काल में यह क्षेत्र अधिकतम सूर्यातप प्राप्त करता है तथा यहाँ विष्व का सर्वाधिक तापमान पाया जाता है। अब तक का सर्वाधिक तापमान लीबिया के 'अलअजीजिया' में 58^0 सेल्सियस (सन् 1922 में) अंकित किया गया है, परन्तु यहाँ पर रात का तापमान अत्यधिक नीचे गिरने के कारण दैनिक तापान्तर औसतन 22^0 से 28^0 सेल्सियस हो जाता है और रात का तापमान बहुत कम हो जाता है।

वायुदाब एवं हवाएं–यह क्षेत्र उपोश्ण कटिबन्धी उच्च वायुदाब पेटी के अन्तर्गत आता है। धरातल से कुछ ऊँचाई पर उपध्रुवीय निम्नदाब पेटी तथा भूमध्यरेखीय निम्नदाब पेटी से आने वाली हवाओं का अपसरण एवं अभिसरण होता है, जिस कारण हवाएं ऊपर से नीचे बैठती हैं तथा उनमें स्थिरता के साथ षुश्कता आ जाती है; जिससे वर्शा नही हो पाती है। धरातल के अत्यधिक गर्म होने से उत्पन्न हल्की संवहन धाराएं षुश्कता के कारण वर्शा नहीं कर पाती हैं।

वर्शा–यहाँ वर्शा अनिष्चित होती है। वर्शो तक वर्शा होती ही नहीं परन्तु कभी–कभी बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। औसत वार्शिक वर्शा 10–12 सेमी0 से भी कम होती है। अटाकामा मरूस्थल में तो कभी–कभी 10 वर्शो तक वर्शा बिल्कुल भी नही होती है। थार रेगिस्तान के दूरबाजी नामक स्थान की

वार्शिक वर्शा 15 सेण्टीमीटर है परन्तु कभी–कभी कम समय में अत्यधिक वर्शा हो जाती है। वाही जल के रूप में बहने लगता है कुछ भाग वाश्पीकरण की क्रिया द्वारा उड़ जाता है। यहाँ वर्श भर अधिकांष समय धूप खिली रहती है।

प्राकृतिक वनस्पति–इस जलवायु प्रदेष में वनस्पति नाम–मात्र की पायी जाती है। अधिकांष क्षेत्र वनस्पति विहीन या झाड़ियों के रूप में होती है। इनकी जड़े गहरी होती हैं जिससे नमी प्राप्त हो सकें। तने मोटी छाल वाले तथा पत्ती विहीन होते हैं; पत्तियाँ मोटी, छोटी, चिकनी एवं कांटे युक्त होती हैं जैसे– नागफनी आदि। अन्य प्रमुख वनस्पतियाँ खजूर, बबूल आदि हैं। अधिकांष जीव–जन्तु बिलकारी होते हैं जैसे– छिपकली, साँप आदि।

5. मध्य अक्षांषीय स्टेपी जलवायु–

वितरण–यह जलवायु अधिकांषतः उश्ण मरूस्थलीय तथा महाद्वीपीय जलवायु की संक्रमण पेटी में पायी जाती है। इसका विस्तार यूरेषिया में ऊश्म मरूस्थली जलवायु प्रदेषों के निकटवर्ती क्षेत्रों, अनातोलिया पठार, ईरानी मरूस्थल के उत्तरी तथा दक्षिणी भाग, अफगानिस्तान के अधिकांष भाग, थार मरूस्थल के चारो ओर तथा प्रायद्वीपीय भारत के वृश्टि छाया प्रदेष में मिलता है। अफ्रीका में सहारा के उत्तर में मोरक्को से ट्यूनीषिया तक दक्षिण में सेनेकल से इथियोपिया, कीनिया, दक्षिण–पष्चिम, सोमालीलैण्ड, बोत्सवाना, पष्चिमी जिम्बाब्वे देषों में भी यह जलवायु पायी जाती है तथा उत्तरी अमेरिका में यह जलवायु रॉकी पर्वतमाला के पूर्व में अलबर्टा से कोलोरेडो तक, कोलम्बिया के पठारी क्षेत्रों, वाषिंगटन और ओरेगन के कासकेड्स के बीच पर्वतीय बेसिनों, अलबर्टा तथा सस्केचवान में दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी–पूर्वी ब्राजील, वेनेजुएला के तटवर्ती क्षेत्र तथा एण्डीज पर्वत के पूर्व अर्जेण्टीना के कुछ भागों में जलवायु मिलती है। आस्ट्रेलिया के विषाल मरूस्थल के चारों ओर स्टेपी जलवायु मिलती है।

तापमान–स्टेपी जलवायु के निम्न अक्षांषों में भयंकर गर्मी पड़ती है, जबकि मध्य अक्षांषीय या उच्च अक्षांषीय स्टेपी प्रदेषों में गर्मी साधारण तथा षीतकाल में बहुत कठोर होती है। इस जलवायु प्रदेष में तापमान अक्षांष, ऊचाँई तथा समुद्र से दूरी के अनुसार असमान है। 15^0 से 25^0 अक्षांषीय विस्तार के कारण उत्तरी अमेरिका तथा एषिया के स्टेपी प्रदेषों के उत्तरी एवं दक्षिणी भागों के औसत तापमान में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। ग्रीश्मऋतु के सबसे गर्म महीने का औसत तापमान तो 27^0 सेण्टीग्रेड से अधिक परन्तु षीतकाल का तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है। दक्षिणी गोलार्द्व के षीतोश्ण कटिबन्ध में स्थल–खण्ड के कम होने के कारण वहाँ के मध्य अक्षांषीय स्टेपी जलवायु में मौसमी विशमता कम लेकिन दैनिक तापान्तर अधिक मिलता है।

वर्शा–यहाँ मरूस्थलीय क्षेत्रों की अपेक्षा वर्शा अधिक होती है। औसत वार्शिक वर्शा 25 से 50 सेण्टीमीटर के बीच होता है। उच्च अक्षांषों वाले भागों में षीतऋतु में अधिक वर्शा तथा निम्न अक्षांषों वाले भागों में ग्रीश्मऋतु में अधिक वर्शा होती है। सवाना प्रदेष के समीपवर्ती भागों में अपेक्षाकृत अधिक वर्शा होती है। अन्य भागों में भूमध्यसागरीय जलवायु के निकटवर्ती प्रदेषों की अपेक्षा वर्शा की विशमता अधिक है।

प्राकृतिक वनस्पति–षुश्कता के कारण यहाँ छोटी झाड़ियाँ तथा घासें उगती हैं। इन्हें दक्षिण अफ्रीका में वेल्ड एवं उत्तरी अमेरिका में प्रेयरी कहा जाता है। यहाँ पर बड़ी संख्या में भेड़ एवं बकरियाँ पाली जाती हैं। इसके अलावा यहाँ जंगली घोड़े, हिरन आदि जानवर भी पाये जाते हैं।

6. भूमध्य सागरीय जलवायु–

वितरण–यह उपोश्ण कटिबन्धीय षुश्क–ग्रीश्म जलवायु भी कहलाती हैं। इसका विस्तार भूमध्यसागर के चारो ओंर तथा 30^0 से 40^0 उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्धो मे महाद्वीपो के पष्चिमी भाग पर है। इस जलवायु प्रदेष के अन्तर्गत पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस की रोन तथा सीन की घाटी, इटली, यूगोस्लाविया, तुर्की तथा ईरान के पठारी क्षेत्र, भूमध्य सागर के दक्षिणी भाग में स्थित मोरक्को, अल्जीरिया, ट्यूनीषिया आदि

देष, संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलीफौर्निया के मध्यवती दक्षिणी तटवर्ती क्षेत्र, दक्षिणी अमेरिका में मध्य चिली, दक्षिणी अफ्रीका में केपटाउन प्रान्त एवं आस्ट्रेलिया के दक्षिणी तथा दक्षिण–पष्चिमी तटवर्ती क्षेत्र आते हैं।

भूमध्य सागरीय जलवायु में षीतकाल में वर्शा और ग्रीश्मकाल षुश्क रहता है। यहाँ वर्श भर धूप रहती है। ग्रीश्मकाल में सूर्यातप अधिक मिलता है। इस जलवायु प्रदेष का विस्तार महाद्वीपों के केवल 1. 7 प्रतिषत क्षेत्र में है।

तापमान–भूमध्यसागरीरय जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धन के लिए प्रसिद्ध है। ग्रीश्मकाल में सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 25^0 सेल्सियस तथा षीतकाल का 8^0 सेल्सियस होता है। औसत वार्शिक तापान्तर 17^0 सेल्सियस पाया जाता है। यह तापान्तर आन्तरिक भागों में अधिक पाया जाता है। वार्शिक तापान्तर की अधिकता षुश्क ग्रीश्म काल के कारण होता है। तटवर्ती क्षेत्रों पर महासागरीय प्रभाव के कारण ठण्ड अधिक नही पड़ती। तापमान हिमांक से सदैव उच्च रहता है। कभी कभार कुछ समय से के लिये तापमान हिमांक से नीचे पहुँच जाता है। ग्रीश्मकाल अपेक्षाकृत अधिक गर्म एवं षुश्क होती है। ग्रीश्म काल में आन्तरिक भागों में दिन का तापमान 30^0 से 38^0 सेल्सियस तक पहुँच जाता है। कैलीफोर्निया स्थित ग्रेट वैली में दिन का तापमान 40^0 सेल्सियस तक दर्ज किया गया है फैलतः यहाँ पर दैनिक तापान्तर भी अत्यधिक (20^0 सेल्सियस तक) मिलता है।

भूमध्य सागरीय जलवायु को तापीय आधार पर दो भागों में बॉटा गया है।

प्रथम ह्ं अत्यधिक षुश्क ग्रीश्म ऋतु वाली जलवायु जो आन्तरिक भागों में विस्तृत है, पुर्तगाल, स्पेन आदि भूमध्य सागर के किनारे वाले देष उत्तरी–पष्चिमी अफ्रीका के तटवर्ती क्षेत्र, कैलीफोर्निया के आन्तरिक भाग तथा आस्ट्रेलिया के भूमध्य सागरीय जलवायु वाले आन्तरिक क्षेंत्र आते हैं।

द्वितीय ब्ब्इ साधारण गर्मी वाली जलवायु है जो तटवर्ती भागों में मिलती है। इस पर महासागरीय प्रभाव के कारण दैनिक तापान्तर कम पाया जाता है। दक्षिणी कैलिफोर्निया, केपटाउन आदि क्षेत्रों में यही जलवायु पायी जाती है।

वायुदाब तथा हवाएं–ग्रीश्मकाल में जब सूर्य कर्क रेखा पर लम्बवत् चमकता है तो सभी वायुदाब पेटियाँ उत्तर की ओर खिसक जाती है जिससे यहाँ उच्च वायुदाब पेटी का विस्तार हो जाता है तथा प्रति चक्रवातीय दषाएं उत्पन्न हो जाती है। 'सिरोको पवन' (षुश्क) सहारा में उत्तर दिषा की ओर चलती हैं तथा अपने साथ लाल रंग की रेत उड़ा कर स्पेन तथा इटली तक पहुँचा देती है, जिसे लाल वर्शा भी कहते है।षीत ऋतु में जब सूर्य मकर रेखा पर लम्बवत् होता है तो वायुदाब पेटियाँ पवन का खिसकाव दक्षिण की ओर हो जाता है जिससे षीतोश्ण चक्रवात उत्पन्न होते हैं तथा वर्शा भी होती है। पछुआ हवाएं सागरों के ऊपर से बहने के कारण आर्द्रतापूर्ण होती है और पर्याप्त वर्शा करती हैं।

वर्शा–यहाँ षीतकाल में अधिकतम वर्शा होती है। ग्रीश्म ऋतु षुश्क होती है। षीतऋतु में यह क्षेत्र पछुआ पवनों के प्रभाव में आने से यहाँ पर चक्रवातीय वर्शा होती है। वर्श की 75प्रतिषत वर्शा इसी समय होती है। पर्वतीय क्षेत्रों में वर्शा अपेक्षाकृत अधिक होने से नदियों में बाढ़ जा जाती है। षीतकाल में वर्शा के दिनों में संख्या कम होने के कारण आकाष प्रायः साफ एवं स्वच्छ रहता है तथा चमकदार धूप रहती है। **रेड ब्लफ** में दिसम्बर 11 जनवरी में 12, फरवरी में 10 तथा मार्च में 10 दिन वर्शा के होते हैं। भूमध्य सागर के परिधीय क्षेत्रों में तथा आस्ट्रेलिया एवं दक्षिणी अफ्रीका में भूमध्य सागरीय जलवायु वाले क्षेत्रों में वर्शा की विष्वसनीयता बनी रहती है। वर्शा के क्षेत्रीय वितरण में असमानता पायी जाती है। पष्चिम से पूर्व की ओर जाने पर वर्शा की मात्रा क्रमषः घटती जाती है।

प्राकृतिक वनस्पति–इस प्रदेष में ग्रीश्मकाल षुश्क होती है तथा षीतकाल में अधिकांष वर्शा होती है, अतः यहाँ पर वनस्पतियों की जड़े अधिक गहराई में होती है जिससे मिट्टी में से नमी सोख सकें। पत्तियाँ छोटी, मोटी, चिकनी एवं छाले खुरदरी होती हैं। पत्तियों के रन्ध्र बन्द रहते हैं, जिससे वाश्पीकरण की क्रिया कम होती है। यहाँ चीड़, ओक, साइप्रस, वेलनेट, सिडार, चेस्टनट, मैड्रोन आदि के वृक्ष मिलते हैं। कहीं–कहीं छोटे–छोटे वृक्षों से युक्त झाड़ियाँ भी मिलती है, जो कैलीफोर्निया में चैपराल,

भूमध्य सागर में माकी, चिली में मैटरोल तथा आस्ट्रेलिया में माली के नाम से जानी जाती है। सर्दियों में छोटी घासें भी उग आती हैं जो गर्मियों में सूख जाती हैं। भूमध्य सागरीय जलवायु खट्टे रसदार फल वाले वृक्षों के लिए प्रसिद्ध है। बड़े पैमाने पर सन्तरा, नींबू, जैतून, खुबानी, नाषपाती, अन्जीर आदि की बागवानी की जाती है। अंगूर की खेती यहाँ पर बड़े पैमाने पर की जाती है। जिससे षराब बनाई जाती है। जैतून का तेल विष्व प्रसिद्ध है। घास की कमी के कारण पषुपालन कम होता है। थोड़ी बहुत बकरियाँ पाली जाती हैं।

7. चीन तुल्य जलवायु प्रदेष–

वितरण–यह आर्द्र उपोश्ण कटिबन्धीय जलवायु भी कहलाती है। यह जलवायु 25^0 से 40^0 उत्तर एवं दक्षिण अक्षाषों के बीच महाद्वीपों के पूर्वी भाग में मिलती है। चीन के अधिकांष भाग में मिलने के कारण चीन तुल्य जलवायु कहलाती है। भूमध्यसागरीय जलवायु वाले अक्षांषों में महाद्वीपों के पूर्वी भाग में पायी जाती है। भूमध्यसागरीय जलवायु में षीतऋतु में वर्शा और चीन तुल्य जलवायु में वर्श भर वर्शा होती हे। जो अधिकांष ग्रीश्मकाल में होती है। ग्रीश्मऋतु में यह की आर्द्र ऊश्णकटिबन्धीय जलवायु के समान हो जाती है। चीन तुल्य जलवायु उत्तरी गोलार्द्ध के अधिक क्षेत्र में मिलती है क्योंकि स्थल खण्डों का विस्तार है। इसमें पूर्वी एषिया के दक्षिणी जापान, ताइवान, दक्षिणी तथा दक्षिणी–पूर्वी चीन, दक्षिणी यूरोप के पो–डेन्यूब बेसिन, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के दक्षिणी–पूर्वी भाग आते हैं।

तापमान–चीन तुल्य जलवायु में षीत ऋतु की ठण्ड सामान्य होती है तथा गर्मियों का तापमान भी अधिक नहीं होता है। इस जलवायु प्रदेष में गर्म समुद्री धाराएं बहती हैं। जिसका प्रभाव यहाँ षीत ऋतु में तटवर्ती भागों में पड़ता है। जिससे तापान्तर कम पाया जाता है। वार्शिक तापान्तर भी कम होता है। सबसे ठण्डे महीने का औसत तापमान न्यूनआयर्स में 9.8^0, षंघाई में 3.5^0, माण्टगोमरी में 9.3^0, सिडनी में 10^0 तथा नागासाकी में 6.2^0 सेल्सियस रहता है। तटवर्ती तथा भीतरी क्षेत्रों में तापमान में विशमता पायी जाती है क्योंकि तटवर्ती क्षेत्रों पर गर्म समुद्री धारा के कारण तापमान सामान्य रहता है जबकि चीन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के इन जलवायु प्रदेषों में ध्रुवीय हवाओं के कारण ठण्ड बढ़ जाती है।

ग्रीश्मकाल का औसत तापमान 26^0 होता है। दिन में तापमान 38^0 सेल्सियस से अधिक हो जाता है। यहाँ पर ऊँचे तापमान वायु में नमी होने के कारण मौसम ऊमस भरा हो जाता है। रात में भी बादल छाये रहने के कारण तापान्तर अत्यन्त न्यून होता है। चीन के षंघाई में सबसे गर्म माह जुलाई का तापमान 27^0 सेल्सियस, संयुक्त राज्य अमेरिका के कैरोलिना एवं माण्टगोमरी तापमान 27.5^0 सेल्सियस रहता है। जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में सबसे गर्म माह (जनवरी) में न्यूनसआयर्स का 23.3^0, ब्रिसबेन का 25^0 तथा डरबन का 25^0 सेल्सियस तक रहता है।

यहाँ वार्शिक तापान्तर महाद्वीपों के कारण विशम होता है। ध्रुवीय एवं मानसूनी हवाएं तापान्तर में वृद्धि करते है। वार्शिक तापान्तर षंघाई में 23.4^0 सेल्सियस सर्वाधिक, माण्टगोमरी में 18.2^0, सिडनी में 15^0 तथा ब्यूनसआयर्स में यह 22^0 सेल्सियस पाया जाता है।

वायुदाब तथा हवाएं–षीत ऋतु में यहाँ उच्च वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं, जिससे स्थल सागर की ओर हवाएं चलती हैं। ग्रीश्मकाल में इसके ठीक विपरीत स्थल भाग पर जब न्यून वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं। सागर से स्थल की ओर हवाएं चलती हैं जो सागरों के ऊपर से चलने के कारण नमी धारण कर वर्शा करती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर–पूर्व होती है। इन सागरीय हवाओं के साथ ऊश्णकटिबन्धीय चक्रवात तथा उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण पूर्व होती है जो अमेरिका में हरिकेन, चीन में टाइफून तथा आस्ट्रेलिया में बिलीविलीज कहलाते हैं।

वर्शा–चीन तुल्य जलवायु प्रदेष में वर्श पर्यन्त वर्शा होती है। औसत वार्शिक वर्शा 75 से 150 सेण्टीमीटर तक होती है, प्रादेषिक वितरण में वर्शा असमान होती हैं तटवर्ती क्षेत्रों में वर्शा अधिक होती है तथा आन्तरिक क्षेत्रों की ओर वर्शा की मात्रा घटती जाती है। अतः पूर्वी भाग में अधिक वर्शा तथा पष्चिमी भाग में न्यून वर्शा होती है। अधिकांष वर्शा ग्रीश्मऋतु में होती है। वर्शा कपासी बादलों से गरज–चमक

के साथ होती है। ग्रीश्मकाल में वर्शा कम समय तक परन्तु मात्रा में अधिक होती है। ग्रीश्मकाल के अंत में चक्रवाती वर्शा होती है, जिससे कभी–कभी भंयकर बाढ़े भी आ जाती हैं, जिन्हें अमेरिका में हरिकेन, चीन में टाइफून कहते हैं। षीतकाल में वर्शा कम लेकिन कई दिनों तक होती है। षीतकालीन वर्शा षीतोश्ण कटिबन्धीय चक्रवात से होती है। कभी–कभी संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण राज्य के भागों में हिमपात भी हो जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति–यहाँ मुख्य रुप से दो प्रकार की वनस्पतियाँ पायी जाती हैं। सघन सदाबहारी वन तथा घास के मैदान। सदाबहार वन में साइप्रस, ओक, पाइन, चेस्टनअ, ऐष तथा रेंगडम आदि प्रमुख हैं। कम वर्शा वाले क्षेत्रों में अर्जेण्टाइना के पम्पास तथा युरूग्वे के घास के मैदान प्रमुख हैं।

8. महाद्वीपीय जलवायु–

वितरण–यह जलवायु बड़े महाद्वीपों के आंतरिक भागों टैगा एवं स्टेपी जलवायु के बीच पायी जाती है। यूरेषिया के पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, दक्षिणी स्वीडेन तथा रुस के विस्तृत भाग में, उत्तर–पूर्वी एषिया, उत्तरी मंचूरिया, दक्षिणी–पूर्वी साइबेरिया तथा उत्तरी जापान के होकैडो में है। कनाडा के विस्तृत क्षेत्र पर यू0एस0ए0 के डकोटा इलीन्वायरस, मिसौरा, इण्डियाना, पष्चिमी वर्जीनिया, कन्सास, मेरीलैण्ड, मिनेसोटा, विस्कांसिन, मिषीगन, न्यूयार्क तथा मेसाचुसेट्स आदि राज्यों में यह जलवायु मिलती है। संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रमुख मक्का पेटी इसी जलवायु प्रदेष में स्थित है।।

तापमान–महाद्वीपीय जलवायु में ग्रीश्मकाल का औसत तापमान 23^0 सेण्टीग्रेड तथा षीतकाल का तापमान 8^0 सेण्टीग्रेउ तक होता है। ग्रीश्मकाल में गर्म हवाओं के कारण तापमान 38^0 सेण्टीग्रेड तक भी पहुँच जाता है जिससे ऊमस–भरी गर्मी पड़ती है। इसके प्रमुख नगर मास्कों में 19^0, बुखारेस्ट में 22.8^0 तथा जापान के सपोरो में 20.6^0 सेण्टीग्रेड तापमान पाया जाता है। ग्रीश्मकाल का औसत तापमान लगभग सभी जगह समान मिलता है। षीतकाल में सपोरो का तापमान -6^0 तथा मिषीगन का -8.9^0 सेल्सियस तक हो जाता है। दैनिक तापान्तर बहुत अधिक पाया जाता है षीतकाल में ध्रुवीय पवनों के चलने से तापमान कई दिन तक षून्य से कम रहता है।।

वर्शा–वर्शा वर्श भर परन्तु ग्रीश्मकाल में अधिक होती है। ध्रुवों की ओर वर्शा की मात्रा घटती जाती है। षीतकाल में वर्शा हिम के रुप में होती है। वार्शिक वर्शा औसतन 50 से 100 सेण्टीमीटर तक दर्ज की जाती है। अधिकांषतः वर्शा चक्रवातीय होती है, जबकि ग्रीश्मकाल में संवाहनिक वर्शा होती है।

प्राकृतिक वनस्पति–अधिक वर्शा वाले भागों में चौड़ी पत्ती वाले पर्णपाती वन मिलते हैं। ध्रुवीय क्षेत्रों के दक्षिण में कोणधारी वन जिनमें फर, पाइन, स्प्रूस आदि के वृक्ष मिलते हैं, स्टेपी प्रदेष की सीमावर्ती भागों में लम्बी घासें ं 'प्रेयरी' कहलाती है। यहाँ गेहूँ की विस्तृत खेती की जाती है।

9. सेण्ट–लारेन्स तुल्य जलवायु–

वितरण–सेण्ट लारेंस तुल्य जलवायु आर्द्र महाद्वीपीय प्रकार की होती है, अमेरिका के सेण्ट लारेंस नदी बेसिन में पाये जाने के कारण इसे सेण्ट लारेन्स तुल्य जलवायु कहा जाता है। 45^0 से 65^0 अक्षांषों के बीच उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्धो में महाद्वीपों के पूर्वी किनारों पर पायी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यू–इग्लैण्ड प्रदेष, कनाडा के क्यूबेक, ओण्टोरिया प्रान्त, चीन के मंचूरिया, जापान के होकैडो द्वीप तथा अर्जेण्टाइना के दक्षिणी भाग में यह जलवायु पायी जाती है।

तापमान–उच्च अक्षांषों में स्थिति के कारण जलवायु अपेक्षाकृत अधिक ठण्डी होती है। षीत तथा ग्रीश्म काल के तापमान में पर्याप्त अन्तर मिलता है। षीतकाल का तापमान हिमांक से नीचे गिरने का प्रमुख कारण पष्चिम की ओर से आने वाली ध्रुवीय पवने तथा क्यूराइल एवं लेब्राडोर की ठण्डी समुद्री धाराएं हैं

जो आस–पास के तटवर्ती क्षेत्रों के तापमान को कम कर देती है। ठण्डी जल–धारा के कारण सेण्टलारेंस नदी षीतकाल में जम जाती है। सागरीय प्रभाव तथा चक्रवातों के आगमन से तापमान में कुछ वृद्धि हो जाती है जिससे मौसम में कुछ परिवर्तन हो जाता है। ग्रीश्मकाल का तापमान कम रहता है। औसत तापमान 21^0 सेल्सियस के लगभग रहता है। षीतकाल में अधिक ठण्ड पड़ने के कारण वार्शिक तापान्तर अधिक हो जाता है।

वायुदाब एवं हवाएं–ग्रीश्मकाल में आन्तरिक क्षेत्रों में निम्न वायुदाब केन्द्र बनने धरातलीय भागों की ओर समुद्री हवाएं चलने लगती हैं। लेकिन आन्तरिक क्षेत्रों को प्रभावित नहीं कर पाती हैं जबकि षीतकाल में महाद्वीपों के आन्तरिक क्षेत्रों ओटावा, क्यूबेक आदि क्षेत्रों में उच्च वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं तथा ध्रुवीय क्षेत्रों में अल्यूसियन तथा आइसलैण्ड द्वीपों के पास निम्न वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं। जिससे उच्च दाब से निम्नदाब की ओर हवाएं चलने लगती हैं। कभी–कभी चक्रवातीय वर्शा भी हो जाती है।

वर्शा–वर्शा की मात्रा समुद्री तटीय क्षेत्रों से आन्तरिक क्षेत्रों एवं ध्रुवीय क्षेत्रों की ओर घटती जाती है। वर्शा सामान्यतः पूरे वर्श होती है। अधिकांष वर्शा ग्रीश्मकाल में संवाहनिक प्रकार की कपासी बादलों से होती है। वर्शा के कम दिन होते हैं परन्तु तीव्र होती है। षीतकाल में चक्रवातीय वर्शा हिमपात के रुप में होती है। जो बर्फीले चादर के रुप में जमा हो जाती है। यहाँ वार्शिक वर्शा औसत 75 सेण्टीमीटर है।

प्राकृतिक वनस्पति–अधिक वर्शा क्षेत्रों में कोणधारी बन हैं। जबकि कम वर्शा वाले आन्तरिक क्षेत्रों में घास के मैदान मिलते हैं। अधिकांष वृक्ष मुलायम लकड़ी वाले जैसे– चीड़ स्प्रूस, हेमलॉक आदि हैं, इस क्षेत्र में लकड़ी पर आधारित उद्योगों का आधिक विकास हुआ है। जिससे आन्तरिक भागों में अधिकांष घास के मैदानों को साफ कर कृशि कार्य किया जा रहा है। यहाँ हिरन, लोमड़ी, भालू खरगोष आदि प्रमुख जानवर हैं।

10. पष्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु–

वितरण–इसे षीतोश्ण महासागरीय जलवायु भी कहते हैं। इसका विस्तार 40^0 से 60^0 अक्षांषों के मध्य उत्तर व दक्षिण गोलार्द्धो में महाद्वीपों के पष्चिमी किनारों पर है। सर्वाधिक विस्तार पष्चिमी यूरोप के पष्चिमी नार्वे, डेनमार्क उत्तरी–पष्चिमी, फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड, नार्वे तथा उत्तरी–पष्चिमी जर्मनी में तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के वांषिगटन तथा ओरेगन, कनाडा के ब्रिटिष कोलम्बिया, दक्षिणी गोलार्द्ध में चिली के दक्षिणी–पष्चिमी तट, न्यूजीलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के दक्षिणी–पूर्वी तट पर इस प्रकार की जलवायु पायी जाती है।उत्तरी– गर्म अटलांटिक ड्रिफ्ट के समकारी प्रभाव के कारण नार्वे के पष्चिमी तट पर 68^0 उत्तरी अक्षांष तक भी इस जलवायु का विस्तार पाया जाता है। इस जलवायु का विस्तार महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में मात्र उन्हीं स्थानों पर अधिक है जहाँ पर कोई पर्वतीय अवरोध नहीं है। जिन स्थानों पर पर्वतीय अवरोध रहता है वहाँ पर इस तरह की जलवायु एक सँकरी पट्टी के रूप में ही मिलती है जैसे उत्तरी–पष्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका में रॉकी पर्वत तथा चिली में एण्डीज पर्वत, जिनके कारण यहाँ बहुत कम क्षेत्र में इस तरह की जलवायु पाई जाती है। पष्चिमी यूरोप के तटीय भागों में कोई पर्वतीय अवरोध न मिलने के कारण पछुआ हवाएं (सागरीय हवाएं) काफी अन्दर तक बिना किसी रूकावट के बहती हैं।

तापमान–यह जलवायु आर्द्र–आर्कटिक–जलवायु तथा भूमध्य–सागरीय जलवायु के उत्तर मध्य महासागरों के पूर्वी किनारे पर मिलती है, इसलिये इसके तापमान पर महासागरों, गर्म समुद्री धाराओं तथा ध्रुवीय पवनों का प्रभाव पड़ता है, जिससे तापान्तर कम रहता है। ग्रीश्म काल का औसत तापमान 15^0 से 18^0 सेल्सियस तक रहता है। गर्मियों में जितना तापमान होना चाहिए उससे कम तापमान पाया जाता है क्योंकि भूमध्यसागरीय जलवायु पायी जाती है। वातावरण के आर्द्र तथा आसमान में बादल छाये रहने के कारण रात का तापमान भी बहुत कम नहीं होता। जुलाई के महीने में औसत ऊँचा तापमान सिएटल (संयुक्त राज्य अमेरिका) का 22.8^0 तथा वेलिंग्टन का 21.7^0 दर्ज किया गया, जबकि इस महीने में इन्हीं स्थानों का न्यूनतम तापमान क्रमषः 12.8^0 तथा 10.6^0 सेल्सियस अंकित किया गया है। कभी–कभी यहाँ दिन का तापमान 38^0 सेल्सियस के ऊपर तक पहुँच जाता है।

षीतऋतु सामान्य होता है। पष्चिमी यूरोप के तटवर्टी भाग में अटलांटिक गर्मधारा के प्रभाव के कारण तापमान में 11^0 से 17^0 सेल्सियस तक वृद्धि हो जाता है तथा आन्तरिक भागों में ध्रुवीय वायुराषियों के कारण तापमान गि जाता है तथा षीत लहर चलने से तापमान -18^0 से -40^0 सेल्सियस तक नीचे गिर जाता है। षीतकाल का पष्चिमी यूरोप का औसत तापमान 2^0 मेलबोर्न का 9.4^0 तथा सिएटल का 1^0 सेल्सियस दर्ज किया गया है।

वर्शा—यहाँ वर्श भर वर्शा होती है, परन्तु वर्शा के वितरण में असमानता पायी जाती है। वर्शा वितरण में तटवर्ती क्षेत्र से आन्तरिक क्षेत्रों की ओर बढ़ने पर उच्चावचीय प्रभाव मिलता है। तटवर्ती क्षेत्रों के आस—पास ही पर्वतीय अवरोध के कारण औसत वार्शिक वर्शा 250 सेण्टीमीटर से 375 सेमी0 तक पाया गया है, जैसे उत्तरी अमेरिका में राकी पर्वत तथा चिली में एण्डीज पर्वतमाला के अवरोध के कारण वायु—अभिमुख क्षेत्रों (ढालों) पर भारी वर्शा होती है। पर्वत के पवन विमुखी वृश्टि छाया—प्रदेष होने से वर्शा कम प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत पर्वतीय अवरोधन नहीं है। वहाँ पर वार्शिक वर्शा का औसत 50 सेण्टीमीटर से 85 सेण्टीमीटर तक पाया जाता है जैसे—पष्चिमी यूरोप के मैदानी क्षेत्र।

इस जलवायु प्रदेष में वर्श भर वर्शा होती है फिर भी ग्रीश्मकाल में कुछ तेज लेकिन कम समय तक होती है, जबकि षीतकाल में अधिकांष समय कोहरा एवं बादल छाये रहते हैं तथा वर्शा रूक—रूक कर देर तक बौछारों के रूप में होती है। षीतकाल में षीतोश्ण कटिबन्धीय चक्रवातों से अधिक वर्शा तटवर्ती क्षेत्रों में होती है जबकि आन्तरिक क्षेत्रों की ओर ग्रीश्मकालीन वर्शा अधिक होती है। यहाँ वर्शा कई दिनों तक होती है। षीतकाल में हिमपात तटवर्ती क्षेत्रों की अपेक्षा आन्तरिक क्षेत्रों में अधिक होता है।

प्राकृतिक वनस्पति—वर्श भर वर्शा के कारण यहाँ पर सघन वन, जिसमें चौड़ी—पत्ती वाले पर्णपाती तथा कोणधारी दोनों प्रकार के बन मिलते हैं। इनमें ओक, बीच, चीड़, फर, स्प्रूस, एल्स, डगलस, रेडवुड, सिडार आदि वृक्ष मिलते हैं। पष्चिमी यूरोप के तटवर्ती क्षेत्रों में विस्तृत पैमाने पर वनों को साफ कर वहाँ कृशिकार्य एवं नगरीय अधिवासों की स्थापना की जा रही है।

यहाँ बड़े पैमाने पर मछलियाँ तथा जंगली जानवरों में भालू, लोमड़ी, खरगोष, हिरन, भेड़िया आदि पाये जाते हैं।

11. टैगा तुल्य जलवायु—

वितरण—इसे उपध्रुवीय जलवायु भी कहते हैं। इसका विस्तार उत्तरी गोलार्द्ध में 50^0 से 70^0 आक्षांषों के बीच है। इसमें यूरेषिया का उत्तरी भाग, यूरोप में नार्वे, फिनलैण्ड, उत्तरी तथा मध्य पूर्व रुस, एषिया में साइबेरिया, उत्तरी अमेरिका में कनाडा के मध्यवर्ती भाग एवं आलस्का आते हैं। सर्वाधिक विस्तार साइबेरिया में होने के कारण इसे साइबेरिया तुल्य जलवायु प्रदेष भी कहते हैं।

तापमान—यहाँ की जलवायु लम्बी, कठोर विशम तथा अत्यधिक ठण्डी षीत ऋतु के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ महाद्वीपीयता का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। षीतकाल में अत्यधिक ठण्ड तथा गर्मी सामान्य रहती है। वार्शिक तापान्तर अत्यधिक पाया जाता है। यहाँ विष्व का सर्वाधिक ठण्डा स्थल बरखोयांस्क जो साइबेरिया में स्थित हे। षीतकालीन न्यूनतम तापमान -66.8^0 सेल्सियस अंकित किया गया है। दैनिक तापान्तर भी अत्यधिक पाया जाता है। षीतकाल 08 महीने से अधिक का होता है। लम्बी षीतकालीन रातें तापमान को अत्यधिक कम कर देती है। जिससे चारों ओर हिम की चादर सी फैल जाती है। अधिकांष क्षेत्रों में तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है। औसत षीतकालीन तापमान जैसे— ओखोटस्क में -2.4^0 से, बरखोयान्स्क में -50^0 से -60^0 से ईगल (आलस्का) -26^0 से, जासन (कनाडा) में -30^0 सेल्सियस मिलता है। ग्रीश्मकाल का औसत तापमान 10^0 से 15^0 सेल्सियस तक ज्ञात किया गया है। यहाँ जून, जुलाई तथा अगस्त के महीने में गर्मी पड़ती हैं। कई स्थानों पर तो इस समय भी तापमान षून्य डिग्री सेल्सियस तक पहुँच जाता है।

वायुदाब एवं हवाएं—आन्तरिक क्षेत्रों में उच्च वायुदाब केन्द्र रहता है, जिससे केन्द्र से बाहर की ओर अत्यधिक ठण्डी हवाएं चलने लगती हैं। ये हवाएं वर्शा के लिए प्रतिकूल होती हैं। ग्रीश्मकाल में चक्रवातीय तूफान आते हैं।

वर्शा—यहाँ सामान्य रुप से वर्श भर वर्शा होती है। जो अधिकांषतः ग्रीश्मकाल में ही होती है। औसत वार्शिक वर्शा 42 से 50 सेण्टीमीटर के मध्य होती है। ग्रीश्म ऋतु में तापमान अधिक होने से वायु षुश्क होती है उसमें नमी धारण करने की क्षमता बढ़ जाती है। षीतकाल में वर्शा हिमपात के रूप में होती है।

प्राकृतिक वनस्पति—टैगा प्रदेष षंक्वाकार (कोणधारी) वनों से ढँका हुआ है। कठोर ठण्ड में हिमपात के कारण इन वृक्षों की पत्तियाँ क्रमषः कठोर, नुकीली, षंक्वाकार होती हैं। जिनमें स्प्रूस, फर, लार्च, सीडर, पाइन, बीच आदि के बहुमूल्य वृक्ष पाये जाते हैं। जो कागज की लुग्दी बनाने ईधन के काम आते हैं, क्योंकि ये कोमल लकड़ी वाले होते हैं। साइबेरिया में भीतरी भागों के वृक्ष सर्दियों में अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं।

यहाँ समूरधारी लम्बे–लम्बे तथा मुलायम बाल वाले पषु पाये जाते हैं। इनके बालों को फर या समूर कहा जाता हैं। इन पषुओं में रेण्डियर, कैरीवू, हिरन, लोमड़ी, भेड़िया, मिंक, एरमाइन आदि प्रमुख हैं।

12. टुण्ड्रातुल्य जलवायु

वितरण—यह मुख्यतः उत्तरी गोलार्द्ध में पाया जाता है। यह जलवायु उत्तरी ध्रुव के समीपवर्ती क्षेत्रों में एक सँकरी पट्टी के रुप में मिलती हैं। इस प्रकार की जलवायु उत्तरी कनाडा, अलास्का, यूरोप में नार्वे, फिनलैण्ड तथा साइबेरिया के उत्तरी भाग में पायी जाती है। इसे ध्रुवीय निम्न प्रदेष अथवा षीत मरूस्थल भी कहा जाता है। इस जलवायु की दक्षिणी सीमा सबसे गर्म महीने की 10^0 सेल्सियस की समताप रेखा है।

तापमान—टुण्ड्रा प्रदेष में षीतऋतु अत्यधिक लम्बी तथा कठोर जबकि ग्रीश्म ऋतु छोटी परन्तु ठण्डी होती है। पूरे वर्श तापमान हिमांक से नीचे बना रहता है। औसत वार्शिक तापमान -12^0 सेल्सियस पाया जाता है। ग्रीश्म ऋतु में तापमान 0^0 से 10^0 सेल्सियस दर्ज किया गया है। इस प्रकार यहाँ पर वार्शिक तापान्तर अधिक पाया जाता है।

षीत ऋतु के तापमान पर महाद्वीपों तथा महासागरों का प्रभाव पड़ता है जो क्षेत्र महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में हैं, वहाँ पर तापमान बहुत कम मिलता है, स्पिट्वर्गेन में -18.9^0 से बैरों में -28.3^0 सेल्सियस तापमान मिलता है जबकि महासागरों के पास वाले स्थान जैसे– वार्डो का सबसे ठण्डे महीने का औसत तापमान मात्र -6.1^0 सेल्सियस पाया जाता है। इस समय यहाँ पर भंयकर बर्फीले तुफान वाली ध्रुवीय वाताग्र का आगमन होता हैं। जिससे षीत ऋतु कठोर होती है। षीतकाल में दिन की लम्बाई कम होने से सूर्यातप कम ग्रहण करता है जिससे जो सूर्यातप मिलता भी है उसका अधिकांष भाग बर्फ की सतह से परावर्तित हो जाता है।

ग्रीष्मऋतु का तापमान 0^0 से 10^0 सेल्सियस के बीच रहता है, जिससे अत्यधिक ठण्ड बनी रहती है। सूर्यातप की अधिकांष मात्रा हिम परतों को पिघलाने में नश्ट हो जाती है। दिन एवं रात की लम्बाई में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है जिससे तापान्तर कम रहता है।

वर्शा—यहाँ वर्शा बहुत कम होती है। अधिकांष वर्शा हिमपात के रूप में होती है, कभी–कभी ग्रीश्मकाल में वर्शा जल के रुप में भी होती है। वार्शिक वर्शा औसत 30 सेण्टीमीटर से भी कम पाया जाता है ग्रीश्मकाल में वर्शा चक्रवातीय रुप में होती है। तटवर्ती क्षेत्रों में प्रायः कोहरा छाया रहता है।

प्राकृतिक वनस्पति—यहाँ की षीत जलवायु पौधों के वृद्धि एवं विकास में बाधक है। ग्रीश्मकाल में जब थोड़े बहुत क्षेत्र की बर्फ पिघल जाती है तो उस समय यहाँ पर रंग–बिरगें फूलों वाली घास, छोटी–छोटी झाड़ियाँ, लाइकेन, बर्च वनस्पतियाँ उग जाती है जो षीत ऋतु के आगमन के साथ ही नश्ट

भी हो जाती है। यहाँ स्थलीय भागों पर रेण्डियर, ध्रुवीय भालू, लोमड़ी, मस्क, हिरण, बारहसिंगा आदि समूरधारी जन्तु पाये जाते हैं तथा तटीय भागों में मछलियाँ पायी जाती हैं।

13. हिमाच्छादित अथवा आर्कटिक जलवायु–

वितरण–इस प्रकार की जलवायु पृथ्वी के सर्वाधिक क्षेत्र पर विस्तृत है। दक्षिणी गोलार्द्ध के अण्टार्कटिका महाद्वीप तथा ग्रीनलैण्ड द्वीप के आन्तरिक भागों, आइसलैण्ड आदि में इस प्रकार की जलवायु मिलती है। इस जलवायु प्रदेष के बारे में अभी तक बहुत कम जानकारी प्राप्त है।

तापमान–इस जलवायु प्रदेष का तापमान सदैव षून्य डिग्री सेल्सियस से कम रहता है, क्योंकि सूर्यातप कम मात्रा में प्राप्त होता है। इस भाग में सूर्य की किरणें सर्वाधिक तिरछी पड़ती हैं, जिससे बहुत कम गर्मी प्राप्त होती है और न्यूनतम वार्शिक तापान्तर मिलता है। ग्रीनलैण्ड में आइस्मिट नामक स्थान पर गर्म महीने का औसत तापमान लगभग -11^0 सेल्सियस तथा षीतकाल में लगभग -40^0 सेल्सियस रहता है। विष्व में सबसे कम तापमान (-88^0 सेल्सियस) वाला स्थान वोस्तोक अण्टार्कटिका में है।

वायुदाब तथा पवन–यहाँ के आन्तरिक क्षेत्रों के ऊपर प्रति–चक्रवात तापीय किरणों से उत्पन्न होते हैं। प्रतिचक्रवातों के ऊपर तेज पछुआ पवन से सम्बन्धित चक्रवात पाये जाते हैं। समताप मण्डलीय आर्कटिक चक्रवातीय पवन प्रणाली में ग्रीश्म तथा सर्द मौसम में अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं जिससे कनाडा तथा यूरेषिया के ऊपर अत्यधिक ठण्डी तथा भारी ध्रुवीय पवनें चलने लगती हैं परन्तु अण्टार्कटिका में षीतकाल में वायुमण्डल के ऊपरी भाग में चक्रवातीय पवन प्रणाली स्थायी रुप से चलती है। ये पवनें ग्रीश्मकाल में कमजोर हो जाती है जिससे निम्न अक्षांषों से ध्रुवों की ओर गर्म हवायें चलने लगती हैं।

वर्शा–कम वर्शा होने से इसे 'षीत जलवायु' भी कहते हैं। वार्शिक वर्शा की मात्रा 10 सेण्टीमीटर से भी कम रहती है। वायु का तापमान अत्यन्त कम होने से जल धारण की क्षमता बहुत कम होती है जिससे वाश्पीकरण न्यून होता है इसीलिए वर्शा की मात्रा कम होने के बाद भी यह जलवायु आर्द्र कही जाती है। वर्शा षुश्क एवं कठोर हिमकणों के रुप में होती है।

प्राकृतिक वनस्पति–यहाँ सदैव बर्फ की मोटी परत जमे रहने के कारण प्राकृतिक वनस्पतियाँ नहीं मिलती है। यहाँ विभिन्न प्रकार की मछलियाँ तथा ध्रुवीय भालू पाये जाते हैं।

14. उच्च पर्वतीय जलवायु–

वितरण– उच्च पर्वतीय जलवायु का वितरण पर्वतों और पठारों के वितरण पर निर्भर करता है। हिमालय पर्वत श्रेणी, आल्पस, एण्डीज, एटलस, इथियोपिया के ज्वालामुखी पर्वतों तथा रूवेन्जोरी श्रेणियों में इस प्रकार की जलवायु पायी जाती है। पामीर की गाँठ के चतुर्दिक फैली पर्वत श्रेणियाँ– पष्चिम में हिन्दूकुष, दक्षिण–पूर्व में हिमालय, पूरब में कराकोरम, दक्षिण–पष्चिम में सुलेमान तथा उत्तर–पूर्व में त्येनषान, अल्टाई तथा सयान पर्वत श्रेणियों में इस प्रकार की जलवायु पायी जाती है। यूरोप में दक्षिणी फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड, उत्तरी इटली तथा आस्ट्रिया के पष्चिमी भाग में फैली आल्पस पर्वत श्रेणी के अतिरिक्त स्कैण्डीनेविया, ब्रिटिष द्वीप समूह तथा मध्य यूरोप के पर्वतीय क्षेत्रों में तथा मैक्सिकों में यह जलवायु पायी जाती है।

वायुदाब एवं पवन– ऊँचाई के साथ वायुमण्डलीय दाब कम हो जाता है। 5 किलोमीटर की ऊँचाई पर वायुमण्डलीय दबाब आधा हो जाता है। 3 किलोमीटर से अधिक ऊँचाई पर वायुमण्डली दबाव कम होने से विभिन्न प्राकर की षारीरिक कश्टों का सामना करना पड़ता है जैसे सिर दर्द, नींद न आना, मिचली आदि। स्थलीय तथा सागरीय समीरों की तरह पवनों की दिषा में दैनिक परिवर्तन हो जाता है। दिन के समय घाटी से पर्वत की ओर तथा रात्रि में पर्वत से घाटी की ओर पवने चलती हैं। इन पवनों को इनकी उत्पत्ति स्थान के अनुसार क्रमषः 'घाटी–समीर' तथा 'पवन समीर' कहा जाता है। ढाल के अनुसार ऊपर की ओर चलने वाली हवाओं को अनाबेटिक तथा नीचे की ओर चलने वाली हवाओं को केटाबेटिक हवायें कहा जाता है। पर्वतों की ओर चलने वाली हवाओं के द्वारा कपासी, कपासवर्शी बादलों

के रुप में घनघोर वर्शा होती हैं। तटवर्ती पर्वत से नीचे की ओर चलने वाली हवायें प्रचण्ड रुप धारण कर लेती हैं। दक्षिणी फ्रांस में 'मिस्ट्राल, एड्रियाटिक सागर के तटवर्ती क्षेत्र में 'बोरा' तथा दक्षिणी कैलीफोर्निया में 'सान्ता–अन्ना' ऐसी ही हवाएं हैं। जो षीतलहर के रुप में चलती हैं।

पर्वतीय अवरोध के कारण पवन ऊपर उठती रहती हैं। दूसरे ढाजल पर नीचे उतरती इन अवरोही पवनों को आल्पस में फान, रॉकी पर्वत के पूर्वी ढाल पर 'चिनुक', ईरान में 'समून' तथा न्यूजीलैण्ड में नार्वेस्टर कहते हैं। ये हवायें काफी गर्म तथा षुश्क होती हैं।

वर्शा– पर्वतीय क्षेत्रों में वर्शा के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों में उच्चावच सबसे महत्वपूर्ण होता है। निम्न अक्षांषों में स्थित पर्वतों में 1500 मीटर की ऊँचाई तक वर्शा में वृद्धि तथा इससे ऊपर कमी मिलती है किन्तु षीतोश्ण कटिबन्ध में स्थित पर्वत क्षेत्रों में कुल वार्शिक वर्शा षिखर प्रदेष (चोटी) तक बढ़ती जाती है। यह वर्शा षुश्क प्रदेषों के लिए महत्वपूर्ण होती है क्योंकि सिंचाई एवं जल–विद्युत उत्पादन में इस जल का प्रयोग किया जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति–पर्वतीय क्षेत्रों में विभिन्न ऊँचाईयों पर अलग–अलग वनस्पति कटिबन्ध पाये जाते हैं। **आस्टिन मिलर** के अनुसार– तापमान और वर्शा की मात्रा में परिवर्तन के कारण थोड़ी दूरी में ही वनस्पतियों में अंतर हो जाता है। यहाँ प्राकृतिक वनस्पति की प्रमुख विषेशता अधिकतम वर्शा वाले क्षेत्र में घने जंगल, उससे कम वर्शा वाले क्षेत्रों में पर्णपाती वन और अधिक ऊँचाई पर कोणधारी वन पाये जाते हैं। कोणधारी वनों तथा हिमरेखा के बीच में घास के मैदान पाये जाते हैं।

8.12 महत्वूपर्ण पुस्तकें

1. डी. एस. लाल – जलवायु विज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज
2. डा. सविद्र सिंह – जलवायु विज्ञान, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर
3. डा. वाई. आई. सिंह – जलवायु विज्ञान, एशियन ह्यूमेनटिस प्रेस (AHP)
4. डा. चतुर्भुज मामोरिया – डा. एम. एस. सिसोदिया – जलवायु विज्ञान एवं समुद्र विज्ञान, साहित्य भवन कानपुर
5. के. सिद्धार्थ – जलवायु और समुद्र विज्ञान – किताब महल

इकाई–9

महासागरीय नितल, महासागरीय जल के तापमान एवं लवणता का वितरण एवं प्रभावित करने वाले कारक।

इकाई की रूपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 जलमण्डल– एक परिचय

9.3 महासागरीय नितल के उच्चावच

9.4 प्रशान्त महासागर के नितल के उच्चावच

9.5 आन्ध्र अथवा अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच

9.6 हिन्द महासागर के नितल के उच्चावच

9.7 महासागरीय जल का तापमान

9.7.1 महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक

9.7.2 महासागरीय जल के तापमान का वितरण

9.8 महासागरीय जल की लवणता

9.8.1 महासागरीय जल की लवणता को प्रभावित करने वाले कारक

9.8.2 महासागरीय जल की लवणता का वितरण

9.9 सारांश

9.10 बोध–प्रश्न

9.11 संदर्भ–ग्रन्थ

9.0 प्रस्तावना (Preface):

अभी तक ज्ञात ब्रह्माण्ड में पृथ्वी एक ऐसा ग्रह है जिस पर जैवमण्डल विद्यमान है पृथ्वी पर इस जैवमण्डल की अनुपस्थिति मुख्यतः तीन मण्डलों, स्थल मण्डल (चट्टान चूर्ण, मिट्टी, पर्वत, पठार, मैदान) वायुमण्डल (गैस, जलवाष्प, धूलिकण एवं वायुमण्डल की विभिन्न परतें) तथा जलमण्डल (महासागर, सागर, झील, आदि) के योगदान के कारण सम्भव हो सका है। जिसमें जल का सर्वाधिक क्षेत्रफल उपस्थित होने के कारण पृथ्वी को नीला ग्रह की उपमा दी जाती है। सम्पूर्ण धरातल के 70.8 प्रतिशत भूभाग पर जल का तथा 29.2 प्रतिशत भाग पर स्थल का विस्तार है प्रस्तुत इकाई में पृथ्वी के जलमण्डल का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्पूर्ण जलीय भाग को अनेक स्वरूपों (महासागर, सागर, झील आदि) में देखा जा सकता है इसमें सबसे प्रमुख महासागर एवं सागर हैं। महासागरीय जल एवं सागरीय बेसिन अपार संसाधनों के भण्डार हैं इसीलिए महासागरों को ''भविष्य का संसाधनों का भण्डार कहा जाता है।'' साथ ही प्रमुख रूप से वर्षा के लिए जल भी उपलब्ध कराते हैं।

महासागरीय बेसिन की बनावट पर्याप्त विविधता लिए हुए है। महासागरों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो समस्त जलमण्डल को 4 महासागरों (कुछ विद्वानों के अनुसार 5, परन्तु दक्षिणी ध्रुव महासागर में महासागरों के पूरे लक्षण नहीं पाये जाते है) प्रशान्त महासागर, अटलांटिक महासागर, हिन्द महासागर एवं आर्कटिक महासागर में वर्गीकृत किया गया है। इस इकाई में महासागरीय बेसिन के उच्चावचों एवं महासागरीय जल के तापमान का वितरण, प्रभावित करने वाले कारकों, लवणता के वितरण एवं उसको प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

9.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1– विद्यार्थियों को सागरीय जल की विशेषताओं से अवगत कराना।

2– महासागरों के नितल के विभिन्न स्वरूपों की जानकारी उपलब्ध कराना।

3– महासागरीय एवं सागरीय जल के तापमान के गतिक स्वरूप एवं वितरण से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

4– महासागरीय एवं सागरीय लवणता के स्थानिक एवं अक्षांशीय वितरण से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

5– भविष्य के संसाधनों के रूप में सागरों के महत्व से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

6– महासागरों के अध्ययन के लिए विद्यार्थियों को प्रेरित करना।

7– विद्यार्थियों में महासागरों से सम्बन्धित संसाधनों एवं नित्य नवीन खोजों के प्रति जिज्ञासा विकसित करना।

9.2 जलमण्डल एक परिचय (Introduction of Hydrosphere)

सौरमण्डल के सभी ग्रहों में पृथ्वी को सबसे अनोखा ग्रह माना जाता है, और कहा जाता है कि पृथ्वी एक मात्र ऐसा ग्रह है जिस पर जल पाया जाता है। तथा जल की अधिकता के कारण पृथ्वी रंग अंतरिक्ष से नीला दिखाई पड़ता है इसीलिए पृथ्वी को नीला ग्रह भी कहा जाता है। समस्त पृथ्वी को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जाता है। (उत्तरी

गोलार्द्ध एवं दक्षिणी गोलार्द्ध) परन्तु भौतिक दृष्टिकोण से यदि इसका विभाजन किया जाय तो पृथ्वी तल को दो मण्डलों में बांटा जाता है।

I- जल मण्डल (Hydrosphere)

II- स्थल मण्डल (Liethosphere)

समस्त भूमण्डल के 70.8 प्रतिशत भाग पर जल एवं 29.2 प्रतिशत भाग पर स्थल भाग का विस्तार परन्तु प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जलमण्डल स्थल मण्डल को प्रभावित करता है। सम्पूर्ण भूमण्डल का क्षेत्रफल लगभग 51 करोड़ वर्ग किमी है जिसके 36.17 करोड़ वर्ग किमी (70.8 प्रतिशत) पर जल और 14.89 करोड़ वर्ग किमी (29.2 प्रतिशत) भाग पर स्थल विस्तृत है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जलमण्डल का विस्तार पूरी पृथ्वी पर सर्वाधिक है। इस जलमण्डल को आकार के आधार पर कई भागों में वर्गीकृत किया जाता है जैसे महासागर (**Ocean**), सागर (**Sea**), खाड़ी (**Bays**), झील (**Lakes**) आदि। स्मरणीय उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता (**60%**) के कारण स्थल गोलार्द्ध एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की अधिकता (**81%**) के कारण जल गोलार्द्ध कहते हैं।

विश्व के प्रमुख महासागर

महासागर	क्षेत्रफल (वर्ग किमी में)	कुल महासागरीय भाग का प्रतिशत	औसत गहराई (मी0 में)
प्रशान्त महासागर	165246200	45.7	4572
अटलांटिक महासागर	82441500	22.83	3920
हिन्द महासागर	73442700	20.34	4000
आर्कटिक महासागर	14090100	3.91	1260
अन्टार्टिक महासागर	अप्राप्त	अप्राप्त	अप्राप्त

स्रोत– वैकल्पिक भूगोल (संजय सिंह)

सामान्यतः धरातल पर अनेक प्रकार की उच्चावचीय विभिन्नताएँ पायी जाती है जिनका अध्ययन हम सरलतापूर्वक कर सकते हैं। जैसे–पर्वत, पठार, मैदान एवं इन पर बनी अनेकों प्रकार की स्थलाकृतियाँ (वी (V) आकार की घाटी, U (यू) आकार की घाटी, गार्ज, कैनियन, बालूका स्तूप आदि)

इसी प्रकार महासागरीय एवं सागरीय भागों पर भी अनेक प्रकार की स्थलाकृतियाँ पायी जाती है। महासागरीय बेसिन अनेक स्थलाकृतिक विशेषताओं से सम्पन्न है।

महासागरीय नितल के उच्चावचों को अनेक भागों में बाँटा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे दिया जा रहा है।

9.3 महासागरीय नितल के उच्चावचRelief Features of Ocean Bottoms

महासागरीय तली पर्याप्त गहराई लिये हुए है। महासागरीय नितल के उच्चावच को प्रदर्शित करने के लिए उच्चतामितीय वक्र (Hypso Metric curve) का प्रयोग किया जाता है। आज विज्ञान के विकास से सागरीय नितल के बारे में पता लगाना आसान हो गया है। ध्वनि गंभीरता मापक यंत्र 'सोनार' (Sonar) से भी महासागरीय तली की बनावट का पता लगाया जाता है।

उच्चतामितीय

सम्पूर्ण पृथ्वी के धरातल के स्वरूप (उच्चावच) को उच्चतामितीय वक्र के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। स्थल की ऊँचाई एवं समुद्र की गहराई को एक ही रेखा द्वारा प्रदर्शन करने वाले वक्र को उच्चतामितीय वक्र कहते हैं। इस वक्र के द्वारा स्थल के सबसे उच्चस्थ भाग से लेकर महासागरों के सर्वाधिक गहरे भाग का प्रदर्शन किया जाता है। उच्चतामितीय वक्र महासागरीय नितल को प्रदर्शित करने की सबसे उपयुक्त विधि है और महासागरीय तल का स्वरूप इस वक्र का आधार भी है। इस वक्र के अनुसार महासागरीय नितल को निम्नलिखित भागों में बाँटा जाता है–

9.3.1 महाद्वीपीय मग्नतट

9.3.2 महाद्वीपीय मग्न ढ़ाल

9.3.3 महासागरीय मैदान (बेसिन)

9.3.4 महासागरीय गर्त

9.3.5 अन्य लघु आकृतियाँ (महासागरीय कन्दराएँ, कटक, पठार एवं नितलीय पहाड़ियाँ)

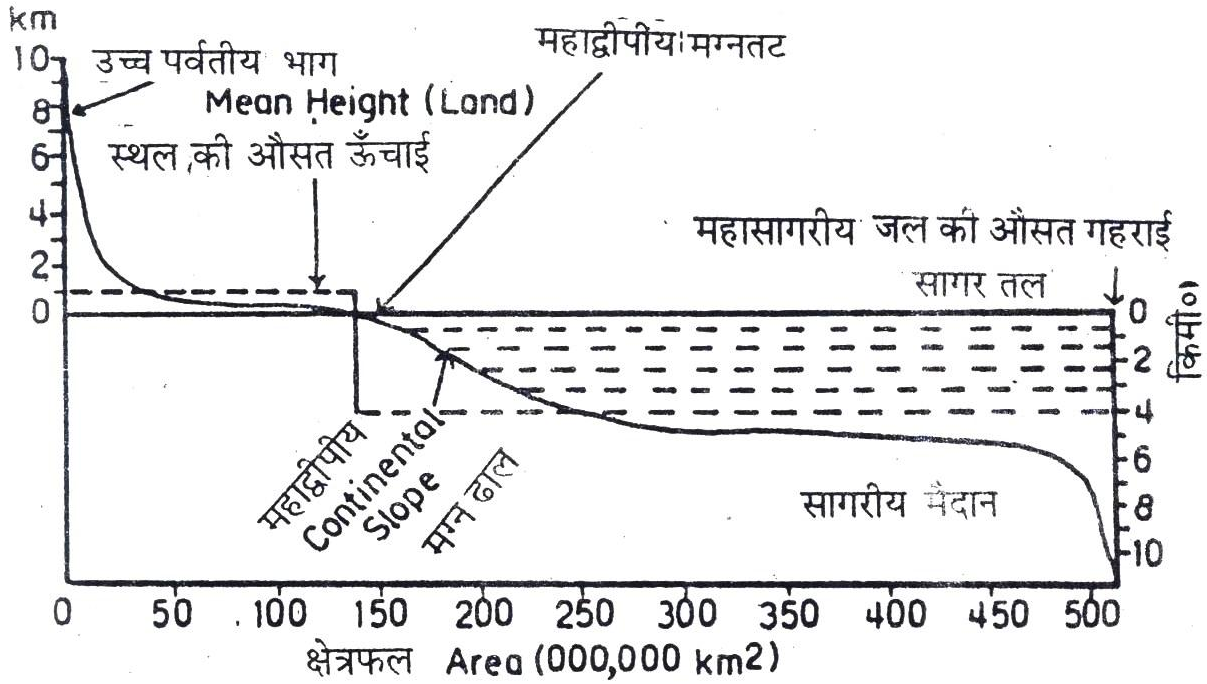

चित्र– 9.1 : उच्चतामितिक वक्र

9.3.1 महाद्वीपीय

महाद्वीपीय किनारे का वह भाग जो कि महासागरीय भागों में कुछ निश्चित गहराई एवं दूरी तक फैला होता है, मग्नतट कहलाता है। यह महासागरों में प्रवेश की पहली सीढ़ी है। महाद्वीपीय मग्नतट की गहराई 100 फैदम (1 फैदम = 6 फीट) अथवा 180 मीटर होती है। लेकिन इसकी गहराई 65 से 300 फैदम तक हो सकती है। इसका सामान्य ढ़ाल 1^0 से 3^0 के बीच होता है। हालांकि इसकी चौड़ाई में मतान्तर है लेकिन सामान्य रूप से मग्नततटों की औसत चौड़ाई 48 किमी (30 मील) होती है। समस्त महासागरीय नितल के 8.6 प्रतिशत भाग पर मग्न तटों का विस्तार पाया जाता है। (अटलांटिक महासागर के सम्पूर्ण क्षेत्रफल के 13.3 प्रतिशत, प्रशान्त महासागर के 5.7 प्रतिशत एवं हिन्द महासागर के 4.2 प्रतिशत भाग पर मग्नतटों का विस्तार है।) महाद्वीप मग्नतट पर बहुत विविधताएँ पायी जाती है। कहीं–कहीं इन पर मैदान, तो कहीं पर टीले और कहीं–कहीं तो घाटियाँ व सागरीय खड्ड पाये जाते हैं। सिंधु एवं कांगो नदियों के मुहानों के पास इस प्रकार के खड्डों का पता चला है।

9.3.2 महाद्वीपीय मग्न ढ़ाल

महासागरीय मग्न तट के आगे का वह भाग जो अधिक ढ़ाल (Slope) लिए होता है मग्नढ़ाल कहलाता है, क्योंकि यह भी महाद्वीप से विशेष रूप से जुड़ा होता है इसलिए इसे महाद्वीपीय मग्नढ़ाल कहा जाता है। महाद्वीप मग्न ढ़ाल की गहराई 200 मीटर से 3000 मीटर तक होती है। इन्हें महाद्वीपों की अन्तिम सीमा भी कहा जाता है। इसका ढ़ाल सामान्यतः 2^0 से 5^0 तक होता है। परन्तु इसमें विविधता अधिक पायी जाती है– सैफर्ड के अनुसार, पर्वतीय तटों के समीप महाद्वीपीय ढ़ाल का झुकाव $3½^0$ जबकि मैदानी तट के समीप केवल 2^0 होता है। भारत के कालीकट के निकट इसका ढ़ाल लगभग 5^0 है। इसका विस्तार महाद्वीपीय मग्नतट एवं महासागरीय मैदान के मध्य पाया जाता है। समस्त महासागरीय भाग के 8.5 प्रतिशत भाग पर मग्नढ़ाल का विस्तार है। (अटलांटिक महासागर के 12.4 प्रतिशत, प्रशान्त महासागर के 7 प्रतिशत एवं हिन्द महासागर के 6.5 % भाग पर मग्न ढ़ाल का विस्तार पाया जाता है।) इन पर कहीं–कहीं खाइयाँ एवं खड्ड पाये जाते हैं। महाद्वीपीय मग्न ढ़ालों पर सागरीय निक्षेप का अभाव पाया जाता है क्योंकि इनका ढ़ाल अत्यन्त तीव्र होता है।

9.3.3 गहरे सागरीय

महाद्वीपीय मग्नढ़ाल के आगे जाने पर ढ़ाल में अचानक कमी हो जाती है और एक नया स्वरूप सामने आता है, इसे ही महासागरीय मैदान कहा जाता है। महासागरीय मैदान सबसे महत्वपूर्ण नितलीय आकृति है। इसकी गहराई 3000 से 6000 मीटर तक होती है तथा इसका ढ़ाल 1^0 एवं इससे भी कम होता है। समस्त महासागरीय भाग के 75.9 प्रतिशत भाग पर गहरे सागरीय मैदान का विस्तार पाया जाता है। (प्रशान्त महासागर के 80.3 प्रतिशत, हिन्द महासागर के 80.1 प्रतिशत तथा अटलांटिक महासागर के 54.9 प्रतिशत भाग पर महासागरीय मैदान का विस्तार पाया जाता है।) महासागरीय मैदानों का सर्वाधिक विस्तार 20^0 उत्तर से 60^0 दक्षिण के मध्य पाया जाता है। महासागरीय मैदानों पर अनेक प्रकार के अवसाद मिलते हैं। (जीव जन्तु के अवशेष एवं पंक)। इसके अलावा महासागरीय मैदानों पर अनेक आकृतियाँ जैसे कटक, उभरे द्वीप आदि पायी जाती है।

9.3.4 महासागरीय

महासागरी गर्त, नितल के सर्वाधिक गहरे भाग होते हैं। ये प्रायः महासागरीय मैदानों के आगे पायी जाती है। इन गर्तों का ढ़ाल अत्यन्त तीव्र होता है। महासागरीय गर्त घोर अन्धकार एवं शीतल जल से युक्त होती है। समस्त महासागरीय क्षेत्र के मात्र 7 प्रतिशत

भाग पर इनका विस्तार पाया जाता है। इनकी स्थिति प्रायः तट के सहारे पर्वतीय मेखलाओं के सामने होती है। इस समय विश्व में 57 गर्तों का पता लगाया जा चुका है। इसमें प्रशान्त महासागर में 32, अटलांटिक महासागर में 19 तथा हिन्द महासागर में 6 गर्त हैं।

विश्व का सबसे गहरा गर्त मेरियाना उत्तर प्रशान्त महासागर में स्थित है जिसकी गहराई 11022 मीटर है।

9.3.5 अन्य लघु आकृतियाँ

उपरोक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलाकृतियाँ भी महासागरीय नितल पर पायी जाती है। जैसे–

9.3.5। अन्तःसागरीय कटक

महासागरीय भागों में नितल पर उथले भाग होते हैं। इनकी चौड़ाई कुछ सौ किमी से लेकर कई हजार किमी तक होती है। इनकी कुल लम्बाई 75000 किमी0 से भी अधिक है। इनका ढ़ाल तीव्र होता है तथा इनका आकार पर्वत श्रेणियों की भांति होता है। कभी ढ़ाल मन्द होने पर ये पठारों की भांति बन जाते हैं। कहीं–कहीं कटकों की ऊँचाई इतनी अधिक होती है कि ये सागरीय सतह पर भी द्वीपों के रूप में प्रकट हो जाते हैं और ये कटक लम्बी श्रृंखला के रूप में भी पाये जाते हैं। इनके निर्माण में विवर्तनिक घटनाओं की प्रमुख भूमिका होती है। मध्य अटलांटिक कटक इसका प्रमुख उदाहरण है।

9.3.5ठ नितलीय पहाड़ियाँ

महासागरीय नितल पर हजारों की संख्या में ऐसी पहाड़ियाँ पायी जाती है। जिनकी ऊँचाई 1000 मीटर से अधिक होती है। इनका निर्माण प्रायः अन्तः सागरीय ज्वालामुखीय क्रियाओं से होता है। सागरीय नितल की ये महत्वपूर्ण आकृतियाँ है। इनका शीर्ष प्रायः नुकीला होता है। परन्तु कभी–2 इनका शीर्ष सपाट होता है जिसे गुयाट (Guyots) कहा जाता है। एक अनुमान के अनुसार सागरीय नितल पर 10000 से अधिक पहाड़ियाँ है। जो कि सबसे अधिक प्रशान्त महासागर में है।

9.3.5ड अन्तः सागरीय कन्दराएँ या गंभीर खड्ड

महासागरीय तली पर जलमग्न एवं तीव्र ढ़ाल वाली गार्ज एवं कैनियन का विस्तार पाया जाता है। इनका विस्तार महाद्वीपीय ढ़ालों एवं महासागरीय मैदानों पर पाया जाता है।

ये खड्ड या कैनियन 500–600 मी0 तक चौड़े एवं 800 मीटर गहरे होते हैं। परन्तु कभी–2 इनकी गहराई 2000 से 3000 मीटर तक पायी जाती है। शैफर्ड एवं बेयर्ड, ने विश्व में कैनियन या कन्दरा की संख्या 102 बताई है। इनका सर्वाधिक विस्तार प्रशान्त महासागर में है इनके तीन प्रकार बताये जाते है–

I- ये मग्नतट के बाहरी किनारे से प्रारम्भ होकर मग्न ढ़ाल तक विस्तृत होती है जैसे– ओश्नोग्राफर कैनियन (न्यू इंग्लैण्ड के समीप)

II- ये किसी नदी के मुहाने से प्रारम्भ होकर मग्नतटों तक फैली होती है– जैसे– मिसीसिपी एवं सिन्धु नदी के जलमग्न कैनियन।

III- ये महाद्वीपीय मग्नतट के किनारे और ढ़ाल पर गहरे कटे वृक्षाकार जलमग्न कैनियन है। जैसे दक्षिणी कैलीफोर्निया के तट के कैनियन।

संसार के सबसे लम्बे जलमग्न कैनियन बेरिंग सागर में पाये जाते हैं। इसमें बेरिंग (Bering), प्रिविलांफ (Pribilof) तथा जेमचुंग कैनियन है।

9.4 प्रशान्त महासागर के नितल के उच्चावच

प्रशान्त महासागर विश्व का सबसे बड़ा एवं गहरा महासागर है जो सम्पूर्ण पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल का 1/3 भाग घेरता है। प्रशान्त महासागर का क्षेत्रफल 165246200 वर्ग किमी है। इस महासागर की चौड़ाई भूमध्यरेखा पर 16000 किमी तथा उत्तर में बेरिंग जल सन्धि से अन्टार्कटिका तक 14880 किमी लम्बा है। प्रशान्त महासागर की आकृति त्रिभुजाकार है। इस महासागर के उत्तर में आर्कटिक महासागर एवं दक्षिण में अन्टार्कटिका, पूर्व में उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका तथा पश्चिम में एशिया एवं आस्ट्रेलिया महाद्वीप विस्तृत है। प्रशान्त महासागर में छोटे बड़े कुल मिलाकर लगभग 20000 द्वीप है।

9.4.1 महाद्वीपीय मग्नतट

प्रशान्त महासागर सबसे बड़ा महासागर है इस महासागर के पूर्वी एवं पश्चिमी तटों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तट अर्थात एशिया एवं आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर अत्यन्त विस्तृत मग्नतट का विस्तार है। इस मग्नतट की औसत चौड़ाई 160 से 1600 किमी0 तथा औसत गहराई 1000 मीटर से कम है, तथा प्रशान्त महासागर का पूर्वी तट (उ0 एवं द0 अमेरिका का पश्चिमी तट) की चौड़ाई मात्र 80

किमी है। प्रशान्त महासागर के मग्न तटों पर असंख्य द्वीप (क्यूराइल, जापान, फिलीपीन्स, इण्डोनेशिया, न्यूजीलैण्ड आदि) एवं कई आन्तरिक एवं सीमान्त सागर (बेरिंग, ओखोटस्क, जापान एवं पीत सागर, चीन, जावा और कोरल सागर आदि) स्थित हैं।

9.4.2 कटक

प्रशान्त महासागर, अटलांटिक महासागर एवं हिन्द महासागर से अलग (भिन्न) है क्योंकि प्रशान्त महासागर के मध्य मे कोई कटक नहीं पाया जाता। बीच–बीच में कहीं–कहीं उभार पाये जाते हैं। प्रशान्त महासागर के पूर्वी भाग में मध्य एवं दक्षिण अमेरिका के समान्तर अल्वेट्रोस पठार (Albatros Plateau) नामक एक कटक विस्तृत है। इसकी गहराई 3000 से 4000 मीटर एवं चौड़ाई 1600 किमी है। इसे पूर्वी प्रशान्त कटक के नाम से जाना जाता है। यह कटक 23^0 से 35^0 दक्षिणी अक्षांश के मध्य दो शाखाओं (पूर्वी एवं पश्चिमी) में विभक्त हो जाता है। पूर्वी शाखा चिली तट के समानान्तर चला गया है जिसे फैलिक्स जुआन फरनांडीज (San Felix- Juna Fernandez) के नाम से जाना जाता है तथा पश्चिमी शाखा ईस्टर्न आइलैण्ड राइज के नाम से दक्षिण को चली जाती है। दूसरा कटक न्यूजीलैण्ड रिज है जिसकी गहराई सागर तल से 200 से 2000 भी है। ग्रेट बैरियर रीफ के बगल एक कटक 'क्वींसलैण्ड' पठार नाम से जाना जाता है, स्थित है।

इस महासागर के मध्य में हवाइयन उभार (Hawaiian swell) है जो 17^0 से 35^0 उत्तरी अक्षांश तक फैला हुआ है यह 9960 किमी चौड़ा तथा 2640 किमी लम्बा है इसी पर हवाई और होनूलुलु द्वीप स्थित हैं।

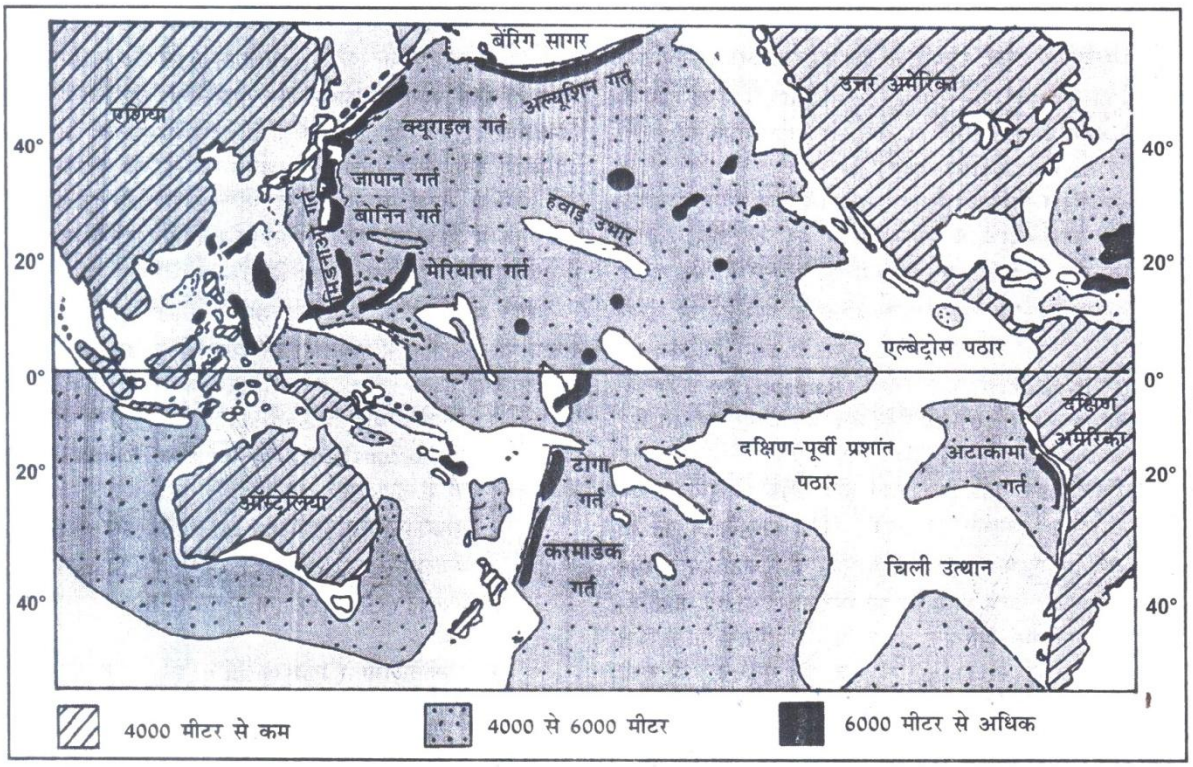

चित्र– 9.2 : प्रशान्त महासागर के नितल के उच्चावच

9.4.3 द्रोणी

प्रशान्त महासागर में अनेक द्रोणियाँ पायी जाती हैं जो कि विभिन्न कटकों द्वारा अलग की जाती है। प्रशान्त महासागर की प्रमुख द्रोणियाँ निम्नलिखित हैं–

I- एल्यूसियन द्वीप के उत्तर में एल्यूसियन द्रोणी स्थित है।

II- फिलीपीन्स द्रोणी फिलीपीन्स द्वीपसमूह के पूर्वी भाग में स्थित है। यह 5^0 उत्तरी अक्षांश से जापान के दक्षिण तक विस्तृत है इसकी गहराई 5000 से 6000 मीटर तक है।

III- फिलीपीन्स द्रोणी के पूर्व में 4000 से 5000 मीटर गहरी केरोलिन द्रोणी विस्तृत है।

IV- फिजी द्वीप के दक्षिण में फिजी द्रोणी है जो कि 22^0 से 32^0 दक्षिणी अक्षांशों के मध्य विस्तृत है इसकी गहराई 4000 मीटर से अधिक है।

V- आस्ट्रेलिया के पूर्व में आस्ट्रेलियन द्रोणी है जो कि 4000 मीटर से 5000 मीटर गहरी है।

VI- दक्षिण–पूर्वी प्रशान्त द्रोणी पेरू तथा चिली के पश्चिम में स्थित है, जिसकी गहराई 4000 मीटर है।

उपरोक्त के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में, दक्षिणी पश्चिमी प्रशान्त द्रोणी, प्रशान्त अंटार्कटिक द्रोणी, जेफरीन द्रोणी आदि द्रोणियाँ पायी जाती है।

9.4.4 महासागरीय गर्त

अब तक विश्व में लगभग 57 गर्तों का अनुमान लगाया जाता है जिसमें सर्वाधिक 32 गर्त प्रशान्त महासागर में स्थित है ये गर्त या तो द्वीपीय चापों (Island arcs) या पर्वतीय श्रृंखलाओं के समानान्तर पाये जाते हैं। प्रशान्त महासागर में विश्व के अनेक प्रमुख गर्त पाये जाते हैं। प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग में गर्तों की बहुतायत है। प्रशान्त महासागर के प्रमुख गर्त एवं उनकी गहराई निम्नलिखित है–

क्रं0सं0	गर्त का नाम	गहराई (मीटर में)
1.	मेरियाना	11022
2.	टोंगा	10882
3.	क्यूराइल	10498
4.	फिलीपाइन	10475
5.	करमाडेक	10047
6.	पेठचिली	8025
7.	अल्यूशियन	7679
8.	मध्य अमेरिका	6552
9.	रिक्यू	6395
10.	अटाकामा	7635

स्मरणीय है कि मेरियाना गर्त विश्व का सबसे गहरा गर्त (11022 मीटर) है इसे 'नीरो' गर्त (Nero Deep) भी कहते हैं।

उपरोक्त उच्चावचों के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में 20,000 से अधिक द्वीप भी पाये जाते हैं। इनमें प्रमुख द्वीप क्यूराइल द्वीप, जापान द्वीप समूह, फिलीपीन्स द्वीप समूह, हिन्देशियाई द्वीप, न्यूजीलैण्ड द्वीप, हवाई द्वीप, क्लिपर्टन द्वीप आदि हैं।

9.5 आन्ध्र अथवा अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच

आन्ध्र या अटलांटिक महासागर दूसरा सबसे बड़ा महासागर है। यह महासागर सम्पूर्ण भूमण्डल के क्षेत्रफल के 1/6 प्रतिशत भाग पर विस्तृत है। यह महासागर प्रशान्त महासागर का 1/2 भाग के बराबर है। अटलांटिक महासागर की आकृति अंग्रेजी के 'S' अक्षर के समान है। अटलांटिक महासागर का क्षेत्रफल 82441500 लाख वर्ग किमी है। यह महासागर मध्य में भूमध्य रेखा के पास सबसे ज्यादा सकरा (2560 किमी) है तथा 35^0 दक्षिणी अक्षांश पर इसकी चौड़ाई 5920 किमी है तथा 40^0 उत्तरी अक्षांश पर इसकी चौड़ाई 4800 किमी हो जाती है।

अटलांटिक महासागर के उत्तर में ग्रीनलैण्ड एवं आर्कटिक महासागर दक्षिण में अन्टार्कटिका महाद्वीप, पूर्व में यूरोप एवं अफ्रीका महाद्वीप तथा पश्चिम में उ0 एवं द0 अमेरिका महाद्वीप स्थित हैं। अटलांटिक महासागर को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका प्राचीनकाल में यूरोप एवं अफ्रीका महाद्वीप से संलग्न थे। आन्ध्र महासागर में निम्नलिखित उच्चावच पाये जाते हैं–

9.5.1 महाद्वीप मग्नतट

आन्ध्र महासागर में मग्न तटों का पर्याप्त मात्रा में विस्तार पाया जाता है। इस महासागर के 13 प्रतिशत भाग पर महाद्वीपीय मग्नतटों का विस्तार है। परन्तु इसके विस्तार में (चौड़ाई) पर्याप्त अन्तर है। जिन तटवर्ती भागों में पर्वत है वहाँ मग्नतट संकरे हैं जैसे विस्के की खाड़ी से आशा अन्तरीप तक तथा ब्राजील में 5^0 से 10^0 दक्षिणी अक्षांश पर मग्नतट की चौड़ाई 80 से 160 किमी है। इसके अलावा उ0 अमेरिका के उत्तर पूर्वी तट पर एवं उ0प0 यूरोप के तट के समीप इसकी चौड़ाई 240 से 400 किमी है। न्यूफाउण्डलैण्ड तथा ब्रिटिश द्वीप समूह के निकट विश्व का सबसे महत्वपूर्ण मग्नतट **ग्राण्ड**

बैंक तथा **डॉगर बैंक** के रूप में है। दक्षिणी आन्ध्र महासागर में **बहिया बैंक** तथा अन्टार्कटिका के बीच चौड़े मग्न तट पाये जाते हैं। यहाँ पर ग्राहम प्रायद्वीप इससे मिलता है और इस क्षेत्र में इसे पैंटागोनिया का पठार कहते हैं।

9.5.2 मध्य अटलांटिक कटक

आन्ध्र महासागर के नितल के उच्चावच का सबसे महत्वपूर्ण घटक यहाँ का मध्य अटलांटिक कटक है। सर्वप्रथम इसकी खोज सन् 1873 में चैलेन्जर (Challenger) अभियान के दौरान की गयी थी। इस कटक का विस्तृत अध्ययन 1953 में संयुक्त राज्य अमेरिका के वीमा (Vema) नामक जहाज की सहायता से किया गया। अटलांटिक महासागर की भांति इस कटक का आकार भी अंग्रेजी के '**S**' अक्षर जैसा है। इस कटक की लम्बाई 14400 किमी है तथा इस कटक की अधिकतम गहराई 4000 मीटर है। भूमध्य रेखा के निकट रोमांश (Romanche Deep) इसे दो भागों में विभाजित करता है। भूमध्य रेखा के उत्तर इस कटक को **डाल्फिन उभार** तथा दक्षिण में **चैलेन्जर उभार** कहते हैं। ग्रीन लैण्ड एवं आइसलैण्ड के दक्षिण में लगभग 55^0 उत्तरी अक्षांश के पास इसकी चौड़ाई बढ़ जाती है, यहीं पर यह टेलीग्राफिक पठार (Telegraphic plateau) के नाम से जाना जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम समुद्र में पहली बार यहीं पर टेलीग्राफ की तारें (Cables) डाली गई थी। 40^0 उत्तरी अक्षांश के पास इसकी एक शाखा न्यूफाउण्डलैण्ड की ओर निकल जाती (3000 से 5000 मीटर की गहराई पर) है जिसे न्यूफाउण्डलैण्ड उभार के नाम से जाना जाता है। 40^0 दक्षिणी अक्षांश के पार मध्य अटलांटिक कटक से एक 'गयाना' उभार (Guivea Rise) इससे अलग होता है। 40^0 दक्षिणी अक्षांश के पास इस कटक की एक शाखा बैल्बिस श्रेणी (Walvis Ridge) इससे अलग होकर अफ्रीका के मग्नतट में मिल जाती है तथा दूसरी शाखा रायोग्रैण्डी उभार के नाम से दक्षिणी अमेरिका की ओर चली जाती है।

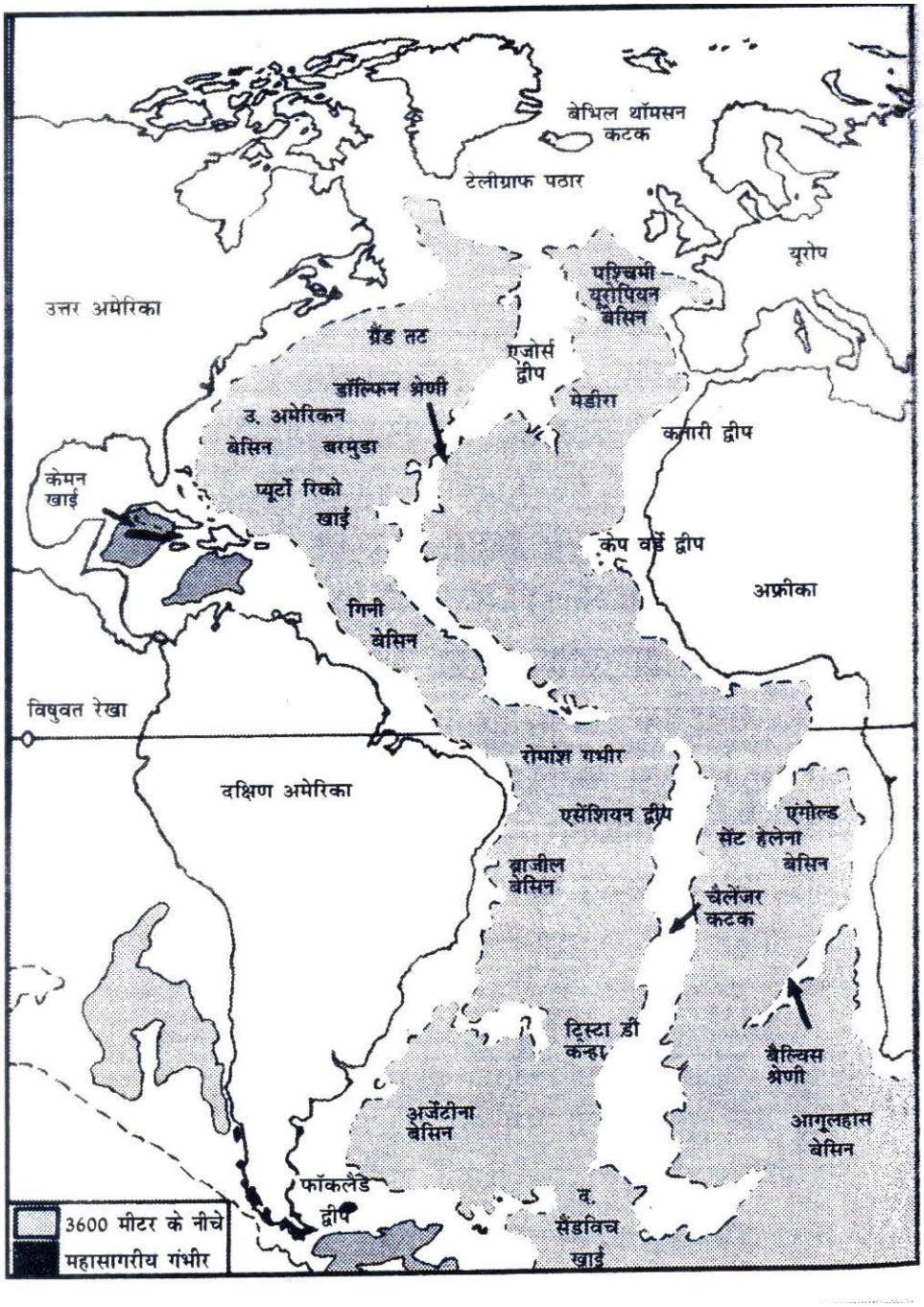

चित्र– 9.3 : अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच

9.5.3 द्रोणी

अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच में मध्य अटलांटिक कटक एक विभाजक का कार्य करता है। इस कटक के द्वारा अटलांटिंक महासागर प्रमुख रूप से दो द्रोणियों में विभक्त हो जाता है और इसके बाद कई उप द्रोणी का निर्माण होता है प्रमुख द्रोणियाँ निम्नलिखित हैं–

स्मरणीय–बस्ट महोदय ने 4000 मीटर की गहराई को द्रोणी (Basin) की सीमा माना है।

५. लेब्राडोर द्रोणी–

यह 4000 मीटर गहरी द्रोणी है जो ग्रीनलैण्ड मग्नतट एवं न्यूफाउण्डलैण्ड के मध्य (40^0 से 50^0 उत्तरी अक्षांश के मध्य) विस्तृत है।

५. उत्तर–पश्चिमी (अमेरिकी) द्रोणी–

यह उत्तरी अटलांटिक महासागर की सबसे बड़ी द्रोणी है। जो उत्तर अमेरिका के तट से 55^0 प0 देशान्तर तथा 12^0 से 40^0 उत्तरी अक्षांश के मध्य फैली है। इसकी गहराई 5000 मीटर है।

५. ब्राजील द्रोणी–

यह द्रोणी 30^0 द0 अक्षांश पर दक्षिणी अमेरिका के तट से **पारा उभार** के मध्य विस्तृत है।

IV- स्पेनिश द्रोणी–

यह द्रोणी 30^0 से 50^0 उत्तरी अक्षांशों के मध्य आइवेरियन प्रायद्वीप के पास स्थित है।

V- केपवर्ड द्रोणी–

यह द्रोणी 10^0 से $23½^0$ उत्तरी अक्षांश के मध्य अटलांटिक कटक एवं अफ्रीका के बीच विस्तृत है।

VI- अगुल्हास द्रोणी–

यह द्रोणी उत्तमासा अन्तरीप के दक्षिण में 40^0 से 50^0 दक्षिणी अक्षांश के मध्य विस्तृत है। उपरोक्त के अतिरिक्त अटलांटिक महासागर में कनारी द्रोणी, अंगोला द्रोणी, केप द्रोणी, अर्जेन्टीना द्रोणी आदि विस्तृत हैं।

9.5.4 गर्त

मरे के अनुसार अटलांटिक महासागर में कुल 19 गर्त हैं। जिनकी गहराई 5500 मीटर से अधिक है तथा दो गर्त 7000 मीटर से अधिक गहरे हैं। अटलांटिक महासागर के प्रमुख गर्त एवं उनकी गहराई निम्नलिखित है–

गर्त का नाम	गहराई (मीटर में)
प्यूर्टोरिको	9392
सैंडविच गर्त	8262
रोमांश गर्त	7631

उपरोक्त के अतिरिक्त अटलांटिक महासागर में केमन गर्त, नरेश गर्त, मोंसके गर्त, कुचानन गर्त आदि गर्त पाये जाते हैं।

9.5.5 द्वीप

उत्तरी अटलांटिक महासागर में ब्रिटिश द्वीप एवं न्यूफाउण्ड लैण्ड द्वीप दो विश्व प्रसिद्ध द्वीप है। (ये मग्न तट के द्वीप हैं) मैक्सिको की खाड़ी के पूर्व में भी अनेक द्वीपों की एक श्रृंखला है। जिसे पश्चिमी द्वीप (West Indies) कहते हैं विस्तृत है। अटलांटिक महासागर में आइसलैण्ड, फोरोस, फाकलैण्ड, शटलैण्ड, सैडविच, एजोर्स, एशेन्सन, मेडिरा, बरमूडा, कनारी, केपवर्डे आदि द्वीप स्थित हैं।

9.5.6 सीमान्त सागर

अटलांटिक महासागर के सीमान्त अनेक सागर विस्तृत हैं जिसमें रूम सागर, कैरेबियन सागर, मैक्सिको की खाड़ी, बाल्टिक सागर, उत्तरी सागर, बैफिन की खाड़ी, हडसन की खाड़ी है।

9.6 हिन्द महासागर के नितल के उच्चावच

हिन्द महासागर, प्रशान्त एवं अटलांटिक महासागर के बाद तीसरा बड़ा महासागर है। हिन्द महासागर का क्षेत्रफल 73425500 वर्ग किमी है। हिन्द महासागर की औसत गहराई 4000 मीटर है। हिन्द महासागर उत्तर में दक्षिण एशिया, पूर्व में हिन्देशिया व आस्ट्रेलिया, पश्चिम में पूर्वी अफ्रीका से घिरा हुआ है एवं दक्षिण में अंटार्कटिका तथा दक्षिण

पश्चिम में आन्ध्र महासागर इसकी सीमा बनाते हैं। कर्क रेखा हिन्द महासागर की उत्तरी सीमा बनाती है।

9.6.1 मग्नतट

हिन्द महासागर के केवल 4.2 प्रतिशत भाग पर ही मग्न तटों का विस्तार पाया जाता है। हिन्द महासागर में मग्नतटों की चौड़ाई में पर्याप्त विविधता देखने को मिलती है। अफ्रीका तट, बंगाल की खाड़ी एवं अरब सागर के सहारे अपेक्षाकृत चौड़े तट का विस्तार है। अफ्रीका के पास का मग्नतट मालागासी (मेडागास्कर) तक फैला है। पूर्वी तटों पर मग्नतटों की चौड़ाई कम हो जाती है। हिन्द महासागर के पश्चिमी मग्नतट 640 किमी तथा पूर्वी मग्नतट 160 किमी चौड़े हैं। दक्षिण में अंटार्कटिका तट का मग्नतट और भी संकरा हो गया है।

9.6.2 कटक

हिन्द महासागर के मध्य में भी एक कटक उत्तर से दक्षिण की ओर विस्तृत है। यह भारत के दक्षिण से प्रारम्भ होकर 20^0 दक्षिणी अक्षांश तक जाकर दक्षिण– पश्चिम की ओर मुड़ जाता है। इस कटक का उत्तरी भाग लक्षद्वीप – चागोस (Lakshadweep Chagos) एवं दक्षिणी भाग 30^0 दक्षिणी अक्षांश के पास सेन्ट पाल कटक अथवा मध्य हिन्द महासागरीय उभार के नाम से जाना जाता है। 20^0 दक्षिणी अक्षांश के बाद इसकी चौड़ाई 320 किमी तथा 30^0 दक्षिणी अक्षांश के दक्षिण में इस कटक की चौड़ाई 1600 किमी0 हो जाती है तथा इसे सेन्टपॉल पठार के नाम से जाना जाता है। इस कटक की औसत गहराई 4000 मीटर से कम है। कुछ जगहों पर मुख्य कटक से कुछ शाखाएँ निकली है जैसे–

I- 5^0 दक्षिणी अक्षांश के पास चागोस द्वीपों के उत्तर–पश्चिम की ओर दक्षिण–पूर्व से उत्तर–पश्चिम की दिशा में सोकोत्रा–चागोस कटक अफ्रीका के गुर्द–फुई अन्तरीप तक चला जाता है।

II- 18^0 दक्षिणी अक्षांश के समीप तथा सोकोत्रा–चागोस कटक के लगभग 1100 किमी दक्षिण की ओर इसके समानान्तर एक अन्य कटक अफ्रीका की ओर चला जाता है। जिसे शेशल्स (Seychelles Ridge) कहते हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त हिन्द महासागर में कार्ल्सवर्ग, मेडागास्कर (3500 मीटर गहरा), प्रिंस एडवर्ड कटक, आदि का विस्तार पाया जाता है।

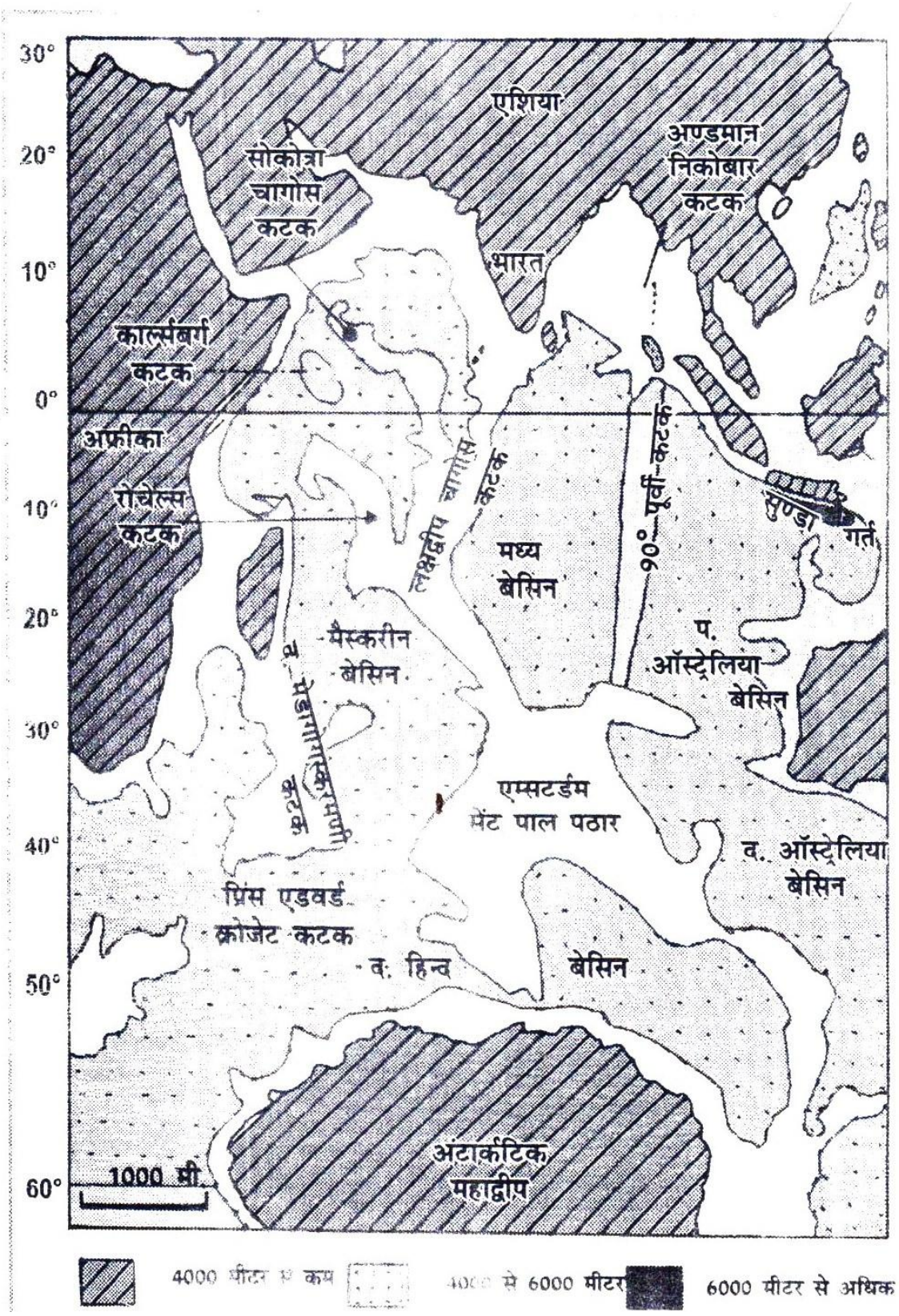

चित्र–9.4 : हिन्दमहासागर के नितल के उच्चावच

9.6.3 द्रोणी

हिन्द महासागर में अनेक कटकों के कारण कई द्रोणियों (Basins) का विस्तार पाया जाता है। जिनकी गहराई 4000 से 6000 मीटर तक है।

प. **ओमान द्रोणीः**

ओमान की खाड़ी के निकट विस्तृत 3658 मीटर गहरी ओमान द्रोणी स्थित है।

पप. **अरेवियन द्रोणीः**

अफ्रीका तथा भारत के मध्य 3600 से 5486 मीटर गहरी एक द्रोणी विस्तृत है। जिसे अरेवियन द्रोणी के नाम से जाना जाता है। यह द्रोणी कार्ल्सवर्ग कटक द्वारा दो भागों (पूर्वी एवं पश्चिमी) में बांट दी जाती है।

उपरोक्त के अतिरिक्त द्रोणियों को निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है–

द्रोणी	स्थिति	औसत गहराई (मीटर में)
सोमाली द्रोणी	सोकोत्रा–चागोस एवं शेशल्स कटकों के मध्य	3600
मॉरीसस द्रोणी	मालागासी एवं सेन्टपॉल कटक के मध्य	3600 से 5486
नेटॉल द्रोणी	मालागासी कटक तथा पू0 अफ्रीका तट के मध्य	3600
अण्डमान द्रोणी	अण्डमान कटक के पूर्व में	2000 से 4000

इनके अलावा हिन्द महासागर में कोकोस कीलिंग द्रोणी, पूर्वी हिन्द अन्टार्कटिक द्रोणी, अटलांटिक हिन्द अन्टार्कटिक द्रोणी, अगुल्हास द्रोणी आदि का भी विस्तार पाया जाता है।

9.6.4 महासागरीय द्वीप

हिन्द महासागर में स्थित कटक के वे भाग जो महासागरीय सतह के ऊपरी भाग में द्वीपों के नाम से जाने जाते हैं। जैसे मध्यवर्ती कटक पर लकादीव, मालदीव, चौगोस, न्यू एम्सटर्डम, सेन्टपॉल, करगुलेन आदि द्वीप पाये जाते हैं। अन्य द्वीपों में शेशल्स, प्रिंस एडवर्ड, क्रोजेट, मेडागास्कर, लक्षद्वीप आदि द्वीप प्रमुख हैं।

9.6.5 गर्त

हिन्द महासागरीय तली ही पर्याप्त गहरी है। इस महासागर में गर्तों की संख्या कम है। सुण्डागर्त (7252 मी0) के अलावा मॉरीसस, ओब, डायमेंटिना, अमीरांटे गर्त पाया जाता है। सुण्डागर्त हिन्द महासागर का सबसे महत्वपूर्ण गर्त है।

9.7 महासागरीय जल का तापमान

महासागर धरातल के सबसे महत्वपूर्ण भाग हैं। स्थल की भाँति जलमण्डल की अनेक भौतिक विशेषताएँ होती हैं। महासागरीय जल का तापमान उन्हीं विशेषताओं में से एक है। महासागरीय जल का तापमान जलीय जीव जन्तुओं के साथ–साथ स्थलीय जीव जन्तुओं को प्रभावित करता है। इसलिए इसका अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। महासागरीय जल के तापमान का प्रमुख स्रोत सूर्य से प्राप्त होने वाला सौर्यिक विकिरण है। ध्यातव्य है कि सौर्यिक विकिरण के साथ–साथ अन्तः सागरीय घटनाओं से भी महासागरीय जल के तापमान में वृद्धि होती है। महासागरीय जल का तापमान सौर्यिक विकिरण से सबसे ज्यादा प्रभावित होता है। सौर्यिक विकिरण की प्राप्ति महासागरीय जल के तापमान के बढ़ने एवं घटने के लिए उत्तरदायी होती है।

महासागरीय जल के तापमान के गर्म एवं शीतल की प्रक्रियाएँ

महासागरीय जल के गर्म होने से उसका तापमान बढ़ता है एवं शीतल होने से तापमान कम होता है। इस परिवर्तन (वृद्धि) में निम्नलिखित दो प्रक्रियाएँ प्रमुख हैं–

I- सौर्यिक विकिरण का अवशोषण

II- पृथ्वी की अन्तःसागरीय घटनाएँ एवं उनका सागरीय जल से सम्बन्ध

इसी प्रकार महासागरीय जल के शीतल होने की निम्नलिखित तीन प्रक्रियाएँ हैं–

I- सागरीय सतह से उष्मा का विकिरण

II- संवहन

III- वाष्पीकरण

9.7.1 महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारक

समस्त जलीय भाग का तापमान एक समान नहीं पाया जाता है बल्कि तापमान के वितरण में भिन्नता होती है, महासागरीय जल के तापमान को निम्नलिखित तत्त्व प्रमुख रूप से प्रभावित करते हैं–

9-7-1A अक्षांश

अक्षांशीय स्थिति महासागरीय जल के तापमान के वितरण की प्रमुख इकाई है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर तापमान में परिवर्तन होता रहता है। भूमध्य रेखा पर उच्च तापमान तथा ध्रुवों पर निम्न तापमान पाया जाता है। विषुवत रेखा (0^0) पर समुद्री जल का औसत वार्षिक तापमान 26^0C और 20^0 अक्षांश पर 23^0 और 40^0अक्षांशों पर 14^0C तथा 60^0 अक्षांशों पर 1^0C तापमान पाया जाता है। 0^0C की समताप रेखा ध्रुवीय क्षेत्रों के आस–पास टेड़ा–मेढ़ा वृत्त बनाती है।

9-7-1B जल थल का वितरण–

स्थल एवं जल के असमान वितरण के कारण महासागरीय जल का तापमान प्रभावित होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की प्रधानता है। जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की प्रधानता है। गर्म स्थल के सम्पर्क के कारण महासागर अधिक उष्मा प्राप्त कर लेते हैं तथा शीत स्थल के सम्पर्क के कारण महासागर अधिक शीतलता प्राप्त करते है। इसी के प्रभाव के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में महासागर का तापमान दक्षिण गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक पाया जाता है।

उत्तरी गोलार्द्ध में गर्म एवं शीत स्थल खण्ड पाये जाते हैं इसीलिए यहाँ पर समताप रेखाएँ सुडौल नहीं पायी जाती हैं। जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में समताप रेखायें अक्षांश के समानान्तर पायी जाती हैं। स्थलीय भाग से घिरे (निम्न अक्षांशों में) सागरीय जल का तापमान बढ़ जाता है जैसे– भूमध्य रेखा पर औसत वार्षिक तापमान 26.6^0 सेग्रे0 (80^0 फारेनहाइट), लाल सागर में 37.8^0 सेग्रे (100^0 फारेन0) तथा फारस की खाड़ी में 34.40 सेग्रे (94^0 फा0) हो जाता है।

9-7-1C प्रचलित पवनें:

हवाएं (प्रचलित पवनें) महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करती हैं जब पवनें स्थल से सागरीय भाग की ओर चलती हैं तो सागरीय सतह के जल को अपने साथ सागर की ओर बहा ले जाती हैं इसकी पूर्ति के लिए समुद्र के निचले भाग से ठण्डा जल ऊपर आ जाता है, जो वहाँ के तापमान को कम कर देता है। इस प्रकार जिस ओर से वायु चलती है वहाँ का तापमान अधिक जबकि जिस ओर को वायु चलती है वहाँ का तापमान कम होता है। जैसे व्यापारिक पवनों (सन्मार्गी पवनें Trade Winds) के प्रभाव से महासागरों के पूर्वी भागों में समुद्र के जल का तापमान कम एवं पछुआ पवनों के प्रभाव से महासागरों के पश्चिमी किनारों पर महासागरीय जल का तापमान कम एवं पूर्वी किनारे पर अधिक होता है।

गल्फ स्ट्रीम धारा उ0प0 यूरोप के तथा क्यूरोशियो धारा एशिया के उ0पू0 तट का तापमान बढ़ा देती है।

9-7-1D महासागरीय धाराएँ:

महासागरीय धाराएँ भी समुद्री जल के तापमान को नियन्त्रित एवं प्रभावित करती हैं। जिन क्षेत्रों में ठण्डी जलधाराएँ चलती है वहाँ सागरीय सतह का तापमान कम होता है। जैसे उत्तरी अटलांटिक महासागर के पश्चिमी तट पर लेब्रोडोर की ठण्डी जलधारा बहती है। इसी कारण यहाँ पर 50^0 उत्तरी अक्षांश पर ही शीत ऋतु में जल जम जाता है। जबकि जिन क्षेत्रों में गर्म जलधाराएँ चलती हैं वहाँ सागरीय सतह का तापमान अधिक होता है। जैसे यूरोपीय तट के साथ गल्फ स्ट्रीम गर्म धारा बहती है जिससे कि 60^0 अक्षांश पर भी जल का तापमान ऊँचा रहता है और समुद्री जल नहीं जमता।

9-7-1Eलवणता:

लवणता भी सागरीय जल के तापमान को प्रभावित करती है। अधिक लवणयुक्त जल अधिक ऊष्मा को ग्रहण करता है जबकि कम लवणता का जल कम ऊष्मा को ग्रहण करता है।

9-7-1F अन्य कारकः

उपरोक्त के अतिरिक्त अनेकों कारक हैं जो महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करते हैं जैसे–

- अन्तः सागरीय कटक के दो तरफ तापमान में अन्तर मिलता है।
- स्थानीय मौसमी दशाएँ (तूफान, चक्रवात, हरीकेन आदि)
- सागरों की स्थिति एवं विस्तार (बन्द सागर, खुले सागर)
- भूगर्भिक ताप

9.7.2 महासागरीय जल के तापमान का वितरणः

महासागरीय जल के तापमान के वितरण को दो रूपों में स्पष्ट किया जाता है–

9.7.2। तापमान का क्षैतिज वितरण

9-7-2B तापमान का ऊर्ध्वाधर वितरण

9-7-1 A महासागरीय जल के तापमान का क्षैतिज वितरणः

सामान्यतया भूमध्यरेखा पर महासागरीय जल का तापमान 26.7^0C अंकित किया जाता है। इसके पश्चात विषुवत रेखा से दोनों गोलार्द्धों में उच्च अक्षांशों की ओर जाने पर तापमान में गिरावट होती जाती है। तापमान गिरने की दर सामान्यतः 0.5^0 फा0 होती है। 20^0 अक्षांश के पास 23^0 सेग्रे, 40^0 अक्षांशों के पास 14^0 सेग्रे, 60^0 अक्षांशों के पास 1^0 सेग्रे तथा उच्च अक्षांश में ध्रुवों के आस–पास तापमान 0^0 सेग्रे0 पाया जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में तापमान थोड़ा–सा अधिक (दक्षिणी गोलार्द्ध की तुलना में) पाया जाता है। कभी–कभी यह तापमान 28^0 सेग्रे तक भी पाया जाता है। महासागरीय भाग में उच्च तापमान भूमध्य रेखा पर न मिलकर उससे उत्तर की ओर मिलता है। विश्व के समस्त महासागरों का औसत वार्षिक तापमान 17.2^0 सेग्रे पाया जाता है। इसमें भी उत्तरी गोलार्द्ध के महासागरों का औसत वार्षिक तापमान 19.4^0 सेग्रे तथा दक्षिणी गोलार्द्ध का औसत वार्षिक तापमान 16. 1^0 सेग्रे होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में तापमान कम पाये जाने का कारण है, महासागरीय जल का संचरण। उत्तरी गोलार्द्ध में विषुवत रेखा से चलने वाली धाराएँ तापान्तर गिरने की दर को कम कर देती हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऊपर दिये गये तापमान पूर्णतः स्थाई नहीं होते बल्कि समय एवं मौसमी एवं जलवायुविक दशाएँ तापमान में परिवर्तन करती रहती हैं। किसी मानचित्र की टेड़ी–मेड़ी एवं सीधी रेखाएँ तापमान वितरण को दर्शाती हैं।

स्वेरड्रप के अनुसार महासागरीय जल का तापमान (सतही) सेग्रे0 में अक्षांशीय विस्तार के अनुरूप

अक्षांश	प्रशान्त महासागर	अटलांटिक महासागर	हिन्द महासागर
उत्तरी गोलार्द्ध			
60^0-70^0	-	5.60	-
50^0-60^0	5.74	8.66	-
40^0-50^0	9.99	13.16	-
30^0-40^0	18.62	20.40	-
20^0-30^0	23.38	24.16	26.14
10^0-20^0	26.42	25.81	27.23
0^0-10^0	27.20	26.66	27.88
दक्षिणी गोलार्द्ध			
0^0-10^0	26.01	25.18	27.14
10^0-20^0	25.11	23.16	25.85
20^0-30^0	21.53	21.20	22.53
30^0-40^0	16.98	16.90	17.00
40^0-50^0	11.16	8.68	8.67
50^0-60^0	5.00	1.76	1.63
60^0-70^0	-1.30	-0.30	-1.50

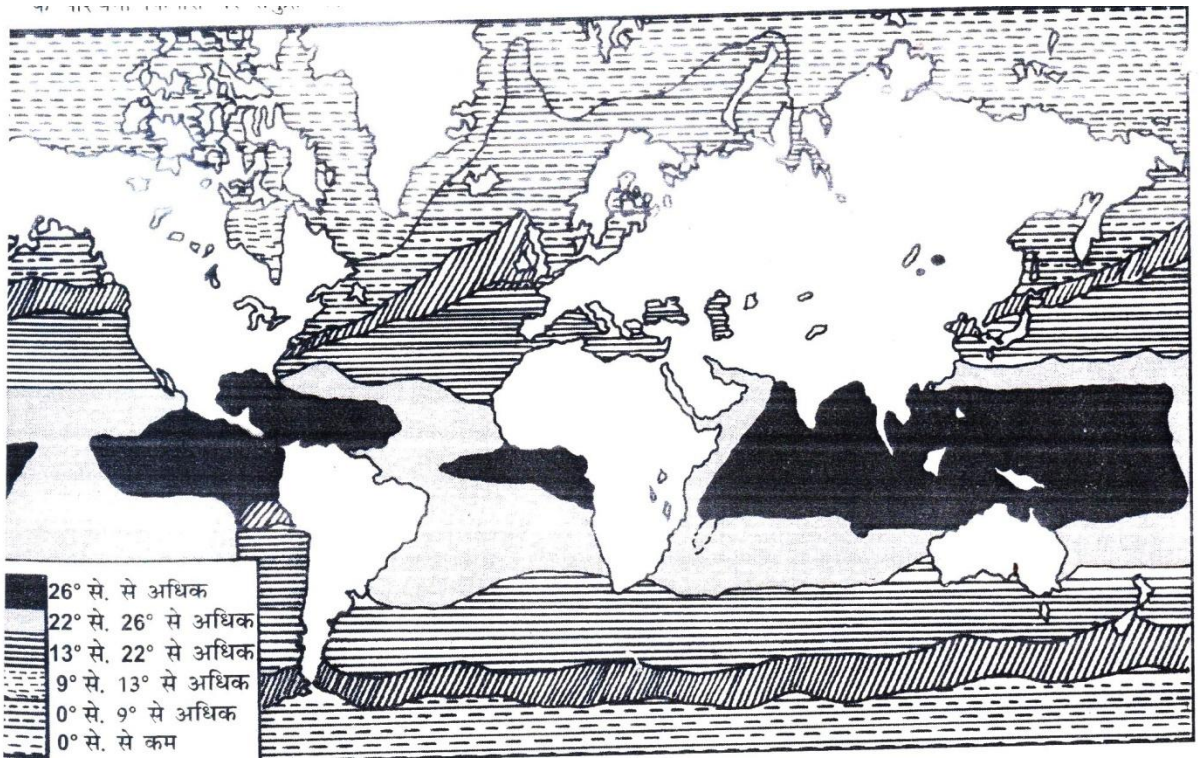

चित्र– 9.5 : महासागरीय जल का तापमान

9-7-2 B महासागरीय जल के तापमान का ऊर्ध्वाधर वितरणः

महासागरीय जल ज्यादा दूर तक फैले होने के कारण अधिक सूर्यातप प्राप्त करता है। इसलिए जल के तल का तापमान सर्वाधिक होता है। जैसे–जैसे हम समुद्र की गहराई में जाते हैं तापक्रम में कमी आने लगती है तापमान के ऊर्ध्वाधर विवरण को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है–

1– सूर्य की किरणें सागरीय जल में मात्र 200 मीटर (लगभग 110 फै0) तक ही प्रवेश कर पाती हैं। इससे अधिक गहराई में सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पाती परिणामस्वरूप गहराई के साथ जल का तापमान कम होता चला जाता है।

2– मरे के चैलेन्जर अन्वेषण के आधार पर सभी महासागरों के लिए विभिन्न गहराईयों पर निम्नलिखित औसत तापमान बताया गया है–

गहराई (फैदम)	तापमान (°सेग्रे0 में)

100	16.00
200	10.00
500	7.2
1000	2.5
1500	2.0
2000	1.6

3– भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर गहराई के साथ तापमान में गिरावट असमान दर से होती है।

4– भूमध्य रेखा पर नियमित वर्षा के कारण लवणता कम हो जाती है। परिणाम स्वरूप सतह के नीचे उच्च तापमान तथा उच्च लवणता पायी जाती है। परन्तु उसके बाद पुनः तापक्रम का पतन आरम्भ हो जाता है।

5– कुछ सागरीय क्षेत्रों में अधिक गहराई पर भी तापमान अधिक होता है क्योंकि उनके जल का बाहरी सागरीय जल के साथ मिश्रण नहीं हो पाता है। जैसे सारगैसो सागर, भूमध्य सागर, लाल सागर आदि।

9.8 महासागरीय जल की लवणता

अर्थ एवं परिभाषा

महासागरीय लवणता से तात्पर्य जल के विशिष्ट स्वाद अर्थात् खारापन से है अर्थात् महासागरीय जल में पाये जाने वाले विभिन्न लवणों के योग को ही खारापन कहते हैं। महासागरीय जल में अनेक प्रकार के लवण पाये जाते है।

स्वेरड्रप के अनुसार :–

''सागरीय जल के भार एवं उसमें घुले हुए पदार्थों के अनुपात को सागरीय लवणता कहते हैं।'' अर्थात् 1 किग्रा सागरीय जल में घुले हुए ठोस पदार्थों की कुल मात्रा को लवणता कहते हैं।

महासागरीय लवणता को प्रति हजार ग्राम में स्थित लवण की मात्रा $^{0}/_{00}$ (PPT Part Per Thousand) के रूप में प्रकट करते हैं जैसे $35\,^{0}/_{00}$ (PPT) का अर्थ है 1000 ग्राम महासागरीय जल में 35 ग्राम लवण की मात्रा।

महासागरीय जल का संघटन :–

महासागरीय जल में अनेक प्रकार के लवण पाये जाते हैं। महासागरीय जल में लवणों को घोलने का गुण होता है। महासागर में विभिन्न माध्यमों से लवण पदार्थों का आगमन होता रहता है। यदि महासागरीय जल में घुले हुए लवण की गणना की जाय तो इस भाग में बहुत अधिक मात्रा में ठोस लवण प्राप्त होंगे। विभिन्न विद्वानों ने इस मात्रा को बताया है जैसे **जौली** के अनुसार 50 अरब टन, मरे के अनुसार 5 अरब टन तथा क्लार्क के अनुसार 2.5 अरब टन। जौली ने बताया कि यदि समस्त सागरीय लवण को निकालकर ग्लोब पर बिछाया जाय तो इसकी मोटाई 45.7 मीटर होगी और यदि इसे स्थल पर बिछाया जाय तो इसकी मोटाई 152 मीटर होगी।

महासागरीय जल में अनेकों प्रकार (चैलेन्जर अभियान के दौरान डिटमार के अनुसार –27) के लवण पाये जाते हैं। कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं–

लवण का नाम	कुल मात्रा ‰ (प्रति 1000 ग्राम में)	कुल लवणता का प्रति % (प्रतिशत)
1. सोडियम क्लोराइड	27.213	77.8
2. मैग्नेशियम क्लोराइड	3.807	10.9
3. मैग्नेशियम सल्फेट	1.658	4.70
4. कैल्सियम सल्फेट	1.260	3.6
5. पोटैशियम सल्फेट	0.863	2.5
6. कैल्सियम कार्बोनेट	0.123	0.3
7. मैग्नीशियम ब्रोमाइड	0.076	0.2
योग	35.000	100.00

महासागरीय जल में सर्वाधिक प्रमुख लवण सोडियम क्लोराइड है जिसकी मात्रा कुल लवणता का 77.8 प्रतिशत है।

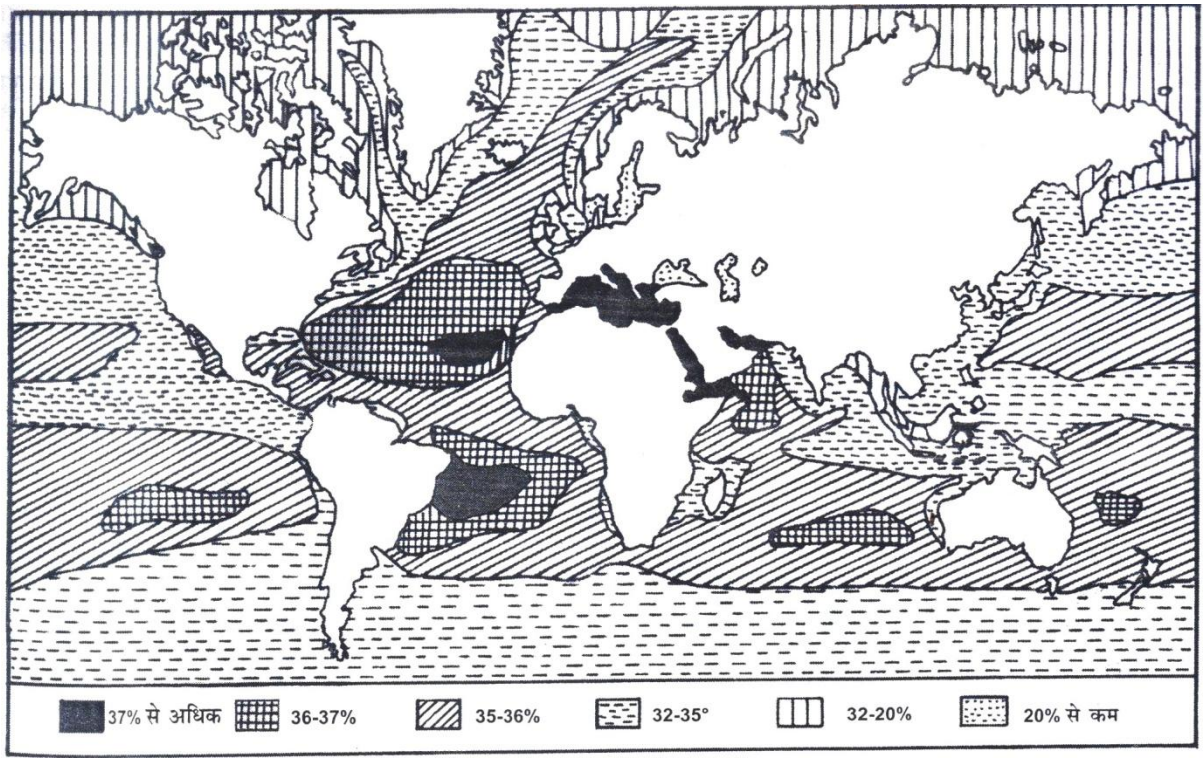

चित्र– 9.6 : महासागरीय जल की लवणता का वितरण

9.8.1 सागरीय जल की लवणता को प्रभावित करने वाले कारकः

सागरीय जल की लवणता सर्वत्र एक समान न होकर अलग–अलग पायी जाती है और इस लवणता में परिवर्तन भी होता रहता है। इसके लिए निम्नलिखित कारक उत्तरदायी होते है–

9-8-1A वाष्पीकरणः

सागरीय लवणता एवं वाष्पीकरण में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् वाष्पीकरण की मात्रा जितनी अधिक होगी लवणता उतनी ही बढ़ती जाती है। परन्तु वायु में आर्द्रता का न्यून होना लवणता में और वृद्धि करने में सहायक होता है। भूमध्य रेखा की अपेक्षा कर्क एवं मकर रेखाओं के पास लवणता अधिक पायी जाती है क्योंकि भूमध्य रेखा के पास आर्द्रता अधिक हो जाती है और संवहनीय वर्षा भी प्रतिदिन होती है।

9-8-1Bस्वच्छ जल की आपूर्तिः

स्वच्छ जल की आपूर्ति भी लवणता को प्रभावित करती है। बर्फ के पिघलने से भी स्वच्छ जल प्राप्त होता है इसके अतिरिक्त वर्षा एवं नदियों से प्राप्त मीठा जल। जिन भागों

में वर्षा अधिक होती है (विषुवत रेखीय भागों में) वहाँ पर लवणता कम पायी जाती है। नदियों के मुहानों के पास भी लवणता की मात्रा कम होती है।

9-8-1C वायुदाब एवं वायु दिशाः

प्रति चक्रवातीय दशाएँ, स्थिर पवन, उच्चतापक्रम के साथ मिलकर लवणता में वृद्धि करती है। अयनवर्ती भागों में ऐसी दशाएँ पायी जाती हैं। इसके अलावा पवनें अपने साथ खारे जल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरकाकर लवणता बढ़ा देती है परन्तु जिस स्थान से खारा जल खिसकता है वहाँ की लवणता कम (अन्तः सागरीय जल के ऊपर आ जाने के कारण) हो जाती है। जैसे व्यापारिक पवनें महाद्वीपों के पश्चिमी किनारे के खारे जल को महाद्वीपों के पूर्वी किनारों पर लाकर वहाँ की लवणता को बढ़ा देती है। इसी कारण मैक्सिको की खाड़ी में लवणता 30‰ से 37‰ जबकि कैलिफोर्निया तट पर लवणता कम पायी जाती है।

9-8-1D सागरीय गतियाँः

धाराएं भी सागरीय लवणता को प्रभावित करती है। भूमध्य रेखा से उत्तर एवं दक्षिण की ओर चलने वाली धाराएँ ध्रुवों की ओर की लवणता को बढ़ा देती है (क्योंकि विषुवतीय धारा अधिक लवणयुक्त होती है) जबकि ध्रुवों की ओर से चलने वाली धाराएँ अपने साथ कम लवणता का जल ले आती हैं। जैसे गल्फ स्ट्रीम की गर्म धारा यूरोप के उत्तर पश्चिमी तट पर लवणता बढ़ा देती है।

9.8.2 महासागरीय जल की लवणता का वितरण

सागरीय लवणता के वितरण को दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है–

9.8.2। लवणता का क्षैतिज वितरण :–

सागरीय लवणता के क्षैतिज वितरण को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है–

। **खुले सागरों की लवणताः**

I **कर्क एवं मकर रेखा के पास की लवणताः**

इन क्षेत्रों में वर्षा कम होने के कारण नदियों की संख्या कम होती है जिससे ताजा जल समुद्र में नहीं पहुँचता। यहाँ की वायु में शुष्कता अधिक होने के कारण वाष्पीकरण अधिक होता है। इसलिए कर्क एवं मकर रेखा के पास लवणता अधिक 36‰ पायी जाती है।

II विषुवत रेखा के निकट की लवणताः

इस भाग में वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है तथा अमेजन एवं वोल्गा नदियों के द्वारा स्वच्छ जल की आपूर्ति भी पर्याप्त मात्रा में होती है तथा वायु में आर्द्रता अधिक होने के कारण वाष्पीकरण भी कम होता है। इन्हीं कारणों से इस भाग में लवणता कम 35‰ पायी जाती है।

III ध्रुवीय क्षेत्रों में लवणताः

इस भाग में लवणता 20‰ से 30‰ तक पायी जाती है क्योंकि इन भागों में वाष्पीकरण कम होता है तथा हिम के पिघलने से स्वच्छ जल (मीठे जल) की आपूर्ति भी हो जाती है।

B आंशिक रूप से घिरे समुद्रों की लवणताः

I अधिक लवणता वाले सागरः

इसमें ऐसे सागर हैं जिनकी लवणता अधिक होती है (37 से 41 ‰) इसका प्रमुख कारण है वाष्पीकरण का अधिक होना एवं बड़ी नदियों की कमी। इसमें सम्मिलित है– भूमध्यसागर, लाल सागर, फारस की खाड़ी आदि।

II मध्यम लवणता वाले सागरः

काला सागर इस प्रकार का प्रमुख उदाहरण है यहाँ की लवणता 18‰ है। यहाँ की लवणता के कम होने का प्रमुख कारण डेन्यूब, नीपर, डॉन आदि नदियों के जल का विसर्जन है।

III न्यून लवणता वाले सागरः

वाल्टिक सागर इस प्रकार का प्रमुख उदाहरण है। स्वीडन के तट के पास इसकी लवणता 11‰ तथा बोथोनिया की खाड़ी के मुहाने के निकट इसकी लवणता मात्र 2‰ ही पायी जाती है।

आन्तरिक सागर एवं झीलों की लवणताः

आन्तरिक सागर तथा झीलों की लवणता बहुत अधिक होती है इसका प्रमुख कारण है वाष्पीकरण का उच्च होना। इसके प्रमुख उदाहरण हैं– अमेरिका के उटाह प्रान्त की महान खारी झील (The Great Salt Lake) लवणता 220‰, जार्डन की मृत सागर लवणता 238‰, टर्की की वॉन झील लवणता 330‰ है।

9-8-2B लवणता का ऊर्ध्वाधर वितरणः

महासागरों में लम्बवत लवणता का अनुमान लगाना अथवा मापन करना एक जटिल कार्य है क्योंकि यह सदैव परिवर्तनशील है, हाँ इतना कहा जा सकता है कि सतह पर लवणता अधिक होती है जो कि गहराई के साथ कम होती जाती है।

9.9 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार स्थल पर पर्वत, पठार, मैदान, झीलों का महत्व है। उसी प्रकार सागरीय भागों में अन्तः सागरीय स्थलाकृतियों का। आज के वैज्ञानिक युग में अनेक तकनीकों (हिप्सोमिट्रिक) कर्व, सोनार, रेज) के प्रयोग से महासागरीय नितल के उच्चावच की जानकारी प्राप्त की जाती है इस इकाई के माध्यम से पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। इस इकाई से यह ज्ञात होता है कि महासागरों, सागरों का क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर तापमान का वितरण कैसा है। महासागरीय जल का तापमान एवं लवणता विश्व की अनेक गतिविधियों को प्रभावित करते हैं।

आज के जीवन के लिए महासागरों एवं सागरों का बड़ा ही महत्व है क्योंकि सागर ही भविष्य के संसाधनों के भण्डार हैं। इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को अनेक सागरीय घटकों, कार्यकलापों की जानकारी प्राप्त होगी जो कि भविष्य में ऊर्जा, मत्स्यपालन, नौकायन, व्यापार आदि में सहायक होगी। अन्ततः कहा जा सकता है कि यदि

महासागरों के उच्चावच, तापमान, लवणता की विशेष जानकारी प्राप्त करनी है तो इस उद्देश्य में यह इकाई विशेष रूप से सहायक होगी।

9.10 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र01 महासागरीय नितल के उच्चावच का सचित्र वर्णन कीजिए।

प्र02 प्रशान्त महासागर के नितलीय उच्चावच का सचित्र वर्णन कीजिए।

प्र03 अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच का वर्णन कीजिए।

प्र04 महासागरीय जल के तापमान को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

प्र05 महासागरीय जल के तापमान के सामान्य वितरण को स्पष्ट कीजिए।

प्र06 महासागरीय जल की लवणता क्या है तथा इसको प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र01 उच्चतामितीय वक्र क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्र02 महाद्वीपीय मग्नतट क्या है? बताइए।

प्र03 महासागरीय गर्त क्या है? समझाइए।

प्र04 महासागरीय कटक से आप क्या समझते हैं?

प्र05 समलवण रेखा क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्र06 महासागरीय जल के तापमान का अक्षांशीय वितरण स्पष्ट कीजिए।

प्र07 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

- महासागरीय लवणता
- निमग्न ढ़ाल
- मृतसागर की लवणता

बहु विकल्पीय प्रश्नोत्तर

प्र01 क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ा महासागर हैः–

(A) प्रशान्त महासागर (B) अटलांटिक महासागर

(C) हिन्द महासागर (D) आर्कटिक महासागर

प्र02 विश्व का सबसे गहरा गर्त है–

(A) टोंगा (B) मेरियाना

(C) चैलेन्जर (D) क्यूराइल

प्र03 प्रशान्त महासागर की औसत गहराई है–

(A) 5000 मीटर (B) 4572 मीटर

(C) 2000 मीटर (D) 3850 मीटर

प्र04 हिन्द महासागर की औसत गहराई है–

(A) 3000 मीटर (B) 6000 मीटर

(C) 4000 मीटर (D) 2000 मीटर

प्र05 सागरीय जल के सर्वाधिक तापमान पाये जाते हैं।

(A) विषुवत रेखा के निकट (B) कर्क रेखा के निकट

(C) मकर रेखा के निकट (D) आर्कटिक वृत्त पर

प्र06 भूमण्डल के सागरों का औसत तापमान है।

(A) 17^0C (B) 27^0C

(C) 37^0C (D) 7^0C

प्र07 विश्व के महासागरों की औसत लवणता है–

(A) 36‰ (B) 35‰

(C) 40‰ (D) 45‰

प्र08 महासागरीय जल में किस लवण का प्रतिशत अधिक होता है।

(A) मैग्नीशियम क्लोराइड (B) सोडियम क्लोराइड

(C) मैग्नीशियम सल्फेट (D) कैल्सियम सल्फेट

प्र09 सर्वाधिक लवणता पायी जाती है।

(A) कैस्पियन सागर (B) काला सागर

(C) वॉन झील (D) मृत सागर

उ0 (1) A (2) B (3) B (4) C (5) A (6) B

(7) B (8) B (9) C

9.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची :–(Bibliography)

1– प्रो0 सविन्द्र सिंह – भौतिक भूगोल

2– डी0एस0 खुल्लर – भूगोल (समग्र)

3– डॉ0 चतुर्भुज मामोरिया– भौतिक भूगोल

4– डॉ0 एस0के0 ओझा– विश्व का भूगोल

5– डॉ0 मो0 हारून– जलवायु एवं समुद्र विज्ञान

इकाईः–10

महासागरीय जलधाराएँ– उत्पत्ति के कारक एवं विभिन्न महासागरों (आन्ध्रमहासागर, प्रशान्त एवं हिन्द महासागर) में वितरण प्रतिरूप।

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 महासागरीय जलधाराएँ

10.3 महासागरीय धाराओं के उत्पन्न होने के कारण

10.4 महासागरीय धाराओं के प्रकार

10.5 प्रशान्त महासागर की जलधाराएँ

10.6 अटलांटिक महासागर की धाराएँ

10.7 सारगैसो सागर

10.7.1 सारगैसो का विस्तार

10.7.2 सारगैसो की उत्पत्ति

10.7.3 सारगैसो की विशेषताएँ

10.8 हिन्द महासागर की धाराएँ

10.9 सारांश

10.10 बोध प्रश्न

10.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 प्रस्तावना

मानव जीवन की विकास यात्रा बहुत लम्बी है जो कि बिना भोजन न सम्भव थी न है और न ही रहेगी। कभी अधिकांश मानव मछली भात एवं अन्न पर निर्भर था और आज इसका स्वरूप बदल गया है आज मछली की प्राप्ति एवं प्रयोग तथा अन्नोत्पादन का प्रतिरूप बदल गया है लेकिन इसमें एक बात तो स्पष्ट है कि इन दोनों के उत्पादन में कुछ विशेष दशाओं (मछलियों के लिए भोजन एवं अन्नोत्पादन के लिए वर्षा) का होना आवश्यक है कहीं न कहीं इनको प्रभावित करने वाली क्रिया का नाम है महासागरीय जल धाराएँ। महासागरीय जल धाराएँ मछलियों के लिए भोजन लाती है तो नौकायन में सहायता करती है और कहीं–कहीं यही धाराएँ वर्षा भी करवाती है और कहीं–कहीं वर्षा को कमजोर भी करती है (जैसे भारतीय मानसून को कमजोर करने वाली धारा एल निनो)। इसलिए मानव जीवन के अस्तित्व एवं विकास के लिए महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति, प्रभावित करने वाले कारकों, विभिन्न प्रकार एवं विभिन्न धाराओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

प्रस्तुत इकाई में महासागरीय धाराओं से सम्बन्धित अनेक तत्त्वों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। धाराएँ एवं ज्वार भाटा भविष्य के ऊर्जा संसाधन के लिए एवं भोजन प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हो रहे हैं। इस इकाई में महासागरीय धाराओं की उपस्थिति विद्यार्थियों को इसके अध्ययन के प्रति प्रेरित करेगी जो कि भविष्य में विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास में सहायक होगी। इस इकाई से महासागरीय धाराओं के विषम में अनेकों प्रकार की जानकारी मिलने वाली है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं:–

1– जलधाराएँ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थियों को समझाना।

2– जलधाराओं का प्रभाव एवं इनको प्रभावित करने वाले तत्त्वों को स्पष्ट करना।

3– विभिन्न महासागरों की धाराओं से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

4– धाराओं के लाभ से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

5– महासागरीय धाराओं के भारतीय मानसून पर प्रभाव से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

6– महासागरीय धाराओं का जलवायु पर प्रभाव को स्पष्ट करना।

10.2 महासागरीय जल धाराएँ

महासागरीय जल की वृहत् जलराशि का एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक निश्चित पथ पर स्थानान्तरण ही धारा कहलाती है। अथवा महासागरों में जल के एक निश्चित दिशा में प्रवाहित होने की गति को धाराएँ कहते हैं। तापमान के आधार पर महासागरीय धाराएँ मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है गर्म जलधारा एवं ठंडी जल धारा। जबकि धाराओं की गति, आकार, दिशा में पर्याप्त अन्तर होता है। इस आधार पर धाराओं के कई उपप्रकार भी होते हैं–

10.2.1 प्रवाह

जब समुद्र की सतह का जल पवन की दिशा एवं गति से प्रभावित होकर मन्द गति से आगे बढ़ता है तो उसे प्रवाह कहते हैं महासागरीय जल की यह गति प्रायः अदृश्य होती है। जैसे उत्तरी अटलांटिक प्रवाह एवं दक्षिणी अटलांटिक प्रवाह आदि।

10.2.2 धारा

महासागरीय जल में निश्चित सीमा के अन्तर्गत निश्चित दिशा में तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली जलराशि को धारा कहते हैं। प्रायः इनका वेग प्रवाह से तीव्र होता है जैसे क्यूरोशिवो धारा।

10.2.3 विशालधारा

जब महासागर का अत्यधिक जल भूतल की नदियों के समान ही निश्चित सीमा तथा अत्यधिक वेग से गतिशील होती है तो उसे विशाल धारा या स्ट्रीम कहते हैं। प्रायः इनकी गति 80 किमी0/घंटा होती है जैसे गल्फस्ट्रीम इसका प्रमुख उदाहरण है।

10.3 महासागरीय धाराओं के उत्पन्न होने के कारण

महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति तथा उनकी गति के स्वभाव को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं–

10.3.1 पृथ्वी का घूर्णन, गुरूत्वाकर्षण बल तथा विक्षेपित बलः

पृथ्वी पश्चिम से पूर्व दिशा में अपने अक्ष के सहारे परिक्रमा करती है। इनकी गति के कारण जल स्थल के साथ तीव्रता से चल नहीं पाता, जिसके कारण जल पीछे छूट जाता है। परिणामस्वरूप जल में पूरब से पश्चिम दिशा में गति (विपरीत दिशा में) गति उत्पन्न हो जाती है जैसे विषुवत रेखीय धाराओं की उत्पत्ति इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

विक्षेप बल के कारण धाराओं के मार्ग में परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण उत्तरी गोलार्द्ध में धाराएँ अपने दाहिने एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में अपने बांयी ओर मुड़ जाती है इसके साथ गुरूत्वाकर्षण बल भी धाराओं को प्रभावित करता है।

10.3.2 महासागर से सम्बन्धित कारकः

महासागरीय जल के तापमान, लवणता, घनत्व आदि में स्थानिक परिवर्तन होते हैं जिसके कारण धाराओं की उत्पत्ति होती है–

10.3.2। तापमान में भिन्नताः

गर्म जल हल्का होकर फैलता है और उसका तल ऊँचा हो जाता है ठंडा जल भारी होता है और नीचे बैठ जाता है। महासागरीय जल के तापमान को सूर्यातप के वितरण प्रभावित करते हैं इस प्रकार तापमान में भिन्नता के कारण सागरीय जल के तल में अन्तर आ जाता है और महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति होती है।

10.3.2ठ लवणता में अन्तरः

सागरीय जल को लवणता में भिन्नता के कारण घनत्व में अन्तर हो जाता है अधिक खारे जल का घनत्व अधिक होने के कारण नीचे बैठता है और उस स्थान को घेरने के लिए बाहर से जल आगे बढ़ता है और धाराओं की उत्पत्ति होती है।

10.3.3 वाह्य सागरीय कारकः–

10-3-3A महासागरीय वर्षा एवं वाष्पीकरणः–

जिन महासागरों में सूर्यातप की अधिकता के कारण वाष्पीकरण अधिक होता है और जल की आपूर्ति कम होती है। उन सागरों में जल का स्तर कम हो जाता है इस जल की कमी की आपूर्ति के लिए आस–पास के उन महासागरीय जल की आपूर्ति होती है जहाँ वाष्पीकरण की अपेक्षा जल की आपूर्ति अधिक होने से जल का स्तर ऊँचा होने लगता है,

इस प्रकार धाराओं का जन्म होता है जैसे भूमध्य सागर में अटलांटिक महासागर की अपेक्षा अधिक वाष्पीकरण होता है जिससे भूमध्य सागर में जल का स्तर अटलांटिक महासागर के जल के स्तर से नीचे हो जाता है। परिणामस्वरूप अटलांटिक महासागर से भूमध्य सागर की ओर धारा चलने लगती है।

10-3-3B वायुदाब तथा प्रचलित पवनेंः–

जहाँ पर वायुदाब अधिक होता है वहाँ पर जल के आयतन में कमी के कारण जल स्तर नीचे हो जाता है इससे विपरीत के वायुदाब वाले क्षेत्रों में जल स्तर ऊँचा हो जाता है जिसके कारण उच्च जल तल से निम्न जल तल की ओर महासागरीय जल गतिशील हो जाता है जिससे धारा की उत्पत्ति होती है।

धाराओं के उत्पन्न होने का सबसे प्रमुख कारण प्रचलित पवनें हैं प्रचलित पवनें हमेशा एक ही निश्चित दिशा में चलती है अर्थात् ये सागर तल के ऊपरी तल से गुजरते समय जल को अपने घर्षण बल से सदैव आगे धक्का देती रहती है जिससे धाराओं का जन्म होता है।

विश्व की अधिकांश मुख्य धाराएँ स्थायी पवनों के अनुसार ही चलती हैं जैसे अटलांटिक महासागर में गल्फ स्ट्रीम प्रशान्त महासागर में क्यूरोशियो धारा तथा हिन्द महासागर में मानसूनी पवनों से चलने वाली धाराएँ वर्ष में दो बार परिवर्तित होती है।

10.3.4 महासागरीय धाराओं की दिशा में परिवर्तन लाने वाले कारकः–

कुछ ऐसी दशाएँ होती है जो महासागरीय धाराओं की दिशा को परिवर्तित एवं निर्धारित करते हैं–

10-3-4A तट की दिशा तथा आकारः

जब महाद्वीपीय भाग सागरीय धाराओं की दिशा में लम्बवत रूप में पाये जाते हैं तो धाराओं के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा धाराएँ महाद्वीपीय तट के समानान्तर चलने लगती हैं विषुवत रेखीय धारा ब्राजील तट से टकराने के बाद दो भागों में विभक्त हो जाती हैं।

10-3-4B तलीय आकृतियाँः

महासागरीय तली की असमानताएँ धाराओं के मार्ग को प्रभावित करती हैं जब धाराओं के मार्ग में अन्तः सागरीय कटक होते हैं तो धाराएँ दो दिशाओं की तरफ मुड़ जाती है।

10-3-4C मौसमी परिवर्तनः

कई स्थानों पर बदलते मौसम के साथ धाराओं की दिशा में भी परिवर्तन हो जाता है जैसे मानसूनी हवाओं का मौसमी दिशा परिवर्तन हिन्द महासागर की धाराओं में दिशा परिवर्तन कर देता है।

10.4 महासागरीय धाराओं के प्रकार

महासागरीय धाराएँ उनके जल की प्रकृति या भौतिक गुणों के आधार पर दो प्रकार की होती हैः–

10-4-1 गर्म जल धाराएँ

महासागरों में सूर्यातप की मात्रा अधिक प्राप्त होने से जल गर्म हो जाता है। जो धाराएँ गर्म क्षेत्रों से ठंडे क्षेत्रों की ओर चलती हैं उन्हें गर्म जलधारा कहते हैं। यह प्रायः भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर चलती हैं इनके जल का तापमान मार्ग में आने वाले तापमान से अधिक होता है। अतः ये धाराएँ जिन क्षेत्रों में चलती हैं वहाँ का तापमान बढ़ा देती हैं जैसे गल्फस्ट्रीम की गर्म जल धारा।

10.4.2 ठंडी जलधाराः–

जो धाराएँ ठंडे क्षेत्रों से गर्म क्षेत्रों की ओर चलती है ठंडी धाराएँ कहलाती हैं। ये प्रायः ध्रुवों से भूमध्य रेखा की ओर चलती है जैसे लैब्रोडोर की ठंडी जलधारा।

10.5 प्रशान्त महासागर की जलधाराएँ

प्रशान्त महासागर अधिक विस्तृत है। और तटवर्ती प्रदेशों का आकार भी विस्तृत है। इसमें धाराओं के क्रम कुछ भिन्न पाये जाते हैं प्रशान्त महासागर की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं।

10.5.1 उत्तरी विषुवतरेखीय धाराः–

यह एक गर्म जलधारा है। यह धारा मैक्सिको के तट से प्रारम्भ होकर पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हुई फिलीपीन्स द्वीप समूह तक पहुँचती है। पृथ्वी की वार्षिक गति तथा सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन होने से उत्तरी विषुवत रेखीय धारा की दक्षिणी सीमा में अक्षांशीय परिवर्तन होता है।

10.5.2 क्यूरोशिवो धाराः

यह एक गर्म जलधारा है उत्तरी विषुवतीय धारा फिलीपाइन द्वीप तक पहुँचने के बाद ताइवान तथा जापान के तट के साथ (बेरिंग जलडमरूमध्य) उत्तर दिशा में बहने लगती है यह धारा एक तन्त्र के रूप में जानी जाती है।

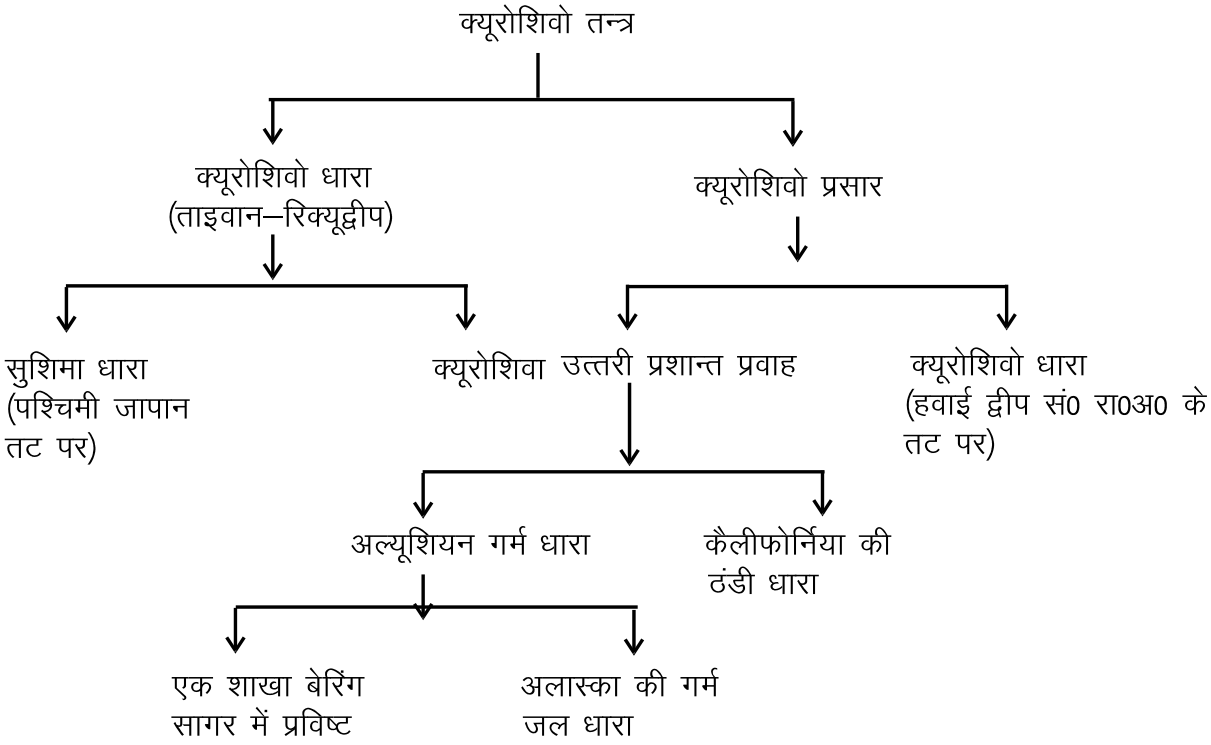

10.5.3 ओयाशिवो धाराः–

इसे क्यूराइल की ठंडी जलधारा भी कहते हैं यह धारा बेरिंग जलमरूमध्य से होकर दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है जिसके द्वारा आर्कटिक सागर का ठंडा जल प्रशान्त महासागर में लाया जाता है। यह धारा जलयानों के लिए क्षतिकारक हैं।

10.5.4 कैलिफोर्निया धाराः

यह एक ठंडी जलधारा है जो अटलांटिक महासागर की कनारी जलधारा के समान है। जब व्यापारिक पवनों के प्रभाव से अमेरिकी तट से जल हटकर उत्तरी विषुवत रेखीय धारा के रूप में पश्चिम की ओर प्रवाहित होने लगता है तो तट के पास जलाभाव की आपूर्ति के लिए उत्तर से दक्षिण दिशा में कैलिफोर्निया धारा चलने लगती है।

10.5.5 हम्बोल्ट धाराः

यह ठंडी जलधारा है और इसे पेरू की ठंडी धारा भी कहते हैं। दक्षिणी अमेरिका के दक्षिण पश्चिम तट पर पहुँच कर यह उत्तर की ओर मुड़ जाती है और पेरू के तट के साथ बहने लगती है क्योंकि यह ठंडे क्षेत्र से गर्म क्षेत्र की ओर चलती है इसीलिए यह पेरू की ठंडी जलधारा कहलाती है।

10.5.6 एलनिनो धारा

यह एक गर्म जलधारा है इसे विपरीत धारा भी कहा जाता है जो दक्षिणी अमेरिका के पेरू तट के पश्चिम में 180 किमी की दूरी पर उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है। इसका विस्तार 3^0 दक्षिण अक्षांश से 18^0 दक्षिण अक्षांश तक रहता है। यह जलधारा प्रशान्त महासागर से होकर हिन्द महासागर में प्रविष्ट कर भारतीय ग्रीष्मकालीन मानसून को कमजोर बनाती है।

प्रति विषुवत रेखीय धारा पेरू तट के समीप पेरू की ठंडी जलधारा से मिलकर सागरीय सतह का तापमान 14^0f बढ़ा देती है जिसे **'समुद्र का ज्वर'** (बुखार) के नाम से जाना जाता है।

10.5.7 ला निनो धारा

यह एक प्रति सागरीय धारा है ला निनो को एल निनो की छोटी बहन भी कहा जाता है। ला निनो के आविर्भाव के साथ पश्चिम प्रशान्त महासागर के उष्ण कटिबन्धीय भाग में तापमान में वृद्धि होने से वाष्पीकरण अधिक होने से भारतीय मानसून अधिक सक्रिय हो जाता है जिससे अच्छी वर्षा होती है।

A-उत्तरी प्रशान्त महासागर की धाराएँ	B-दक्षिणी प्रशान्त महासागर की धाराएँ
ठंडी	**ठंडी**
1– कैलिफोर्निया की धारा	1– दक्षिणी प्रशान्त प्रवाह
2– ओखोटस्क की धारा	2– पेरू या हम्बोल्ट धारा
3– ओयाशिवो की धारा	3– ला–निनो धारा
4– अल्यूशियन धारा	**गर्म–**
गर्म–	4– दक्षिणी विषुवत धारा
5– उत्तरी विषुवत रेखीय धारा	5– पूर्वी आस्ट्रेलिया धारा
6– क्यूरोशियो धारा	6– एल–निनो धारा
7– उत्तरी प्रशान्त धारा	7– प्रति विषुवत रेखीय धारा
8– अलास्का की धारा	8– केल्विन धारा

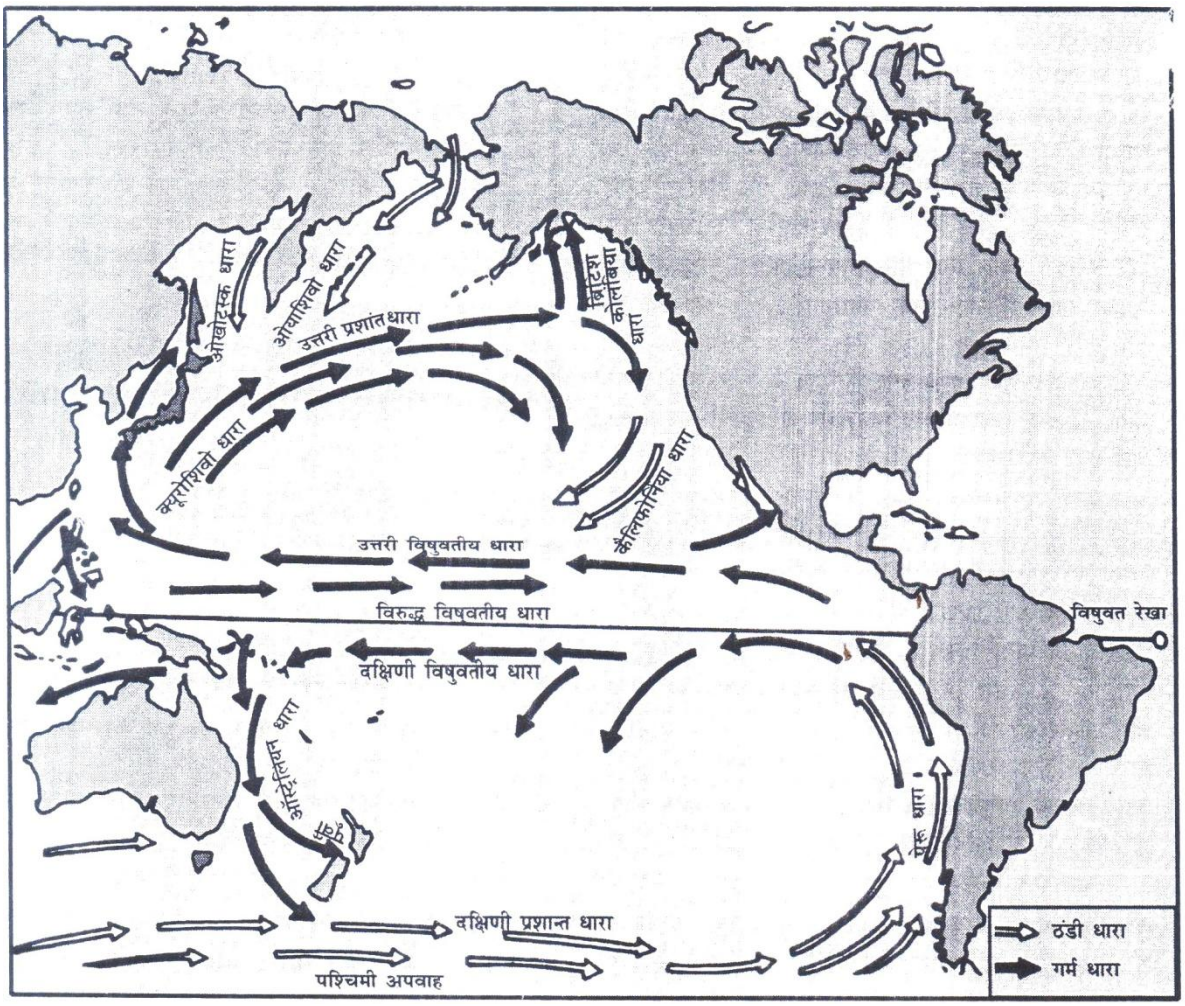

चित्र– 10.1 : प्रशान्त महासागर की धाराएँ

10.6. अटलांटिक महासागर की धाराएँ

अटलांटिक महासागर की मुख्य विशेषता यह है कि विषुवत रेखा के दोनों ओर (उत्तरी तथा दक्षिणी अटलांटिक महासागर) इन धाराओं का एक समान क्रम पाया जाता है तथा दिशा भी लगभग समान ही पायी जाती है। आन्ध्र महासागर की प्रमुख धाराएँ निम्नलिखित हैं:–

10-6-1 उत्तरी विषुवतरेखीय धारा:

यह एक गर्म जलधारा है। उत्तर विषुवत रेखीय धारा– 0^0 उत्तर से 10^0 उत्तरी अक्षांश के मध्य विस्तृत है। अफ्रीका के पश्चिमी तट से जहाँ पर कनारी की ठंडी जलधारा का जल इसे धकेलता है यह धारा प्रारम्भ होकर व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में पूरब से पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होती है।

10-6-2 दक्षिणी विषुवत रेखीय धारा:

यह धारा भी पश्चिमी अफ्रीका तथा पूर्वी दक्षिणी अमेरिका के तटों के मध्य 0^0 से 20^0 दक्षिण अक्षांश के मध्य प्रवाहित होती है। यह धारा भी व्यापारिक पवन से प्रभावित होकर पूरब से पश्चिम दिशा में अग्रसर होती है। इसकी दो शाखाएँ (उ0प0 शाखा के रूप में विषुवत रेखीय धारा एवं ब्राजील धारा) हो जाती है।

10-6-3 प्रतिविषुवत रेखीय धारा:

यह विषुवत रेखीय धारा भूमध्य रेखीय भाग में पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाहित होती है। इसकी स्थिति उत्तरी तथा दक्षिणी विषुवत रेखीय धाराओं के मध्य हैं पूरब में गिनी तक इसका अस्तित्व रहता है। इसीलिए इसे गिनी धारा भी कहते हैं।

10.6.4 खाड़ी की धारा : गल्फस्ट्रीम

यह धारा 20^0 उत्तर अक्षांश के पास मैक्सिको की खाड़ी से उत्पन्न होकर उत्तर पूर्व दिशा की ओर 70^0 उत्तरी अक्षांश तक पश्चिमी यूरोप के पश्चिमी तट तक प्रवाहित होती है। मैक्सिको की खाड़ी में उत्पन्न होने के कारण इसे खाड़ी की धारा कहा जाता है। क्योंकि गल्फ स्ट्रीम एक विस्तृत धारा क्रम है जो कि विस्तृत भागों की जलवायु को प्रभावित करती है। इस क्रम में तीन धाराओं को सम्मिलित किया जाता है–

10-6-4A फ्लोरिडा की धाराः

फ्लोरिडा धारा उत्तर भूमध्य रेखीय धारा का उत्तरी विस्तृत भाग है जो कि यूकाटन चैनल से होती हुई मैक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करती है और वहाँ से फ्लोरिडा जलसन्धि से होकर 30^0 उत्तरी अक्षांश तक पहुँचती है इस धारा में जल का तापमान 24^0C तथा लवणता 36‰ होती है।

10.6.4ठ गल्फस्ट्रीम धारा (हेटरस अन्तरीप से ग्रांड बैंक के बीच) :

गल्फस्ट्रीम की खोज सर्वप्रथम 1513ई0 में **''पोंस डी लियोन''** द्वारा की गयी। फ्लोरिडा की धारा जब एण्टीलीस धारा का जल प्राप्त कर हेटनस अन्तरीप के आगे बढ़ती है तो वह गल्फस्ट्रीम के नाम से जानी जाती है। यह अपने दाहिनी ओर सारगैसो सागर एवं बांयी ओर ठंडी दीवाल से अलग रहती है।

10.6.5 उत्तरी अटलांटिक धाराः

45^0 उत्तरी अक्षांश तथा 45^0 पश्चिमी देशान्तर के पास गल्फ स्ट्रीम कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है। जिसे समस्त रूप से उत्तरी अटलांटिक धारा की संज्ञा दी जाती है।

10.6.6 कनारी धाराः

उत्तरी अटलांटिक महासागरीय प्रवाह की दूसरी शाखा मुड़कर कनारी द्वीप तक पहुँचती है। यह अपेक्षाकृत ठंडे क्षेत्र से गर्म क्षेत्र की ओर चलती है। इसीलिए इसे कनारी की ठंडी धारा कहा जाता है। यह उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी तट के सहारे मडेरिया तथा केपवर्ड के मध्य प्रवाहित होती है।

10.6.7 लैब्रोडोर धाराः

यह धारा ग्रीनलैण्ड के पश्चिमी तट पर बैफिन की खाड़ी से निकलकर लैब्रोडोर पठार के सहारे बहती हुई न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट गल्फ स्ट्रीम से मिल जाती है क्योंकि यह धारा ठंडे ध्रुवीय सागरों से चलती है जिसके कारण यह ठंडी होती है। न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट ठंडे एवं गर्म जल के मिलने के कारण घना कोहरा छाया रहता है।

न्यू फाउण्डलैण्ड के निकट गर्म एवं ठंडी जलधाराओं के मिलने के कारण प्लैक्टन का विकास होता है जिससे यहाँ पर मछलियों की बहुतायत होती है और यहाँ मत्स्ययन भी खूब होता है।

10.6.8 ब्राजील धाराः

दक्षिण विषुवत रेखा की एक शाखा जो ब्राजील तट के सहारे 48^0 दक्षिणी अक्षांश तक प्रवाहित होती है ब्राजील की गर्म जल धारा कहलाती है।

10.6.9 फॉकलैण्ड की धाराः

अण्टार्कटिक सागर का ठंडा जल जब दक्षिणी अमेरिका के केपहार्न से टकराकर 30^0 दक्षिणी अक्षांश (अर्जेन्टीना) तक प्रवाहित होता है यह फॉकलैण्ड की ठंडी धारा के नाम से जाना जाता है।

10.6.10 बैंग्युला धाराः

दक्षिणी अटलांटिक प्रवाह, दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट से टकराकर उसके सहारे उत्तर की ओर मुड़ जाता है इसे ही बैंग्युला की ठंडी धारा कहा जाता है।

10.7सारगैसो सागर

उत्तरी अटलांटिक महासागर में उत्तरी विषुवत रेखीय धारा, गल्फस्ट्रीम तथा कनारी धारा द्वारा एक प्रति चक्रवातीय प्रवाह क्रम पाया जाता है। इस चक्र के अन्तर्गत शान्त एवं गतिहीन जल पाया जाता है। जिससे सारगैसम नामक घास पायी जाती है। इस भाग को सारगैसो सागर कहा जाता है। सारगैसो पोर्चुगीज भाषा के सारगैसम (Sargassum) शब्द से लिया गया है। जिसका तात्पर्य होता है सागरीय घास।

10.7.1सारगैसो का विस्तारः

सारगैसो का अक्षांशीय विस्तार 20^0 से 40^0 उत्तरी अक्षांश तथा देशान्तरीय विस्तार 35^0 से 75^0 पश्चिमी देशान्तर तक है।

10.7.2 सारगैसो की उत्पत्तिः

सारगैसों की उत्पत्ति के कई कारक होते हैं–

1– सारगैसो पछुआ एवं व्यापारिक हवाओं के संक्रमण मण्डल के मध्य स्थित है। जिसके कारण प्रति चक्रवात पवन संचार के कारण मन्द गति से हवाएँ चलती है।

2– उत्तरी अटलांटिक महासागर की धाराओं की चक्राकार गति के कारण चक्र के मध्य स्थित जल का सम्पर्क महासागर के अन्य जल से नहीं हो पाता जिससे जल शान्त एवं गतिहीन हो जाता है।

3– उत्तर विषुवत रेखीय एवं गल्फस्ट्रीम के तीव्र गति के कारण मध्य का जल शान्त पड़ जाता है।

10.7.3 सारगैसो की विशेषताएँः

अटलांटिक महासागर की सर्वाधिक लवणता सारगैसो सागर के जल में ही पायी जाती है जिसकी मात्रा $37\,^{0}/_{00}$ होती है। क्योंकि इस क्षेत्र में उच्च तापमान एवं अधिक वाष्पीकरण होता है जिससे सारगैसो सागर के जल का अन्य सागर के जल से मिश्रण नहीं हो पाता और लवणता बढ़ जाती है इसका औसत वार्षिक तापमान $26^{0}C$ है।

A-उत्तरी अटलांटिक महासागर की धाराएँ	**B-दक्षिणी अटलांटिक महासागर की धाराएँ**
गर्म	**गर्म–**
1– उत्तरी विषुवतरेखीय धारा	1– दक्षिणी विषुवत रेखीय धारा
2– कैरेबियन धारा	2– ब्राजील की धारा
3– एंटीलीज धारा	3– गिनी धारा
4– फ्लोरिडा की धारा	4– प्रति विषुवत रेखीय धारा
5– गल्फस्ट्रीम	**ठंडी–**
6– उत्तरी अटलांटिक प्रवाह	5– फॉकलैण्ड की धारा
7– नार्वे की धारा	6– पश्चिमी पवन प्रवाह
8– दूरमिंगर की धारा	7– वैंग्युला की धारा
9– रेनेल की धारा	
ठंडी–	
10– लैब्रोडोर की धारा	
11– कनारी की धारा	

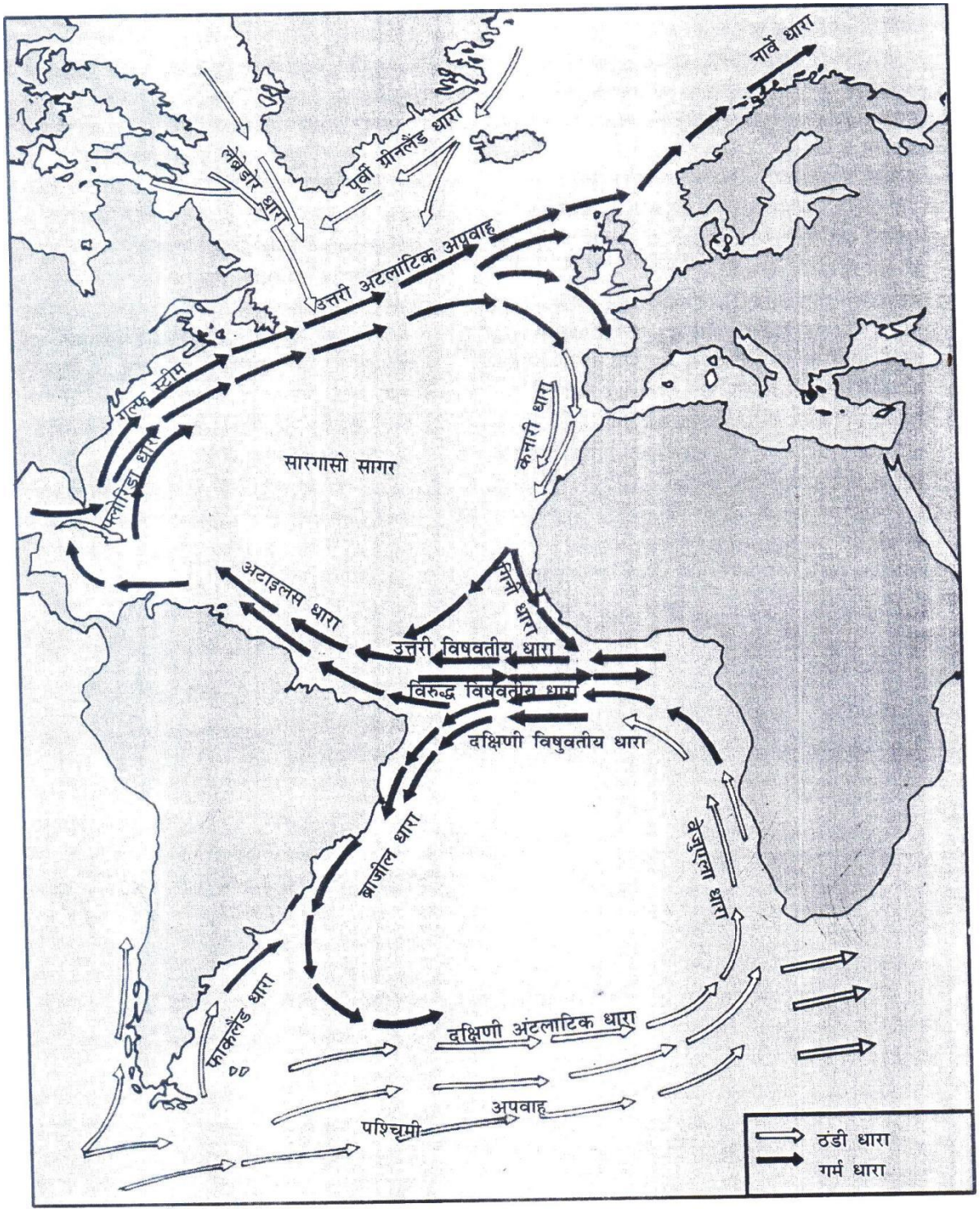

चित्र– 10.2 : अटलांटिक महासागर की धाराएँ

10.8 हिन्द महासागर की धाराएँ

हिन्द महासागर की स्थलाकृतिक बनावट एवं स्थिति के कारण यहाँ की धाराएँ अन्य महासागरों से भिन्न है। हिन्द महासागर में मानसूनी हवाओं का भी प्रवाह यहाँ की धाराओं पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। मानसूनी पवनों द्वारा प्रभावित धारायें मानसून ड्रिफ्ट अथवा

मानसून अपवाह कहलाती है। हिन्द महासागर की धाराओं को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। **प्रथम** वे धाराएँ हैं जो दक्षिणी हिन्द महासागर में विषुवत रेखा के दक्षिण में एक ही क्रम में चलती है इन्हें स्थायी धारायें भी कहा जाता है। **दूसरी** वे धारायें हैं जो मानसून के प्रभाव के कारण अपने दिशा एवं क्रम बदल देती हैं इसीलिए इन्हें परिवर्तनशील धाराएँ कहते हैं।

10.8.1 शीतकालीन मानसून प्रवाहः

शीत ऋतु में उत्तरी पूर्वी मानसून के कारण एशिया महाद्वीप के दक्षिणी तटों के सहारे पूर्व से पश्चिम की ओर एक धारा प्रवाहित होती है। यह धारा विभिन्न देशों के तटवर्ती भागों के सहारे प्रवाहित होती हुई पूर्वी अफ्रीका तट पर उत्तर से दक्षिण की तरफ मुड़ जाती है।

10.8.2 ग्रीष्मकालीन मानसून प्रवाहः

ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण पश्चिमी मानसून के प्रभाव से जल का प्रवाह पश्चिम से पूर्व की ओर होने लगता है इससे दक्षिण पश्चिम मानसून ड्रिफ्ट नामक धारा उत्पन्न होती है। यह धारा अफ्रीका के पूर्वी भाग से उत्पन्न होकर पूर्व दिशा की ओर बहती हुई अरब सागर की परिक्रमा करती है।

10.8.3 विषुवतरेखीय धाराः

दक्षिणी पूर्वी व्यापारिक पवनों के प्रभाव से हिन्द महासागर का जल पश्चिम की ओर प्रवाहित होने लगता है। आगे बढ़कर यह धारा उत्तर–पूर्व अफ्रीका के तट के सहारे सोमाली धारा के रूप में बहती है।

10.8.4 मोजाम्बिक धाराः

दक्षिण भूमध्य रेखीय धारा मेडागास्कर द्वीप के निकट दो शाखाओं में बंट जाती है। इसकी एक शाखा मोजाम्बिक चैनल में प्रवेश कर जाती है और दूसरी शाखा मेडागास्कर के पूर्वी किनारे से होकर दक्षिण की ओर बहती है। आगे चलकर दोनों शाखायें पुनः मिल जाती है। मोजाम्बिक चैनल से होकर बहने वाली धारा को मोजाम्बिक गर्म जलधारा कहते हैं एवं दूसरी शाखा जो मेडागास्कर के पूर्व से होकर बहती है उसे मेडागास्कर की गर्म जलधारा के नाम से जाना जाता है।

हिन्द महासागर की धाराएँ

उत्तरी हिन्द महासागर (ग्रीष्मकाल)	दक्षिणी हिन्द महासागर
गर्म	**गर्म**
I– उ0 विषुवत रेखीय धारा	I– दक्षिणी विषुवत रेखीय धारा
II– द0 पश्चिमी मानसूनी धारा	II– मोजाम्बिक धारा
III– प्रति विषुवत रेखीय धारा	III– मेडागास्कर धारा
शीतकाल	**ठण्डी**
I– उ0पू0 मानसूनी धारा	I– पश्चिमी पवन प्रवाह
II– प्रति विषुवत रेखीय धारा	II– पश्चिमी आस्ट्रेलिया की धारा

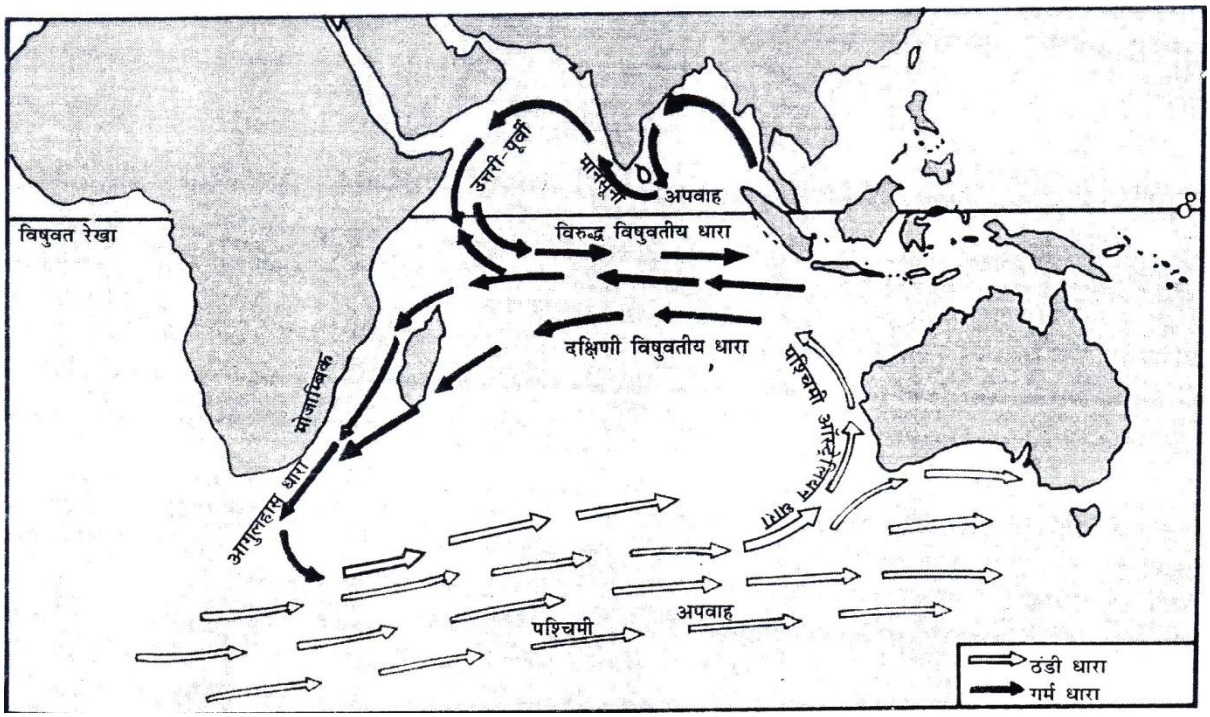

चित्र– 10.3 : हिन्द महासागर की धाराएँ (शीत ऋतु)

10.9 सारांश

महासागरीय धाराएँ मानव जनजीवन के साथ–साथ विभिन्न सागरीय परिस्थितिकी तन्त्रों को प्रभावित करती हैं। कहीं पर ठण्डी एवं गर्म जल धाराएँ मिलती हैं तो प्लैंक्टन का विकास होता है और मछलियाँ पायी जाती हैं तथा कहीं पर आने वाले मानसून (भारत) को प्रभावित करती हैं। महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति एवं इनको प्रभावित करने वाले प्रमुख

कारकों का अध्ययन इस इकाई में विधिवत एवं सरल रूप में प्रस्तुत है। आज मानवीय क्रियाकलाप कहीं न कहीं इनको प्रभावित कर रहा है चूंकि मानव इस धरातल का सबसे बुद्धिमान प्राणी है इस संदर्भ में महासागरीय धाराओं के विषय में जानना और भी आवश्यक है जिससे वह इनके विभिन्न प्रभावों को जान सके एवं इनसे होने वाली घटनाओं (सुनामी, चक्रवात) आदि से बच सके। इस परिप्रेक्ष्य में यह इकाई विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

10.10 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र01 महासागरीय धाराएँ क्या हैं? इनकी उत्पत्ति के कारणों का वर्णन कीजिए।

प्र02 महासागरीय धाराओं को स्पष्ट करते हुए अटलांटिक महासागर की धाराओं का वर्णन कीजिए।

प्र03 महासागरीय धाराओं पर तापमान के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए प्रशान्त महासागर की धाराओं का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र01 धाराएँ क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्र02 उत्तरी अटलांटिक महासागर में कौन–2 सी धाराएँ चलती हैं स्पष्ट कीजिए।

प्र03 धाराओं को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

प्र04 एल–निनो धारा को सचित्र स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्नोत्तर

प्र01 अटलांटिक महासागर की धारा नहीं है–

(A) गल्फस्ट्रीम (B) कनारी

(C) बैगुएला (D) क्यूरोशियो

प्र02 भारतीय मानसून को कमजोर करने वाली धारा है–

(A) गल्फस्ट्रीम (B) लेब्रोडोर

(C) एल–निनो (D) कनारी

प्र03 निम्न में से गर्म जलधारा है–

(A) कनारी (B) लेब्रोडोर

(C) फॉकलैण्ड (D) ब्राजील

प्र04 क्यूरोशिबो धारा प्रवाहित होती है–

(A) हिन्द महासागर (B) प्रशान्त महासागर

(C) अटलांटिक महासागर (D) इनमें से कोई नहीं

प्र05 गल्फस्ट्रीम क्या है–

(A) खाड़ी में एक नदी (B) एक महासागरीय धारा

(C) धरातलीय हवा (D) वायु प्रवाह

प्र06 सारगैसो किस महासागर से सम्बन्धित है

(A) उत्तरी प्रशान्त (B) उत्तरी अटलांटिक

(C) दक्षिणी प्रशान्त (D) दक्षिणी अटलांटिक

प्र07 जहाँ गर्म एवं ठंडी जलधाराएँ मिलती है वहाँ–

(A) गाजर घास पायी जाती है। (B) प्लैंक्टन की अधिकता पायी जाती है।

(C) तेज हवाएँ चलती हैं (D) मछलियाँ नहीं पायी जाती।

उ0 (1) D (2) C (3) D (4) B (5) B (6) B

(7) B

10.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1– सविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल

2– डॉ0 एस0के0 ओझा– विश्व का भूगोल

3– डॉ0 डी0आर0 खुल्लर– भूगोल (समग्र अध्ययन)

4– डॉ0 चतुर्भुज मामोरिया– भौतिक भूगोल

5– इण्टरनेट

यूनिट–11

ज्वार भाटा– उत्पत्ति, वर्गीकरण, उत्पत्ति के सिद्धान्त, प्रवाल भित्तियाँ– प्रवाल विकास की भौगोलिक परिस्थितियाँ, वर्गीकरण, उत्पत्ति के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखाः

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 ज्वार भाटा

11.3 ज्वार के प्रकार

11.4 ज्वार भाटा के समय में अन्तर

11.5 ज्वार भाटा की उत्पत्ति के सिद्धान्त

11.6 प्रवाल भित्तियाँ

11.7 प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति तथा विकास के लिए अनुकूल भौगोलिक दशाएँ।

11.8 प्रवाल भित्तियों के प्रकार

11.9 प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी सिद्धान्त

11.10 सारांश

11.11 बोध–प्रश्न

11.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 प्रस्तावना

वर्तमान समय में हमारे समक्ष दो प्रमुख चुनौतियाँ हैं प्रथम वैकल्पिक ऊर्जा की खोज एवं द्वितीय जैव विविधता संरक्षण। वैकल्पिक ऊर्जा के लिए आज अनेक तकनीकों को अपनाया जा रहा है जिससे परम्परागत ऊर्जा के स्रोतो का उपयोग कम किया जा सके। इस संदर्भ में ज्वारीय ऊर्जा एक उपयुक्त विकल्प हमारे सामने है। प्रस्तुत इकाई में ज्वारीय ऊर्जा के स्रोत ज्वार–भाटा का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। वैसे भी ज्वार भाटा, भौतिक भूगोल की प्रमुख शाखा समुद्र विज्ञान का प्रमुख विषय रहा है। ज्वार–भाटा का अध्ययन अनेक दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत इकाई में ज्वार–भाटा क्या है, इसके प्रकार एवं उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। यह इस अध्याय के माध्यम से छात्रों के ज्वारभाटा के ज्ञान में वृद्धि करेगी जो कि भविष्य में इनके काम आने वाला है। वैसे भी ज्वार भाटा की उत्पत्ति, आने का समय, उत्पत्ति के कारण आदि, विद्यार्थियों की जिज्ञासा का केन्द्र बिन्दु रहा है। ज्वार भाटा के अध्ययन का ही परिणाम रहा है कि आज ज्वारीय ऊर्जा का विकास यहाँ तक कि ज्वारीय पत्तनों का भी विकास किया जा रहा है।

उपरोक्त के अलावा इस इकाई में प्रवालभित्तियों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रवाल भित्तियाँ सागरीय जल एवं पर्यावरण के लिटमस टेस्ट के रूप में प्रयोग में आ रही है। प्रवालभित्तियों का प्रयोग अनेक रूपों में किया जाता रहा है। जैव विविधता के दृष्टिकोण से भी प्रवाल भित्तियों का बड़ा महत्त्व है। विश्व के अनेक द्वीप प्रवालों के विकास के लिए जाने जाते हैं हवाई द्वीप, लक्षद्वीप, मन्नार की खाड़ी, ग्रेट वैरियर रीफ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इसकी खूबसूरती एवं इसका अनूठापन इसके महत्व को और भी बढ़ाता है। प्राचीनकाल से प्रवाल भित्तियाँ विद्यार्थियों एवं प्रकृति विज्ञानियों के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु रही है। इस इकाई में ज्वार–भाटा के अतिरिक्त प्रवाल भित्तियों का जीवन, संघ, इनके विकास की भौगोलिक दशाएँ, प्रकार एवं इनकी उत्पत्ति के सिद्धान्त आदि का सरल एवं विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। यह अध्याय इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि आज मानवीय क्रियाकलापों एवं अवांछित उत्सर्जित प्रदूषकों तथा ग्लोबल वार्मिंग आदि के परिणामस्वरूप प्रवालभित्तियों का विनाश होता जा रहा है। पहले भी कहा जा चुका है कि प्रवालभित्तियों का विनाश (क्षय) पर्यावरण प्रदूषण का संकेत है वर्तमान में मानव

अपने आर्थिक विकास के कारण पर्यावरण को क्षति पहुँचा रहा है। इसका विपरीत प्रभाव विभिन्न पर्यावरणीय घटकों के साथ–साथ प्रवालों पर विशेष रूप से पड़ रहा है। इस इकाई के द्वारा विद्यार्थियों में प्रवालभित्तियों एवं समुद्री पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1– सामुद्रिक पारितन्त्र के घटकों के विषय से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

2– ज्वार–भाटा से सम्बन्धित तत्त्वों का अध्ययन प्रस्तुत करना।

3– ज्वार–भाटा के महत्व से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

4– ज्वार–भाटा, भविष्य के संसाधन के रूप में स्पष्ट करना।

5– प्रवाल भित्तियों के विभिन्न स्वरूपों से विद्यार्थियों को अवगत

6– प्रवालभित्तियों के विनाश एवं क्षय के दुष्परिणामों से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

7– प्रवालभित्तियों के प्रकारों एवं विकास को स्पष्ट करना।

11.1 ज्वार भाटा

समुद्र तल के क्रमशः ऊपर उठने और नीचे गिरने को ज्वार–भाटा कहते हैं। ज्वार सूर्य तथा चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण आते हैं। सूर्य की तुलना में चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी पर अधिक प्रभाव डालती है। इसलिए पृथ्वी पर चन्द्रमा के कारण सूर्य की तुलना में अधिक ऊँचे ज्वार आते हैं। क्योंकि इनके मध्य लगने वाला जल निम्न कारकों पर निर्भर करता है–

(I) ब्रह्माण्डीय पिण्डों का द्रव्यमान

(II) ब्रह्माण्डीय पिण्डों के बीच की दूरी

(I) ब्रह्माण्डीय पिण्डों का द्रव्यमान

गुरुत्वाकर्षण का बल ब्रह्माण्डीय पिण्डों के द्रव्यमान के गुणनफल के समानुपाती

होता है, अर्थात् द्रव्यमान अधिक होने पर गुरुत्वाकर्षण का बल बढ़ता है और द्रव्यमान कम होने पर गुरुत्वाकर्षण घटता है।

(II) ब्रह्माण्डीय पिण्डों के बीच की दूरी

गुरुत्वाकर्षण का बल ब्रह्माण्डीय पिण्डों के बीच की दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है। अर्थात् पिण्डों के बीच की दूरी घटने या बढ़ने पर गुरुत्वाकर्षण का बल क्रमशः वर्ग के अनुपात में घटता या बढ़ता है। इसी कारणवश द्रव्यमान की तुलना में, गुरुत्वाकर्षण बल, दूरी वाले कारक के द्वारा अधिक प्रभावित होता है। इसलिए सूर्य की तुलना में चन्द्रमा के गुरूत्वाकर्षण का बल पृथ्वी पर ज्वार लाने में अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है।

11.3 ज्वार के प्रकार

ज्वार को ज्वार आने की अवधि के आधार पर ज्वार को निम्न प्रकारों में विभक्त किया जाता है–

11.3.1– दैनिक ज्वार (Daily Tide)

11.3.2– साप्ताहिक ज्वार (Weekly Tide)

11.3.3– पाक्षिक ज्वार (Fort Night Tide)

11.3.4– मासिक ज्वार (Monthly Tide) या उपभू ज्वार

11.3.5– वार्षिक ज्वार (Annual Tide)

11.3.1 दैनिक ज्वार

इस प्रकार के ज्वार चन्द्रमा के गुरूत्वाकर्षण बल के कारण प्रतिदिन आते हैं। लगभग 24 घंटे में 2 बार ज्वार और 2 बार भाटा समुद्रों में आते हैं। 1 बार ज्वार और 1 बार भाटा या 1 भाटा और 1 ज्वार के मध्य समयावधि 6 घंटे 13 मिनट (6¼घं0) होती है। जबकि एक ज्वार और दूसरे ज्वार के मध्य समयावधि 12 घं0 26 मिनट होती है। अतः इस प्रकार के ज्वारों को दैनिक ज्वार (Daily Tide) कहते हैं।

11.3.2 साप्ताहिक तथा पाक्षिक ज्वार

पूर्णमासी (Full Moon) या अमावस (New Moon) को जब चन्द्रमा, सूर्य एवं पृथ्वी

लगभग एक रेखीय स्थिति में होते हैं तो इस समय पृथ्वी पर चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों की मिली जुली गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण ज्वार आते हैं। इसलिए ये ज्वार बहुत बड़े होते हैं। इन्हें 'उच्च ज्वार या दीर्घ ज्वार (Spring Tide) कहा जाता है और ये 15–15 दिन के अंतराल पर आते हैं।

चन्द्रमा के प्रथम एवं तृतीय चतुर्थांश की अवस्था में चूंकि चन्द्रमा एवं सूर्य का गुरुत्वाकर्षण बल समकोण पर विभक्त हो जाता है। इसलिए इस अवस्था में आने वाला ज्वार छोटा होता है। अतः इसे निम्न ज्वार या लघु ज्वार (Neap Tide) कहते हैं।

चूंकि एक उच्च ज्वार एवं एक निम्न ज्वार या एक निम्न ज्वार एवं एक उच्च ज्वार के मध्य समयावधि लगभग 7 दिन होती है। इसलिए इसे साप्ताहिक ज्वार कहते हैं। इसके विपरीत एक उच्च ज्वार एवं अगले उच्च ज्वार के मध्य या एक निम्न ज्वार और अगले निम्न ज्वार के मध्य समयावधि लगभग 15 दिन की होती है। इसलिए इसे पाक्षिक ज्वार कहा जाता है।

जब कभी चन्द्रमा एवं पृथ्वी लगभग एक सीध (रेखीय स्थिति) में होते हैं (पूर्णमासी एवं अमावस्या) तो इस अवस्था को **'सिजिगी'** (Syzygy) की अवस्था कहा जाता है। सिजिगी की अवस्था भी निम्नलिखित प्रकार से संभव है–

(I) SYZYGY में युति की अवस्था–

जब पृथ्वी के दायें या बांये चन्द्रमा एवं सूर्य एकरेखीय स्थिति में होते हैं, तो इसे सिजिगी की युति की अवस्था कहते है। यह अमावस (Newmoon) को ही संभव होता है और सूर्यग्रहण भी इसी अवस्था में संभव होता है।

(II) SYZYGY में वियुति की अवस्था–

जब कभी भी पृथ्वी के एक तरफ सूर्य एवं दूसरी तरफ चन्द्रमा स्थित होता है और तीनों लगभग एक सीध में होते हैं तो इसे Syzygy की वियुति की अवस्था (Opposition of Syzygy) कहा जाता है। यह अवस्था पूर्वमासी (Fullmoon) को ही संभव हो पाती है और सिर्फ इसी अवस्था में चन्द्रग्रहण संभव हो पाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रग्रहण हमेशा पूर्णमासी को ही पड़ता है।

अतः कहा जाय कि Syzygy की इन दोनों स्थितियों (युति एवं वियुति) या अमावस्या एवं पूर्णमासी में उच्च ज्वार आते हैं।

11.3.4 मासिक या उपभू ज्वार–

इस प्रकार का ज्वार चन्द्रमा की गुरूत्वाकर्षण शक्ति के कारण आता है चन्द्रमा जब पृथ्वी का चक्कर ग्रहों के समान दीर्घ वृत्तीय परिपथ में लगाता है तो महीने में एक बार चन्द्रमा एवं पृथ्वी के बीच की दूरी न्यूनतम एवं अधिकतम अवश्य होती है। जब चन्द्रमा और पृथ्वी की दूरी न्यूनतम होती है, तो इस अवस्था को उपभू (Perigee) कहते है और चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच दूरी अधिकतम होती है तो इस अवस्था को अपभू (Apogee) कहा जाता है।

उपभू की अवस्था में जब पृथ्वी और चन्द्रमा के मध्य न्यूनतम दूरी होती है, तो गुरूत्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव अधिक तीव्र होने के कारण बड़ा ज्वार आता है। चूंकि यह महीने में एक बार ही संभव हो पाता है। इसलिए इस ज्वार को मासिक ज्वार या उप–भू ज्वार कहते हैं।

11.3.5 वार्षिक ज्वार–

वार्षिक ज्वार भी मुख्यतः सूर्य की गुरूत्वाकर्षण शक्ति के कारण आता है। पृथ्वी जब अण्डाकार परिपथ में चक्कर काटती है, तो वर्ष में एक बार पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी न्यूनतम एवं अधिकतम अवश्य होती है। 3 जनवरी को सूर्य और पृथ्वी की दूरी जब न्यूनतम होती है। तो इस अवस्था को उपसौर (Perihelion) कहते हैं और 4 जुलाई को पृथ्वी और सूर्य की दूरी जब अधिकतम होती है तो इस अवस्था को 'अपसौर' (Apphelion) कहा जाता है।

3 जनवरी को जब पृथ्वी और सूर्य की दूरी न्यूनतम होती है, तो चूंकि सूर्य का गुरूत्वाकर्षण पृथ्वी पर अधिकतम होता है। तो इस समय जो ज्वार आता है, वह ज्वार बड़ा होता है। इसलिए इसे वार्षिक ज्वार या उपसौर ज्वार कहते हैं।

महाज्वार–

जब कभी भी एक साथ एक ही दिन और समय ज्वार आने की निम्न तीन दशाये पड़ जाती हैं–

1– उपसौर की अवस्था

2– उप–भू की अवस्था

3– Syzygy की अवस्था

तो ऐसी स्थिति में जो ज्वार आता है वह 'महाज्वार' कहलाता है।

ज्वार की ऊँचाई सदैव एक समान नहीं होती सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी की आपेक्षिक स्थिति के अनुसार ज्वार की ऊँचाई कम या अधिक होती है इस आधार पर ज्वार–भाटा दो प्रकार के होते हैं–

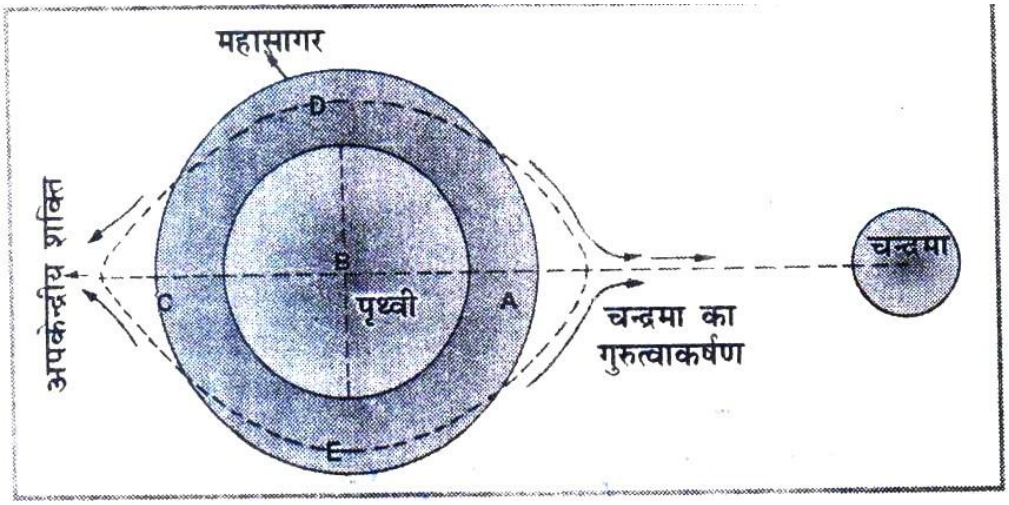

चित्र– 11.1 : ज्वार–भाटा का निर्माण

(I) उच्च ज्वार अथवा वृहत ज्वार–भाटा (Spring Tide)

जब सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी एक सीध में होते हैं तो इस स्थिति में सूर्य और चन्द्रमा का सम्मिलित प्रभाव पृथ्वी पर पड़ता है। इस दशा में उच्च ज्वार आता है यह स्थिति अमावस्या और पूर्णिमा के दिन बनती है।

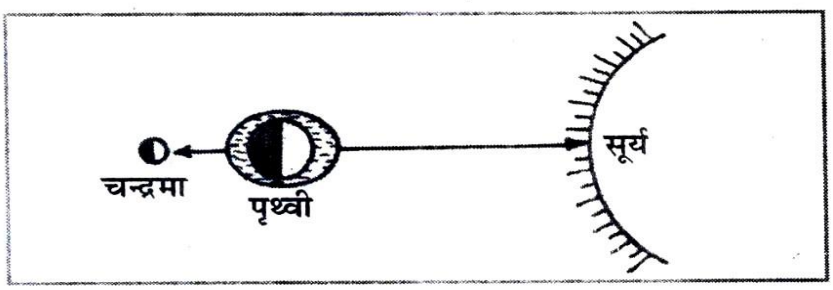

(क) पूर्णिमा के दिन सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा की सापेक्ष स्थितियाँ

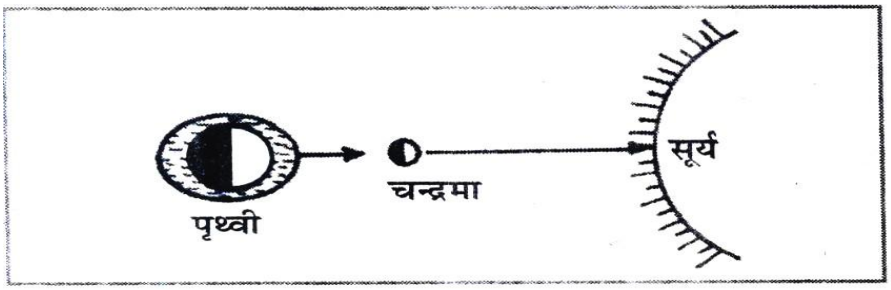

(ख) अमावस्या के दिन सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा की सापेक्ष स्थितियाँ

चित्र– 11.2 : उज्च ज्वार–भाटा

(II) निम्न ज्वार (Neep Tide)

जब सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी समकोणीय स्थिति में होते हैं तो निम्न ज्वार आता है। इसमें सूर्य तथा चन्द्रमा में गुरूत्वाकर्षण एक दूसरे के विरूद्ध होता है। फलस्वरूप निम्न ज्वार आते हैं यह स्थिति शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष की सप्तमी एवं अष्टमी के दिन बनती है।

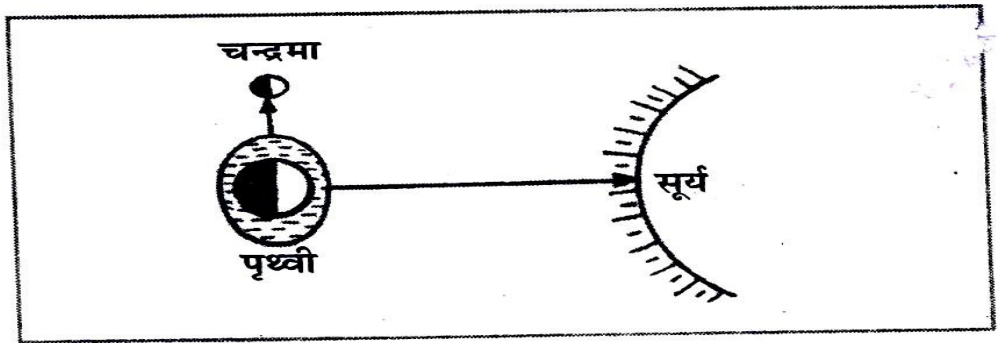

(क) पूर्णिमा के बाद वाली अष्टमी को सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा की स्थितियाँ

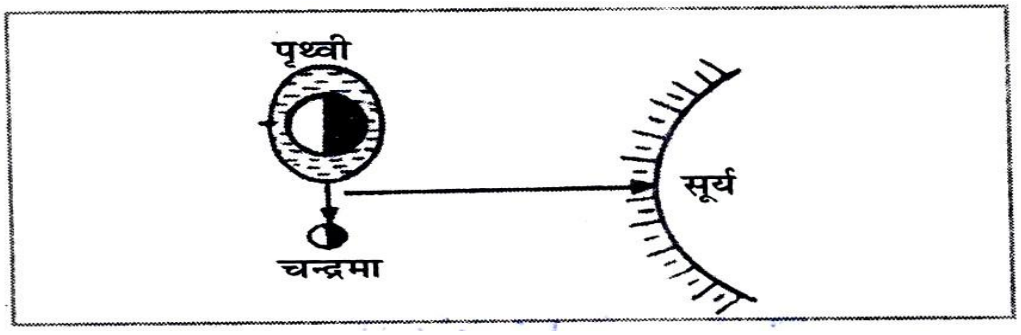

(क) अमावस्या के बाद वाली अष्टमी को सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा की स्थितियाँ

चित्र– 11.3 : निम्न ज्वार–भाटा

11.4 ज्वार भाटा के समय में अन्तर

पृथ्वी अपने अक्ष पर 24 घंटों में एक चक्कर पूरा कर लेती है इसलिए प्रत्येक देशान्तर पर प्रति 12 घंटे बाद ज्वार एवं भाटा आना चाहिए परन्तु ऐसा न होकर ज्वार 12 घंटे के बजाय 12 घंटे 26 मिनट बाद आता है। इस प्रकार यदि किसी स्थान पर प्रातः 8 बजे ज्वार आता है तो दूसरा ज्वार रात्रि 8 बजकर 26 मिनट एवं तीसरा ज्वार अगले दिन प्रातः 8 बजकर 52 मिनट पर आता है।

ज्वार–भाटा की इस देरी का कारण पृथ्वी की दैनिक गति एवं चन्द्रमा का पृथ्वी की परिक्रमा करना है चन्द्रमा 29 दिन में पृथ्वी की एक परिक्रमा पूरी करता है अर्थात चन्द्रमा प्रतिदिन पृथ्वी का 29वां भाग आगे बढ़ जाता है। इसीलिए प्रत्येक स्थान को दोबारा चन्द्रमा के ठीक सामने आने के लिए 24 घंटे में कुछ अधिक समय लगता है। अधिक समय की यह अवधि इस प्रकार ज्ञात की जा सकती है–

$$\text{समय में देरी} = \frac{\text{24 घंटे X 60 मिनट}}{29} + \text{चन्द्रमा के उस बिन्दु तक पृथ्वी}$$

के जाने में लगा समय = 49 मिनट 39 सेकेण्ड + 1 मिनट 36 सेकेण्ड।

इस देरी को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है–

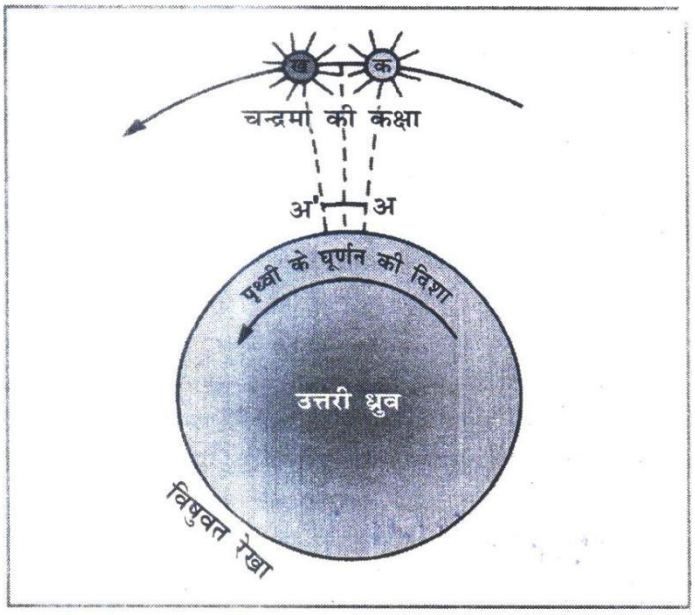

चित्र– 11.4 : ज्वार–भाटा का समय (पृथ्वी एवं चन्द्रमा की गति)

माना जब चन्द्रमा 'क' स्थान पर स्थित है तो पृथ्वी के बिन्दु 'अ' पर ज्वार उठता है। पृथ्वी अपने अक्ष पर 24 घंटे में एक चक्कर पूरा करती है। जब पृथ्वी के घूर्णन के कारण 'अ' बिन्दु पुनः अपने स्थान पर आयेगा तो उतनी देर में चन्द्रमा भी 'क' स्थान से घिसककर 'ख' स्थान पर पहुँच जाता है। अतः 'अ' बिन्दु को ठीक चन्द्रमा के नीचे आने में 52 मिनट का अतिरिक्त समय लग जाता है। इस प्रकार ज्वार का काल 52 मिनट पीछे खिसक जाता है। यही कारण है कि ज्वार 12 घंटे 26 मिनट के अन्तराल पर आता है। क्योंकि ज्वार 1 दिन में दो बार आता है।

11.5 ज्वार–भाटा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

सर्वप्रथम हेरोडोटस ने ज्वार–भाटा के संदर्भ में अपने विचार प्रकट किये थे। इनके पश्चात 325ई0पू0 में पीथियस ने ज्वार एवं चन्द्रमा के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। 77वीं सदी में प्लिनी ने बताया कि ज्वार–भाटा पृथ्वी और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण उत्पन्न होते हैं 8वीं से 13वीं शताब्दी में ज्वार भाटा के सम्बन्ध में अनेक वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किए गये। न्यूटन ने 1687 में ज्वार उत्पादक शक्तियों का वर्णन किया है। ज्वार–भाटा के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैंः–

11.5.1 सन्तुलन सिद्धान्त (Equilibrium Theory)–

सर्वप्रथम न्यूटन ने गुरूत्वाकर्षण का नियम प्रतिपादित किया। न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण बल के सिद्धान्त (1687ई0) को आधार बनाकर ज्वार भाटा की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। न्यूटन ने बताया कि ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ गुरूत्वाकर्षण बल के प्रभाव से संतुलित अवस्था में इस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथ्वी सन्तुलन की दशा में रहते हुए सूर्य के चारों और परिक्रमा करते हैं। इस दशा में दो प्रकार के बल कार्य करते हैं–

1– **अपकेन्द्रीय या अपसारी बल (Centrifugal Force)– केन्द्र से बाहर की ओर**

2– **अभिकेन्द्रीय या गुरूत्वाकर्षण बल (Centripital or Gravitational force)– बाहर से केन्द्र की ओर**

वैसे तो सूर्य का गुरूत्वाकर्षण चन्द्रमा की तुलना अधिक होना चाहिए परन्तु चन्द्रमा का पृथ्वी के अधिक निकट होने के कारण गुरुत्वाकर्षण बल अधिक होता है। पृथ्वी के

चारों ओर केन्द्रोपसारी बल समान होता है परन्तु उस पर चन्द्रमा का बल असमान होता है। पृथ्वी का वह भाग जहाँ पर चन्द्रमा सीध (सामने) में होता है, पृथ्वी के केन्द्र से 6400 किमी अधिक निकट होता है इसलिए चन्द्रमा का आकर्षण बल अधिक कार्य करता है। अतः पृथ्वी का जल उस ओर खिंच जाता है और ज्वार आता है। दोनों ध्रुवों को मिलाने वाली रेखा पर बल समान होता है। परन्तु विपरीत स्थान पर केन्द्रोपसारी बल गुरुत्वाकर्षण बल से अधिक है जिस कारण वहाँ पर भी ज्वार आता है। यहाँ पर केन्द्रोपसारी बल के कारण जल बाहर की ओर खिंच जाता है और ज्वार का अनुभव किया जाता है। इस तरह पृथ्वी पर एक समय पर दो स्थानों पर ज्वार आता है, एक ज्वार आकर्षण बल के बहिर्मुखी बल से अधिक होने के कारण तथा दूसरा ज्वार बहिर्मुखी बल के आकर्षण बल से अधिक होने के कारण आता है ताकि उनमें सन्तुलन बना रहे।

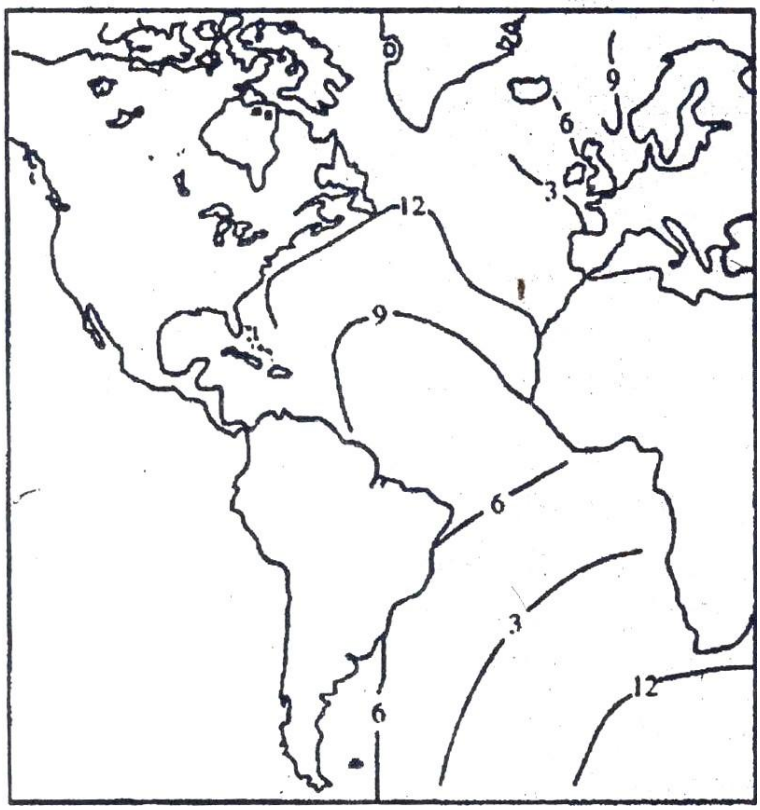

चित्र– 11.5 : अटलांटिक महासागर की समज्वार रेखायें (प्रगामी तरंग सिद्धान्त के अनुसार)

आलोचनाः–

इस सिद्धान्त की अनेकों आधार पर आलोचना की जाती है–

(I) इस सिद्धान्त के विरोध में कहा जाता है कि ज्वार में जल के ऊपर उठने के लिए क्षैतिज गति आवश्यक है। यदि सम्पूर्ण पृथ्वी पर केवल जल ही होता तो सिद्धान्त की सार्थकता होती लेकिन स्थल एवं जल के आसमान वितरण से यह संभावना निर्मूल हो जाती है।

(II) इस सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा के सामने स्थित भाग पर उच्च ज्वार होता है। इसके अनुसार किसी अक्षांश के प्रत्येक स्थान पर ज्वार की एक ही दशा होनी चाहिए परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न होती है।

(III) सागरों की गहराई तथा तरंगों के दोलन–समय की साम्यता की समस्या का निराकरण इस सिद्धान्त द्वारा नहीं होता है।

(IV) इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी कठिनाई है कि चन्द्रमा की ऊँचाई के समयानुसार ज्वारीय तरंगे पृथ्वी का परिभ्रमण नहीं करती हैं।

11.5.2 प्रगामी तरंग सिद्धान्त

प्रगामी तरंग सिद्धान्त का प्रतिपादन विलियम ह्वेल (**William Whewell**) ने सन् 1833 में किया था। इसी सम्बन्ध में एयरी ने भी 'नहर सिद्धान्त' (Canal Theory) का प्रतिपादन सन् 1842 में किया।

इस सिद्धान्त के अनुसार ज्वार का रूप तरंगों की भांति होता है जिसके श्रृंग या शिखर (Crest) ज्वार और द्रोणी (trough) भाटा है। ये तरंगे चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से उत्पन्न होती हैं जो कि पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर चलती हैं इन तरंगों की लम्बाई एवं गति पर सागरीय गहराई एवं स्थल भाग का विशेष प्रभाव पड़ता है। इन लहरों के मार्ग में पड़ने वाले स्थल खण्ड इनको विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। दक्षिणी ध्रुव महासागर में चन्द्रमा के आकर्षण के कारण ज्वारीय तरंगे उठती हैं जिन्हें **'प्राथमिक तरंगे'** कहा जाता है इनकी दिशा चन्द्रमा के प्रभाव में पूर्व से पश्चिम की ओर होती है। इसी समय स्थल खण्ड के अवरोध के कारण इनकी दिशा उत्तर हो जाती है। इसके अलावा कुछ अन्य तरंगों का उद्‌भवन होता है जिन्हें **'द्वितीय या गौड़ तरंगे'** (Secondary waves) कहा गया है। इनकी भी दिशा पूर्व से पश्चिम होती है। इन्हीं के साथ और भी अन्य गौड़ तरंगों का आविर्भाव होता है। इन तरंगों के निरन्तर उत्तर प्रवाह के कारण तरंगों की सक्रियता में अन्तर हो

जाता है। दक्षिणी ध्रुव सागर से उत्तमाशा अन्तरीय के पास इन ज्वारीय तरंगों के प्रभाव से उत्पन्न तरंगें अटलांटिक महासागर के तटवर्ती भागों की ओर अग्रसर होती हैं। जो वहाँ सभी प्रकार के ज्वार उत्पत्ति हेतु उत्तरदायी होती हैं ऐसा क्रम प्रशान्त महासागर एवं हिन्द महासागर में भी देखने को मिलता है इन तरंगों को निरन्तर उत्तर की ओर अग्रसर होने के कारण प्रगामी तरंगे कहते हैं।

आलोचनाः–

इस सिद्धान्त से अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का समाधान नहीं होता है। इसीलिए इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। जैसे–

(I) आन्ध्र महासागर में हार्न अन्तरीप से ग्रीनलैण्ड तक उच्च ज्वार का समय एक होता है, जबकि इस सिद्धान्त के अनुसार दक्षिण से उत्तर की ओर जाने में ज्वार के समय में अन्तर होना चाहिए।

(II) कभी–कभी एक ही अक्षांश पर दैनिक एवं अर्द्धदैनिक ज्वार को एक ही साथ देखा गया जो सिद्धान्त के विपरीत है।

(III) प्रस्तुत सिद्धान्त में ज्वारीय तरंगों के उद्‌भवन में महासागरों के आकार नितल एवं तटों की संरचना का ध्यान नहीं रखा गया है जो कि ज्वारीय तरंगों को प्रभावित करते हैं।

(IV) उत्तरी तथा दक्षिणी अटलांटिक महासागर में एक ही समय पर दो भागों में उच्च ज्वार का आविर्भाव होता है जो इस सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है।

11.5.3 स्थायी तरंग सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को प्रगामी तरंग सिद्धान्त के विरोध में प्रस्तुत किया गया। इस सिद्धान्त को प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान हैरिस ने प्रस्तुत किया। हैरिस ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए एक प्रयोग का सहारा लिया। उन्होंने एक आयताकार बर्तन में जल भर दिया और उसके एक किनारे को हिला दिया।

11.6 प्रवाल भित्तियाँ

सागरीय एवं महासागरीय भागों में अनेक प्रकार के जीव–जन्तु एवं अस्थिपंजर से

निर्मित स्थलरूप पाये जाते हैं। प्रवाल भित्ति एक प्रकार की कैल्सियम युक्त चट्टान (भित्ति अथवा दीवाल) है जिसका निर्माण मूँगा (प्रवाल) नामक जीव के अस्थि पंजरों से होता है, प्रवाल अर्थात मूँगा सिलेन्ट्रेटा संघ का एक समुद्री जीव है। जो उष्ण कटिबन्धीय महासागरों में पाया जाता है। ये जीव समुद्री जल के कैल्सियम (चूना) का भोजन के रूप में उपयोग कर अपने शरीर के चारों ओर एक खोल का निर्माण करते हैं। इन जीवों में झुण्ड में रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जब इन जीवों को जीवनकाल समाप्त हो जाता है (मर जाते हैं) तो इनके खोल सागरीय सतह पर जमा हो जाते हैं और पुराने जीवों के ऊपर नये जीवों के खोल जमा होते रहते हैं इस प्रकार यह प्रक्रिया चलते रहने पर इनकी कई पर्ते एक दूसरे के ऊपर जमा होती रहती हैं। कालान्तर में ताप और दाव के कारण ये एक दूसरे से चिपक जाते हैं और एक चट्टान (दीवाल) का रूप ले लेते हैं जिन्हें प्रवाल भित्ति (Coral Reefs) के नाम से जाना जाता है। प्रवाल भित्तियाँ प्रायः मग्नतटों द्वीपों, के ऊपरी भागों पर अधिक विकसित होती हैं।

11.7 प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति तथा विकास के लिए अनुकूल भौगोलिक दशाएँ

प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति तथा उनका विकास कुछ विशेष भौगोलिक परिस्थितियों में होता है। प्रवालों के विकास के लिए प्रमुख दशाएँ निम्नलिखित हैं–

11.7.1 सागरीय जल का तापमान

प्रवालभित्तियों के विकास के लिए उष्ण जल उपयुक्त रहता है। इनके विकास के लिए सागरीय जल तापमान 20^0 से 30^0 सेग्रे होना चाहिए। यही कारण है कि प्रवाल भित्तियों का अधिक विस्तार 30^0 उत्तरी अक्षांश से 30^0 दक्षिणी अक्षांश के मध्य पाया जाता है। गर्म जल धाराएँ प्रवालों के लिए अनुकूल होती है। इसीलिए प्रवाल भित्तियाँ महासागरों के पश्चिमी किनारों पर अधिक विकसित होती है क्योंकि यहाँ गर्म जल धाराएँ चलती हैं।

11.7.2 समुद्र की गहराई

प्रवालों के विकास के लिए एक निश्चित गहराई ठीक रहती हैं जहाँ पर इन्हें आक्सीजन और उष्णता मिलती रहे। अतः ये अधिक गहराई में नहीं पनपते। सामान्यतः ये 30 से 50 फैदम की गहराई तक मिलते हैं इससे अधिक गहराई इन पर प्रतिकूल प्रभाव

डालती है परन्तु गार्डिनर (Gardiner J.S.) महोदय ने 150 से 170 फैदम की गहराई पर पाये जाने वाले प्रवालों का वर्णन किया है।

11.7.3 सागरीय जल की लवणता

प्रवालों के समुचित विकास के लिए पर्याप्त लवणता होनी चाहिए। परन्तु अधिक लवणता वाले क्षेत्रों में प्रवालों का विकास नहीं हो पाता। प्रवालों के विकास के लिए 27‰ से 40‰ (‰= Part per thousand अर्थात् प्रति हजार ग्राम जल में लवणता की मात्रा ग्राम में) उपयुक्त होती है।

11.7.4 अवसादों की मात्रा

प्रवाल उन क्षेत्रों में अधिक विकसित होते हैं जहाँ पर अवसादों की मात्रा कम होती है। अधिक अवसाद वाले तटों पर प्रवालों का विनाश हो जाता है (उनके मुँह में गाद भर जाने के कारण ऑक्सीजन एवं भोजन ग्रहण में समस्या के कारण) कुछ प्रवाल सामान्य तलछटों को सहन करने की क्षमता रखते हैं परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कितनी मात्रा तक? उदाहरण स्वरूप आस्ट्रेलिया की 'विशाल अवरोधक प्रवाल भित्ति'' (Great Barrier Reefs of Australia) क्षेत्र में जल में कम से कम इंग्लिश चैनल जितने तलछट है परन्तु यहाँ पर प्रवालों का पर्याप्त विकास हुआ है।

11.7.5 ताजा जल

प्रवालों के विकास के लिए स्वच्छ व ताजा जल अहितकर होता है। जिन सागरीय भागों में ताजा जल (नदियों के मुहानों पर, एवं वर्षा का जल) अधिक होता है वहाँ प्रवाल नहीं रह पाते। इसका प्रमुख उदाहरण क्वींन्सलैण्ड में बोवन द्वीप (Bowen) के निकट स्टोन द्वीप (Stone Island) है। यहाँ पर ऐसी प्रवालभित्ति है जो ज्वार के पश्चात् अनावृत्त हो गयी पर उसी समय वहाँ मूसलाधार वर्षा द्वारा मीठा जल प्राप्त हुआ फिर भी प्रवालों का विनाश हो गया।

11.7.6 शान्त जल

प्रवालों की विशेषता होती है कि ये झुण्ड में रहते हैं अतः ये उन तटों पर पाये जाते हैं जहाँ का जल शान्त होता है। अत्यधिक गतिशील जल में ये विकसित नहीं हो पाते पर

एकदम स्थिर जल भी बहुत उपयुक्त नहीं होता। अटलांटिक महासागर की अपेक्षा प्रशान्त महासागर महासागर का जल अधिक स्थिर है। इसीलिए प्रशान्त महासागर में प्रवालों की उपस्थिति अधिक है।

11.7.7धाराएँ एवं लहरें

जिन तटों के सहारे गर्म धाराएँ एवं पवनों के प्रभाव से लहरें चलती हैं उन तटों की ओर प्रवालों का विकास निरन्तर होता रहता है। क्योंकि यहाँ के तापमान, आक्सीजन, वनस्पति आदि की अनुकूलता से इनका विकास अधिक आसान हो जाता है।

11.7.8सहचर्य

प्रवाल जीव कुछ अन्य जीवों के साथ रहकर विकसित होते हैं कुछ जीव आक्सीजन का उत्सर्जन करते है जिसका उपयोग करके प्रवाल अपना विकास करते हैं। जूएंथिल (Zooanthellae) नामक जीव इसी प्रकार का है अतः जूएंथिल जीव जहाँ अधिक होंगे वहां प्रवाल अधिक विकसित होंगे।

इस प्रकार अनेकों ऐसी परिस्थितियाँ एवं धरातलीय बनावटें प्रवालों के जनन, जीवन यापन एवं विकास के लिए महत्व रखती हैं। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हैं तो प्रवालों का विकास अधिक होगा।

11.8 प्रवाल भित्तियों के प्रकार

प्रवालभित्तियों को अनेक प्रकारों में बांटा जाता है स्थिति तथा आकार के अनुसार प्रवालभित्तियाँ निम्नलिखित 4 प्रकार की होती हैं–

11.8.1 तटीय प्रवाल भित्ति (Fringing Reefs)
11.8.2 अवरोधक प्रवालभित्ति (Barrier Reefs)
11.8.3 बलयाकार प्रवालभित्ति (Atoll Reefs)
11.8.4 प्रवालद्वीप (Coral Island)

11.8.1तटीय प्रवाल भित्ति

तटीय अथवा अनुतट प्रवालभित्ति द्वीपों अथवा महाद्वीपों के तटों पर विकसित होती हैं। इनकी रचना मग्न तट या छिछले सागरों के चबूतरे से प्रारम्भ होती है। इसका विकास एक संकरी पट्टी के रूप में होता है जिसका ढ़ाल स्थल की ओर मंद एवं समुद्र की ओर

तीव्र होता है। इसकी चौड़ाई 0.5 किमी से 2.5 किमी तक होती है। इसका प्रमुख उदाहरण फ्लोरिडा तट, अण्डमान–निकोबार एवं लक्षद्वीप समूह, मन्नार की खाड़ी, में विकसित प्रवाल हैं। तटीय प्रवाल भित्ति के पूर्ण विकसित हो जाने पर मुख्य भूमि तथा भित्ति के बीच संकरा एवं पिछला जलभाग अथवा **'लैंगून'** का निर्माण हो जाता है जिसमें भाटा (ebb) का जल भर जाता है।

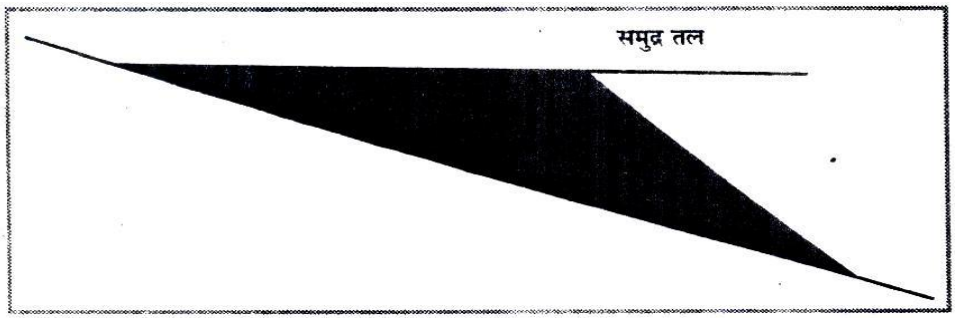

चित्र– 11.6 : तटीय प्रवाल भित्ति

11.8.2अवरोधक प्रवाल भित्ति

यह अपेक्षाकृत बड़ी प्रवालभित्ति है इसकी चौड़ाई एवं लम्बाई बहुत अधिक होती है। अवरोधक प्रवालभित्ति 30 मीटर से 5 से 6 किमी हो सकती है इसका आधार 180 मीटर से भी अधिक गहरा होता है। तट एवं भित्ति के बीच लैंगून का निर्माण हो जाता है पर यह लैंगून मुख्य सागर से पतले जलमार्ग द्वारा जुड़ी होती है। आस्ट्रेलिया की **'ग्रेट बैरियर रीफ'** (Great Barrier Reef) इसका उत्तम उदाहरण है।

स्मरणीयः– आस्ट्रेलिया की ग्रेट बैरियर रीफ विश्व की सबसे बड़ी प्रवालभित्ति है। यह 2028 किमी लम्बी तथा 16 किमी चौड़ी है तट से इसकी न्यूनतम दूरी 16 किमी तथा अधिकतम दूरी 240 किमी है तथा विस्तार 9^0 से 24^0 दक्षिणी अक्षांशों के मध्य है।

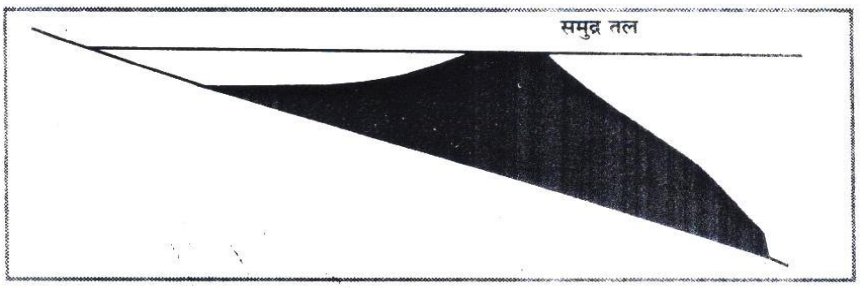

चित्र– 11.7 : अवरोधक प्रवाल भित्ति

11.8.3वलयाकार प्रवाल भित्ति

इस प्रकार की प्रवाल भित्ति का निर्माण द्वीपों के चारों ओर अंगूठी अथवा घोड़े की नाल के आकार में होता है। ये छिछले लैंगून को पूर्णतः अथवा अंशतः घेरे रहती हैं लैंगून पतले जल पट्टिकाओं द्वारा खुले सागर से जुड़ी होती है। वलयाकार प्रवालभित्ति मुख्यतः प्रशान्त महासागर में पायी जाती है। **फिजी प्रवाल वलय** (Fiji Atolle) तथा एलिस द्वीप में 'फुनाफुटी प्रवाल वलय' (Funafuti Atoll in the ellice Island), लक्षद्वीप आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

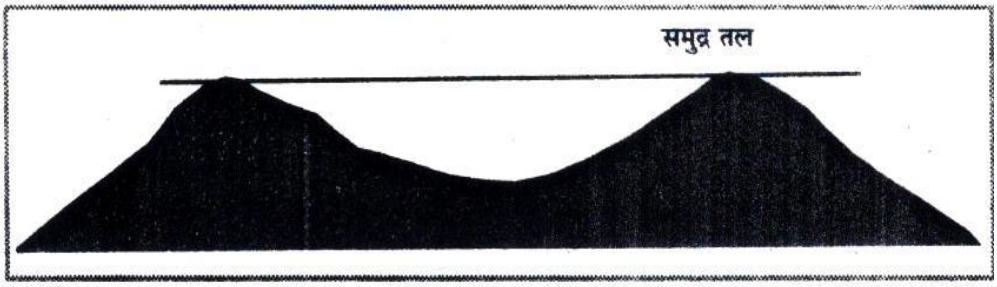

चित्र– 11.8 : वलयकार प्रवाल भित्ति

11.8.4 प्रवालद्वीप

मुख्य महाद्वीपों से दूर सागरीय भागों में अलग–थलग स्थानों पर प्रवाल चट्टानों के चबूतरे बन जाते हैं कभी–कभी ये भूगर्भिक हलचल के कारण समुद्र तल से ऊपर आ जाते हैं तो इन्हें प्रवालद्वीप कहते हैं। प्रायः इनका आकार बहुत बड़ा नहीं होता है और इनकी परिधि कुछ सौ मीटर तक ही होती है। परन्तु कुछ प्रवाल द्वीप कई किलोमीटर लम्बे और चौड़े होते हैं ज्वार के समय ये जलमग्न भी हो जाते हैं कभी–2 इन पर वनस्पतियों का आगमन एवं विकास हो जाता है। एडबरी, ग्रीन द्वीप, बंकर तथा कैप्रीकार्न द्वीप इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

11.9 प्रवालभित्तियों की उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी सिद्धान्त

प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने अनुसार सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं–

11.9.1 डार्विन–डाना का अवतलन सिद्धान्त

अवतलन सिद्धान्त का प्रतिपादन **चार्ल्स डार्विन** ने सन 1837 में किया तथा 1842ई0 में इस सिद्धान्त का संशोधित रूप प्रस्तुत किया। अवतलन की प्रक्रिया द्वारा प्रवाल भित्तियों के विकास को कैमिसो (Chamisso) ने डार्विन के पहले ही स्पष्ट करने का प्रयास किया था। परन्तु अवतलन सिद्धान्त का व्यवस्थित रूप चार्ल्स डार्विन के द्वारा ही प्रस्तुत किया गया। इसी दौरान एक विद्वान 'डाना' ने भी इसी आधार पर अवतलन सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इसीलिए इस सिद्धान्त को सम्मिलित रूप से डार्विन–डाना का अवतलन सिद्धान्त कहा जाता है।

सिद्धान्त का प्रधान रूप

यह सिद्धान्त यह बताने का प्रयास करता है कि प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति एवं विकास अवतलन क्रिया का परिणाम है। अवतलन अथवा घंसाव (निमज्जन) तथा प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति को निम्नलिखित 3 चरणों में स्पष्ट किया जाता है–

प्रथम अवस्था

इस अवस्था में छिछले सागरीय जल में प्रवालों की उत्पत्ति होती है इस स्थिति में प्रवालों का विकास खुले जल की ओर अधिक (क्योंकि खुले सागर से भोजन एवं आक्सीजन प्रचुर मात्रा में मिल जाती है) तथा तट की ओर कम होता है तटों की ओर प्रवालों के कम विकास के कारण तट एवं प्रवाल के बीच छिछले जल की एक झील (लैंगून) का निर्माण हो जाता है। अग्रांकित चित्र में यह अवस्था क, ख रेखा द्वारा दर्शायी गई है इसमें तटीय प्रवालभित्ति गहरी आभा द्वारा दिखलाई गयी है।

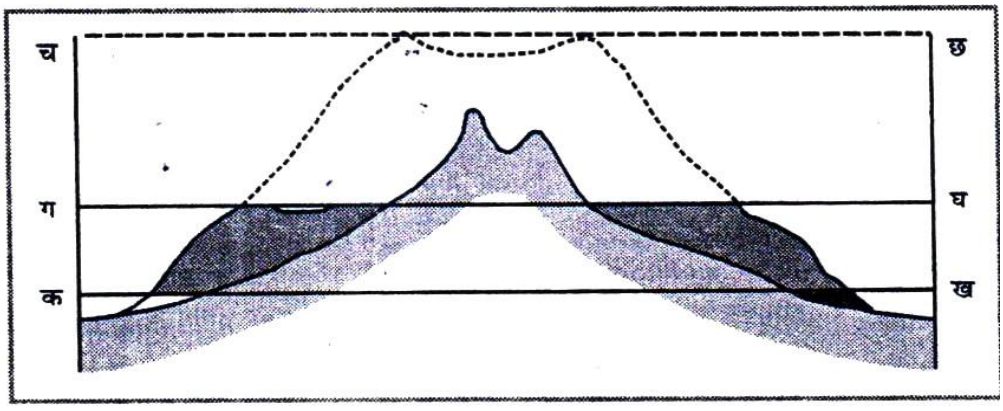

चित्र– 11.9 : डार्विन–डाना का अवतलन सिद्धान्त

द्वितीय अवस्था

इस अवस्था में अवतलन आरम्भ हो जाता है तथा आधारी प्रवाल काफी गहराई में चले जाने पर मर जाते हैं परन्तु उनके ऊपर नये प्रवाल विकसित होना शुरू हो जाते हैं परन्तु प्रवालों का विकास अवतलन की गति पर निर्भर करता है। अवतलन के कारण लैगून चौड़ी हो जाती है और प्रवाल भित्ति द्वीप के चारो ओर फैलकर अवरोधक प्रवाल भित्ति का रूप ले लेती है। दिये गये चित्र में यह स्थिति 'ग', 'घ' रेखा द्वारा प्रदर्शित की गयी है इसमें अवरोधक प्रवालभित्ति को हल्की आभा द्वारा दर्शाया गया है।

तृतीय अवस्था

इस अवस्था में और अधिक गति से घंसाव होने लगता है और द्वीप जलमग्न हो जाता है। अब अवरोधक प्रवालभित्ति वलयाकार प्रवाल भित्ति का रूप धारण कर लेती है और इसके अन्दर केवल लैंगून रह जाती है कभी–कभी इस लैगून के अन्दर छोटा सा द्वीप भी बन जाता है जिसे प्रवाल द्वीप कहते हैं। डार्विन ने कहा कि प्रवाल द्वीप का निर्माण निरन्तर घंसाव से होता है। यही कारण है कि प्रवाल द्वीपों का निर्माण प्रशान्त महासागर के गहरे भागों में अधिक होता है चित्र में यह स्थिति 'च', 'छ' रेखा द्वारा दर्शायी गयी है। इसमें प्रवाल बिन्दुरेखा (Dotted Line) द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

अवतलन सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाणः

यह सिद्धान्त काफी व्यवहारिक रहा इसीलिए इसे बहुत मान्यता प्राप्त हुई। डेविस जैसे कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त को सत्य माना। इसके पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं–

(I) तटीय अथवा अपतटीय प्रवालभित्ति से अवरोधक एवं वलयाकार प्रवाल भित्तियों का विकास बिना निमज्जन के सम्भव नहीं है। चाहे निमज्जन क्षेत्र विशेष में हुआ है अथवा प्रादेशिक स्तर पर होता रहा हो।

(II) डार्विन के अनुसार प्रवालों का विकास (तटीय, अवरोधक एवं एटाल) क्रमिक अवस्था है यही अवस्था आदर्श अवस्था भी मानी जाती है।

(III) स्थल खण्ड एवं प्रवाल भित्ति के बीच स्थित लैगून का छिछला बना रहना अवतलन की पुष्टि करता है यदि अवतलन न होता तो प्रवाल भित्तियों के अवसाद से लैगून भर जाती।

(IV) सन् 1904 में दक्षिणी प्रशान्त महासागर में स्थित एलिस द्वीपों में फुनाफुटी (Funafuti) के द्वीप वलय में 340 मीटर गहरा छिद्र खोदा गया। इतनी अधिक गहराई तक प्रवाल कंकाल (अस्थिपंजर) का पाया जाना अवतलन के सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

(V) प्रवाल भित्तियों वाले क्षेत्र में जलमग्न तट रेखा का पाया जाना भी अवतलन के सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

(VI) प्रवाल भित्तियों का आधार मोटा होना तथा शीर्ष पतला होना अवतलन के सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

(VII) फुनाफुटी के छिद्र से प्राप्त चूने के पत्थर के अध्ययन के आधार पर स्कीटस महोदय ने बताया कि चूने के पत्थर का डोलोमाइटीकरण हो चुका है इतनी अधिक गहराई में डोलोमाइटीकरण का होना अवतलन का परिणाम ही हो सकता है।

स्मरणीयः– प्रवाल के अस्थिपंजर चूने के पत्थर के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं यदि चूने के पत्थर का अपरदन हो जाय तथा उसके स्थान पर मैग्नीशियम का जमाव हो जाय तो उस चूने के पत्थर को डोलोमाइट तथा इस क्रिया को डोलोमाइटीकरण कहते हैं। यह क्रिया केवल छिछले जल में ही सम्भव होती है।

अवतलन सिद्धान्त की आलोचनाः

हालांकि अवतलन सिद्धान्त के पक्ष में अनेक प्रमाण मिलते हैं परन्तु इस सिद्धान्त के विपक्ष में भी कई प्रमाण मिलते हैं जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है–

(I) कई विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये कि प्रवालभित्तियों की उत्पत्ति एवं विकास का अवतलन से कोई सम्बन्ध नहीं है, कुछ विद्वान जैसे–अगासीज (Agassiz) तथा सैम्पर (Semper) ने बताया कि अनेक प्रवालभित्ति क्षेत्रों में अवतलन के कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं।

(II) सैम्पर महोदय ने बताया कि पिलिउ (Pelew) नामक प्रवालभित्ति से मात्र 100 किमी दूर है। हाल ही में 120 से 150 मीटर उत्थान के प्रमाण मिले हैं जो कि अवतलन सिद्धान्त को गलत सिद्ध करता है।

(III) विद्वानों ने बताया कि अनेकों लैगून ऐसी है जो कि 20 से 25 फैदम गहरे तथा कई किलोमीटर चौड़े हैं इनकी उत्पत्ति को अवतलन द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

1 फैदम = 6 फिट

(IV) क्यूनेन (Kuenen) महोदय ने 1950 में ऐसे प्रवाल क्षेत्रों का वर्णन किया जहाँ पर तटीय प्रवाल भित्तियों के साथ–2 अवरोधक प्रवालभित्तियाँ भी पायी गयी है। यह अवतलन सिद्धान्त के विपरीत प्रमाण है।

11.9.2 मरे का स्थिर स्थल या विलयन पर आधारित सिद्धान्त

सर जॉन मरे ब्रिटिश नौसेना के एडमिरल थे। मरे को 1872 से 1876ई में चैलेन्जर अभियान के दौरान प्रशान्त महासागर में अनेक ज्वालामुखी द्वीप मिले जिनके ऊपर चूने के निक्षेप थे। इन्हीं के आधार पर 1880ई0 में स्थिर स्थल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

मरे महोदय ने बताया कि महासागरीय भागों में अनेक ज्वालामुखी चोटियाँ पायी जाती हैं जिनमें कुछ समुद्र तल के ऊपर तो कुछ समुद्र तल के नीचे पायी जाती हैं। ध्यातव्य है कि प्रवालों का विकास 30 फैदम (1 फैदम =6 फिट) की गहराई तक होता है। मरे ने बताया कि 'सागरीय चबूतरे एवं सागर तल स्थिर होते हैं' और यह आवश्यक नहीं कि सागरीय चबूतरे 30 फैदम की गहराई पर ही हों। इस प्रकार 30 फैदम से अधिक अथवा कम गहराई वाले भागों को इस गहराई तक आने में निम्नलिखित दो क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं–

1– समुद्र तल से ऊपर की चोटियों को समुद्री लहरें काटकर नीचा कर देती हैं।

2– 30 फैदम से अधिक गहराई वाले ज्वालामुखी भागों पर पैलेजिक सिंधुपंक (Pelogic Ooze) का निक्षेप हो जाता है। जिससे 30 फैदम की गहराई प्राप्त हो जाती है।

जब 30 फैदम की गहराई प्राप्त हो जाती है तो प्रवालों का विकास प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहले तटीय प्रवाल भित्ति का निर्माण होता है तटीय प्रवालभित्तियों का निरन्तर विकास होने पर अवरोधक प्रवालभित्ति का विकास होता है। अवरोधक प्रवालभित्ति का विकास चारों ओर होता है जिससे वलयाकार प्रवाल भित्ति बनती है। जलमग्न पठार अथवा

पर्वत की चोटियों के चारों ओर प्रवालों का विकास होता है। परन्तु अन्दर के प्रवालों का भोजन की कमी के कारण विनाश हो जाता है। जिस कारण लैंगून का निर्माण हो जाता है। धीरे–धीरे लैगून के चतुर्दिक प्रवालों का स्थाई विकास हो जाता है इस प्रकार वलयाकार प्रवालभित्ति का विकास हो जाता है।

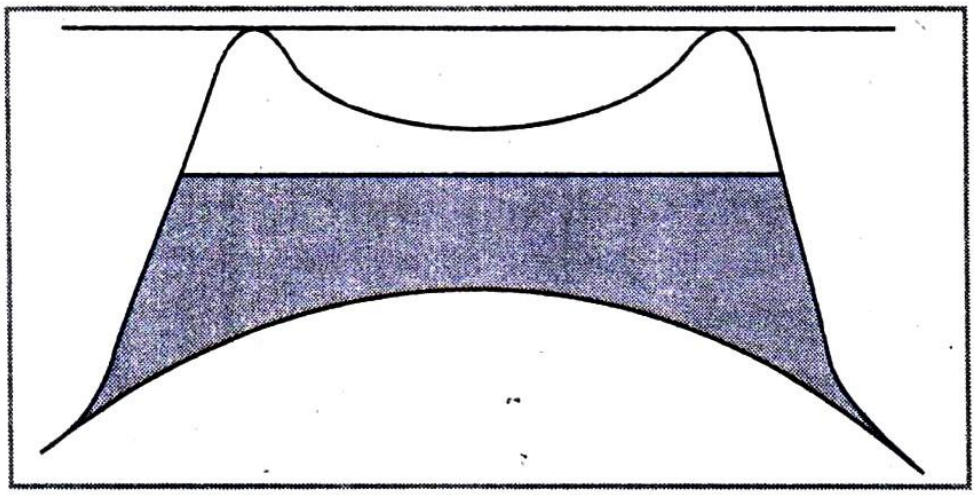

चित्र– 11.10 : मर्रे का वलयाकार प्रवाल भित्ति बनने का स्थिर स्थल सिद्धान्त। छाया वाला भाग पेलेजिक सिन्धुपंक (Pelagic Ooze) को प्रदर्शित करता है।

पक्ष में प्रमाणः

मरे के स्थिर स्थल सिद्धान्त के पक्ष में अनेक प्रमाण हैं जैसे–

1– शोध द्वारा सिद्ध होता है कि अनेक प्रवाल वलयों की उत्पत्ति अवतलन के बिना हुई है। विभिन्न महासागरों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ निक्षेपित पदार्थों पर प्रवालभित्तियाँ विकसित होती हैं–

(i) प्रवाल वाले सागरों में कैल्सियम की अधिकता पायी जाती है जो कि समुद्री जल में घुलनशील होता है।

(ii) चूना युक्त प्रवाल भित्तियों में विस्तृत लैंगून पाये जाते हैं।

(iii) अनेक वैज्ञानिकों ने मरे के सिद्धान्त का समर्थन किया है। जैसे सैम्पर (Semper), अगासीज (Agassize), रीन (Reen), वार्टन (Whorton), गार्डिनर (Gardiner), गुप्पी (Guppy), स्लूटर (Sluter) आदि।

आलोचनाः

कुछ विद्वानों ने मरे के स्थिर स्थल सिद्धान्त का समर्थन किया है परन्तु कुछ विद्वानों ने इसके विपक्ष में भी निम्नलिखित तथ्य सुझाये हैंः–

1– सर्वमान्य तथ्य है कि 30 फैदम की गहराई पर विशेष निक्षेप एवं अपरदन सम्भव नहीं है।

2– मरे के अनुसार जल एवं स्थल तल का वर्तमान स्वरूप स्थिर है यह धारणा गलत है कि क्योंकि प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त यह नहीं मानता। तटीय भागों में उम्ज्जन एवं निमज्जन के संकेत मिलते हैं।

3– मरे ने बताया कि प्रवाल 30 फैदम की गहराई पर ही पनपते हैं जबकि कई स्थानों पर इससे अधिक एवं कम गहरे भागों में प्रवाल पाये जाते हैं।

4– मरे के अनुसार लैगूनों की गहराई भी 30 फैदम से कम होनी चाहिए परन्तु 40 या 50 फैदम गहरी लैंगून के उदाहरण मिलते हैं।

5– मरे का सिद्धान्त विलयन पर विशेष बल देता है पर वास्तव में ऐसा नहीं है।

इस प्रकार मरे के सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है।

11.9.3 डेली का हिमनद नियन्त्रण सिद्धान्तः

प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान डेली ने सन् 1909–10 में हवाई द्वीप में विकसित प्रवालों का निकट से अध्ययन किया और सन् 1915 में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे 'हिमनद नियंत्रण सिद्धान्त' कहा जाता है। 1909ई0 में हवाई प्रवाल भित्तियों के अध्ययन के दौरान डेली दो बातों से बहुत प्रभावित हुए–

1– ये प्रवालभित्तियाँ बड़ी संकरी थी।

2– 'मोना की' (Manna Kea) नामक प्रवालभित्ति पर हिम क्रिया के चिह्न स्पष्ट दिखाई दिये।

डेली ने बताया कि प्रवाल भित्तियों का तापमान से गहरा सम्बन्ध है वर्तमान समय में हवाई द्वीप के समीप शीतकाल में समुद्री जल का तापमान उतना ही है जितने में प्रवाल जीव मात्र पनप सकते हैं। डेली महोदय ने बताया कि प्लीस्टोसीन हिमकाल में यहाँ पर जल का तापमान काफी नीचे चला गया जिससे सागर तल में 35 से 38 फैदम की गिरावट

आयी। इस क्रिया से जलमग्न चबूतरे एवं प्रवाल जल के ऊपर आ गये परिणाम स्वरूप प्रवालों का अपरदन होकर सागरीय तली में जमाव हो गया।

हिमयुग के समाप्त हो जाने पर तापमान में वृद्धि हुई और सागर जल तल का उत्थान हुआ परिणामस्वरूप चबूतरे जलमग्न हो गये एवं प्रवालों के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ फिर मिल गयी। बचे हुए प्रवालों से जनन क्रिया द्वारा प्रवालों का विकास हुआ। इसी प्रकार महाद्वीपों के मग्न तटों के साथ–साथ लम्बी प्रवालभित्तियों का जन्म हुआ। आस्ट्रेलिया के उत्तरी पूर्वी तट पर **ग्रेट वैरियर रीफ'** इसी प्रकार बनी। डेली के अनुसार अवरोधक प्रवालभित्तियों का जन्म वहाँ हुआ जहाँ कम गहराई तक जलमग्न पर्वत, ज्वालामुखी शंकु, पठार एवं कटक आदि स्थित थे।

पक्ष में प्रमाणः–

डेली के सिद्धान्त का बहुत से विद्वानों ने समर्थन किया है इसके पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण हैं–

1– हिमयुग में विश्वव्यापी सागर तल में परिवर्तन पर आधारित यह सिद्धान्त अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि वास्तव में ऐसा सम्भव है।

2– डेली ने समझाया के हिम युग के पश्चात सागर तल के पुनः ऊपर उठने की गति एवं प्रवाल रचनाओं के विकास की गति (3.5 सेमी/वर्ष) लगभग समान रही। अतः दोनों में समरूपता बनी रही।

3– सन् 1904 में फिजी के उत्तर में एलिस द्वीप समूह की फुनाफुटी प्रवाल में गहरा छिद्र खोदा गया, इससे प्राप्त प्रमाण डेली के मत की पुष्टि करते हैं।

4– डेली का मत है कि सागरीय तरंगों को प्लीस्टोसीन हिम युग में द्वीपों पर केवल टर्शियरी अथवा उसके बाद में निक्षेपित हुए कोमल एवं निर्बल तटों का ही अपरदन करना था और सागरीय तरंगों के लिए यह कार्य सरल था।

आलोचनाः–

यद्यपि इस सिद्धान्त के अनेक समर्थक रहे पर समयान्तर इसमें परिवर्तन हुए और इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना होने लगी–

1– कुछ समुद्री चबूतरों का विस्तार इतना अधिक है कि सागरीय तरंगों के द्वारा उनका कटाव सम्भव नहीं है। जैसे मैकलिस फील्ड (Macclesfield) चबूतरा 55 किमी चौड़ा है एवं 55 से 60 फैदम गहरा है।

2– डेली के सिद्धान्तों के अनुसार लैगूनों की गहराई एक समान होनी चाहिए जबकि डेविस ने बताया कि (W.M. Davis) भिन्न–भिन्न लैगूनों की गहराई 3 से 100 फैदम होती है।

3– डेली ने समुद्र तल का निमज्जन 35 से 38 फैदम बताया जबकि यह सत्य नहीं है।

4– डेली के अनुसार तापमान में कमी से प्रवालों की मृत्यु हो गयी जबकि इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते।

इस प्रकार प्रवाल भित्तियों के विकास में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गये उपरोक्त के अतिरिक्त निम्नलिखित विद्वानों ने भी प्रवालों की उत्पत्ति के सिद्धान्त दिये हैं–

I– आगासीज का सिद्धान्त

II– गार्डिनर का स्थिर स्थल सिद्धान्त

III– डेविस महोदय की विशिष्ट आनुभाविक व्याख्या

11.10 सारांश

समुद्र विज्ञान में महासागरीय गतियाँ एवं सागरीय निक्षेपों का विशेष महत्व है। महासागरीय गतियों में ज्वार भाटा एक ऐसी गति है जिसका अवलोकन किया जा सकता है। इस इकाई में ज्वार–भाटा से सम्बन्धित अनेक बिन्दुओं का स्पष्ट प्रकटीकरण किया गया है तथा विभिन्न तथ्यों को सरल रूप में प्रस्तुत किया गया। ज्वार भाटा का प्रभाव अनेक रूप में देखा जा सकता है ज्वार–भाटा से आज ज्वारीय ऊर्जा का निर्माण किया जा रहा है और यह भविष्य के ऊर्जा संसाधन के रूप में महत्वपूर्ण विकल्प सिद्ध होगा। इसके अलावा सागरीय निक्षेपों में प्रवाल भित्तियाँ महत्वपूर्ण है। प्रवालों के विषय में जानना आवश्यक है क्योंकि आज प्रवालों का विनाश होता जा रहा है और यह जैव विविधता के ह्रास का एक संकेत भी है। इस इकाई में प्रवालभित्तियों की उत्पत्ति विकास हेतु अनुकूल दशाएँ एवं उत्पत्ति के सिद्धान्त का वर्णन सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आज ज्वार भाटा एवं प्रवाल भित्तियाँ विद्यार्थियों के अध्ययन का एक प्रमुख विषय है इस संदर्भ में यह इकाई सहायक सिद्ध होगी।

11.11 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र01 ज्वार–भाटा से आप क्या समझते हैं? इसके प्रकारों का सचित्र वर्णन कीजिए।

प्र02 ज्वार–भाटा की उत्पत्ति के संदर्भ में सन्तुलन सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

प्र03 प्रवालभित्तियाँ क्या है? तथा इनके विकास की भौगोलिक दशाओं का वर्णन कीजिए।

प्र04 मरे के स्थिर–स्थल सिद्धान्त का सचित्र वर्णन कीजिए।

प्र05 प्रवालभित्तियों के महत्व एवं उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र01 लघु ज्वार क्या है?

प्र02 ज्वार–भाटा के समयान्तराल का स्पष्टीकरण कीजिए।

प्र03 ज्वार–भाटा के आने के कारणों का वर्णन कीजिए।

प्र04 ज्वारीय ऊर्जा भविष्य के ऊर्जा के संसाधन की केन्द्र होगी, स्पष्ट कीजिए।

प्र05 तटीय प्रवालभित्ति क्या है सचित्र समझाइए।

प्र06 अवतलन सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

प्र01 प्रवालभित्ति कहाँ देखने को मिलती है?

(A) तटीय क्षेत्रों में (B) एश्चुअरी के मुहाने में
(C) खुले सागर में (D) बन्द खाड़ी में

प्र02 दीर्घज्वार आता है?

(A) शुक्ल पक्ष सप्तमी (B) कृष्ण पक्ष अष्टमी
(C) अमावस्या एवं पूर्णिमा को (D) इनमें से कोई नहीं

प्र03 एक ही देशान्तर को पुनः चन्द्रमा के सामने आने में कितना समय लगता है?

(A) 24 घंटे 52 मिनट (B) 12 घंटे 26 मिनट
(C) 24 घंटे 26 मिनट (D) 12 घंटे 52 मिनट

प्र04 उप–भू होता है–

(A) जब पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच की दूरी अधिकतम हो। (B) जब पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच की दूरी न्यूनतम हो।
(C) जब सूर्य चन्द्रमा एवं पृथ्वी एक ही सीध में होते हैं। (D) इनमें से कोई नहीं

प्र05 प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के प्रतिपादक थे–

(A) न्यूटन (B) मरे
(C) ओमनी (D) हेवेल

प्र06 प्रवाल है–

(A) एक नदी (B) एक समुद्री वनस्पति
(C) कार्स्ट स्थलाकृति (D) एक समुद्री जीव

प्र07 प्रवालों के समुचित विकास के लिए अनुकूल समुद्री तापमान है–
(A) 10^0 से 20^0 सेग्रे (B) 20^0 से 30^0 सेग्रे
(C) 30^0 से 40^0 सेग्रे (D) 40^0 से 50^0 सेग्रे

प्र08 प्रवाल कितनी गहराई पर अधिक विकसित होते हैं–
(A) 10 फैदम (B) 60 फैदम
(C) 30 फैदम (D) 80 फैदम

प्र09 हिमानी नियन्त्रण सिद्धान्त के प्रतिपादक है–
(A) मरे (B) डेली
(C) डार्विन (D) डेविस

प्र010 भारत में प्रवाल रचना पायी जाती है–
(A) खंभात की खाड़ी में (B) मन्नार की खाड़ी में
(C) गोआ के निकट (D) पं0 बंगाल में

उ0 (1) B (2) C (3) A (4) B (5) D (6) D
(7) B (8) C (9) B (10) B

11. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1– प्रो0 सविन्द्र सिंह– भौतिक भूगोल
2– डी0एस0 खुल्लर– भूगोल (समग्र)
3– डॉ0 चतुर्भुज मामोरिया– भौतिक भूगोल
4– डॉ0 एस0के0 ओझा– विश्व का भूगोल
5– डॉ0 मो0 हारून– जलवायु एवं समुद्र विज्ञान

इकाई 12–जैवमण्डल का अभिप्राय, पर्यावरण एवं जीवमण्डल, जीवमण्डल के तत्व

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 जीवमण्डल का अभिप्राय
12.3 पर्यावरण एवं जीवमण्डल
12.4 जीवमण्डल के तत्व का अभिप्राय
12.4.1 भौतिक तत्व

1– भूमण्डलीय तत्व

2– जलमण्डलीय तत्व

3– वायुमण्डलीय तत्व

12.4.2 जैविक तत्व

1– पादप तन्त्र

2–सूक्ष्म जीव तन्त्र

3– जन्तु तन्त्र

(क) शाकाहारी जन्तु

(ख) मांसाहारी जन्तु

(ग) सर्वाहारी जन्तु

12.5 पोषण स्तर, आहार श्रृंखला, आहार जाल

12.5.1 पोषण स्तर–एक

12.5.2 पोषण स्तर–दो

12.5.3 पोषण स्तर–तीन

12.5.4 पोषण स्तर–चार

12.6 जीवमण्डल के पिरामिड

12.6.1 बायोमास पिरामिड

12.6.2 ऊर्जा पिरामिड

12.6.3 संख्या पिरामिड

12.7 जीवमण्डल में ऊर्जा प्रवाह

12.7.1 नियम–एक

12.7.2 नियम–दो

12.7.3 नियम–तीन

12.7.4 नियम–चार

12.7.5 नियम–पाँच

12.8 पोषक तत्वों का चक्रीय संचार

12.9 भूजैव रसायन चक्र

12.9.1 कार्बन चक्र

12.9.2 नाइट्रोजन चक्र

12.9.3 ऑक्सीजन चक्र

12.9.4 जल चक्र

12.9.5 सल्फर चक्र

12.10 सारांश

12.10.1 बोध प्रश्न

12.10.2 शब्दावली

1210..3 सन्दर्भ ग्रन्थ

1210..4 बोध प्रश्न के उत्तर

1210..5 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.0 प्रस्तावना –

जीवमण्डल के अन्तर्गत भौतिक, जैविक, ऊर्जा, संघटक शामिल है। भौतिक संघटक के अन्तर्गत स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल शामिल है। जैविक संघटक के अन्तर्गत जीव–जन्तु, पेड़–पौधे शामिल हैं। इन दोनों संघटकों को संचालित करने में ऊर्जा संघटक सक्रिय रहता है। इन्हीं संघटकों का समवेत रूप जीवमण्डल है, जो एक पारिस्थितिक तन्त्र है। जीवमण्डल में सभी जीव–जन्तु शाकाहारी, मांसाहारी, सर्वाहारी आदि सक्रिय रहते हैं। जीवमण्डल की मोटाई लगभग 24 किलोमीटर मानी जाती है। इस मण्डल में ऊर्जा एवं पदार्थ का सतत् चक्रण, पुनर्चक्रण, जैवभूरसायन चक्र, जैसे– ऑक्सीजन चक्र, नाइट्रोजन चक्र, कार्बन चक्र, सल्फर चक्र, अवसाद चक्र, जल चक्र द्वारा संचालित होता है। जीवमण्डल और पर्यावरण भूगोल आपस में अन्तर्सम्बन्धित हैं। आहार श्रृंखला, आहार जाल के अन्तर्गत समस्त पोषण स्तर के जीव सक्रिय होते हैं और एक–दूसरे पर निर्भर होते हैं। एक खाद्य श्रृंखला में अनेक खाद्य स्तर पाये जाते हैं, जिसके अन्तर्गत उत्पादक, उपभोक्ता शामिल होते हैं। खाद्य श्रृंखला में ऊर्जा और पदार्थ के एक स्तर से दूसरे स्तर में संचरण होता है। संचरण के दौरान दस प्रतिशत ऊर्जा श्वसन, उत्सर्जन में क्षय होती है।

12.1 उद्देश्य –

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जीवमण्डल का अर्थ समझ सकेंगे।
- पर्यावरण भूगोल और जीवमण्डल आपस में कैसे अन्तर्सम्बन्धित है, को समझ सकेंगे।
- जीवमण्डल के तत्वों की विशद् व्याख्या कर सकेंगे।
- पोषण स्तर, आहार जाल, आहार श्रृंखला क्या है, कैसे कार्य करती है, की समझ विकसित होगी।
- जीवमण्डल के भौतिक, जैविक संघटक का विशद् वर्णन कर सकेंगे।
- जैव भूरसायनचक्र कैसे कार्य करता है एवं इसकी महत्ता क्या है, इसे समझ सकेंगे।

12.2 जीवमण्डल का अभिप्राय –

जीवमण्डल के अन्तर्गत समस्त भौतिक पर्यावरण एवं जैविक पर्यावरण अथवा भौतिक संघटक एवं जैविक संघटक अथवा जैविक अजैविक के मध्य होने वाले क्रिया–अन्तर्क्रिया अथवा सतत् अन्तर्क्रिया को सम्मिलित किया जाता है। जीवमण्डल के अन्तर्गत भौतिक संघटक जिसके अन्तर्गत स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल को शामिल किया जाता है तथा जैविक घटक के अन्तर्गत पेड़–पौधों, वनस्पतियों, जीव–जन्तुओं, प्राणि जगत् के समस्त जीवित जीव को शामिल किया जाता है।

जीवमण्डल एक तंत्र है, जो तीन संघटकों से बना है– भौतिक संघटक, जैविक संघटक एवं ऊर्जा संघटक। भौतिक संघटक के अन्तर्गत स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल तीनों को शामिल किया जाता है। जैविक घटक के अन्तर्गत मानव सहित समस्त प्राणियों एवं पेड़ पौधों को शामिल किया जाता है। ऊर्जा संघटक के अन्तर्गत भूतापीय ऊर्जा और सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा को शामिल किया गया है। तीनों संघटको में कोई संघटक अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। तीनों एक–दूसरे पर निर्भर हैं परस्पर अवलम्बित हैं तथा बड़े पैमाने पर चक्रीय क्रियाविधि द्वारा एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं। जैव भू–रसायन चक्र के द्वारा जीवमण्डल तंत्र में समस्त पदार्थ और ऊर्जा का निवेश और बहिर्गमन की प्रक्रिया का संचालन हमेशा क्षण–प्रतिक्षण होता रहता है। यह खुला तंत्र है एवं विवृत तंत्र है, क्योंकि इसमें पदार्थ और ऊर्जा का सदैव निवेश और बहिर्गमन होता रहता है, जबकि बंद पारितंत्र में यह क्रिया बाधित होती है। ऊर्जा एवं पदार्थ के लगातार निवेश और बहिर्गमन के कारण सम्पूर्ण जीवमण्डल पारिस्थितिक तंत्र संतुलन की स्थिति में बना रहता है। जब तक जीव मण्डलीय पारिस्थितिक तंत्र संतुलित रहेगा, तब तक उसमें कोई व्यवधान उत्पन्न न किया जाए। जब जीव मण्डल में कोई भी व्यवधान उत्पन्न होता है, तो ऐसी स्थिति में जीवमण्डल सन्तुलन बाधित होता है और जब सन्तुलन अव्यवस्थित हो जाता है उस कारण उसे पर्यावरण में अनेक प्रकार की समस्याएं जन्म लेती हैं। जैसे जलवायु परिवर्तन की समस्या, प्राकृतिक आपदाओं के पुनरावृत्ति में वृद्धि, ऊष्मा द्वीप, प्रदूषण, गुंबद, नगरीय जलवायु में परिवर्तन, बाढ़, सूखा, भूकम्प चक्रवात की आवृत्ति में वृद्धि जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, अम्ल वर्षा, कोल्ड स्ट्रोक, हीट स्ट्रोक, जीव–जन्तुओं वनस्पतियों के प्रजातियों का विलोपन, भूस्खलन, धूम, कोहरा के साथ मस्तिष्क प्रदूषण आदि पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। सामान्यतः जीवमण्डलीय तंत्र की संतुलन की दशा स्वनियामक अर्थात वह जीव ण्डल पर

निर्भर होती है। जीव मण्डलीय तंत्र में विद्यमान संतुलन की दशा उसके स्वयं के संघटको के मध्य अन्तर्सम्बन्धों तथा विभिन्न स्तर पर होने वाली जैव भू–रसायन चक्र के उप चक्र, जैसे ऊर्जा चक्र, जैव भू रसायन चक्र के उप चक्र जैसे ऊर्जा चक्र, पोषक तत्व, पोषक तत्व, जल चक्र, अवसाद, कार्बन चक्र, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन चक्र, जलचक्र आदि के द्वारा सम्भव हो पाती है। यह समस्त चक्र जीवमण्डल के तीनों संघटको जैविक, अजैविक, ऊर्जा को प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। यही संघटक इन चक्रों, उपक्रमों द्वारा जो भी पदार्थ ऊर्जा पोषक तत्व का गमन और चक्रण होता है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर संचरण होता है, उसको प्रभावित करते हैं। उसको नियंत्रित करते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जीव मण्डलीय तंत्र के संघटक जैव भू–रसायन चक्र से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित और नियन्त्रित है। यह चक्र और उप चक्र भी संघटको को प्रभावित करते हैं, जब कोई जैविक अजैविक ऊर्जा संघटक अपनी निर्धारित सीमा से कम या ज्यादा प्रभावशाली होता है, तो निश्चित रूप से जीव मण्डल के संतुलन की दशा प्रभावित होती है और उनके पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जैसे शीतलहर जो भौतिक संघटक का चर है, इसकी तीव्रता से हार्ट अटैक, कोल्ड फीवर की घटनाएँ बढ़ जाती है एवं इसे दूसरे उदाहरण से भी समझा जा सकता है, जैसे धरातल पर नगरीकरण के कारण जल चक्र के साम्यावस्था में व्यवधान उत्पन्न होता है, इसलिए स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यह पर्यावरण, जैविक, अजैविक घटक तीनों मिलकर जैव भू–रसायन चक्र को प्रभावित एवं नियंत्रित करते हैं। जैव रसायन के चक्र जैविक घटकों को प्रभावित एवं नियंत्रित करते हैं। जीवमण्डल एक पारिस्थितिक तंत्र के रूप में जाना जाता है। यह वृहत्तर पारिस्थितिक तंत्र का उदाहरण है, इसके ह्रास से जीवमण्डल का ह्रास होगा। इसी तरह से जीवमण्डल पारिस्थितिक तंत्र की रचना की आधारभूत इकाई है। तंत्र की रचना जैविक अजैविक घटक तथा ऊर्जा संघटक से हुई है, यह समस्त तंत्र जैव भू–रसायन चक्र के माध्यम से आपस में एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित है, इसलिए निःसंदेह कहा जा सकता है कि जीवमण्डल पारिस्थितिक तंत्र एवंएक पारितंत्र है।

जीवमण्डल के उप तंत्र जीवमण्डल की रचना स्थलीय, जलीय, वायुमण्डलीय तत्वों के द्वारा होती है। जीवमण्डल में पेड़–पौधे, जन्तु, मृदा तथा उप तंत्र शामिल है। तंत्र आपस में घनिष्ठ रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं, क्योंकि ऊर्जा और पदार्थ के संचरण उसके निवेश और बहिर्गमन के विभिन्न चक्रीय मार्गो द्वारा यह तीनों तंत्र आपस में जुड़े हुए हैं।

महत्वपूर्ण तथ्य है कि स्थलीय बायोम तंत्र की तरह जलीय बायोम तंत्र में जन्तु, पादप, पोषक तीन तंत्र सम्मिलित हैं। यह तीनों तंत्र ऊर्जा और पदार्थों का संचरण एवं गमन चक्रीय मार्गों द्वारा सम्पादित होता है, इसीलिए यह आपस में अन्तर्सम्बन्धित होते हैं।

12.3 पर्यावरण एवं जीवमण्डल –

सौरमण्डल के ज्ञात ग्रहों में मात्र पृथ्वी ही एक ऐसा ग्रह है, जहाँ पर जीवन है। पृथ्वी के 70.8 प्रतिशत भाग पर जल का आवरण है। इसी जल में जीव की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी के चारों ओर जीवजन्तु का एक आवरण पाया जाता है, जिसे जीवमण्डल के नाम से जानते हैं। विद्वान स्ट्रालर एवं स्ट्रालर के अनुसार पृथ्वी के सभी जीवित जीव तथा वे पर्यावरण, जिनसे इन जीवों की पारस्परिक क्रिया होती है, मिलकर जीवमण्डल की रचना करते हैं। जीवमण्डल की परत सामान्यतः 24 किलोमीटर मोटी मानी जाती है। यह मोटाई वायुमण्डल में 15 किलोमीटर की ऊँचाई तक, जहाँ पर जीवन के लिए अनुकूल सूर्य का प्रकाश एवं ऑक्सीजन व अन्य तत्व उपलब्ध हैं। इसी तरह महासागर में डेटम रेखा के नीचे 09 किलोमीटर की गहराई तक जीवन के लक्षण पाये गये हैं। इसीलिए सामान्यतः 15+9 = 24 किलोमीटर जीवमण्डल की मोटाई मानी जाती है। सामान्यतः कुछ विद्वान जीवमण्डल की सामान्य मोटाई 30 किलोमीटर से कम मानते हैं। जीवमण्डल के अन्तर्गत भौतिक पर्यावरण, जैविक पर्यावरण का अध्ययन समाहित है। जीवों का अध्ययन वनस्पति विज्ञान, जीवविज्ञान, जन्तुविज्ञान, रसायन विज्ञान, भूगोल के अन्तर्गत विभिन्न उद्देश्यों से किया जाता रहा है, इसीलिए जीव–भूगोल की परिभाषा विषय क्षेत्र के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। जैसे– भूगोलवेत्ता जीवमण्डल में जीवों के वितरण प्रतिरूप, उद्भव स्थान का अध्ययन पर्यावरणीय स्वरूप में करता है, जबकि जीव वैज्ञानिक का दृष्टिकोण एवं उद्देश्य बिल्कुल अलग होता है। जीव वैज्ञानिक इसी एक जीव के अंग, उनकी शारीरिक आकार, उसके व्यवहारिक कार्य, डीएनए, आरएनए, कोशिका व अन्य जैविक लक्षणों का अध्ययन करता है। जीवमण्डल के अन्तर्गत स्थल मण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल में जैविक रूप से निवास करने वाले प्राणियों, वनस्पतियों का अध्ययन किया जाता है, इसीलिए जीवमण्डल भूगोल का एक अभिन्न शाखा के रूप में है। भूगोलवेत्ता जीवमण्डल के अध्ययन में प्राणियों, वनस्पतियों का अध्ययन, समय, स्थान के सन्दर्भ में उनकी मौलिक विशेषताओं, स्थानिक विभिन्नताओं पर अधिक ध्यान देता है।

जैविक–अजैविक संघटकों के मध्य पारस्परिक अन्तर्क्रिया और उनसे उत्पन्न होने वाले भू–दृश्य का विश्लेषण करता है। माग्रेट एण्डरसन के विचार में मानव एवं उसके समस्त चेतन–अचेतन पर्यावरण के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन ही जीव–भूगोल का सार है। जीवभूगोल के अन्तर्गत जैविक–अजैविक संघटक का अध्ययन होता है और जैविक संघटक को पादप और प्राणि संघटक में विभाजित करते हैं। इससे पादप भूगोल एवं प्राणि भूगोल की शाखा का विकास हुआ। प्राणियों की तुलना में पादपों का अध्ययन अत्यधिक सरल रहा, जिससे प्राणियों की तुलना में पादपों का वितरण प्रतिरूप, गतिशीलता, कार्य, व्यवहार सीमित और स्पष्ट होता है। पादप विश्व के सम्पूर्ण बायोमास का मूल रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। पेड़–पौधे अपने वास क्षेत्र के भौतिक पर्यावरण पर निर्भर होते हैं और स्वयं भौतिक पर्यावरण को प्रभावित करते हैं, जहाँ पर पेड़–पौधे अधिक हैं, वहाँ की मृदा में ह्यूमस की मात्रा अधिक होती है, जैसे– प्रेयरी, स्टेपी, पम्पास, घास क्षेत्र है। मरुस्थली क्षेत्र में पादप् समुदाय के कमी के कारण वहाँ का भौतिक पर्यावरण पादप समुदाय से कम प्रभावित होता है, उर्वरता एवं ह्यूमस कम होता है। 1860 की औद्योगिक क्रान्ति के बाद पर्यावरण में अनवरत ह्रास होता गया। यह अवनयन एवं प्रदूषण के रूप में धरातल के सम्पूर्ण संसाधन को प्रदूषित किया। जैसे– जलसंसाधन, मृदा संसाधन, वायु संसाधन आदि। इतना ही नहीं, इस पर्यावरण के संघटकों में जीवमण्डल के जैविक अजैविक संघटनों के क्रियाकलाप से जलवायु परिवर्तन ओजोन क्षय, वैश्विक ऊष्मन, अम्लवर्षा, मरुस्थलीयकरण, ऊष्मा द्वीप प्रदूषण गुम्बद, धूम्र कोहरा, सामाजिक प्रदूषण, बाढ़, सूखा, चक्रवात की आवृत्ति में वृद्धि जैविक महामारियों का प्रकोप जैसी पर्यावरणीय समस्याएँ उत्पन्न हुईं। ये समग्र पर्यावरणीय दशायें एवं समस्याएँ जीवमण्डल के किसी न किसी संघटक से अन्तर्सम्बन्धित है। ऐसी स्थिति में पर्यावरण भूगोल और जीवमण्डल दोनों को अलग करना या अलग समझना उचित नहीं है। पर्यावरण भूगोल में जीवमण्डल के घटकों में उत्पन्न समस्याओं और उन घटकों के भौतिक वास्य का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। जीवमण्डल में वही संघटक हैं, जो संघटक पर्यावरण भूगोल के हैं।

12.4 जीवमण्डल के तत्व का अभिप्राय –

जीवमण्डल एक जीवन परत है, जो पृथ्वी के चारों तरफ व्याप्त है, इसके अन्तर्गत पेड़–पौधे, जन्तुओं का जीवन शामिल है, जो स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल

के आधार पर निर्भर है। प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों में लिखा गया है, "क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा पंच तत्व से बना शरीरा।" यानी पृथ्वी, जल, अग्नि, गगन, वायु पंचतत्व भौतिक हैं और इससे बना हुआ चेतन शरीर जैविक है। इस तरह से पृथ्वी के समस्त जीव तथा वे पर्यावरण, जिनसे इन जीवों की पारस्परिक क्रिया होती है, मिलकर जीवमण्डल का निर्माण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि, जीवन मण्डल में समस्त जैविक तत्व एवं भौतिक तत्व को शामिल किया जाता है। जीवन मण्डल में भौतिक एवं अभौतिक जीवों के मध्य अन्तर्क्रिया होती रहती है। इस विषय के अन्तर्गत हम जीवमण्डल के भौतिक, अभौतिक दोनों तत्वों का विशद् अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। जीवमण्डल के तत्व मूलतः दो वर्ग में विभाजित किए जा सकते हैं, प्रथम–भौतिक तत्व, द्वितीय–जैविक तत्व।

12.4.1 भौतिक तत्व –

भौतिक तत्व के अन्तर्गत स्थलाकृति, वायु, सूर्यातप, जल, मिट्टी, चट्टान एवं खनिज पदार्थ आदि को शामिल किया जाता है। इन भौतिक तत्वों को मूलतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो निम्नलिखित है –

1. स्थलमण्डल,
2. जलमण्डल,
3. वायुमण्डल।

1– स्थलमण्डलीय तत्व –

स्थलमण्डलीय तत्व, भूमण्डलीय तत्वों में, जैसे– शैल, मृदा, खनिज आदि के साथ भू–आकृति आदि को शामिल किया जाता है, जैसे–मैग्नीज, बॉक्साइट, डोलोमाइट, लोहा खनिज पदार्थ हैं। वे ठोस पदार्थ जो खनिज कणों के एकत्रित होने से निर्मित हैं, जिससे भूपर्पटी का निर्माण हुआ है, को शैल कहते हैं। रचना प्रक्रिया, स्थान, उत्पत्ति, संरचना आदि के आधार पर शैलों को तीन भागों में आग्नेय रूपान्तरित अवसादी में रखा जाता है। बलुआ पत्थर, शैल चीका, चूना पत्थर, कोयला, नमक, सोरा, सेलखड़ी आदि अवसादी शैल है। डोलोमाइट, मैग्नेटाइट ग्रैबो, ग्रेनाइट, बेसाल्ट, लैपिली, ज्वालामुखी कण, धूल कण, राख कण आदि आग्नेय शैल के उदाहरण हैं। संगमरमर, स्लेट सिस्ट, नीस

आदि रूपान्तरित शैल के उदाहरण है। मूल शैल के ऊपर भू–धरातल पर स्थित ढीले तथा बारीक कणों से निर्मित उपजाऊ, पतली परत को मृदा कहते हैं। मृदा का निर्माण शैलों के अपरदन, अपक्षय से मिले पदार्थों से हुआ है। सभी तरह के पेड़–पौधे, घास आज मिट्टी से ही उगते हैं। जीवमण्डल के तत्वों में स्थल आकृतियों का महत्वपूर्ण स्थान है। पृथ्वी की सम्पूर्ण भू–आकृतियों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है– प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत महाद्वीप, महासागरीय स्थलाकृति को शामिल किया गया है, इसके ऊपर निर्मित स्थलाकृतियाँ जो अन्तर्जाति बल द्वारा उत्पन्न हुई है, को द्वितीय श्रेणी के स्थल रूप में शामिल करते हैं। इस वर्ग में पर्वत, पठार, मैदान, महाद्वीपीय मग्न तट, मग्न ढाल, महासागरीय कटक, गहरे सागरीय मैदान, खाई आदि को शामिल किया जाता है। तृतीय श्रेणी के स्थलरूपों का निर्माण अपरदन एवं अपक्षय के कारकों द्वारा हुआ है। इस वर्ग में नदी, सागर, हिमानी, परिहिमानी, भूमिगत जल, पवन द्वारा बनने वाले स्थलरूप जैसे 'वी' आकार घाटी, जलप्रपात, नदी वेदिका, डेल्टा, मियांडर, रिल, गली रेबुलेट, प्वाइण्ट बार डेल्टा, प्राकृतिक तटबंध,ा जलोढ़ शंकु, जलोढ़ पंक, लैपीज, घोल रंध्र, विलयन छिद्र डोलाइन, यूवाला, पोल्जे, स्टैलेक्टाइट, स्टाइलेंग्माइट, कंदरा स्तंभ, ट्रैवनटाइन, ड्राई काउण्टर, भू–स्तम्भ, बोनहार्ट, लोयस, सीफ, बरखान, प्लाया, बजाडा, पेडिमेंट, क्लिफ, टोर बोलो बीच, पुलिन मिश्रित हुक, रिया तट, भेड़, शिलायें पैटरनोस्टर झील, 'यू' आकार घाटी आदि को शामिल किया जाता है।

2– जलमण्डलीय तत्व –

जलमण्डल के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित जल को सम्मिलित किया जाता है। जैसे– भूमिगत जल, भू–पृष्ठीय जल, समुद्री जल आदि भू–पृष्ठीय के जल का प्रमुख स्रोत वर्षण है। वर्षण प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्षा को वर्षा के ठोस, द्रव, वाष्प के रूप में शामिल किया जाता है। भू–धरातल पर जल मुख्य रूप से वर्षा के द्वारा और हिमद्रवण द्वारा प्राप्त होता है। यह धरातल का जल तालाब, झील, जलाशय आदि के रूप में विद्यमान है। झरना, नदी, जलप्रपात आदि के रूप में धरातल का जल गतिमान भी होता है। भूमिगत जल को नलकूपों, कूओं आदि के द्वारा भू–सतह पर लाया जाता है और भूमिगत जल का पेयजल, सिंचाई व अन्य कार्य में उपयोग किया जाता है। जलीय संघटन में सबसे महत्वपूर्ण एवं महत्तम क्षेत्र पर महासागरीय जल का विस्तार है।

पृथ्वी की सतह पर लगभग 70.8% क्षेत्र पर महासागरीय जल का विस्तार है। इस महासागरीय जल में अनेक जीव जन्तु, वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। सागर का जल खारा है, उसमें विविध प्रकार के लवणीय तत्व विद्यमान हैं। महासागरीय जल में अनेक गतियाँ होती हैं, जिसमें लहरें, तरंगें, जलधाराएं, ज्वार भाटा की गति प्रमुख है। जलधारा, तरंग, महासागरीय खारापन, महासागरीय जीव–जन्तुओं, वनस्पतियों को अधिक प्रभावित करते हैं। 16.5 करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर प्रशांत महासागर, 8.22 करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर अटलाण्टिक महासागर, 7.34 करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर हिन्द महासागर, 1.4 करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर आर्कटिक महासागर का विस्तार है। महासागरीय क्षेत्र में भूमध्य सागर, चीन सागर, बेरिंग सागर, कैरीबियन सागर, जापान सागर, उत्तरी सागर, काला सागर, लाल सागर, बाल्टिक सागर, पीला सागर, अरब सागर, अण्डमान निकोबार सागर, तिमोर सागर, मैक्सिको खाड़ी, बंगाल की खाड़ी आदि अनेक सीमान्त सागर एवं खाड़ियाँ हैं। महासागर में नितल क्षेत्र में महाद्वीपीय तट, महाद्वीपीय मग्न ढाल अगाध सागरीय मैदान, महासागरीय गर्त, अन्तः सागरीय कंदरा, जलमग्न कटक, नितल पहाड़ियाँ विद्यमान हैं, जो महासागरीय नितल की आकृति में विषमता व्याप्त करती है। महासागर के नितल क्षेत्र पर सर्वाधिक विस्तार महासागरीय मैदान का है। महासागरीय नितल पर मग्न तट का विस्तार 8.6% है। महाद्वीपीय मग्न ढाल का विस्तार 8.5% है। अगाध सागरीय मैदान का विस्तार 75.9% पाया जाता है। महासागर गर्त लगभग 7% भाग पर विस्तृत है। महासागरीय क्षेत्र में सर्वाधिक गहरा गर्त चेलेंजर या मेरीयाना खाई है, जो उत्तरी प्रशांत महासागर में स्थित है। टोंगा, स्वायर, पोर्टोरिको, रोमसे, मुण्डा, एल्यूशियन आदि अनेक महासागर में अनेक गर्त एवं खाई पाई जाती है। मध्य महासागरीय कटक अटलाण्टिक महासागर एवं हिन्द महासागर में पाया जाता है, जबकि प्रशान्त महासागर में कोई भी मध्य महासागरीय कटक का विस्तार नहीं है। अटलाण्टिक महासागर में डॉल्फिन और चैलेंजर कटक प्रसिद्ध है। महासागरीय क्षेत्र में कुल लगभग 75000 किलोमीटर से अधिक लम्बे कटक पाए जाते हैं। यह कटक पृथ्वी पर सबसे लम्बी पर्वत तंत्र के रूप में माने जाते हैं। महासागरीय क्षेत्र में टेलीग्राफिक पठार, वाल्विस कटक, न्यूजीलैण्ड कटक, पूर्वी प्रशान्त कटक, अल्बट्रास पठार, रायो गैंडी पठार प्रमुख है। हिन्द महासागर में चकोतरा, सकोला, चैमोस, चैगोस, सेंट पाल कटक, एमस्टर्डम कटक, भारत–अंटार्कटिका कटक, कारगुलेन कटक का मेडागास्कर कटक आदि

है। महासागरीय जल में जॉली महोदय ने लगभग 50000 टन (50 अरब टन नमक) का अनुमान किया है। यह नमक भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न मात्रा में पाई जाती है। नमक में सोडियम क्लोराइड, मैग्नीशियम सल्फेट, कैलशियम सल्फेट, पोटेशियम सल्फेट, कैलशियम कार्बोनेट तथा मैग्नीशियम क्रोमाइट, ब्रोमाइड विद्यमान है। महासागरीय लवणता को वाष्पीकरण, नदी जल की मात्रा, वर्षा जल की पूर्ति, वायुदाब, सागरीय गतियां आदि प्रभावित करती है। महासागर में औसत लवणता 35 ग्राम प्रति हजार ग्राम है। यह महासागरीय लवणता सबसे अधिक टर्की की वान झील, मृत सागर, बृहत खारी झील, सांभर झील आदि में पाई जाती है। विद्वान डिटमार महोदय ने 1884 में चैलेंजर अन्वेषण के समय 27 प्रकार के लवणों का पता लगाया था, जिसमें सात प्रकार के लवण प्रसिद्ध हैं। महासागरीय जल का तापमान महासागरीय जीव जन्तुओं, महासागरीय लवणता, सागरीय वनस्पतियों, सागरीय जीवजन्तु, वहां पर विद्यमान प्रवाल, विभिन्न प्रकार की मछलियों को बहुत अधिक प्रभावित करता है, अधिक लवणता या स्वच्छ जल में प्रवाल का विकास नहीं हो पाता है। इसी तरह से अधिक लवणता के कारण मछलियों का वितरण भी प्रभावित होता है। महासागरीय जल का तापमान सबसे अधिक भूमध्य रेखा के पास पाया जाता है। जलमण्डल का यह भी एक महत्वपूर्ण तत्व है, भूमध्य रेखा से ध्रुव की ओर महासागरीय जल का तापमान निरन्तर घटता जाता है। सबसे अधिक तापान्तर अटलाण्टिक महासागर में पाया जाता है। आधा खुले सागरों में सबसे ज्यादा तापमान फारस की खाड़ी में 34 डिग्री सेंटीग्रेड एवं लाल सागर में 32 डिग्री सेंटीग्रेड पाया जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में महासागरों का औसत तापमान 20 डिग्री सेंटीग्रेड तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागर का औसत तापमान 15.5 डिग्री सेंटीग्रेड रहता है। उत्तरी गोलार्ध में जल का तापमान अगस्त माह में तथा न्यूनतम फरवरी माह में अंकित किया जाता है।

महासागरीय जल का औसत तापान्तर 10 डिग्री फारेनहाइट अंकित किया गया है। महासागरीय जल के तापमान के वितरण को जलस्थल के वितरण, प्रचलित पवन, सागरीय जल धारणाएं, महासागरीय कटक, तूफान, चक्रवात, हरिकेन आदि प्रभावित करता है। महासागरीय जल का तापमान भी महासागर में रहने वाले जीव–जन्तुओं, पेड़–पौधों, सभी वनस्पतियों को भी प्रभावित करता है। महासागरीय जल के तापमान के बढ़ने से महासागर में कोरल ब्लीचिंग (प्रवाल विरंजन) की घटना तेजी से बढ़ रही है। जिस क्षेत्र में तापमान औसत रहता है वहां पर मछलियाँ भी अधिक पाई जाती है। मछलियाँ ने तो

औसत से कम तापमान और न ही औसत से अधिक तापमान में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है, इसलिए जीव–जन्तुओं, वनस्पतियों के विकास के लिए न केवल धरातल पर तापमान औसत व सन्तुलित होना चाहिए, बल्कि जलमण्डल में भी रहने वाले जीव–जन्तुओं, वनस्पतियों के लिए एक अनुकूल तापमान की आवश्यकता होती है, जिससे उनका विकास हो सके। महासागरीय जल में एक महत्वपूर्ण तत्व वहाँ पर उपस्थित महासागरीय निक्षेप है, इसमें भूमिजनित ज्वालामुखी पदार्थ जैविक पदार्थों का निक्षेप महत्वपूर्ण है। महासागरीय जल में तापमान में परिवर्तन के कारण रासायनिक परिवर्तन होता रहता है। जैसे अनेक प्रकार के अकार्बनिक खनिज तत्व महासागर में जमा हो जाते हैं। इन तत्वों में डोलोमाइट, सिलिका, लोहा, मैंगनीज ऑक्साइड, फास्फेट पाइराइट आदि प्रमुख है। कार्बनिक पदार्थों में लाल मृतिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। यह सागरीय जमाव में सबसे अधिक पाई जाती है। लाल मृतिका के निर्माण में एल्युमीनियम के सिलिकेट तथा लोहे के ऑक्साइड की मात्रा सर्वाधिक होती है।

महासागर जैविक पदार्थों में सिलिका प्रधान रेडियोलेरिया डयटम के रूप में विभक्त कर अध्ययन किया जाता है। चूना प्रधान जीव टेरापॉड और ग्लोबीजे रिना में विभक्त किया जाता है। मोलस्का जीवों में कैल्शियम कार्बोनेट अधिक पाया जाता है। रेडियोवेरिया में कैल्शियम लगभग 65% पाया जाता है। सिलिका खनिज कम होते हैं रेडियोलेरियनऊज पूज का निर्माण फोरामिनीफेरा जीव के अवशेष से होता है।

महासागरीय घटकों में महासागरीय निक्षेप अत्यन्त महत्वपूर्ण घटक है। यह निक्षेप स्थल, ज्वालामुखी एवं सागरीय जीवजन्तुओं, वनस्पतियों से प्राप्त होता है। इन स्रोतों से अनेक प्रकार के कार्बनिक, अकार्बनिक, सिलिका चूनायुक्त अवसाद प्राप्त होते हैं। महासागरीय निक्षेपों के अन्तर्गत पंक, सिल्ट, मृतिका, बजड़ी, रेत पाया जाता है। जैविक निक्षेप के अन्तर्गत सिलिका प्रधान ऊज चूना प्रधान अज प्रमुख है। इस निक्षेप को नेरेटिक एवं पेलैजिक दो वर्गों में रखते हैं। चूना प्रधान अज के अन्तर्गत टेरापोड एवं ग्लोविजेरिना ऊज शामिल है, जबकि सिलिका प्रधान ऊज में डायटम एवं रेडियोलैरियन में वर्गीकृत है। अजैविक निक्षेप के अन्तर्गत उल्का धूलि एवं लाल मृत्तिका शामिल है। जब कणों का आकार 2 मिली मीटर से कम होता है तो उसे बजरी कहते हैं। जब 256 मिलीमीटर से अधिक होता है तो वोल्डर कहते हैं, 2–3 मिलीमीटर वाले को कणिका, 4–63 मिलीमीटर

के कण को गुटिका, 64–256 मिलीमीटर व्यास के काण को कोव्वल कहते हैं। रेतकणों में भी आकार के आधार पर पदानुक्रम पाये जाते हैं। अत्यधिक मोटी रेत (1 मिलीमीटर व्यास) मोटी रेत (0.5 मिलीमीटर व्यास) मध्यम (0.25 मिलीमीटर व्यास) बारीक रेत (0.125 मिलीमीटर व्यास) अत्यन्त बारीक रेत (1/16 मिलीमीटर व्यास)। रेत वास्तव में धरातलीय चट्टानों के विघटन से बनता है। भूमिज पदार्थ में नीला, लाल, हरा तीन तरह के पंक पाये जाते हैं, नीले पंक का निर्माण लौह सल्फाइड तथा जैविक चट्टानों के टूट–फूट से होता है। नीले पंक में 35% चूने की मात्रा पाई जाती है। लाल पंक में कैल्शियम कार्बोनेट 32% पाया जाता है, जिन चट्टानों में लोहांश होता है उनके विघटन से लाल पंक का निर्माण होता है। यह पीला सागर अटलाण्टिक के ब्राजील तट के सहारे पाया जाता है। हरे पंक में चूने का लगभग 50% पाया जाता है, इनका निर्माण तब होता है जब नीले पंक पर रासायनिक अपक्षय सक्रिय होता है। जैविक निक्षेप में चूना प्रधान के अन्तर्गत टेरापोड ऊज एवं ग्लोबिजरिना प्रमुख है। टेरापोड में 80% कैल्शियम कार्बोनेट प्राप्त होता है। ग्लोविजेरिया में कैल्शियम 64.47% पाया जाता है यह ग्लोबीजेरीना जीव के कवच से बनता है। सिलिका प्रधान में रेडियोलेरियन तथा डायटम ऊज प्रमुख है। रेडियोलेरियन का निर्माण डायटम रेडियोलेरियन फोरामिनिफेरा के अवशेष से होता है। सिलिका अधिक पाई जाती है डायटम अज का निर्माण सागरीय सूक्ष्म पौधों के अवशेष से हुआ है।

3– वायुमण्डलीय तत्व –

वायुमण्डल के अन्तर्गत उन तत्वों को शामिल किया जाता है, जो वायुमण्डल से जुड़े होते हैं और उनका पर्यावरण, जीव–जन्तुओं, पेड़–पौधों पर अधिक प्रभाव होता है और एक दूसरे के अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। वायुमण्डल के अन्तर्गत सूर्यातप, तापमान, वायुदाब, पवन परिसंचरण, विभिन्न प्रकार के पवने, वर्षण, आर्द्रता आदि प्रमुख तत्व शामिल है। सम्पूर्ण वायुमण्डलीय घटनाक्रम का मूल आधार सूर्य है। यही सूर्य जीवमण्डल का भी आधार है, इसी से जीवन सम्भव है। सूर्य जीवन का मूल है। सूर्य से निकलने वाली ऊष्मा जो लघु तरंगों के रूप में पृथ्वी धरातल तक आती है, इसका दो अरबवां भाग ही भूतल पर सम्पूर्ण पारिस्थितिक तंत्रों के लिए आधार है। 1.94 कैलोरी ऊष्मा प्रति वर्ग सेंटीमीटर प्रति मिनट 450 किलोमीटर की ऊँचाई पर प्राप्त होता है, इसे सौर स्थिरांक कहते हैं। यही ऊर्जा सम्पूर्ण पारिस्थितिक तंत्र या पर्यावरण या जीवमण्डल का आधार है। ऊर्जा का मूल स्रोत सूर्य है, सौर ऊर्जा को जैविक ऊर्जा में बदलने का कार्य न हो पाता तो शायद ही पारिस्थितिक तंत्र अथवा जीवमण्डल अस्तित्व में विद्यमान होता। पौधे सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में कार्बन डाइऑक्साइड, जल, पोषक तत्व से क्रिया कर जैविक ऊर्जा ऑक्सीजन का निर्माण करते हैं। ऐसी ऊर्जा को पोषण स्तर दो, तीन, चार के शाकाहारी, मांसाहारी, सर्वाहारी जीवजन्तु एवं मानव ग्रहण करते हैं और उनका जीवन धरातल पर संचालित है। जीवन के लिए संतुलित तापमान आवश्यक होता है। अत्यधिक ऊंचे तापमान अथवा निम्न तापमान पर जीवन सम्भव नहीं है और न ही जीवमण्डल की कल्पना की जा सकती है। इसी तरह से औसत वायुदाब भी जीवन के लिए आवश्यक होता है। सागर जलस्तर पर औसत वायुदाब 1013.25 मिलीबार अंकित किया गया है। यह वायुदाब 29.92 इंच अथवा 76 सेन्टीमीटर बैरोमीटर की ऊँचाई के बराबर है। धरातल से ऊपर जाने पर वायुदाब अनवरत घटता जाता है। इसी के साथ तापमान, ऑक्सीजन की मात्रा भी घटती जाती है। इसीलिए ऊँचाई के साथ जीवन का अस्तित्व खतरे में हो जाता है और 14, 15 किलोमीटर की ऊँचाई के बाद जीवन मुश्किल हो जाता है। वायुदाब की क्षेत्रीय भिन्नता के कारण पवन परिसंचरण होता है और अधिक वायुदाब में विषमता होने से मौसम तूफानी चक्रवाती हो जाता है। आर्द्रता और वर्षा वायुमण्डल का प्रमुख घटक है, इसके द्वारा पौधों, प्राणियों का जीवन क्रियाकलाप निर्धारित होता है। वर्षण के अन्तर्गत ओला, तुषार, ओलावृष्टि, सहिम दृष्टि, फुहार, बौछार, जल वर्षा, आँधी की घटनाएँ होती है। वायुमण्डल में

नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, आर्गन, कार्बन डाइऑक्साइड क्रमिक रूप से आयतन के क्रम में पाई जाने वाली महत्वपूर्ण गैस है। इसके अलावा वायुमण्डल में हाइड्रोजन, हीलियम, नीयान, जेनान, आर्गन आदि जैसे अत्यन्त अल्प मात्रा में पाई जाती है। पेड़–पौधे और वनस्पतियाँ श्वसन के रूप में कार्बन डाइऑक्साइड लेते हैं और प्रकाश संश्लेषण की क्रिया के दौरान ऑक्सीजन गैस वायुमण्डल को प्रदान करते हैं। सभी जीवजन्तु एवं मानव श्वसन प्रक्रिया में ऑक्सीजन गैस ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइऑक्साइड गैस वायुमण्डल में उत्सर्जन करते हैं। इस तरह से जीवन के लिए ऑक्सीजन प्राणवायु है, जो जीवन का मूल है। इसके बिना जीवन सम्भव नहीं, यदि कहा जाए कि मृदा के बगैर जीवन सम्भव हो सकता है, लेकिन जल, वायु के बिना कोई भी जीवन सम्भव नहीं है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

1.4.2 जैविक तत्व –

जीवमण्डल में विभिन्न प्रकार के जैविक तत्व सम्मिलित हैं, जिसमें सूक्ष्म जीव तंत्र, पादप तंत्र, जन्तु तंत्र प्रमुख है। जन्तुओं में शाकाहारी, मांसाहारी, सर्वाहारी जीवों को शामिल किया जाता है। जन्तुओं को विभिन्न वर्गों में रखकर निम्नांकित विधि से विश्लेषण किया जा सकता है –

1– पादप तंत्र –

पादप तंत्र पेड़ पौधों वनस्पतियों की प्रजातियां हैं। सामूहिक रूप से सामान्यतः इन्हें वनस्पति की संज्ञा प्रदान की जाती है। पौधों के समूह को पादप समुदाय कहते हैं। यह पादप समुदाय अपना भोजन सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में स्वयं बनाते हैं। जीव मण्डल में मात्र पौधे की एकमात्र समूह के रूप में है, जो अपना भोजन स्वयं बनाने में समर्थ है। इसीलिए इन्हें स्वपोषी कहा गया है। स्वपोषी पौधे ही पोषण स्तर एक के सदस्य हैं और इन्हें ही हम प्राथमिक उत्पादक कहते हैं। इन स्वपोषी पौधों पर सम्पूर्ण संसार के प्राणी अपने भोजन के लिए अथवा ऊर्जा एवं पदार्थ के लिए प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से आश्रित या निर्भर है। इतना ही नहीं, श्वसन के लिए प्राप्त होने वाली प्राण वायु ऑक्सीजन भी पेड़ पौधे व वनस्पतियों से प्राप्त होती है। जैसा कि पूर्व वर्णित है कि कोई भी जन्तु, जीव, प्राणी श्वसन प्रक्रिया में ऑक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बन डाइऑक्साइड का

उत्सर्जन करता है। यही कार्बन डाइऑक्साइड पेड़–पौध अथवा वनस्पतियाँ ग्रहण करती हैं और उसके बदले में सम्पूर्ण जीवों के लिए प्राण वायु ऑक्सीजन प्रदान करती है, इसलिए वनस्पतियाँ सम्पूर्ण प्राणी का आधार है, मूल है।

2– सूक्ष्म जीव–तंत्र –

इसके अन्तर्गत सूक्ष्मजीव, जैसे– बैक्टीरिया, कवक को शामिल किया जाता है, जो जैविक पदार्थों को सड़ा–गला कर छोटे–छोटे जीवों के जन्तुओं को खाने के लिए योग्य बना देते हैं। सूक्ष्मजीव तंत्र सड़े–गले पौधों, जन्तुओं को विघटित और वियोजित कर अपना भोजन बनाते हैं। जटिल कार्बनिक पदार्थों को अलग करते हुए उन्हें सरल और सामान्य बना देते हैं और अलग किए गए पोषक तत्व को या पोषक पदार्थों को स्वपोषित पादप समुदाय ग्रहण करते हैं और यही पादप समुदाय सम्पूर्ण प्राणियों का आधार बनता है। सूक्ष्म जीव जन्तुओं को वियोजक कहते हैं वियोजक का जीव मण्डल में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। वियोजक पौधों के आधार पर सम्पूर्ण जीव मण्डल के सभी भौतिक और जैविक तत्व एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। कोई भी अपने अस्तित्व अलग नहीं कर सकता या अपने को स्वतंत्र नहीं कर सकता है।

3– जन्तु तंत्र–

इस तन्त्र के अन्तर्गत हम जीव मण्डल के समस्त प्राणियों को शामिल करते हैं, जो एक दूसरे पर आश्रित है। उन प्राणियों को पारितोषिक जन्तु की संज्ञा देते हैं। यह अपने भोजन के लिए नकारात्मक या सकारात्मक रूप से आश्रित पाए जाते हैं, इसी कारण से जन्तुओं को उपभोक्ता कहा जाता है, जन्तुओं को आहार पोषण के दृष्टिकोण से तीन भागों में रखा जा सकता है जो इस प्रकार है –

(क) शाकाहारी जन्तु –

शाकाहारी जन्तु के अन्तर्गत प्राणियों को रखा गया है। इनका भोजन प्रत्यक्ष रूप से पौधों, वनस्पतियों की पत्तियों, टहनियों, तने, फूलों, फलों से प्राप्त होता है। इस वर्ग के अन्तर्गत गाय, भैंस, हाथी, ऊँट, बकरी, घोड़ा, बन्दर, खरगोश, हिरण आदि प्राणी शामिल किए जाते हैं, इन्हें प्राथमिक उपभोक्ता भी कहते हैं।

(ख) मांसाहारी जन्तु –

जीव मण्डल के अन्तर्गत मांसाहारी प्राणियों के अन्तर्गत उन जीव–जन्तुओं प्राणियों को शामिल करते हैं, जो पोषण स्तर दो के जीव जन्तु या शाकाहारी जीव जन्तु को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत भेड़िया, चीता, मेंढक आदि को शामिल किया जाता है। इस वर्ग के जीव जन्तु प्राणी द्वितीयक उपभोक्ता कहलाते हैं। इनका आहार मूल रूप से मांस भक्षण ही है।

(ग) सर्वाहारी जन्तु –

जीव मण्डल के अन्तर्गत उन समस्त जीव–जन्तुओं प्राणियों को इस वर्ग में शामिल करते हैं, जो अपने भोजन के रूप में पेड़–पौधों एवं जीव जन्तुओं को ग्रहण करते हैं, इन्हें सर्वाहारी की संज्ञा देते हैं। सर्वाहारी जन्तु मांसाहारी, शाकाहारी एवं प्राथमिक उत्पादक तीनों से ऊर्जा और पदार्थ ग्रहण करते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत मानव शामिल है, जो पोषण स्तर चार की श्रेणी में आते हैं।

12.5 पोषण स्तर आहार शृंखला आहार जाल –

जीव मण्डल में पोषण स्तर एक, दो, तीन, चार में आहार पोषण का पदानुक्रम स्तर पाया जाता है। इसी पदानुक्रम को पोषण स्तर कहते हैं। पोषण स्तर प्रायः उसे कहते हैं, जो आहार शृंखला में एक स्तर या केन्द्र के रूप में होता है, जिस पर ऊर्जा या पदार्थ का संचरण एवं गमन एक जीव से दूसरे जीवों में होता है। पोषण स्तर एक से पोषण स्तर दो, पोषण स्तर तीन, पोषण स्तर चार में क्रमशः ऊर्जा तथा पदार्थ का संचरण सम्पन्न होता है, इसे आहार शृंखला कहते हैं। आहार शृंखला जीवमण्डल में विभिन्न प्रकार के जीव का प्रधान क्रमिक आश्रित सम्बन्ध है। इसी कारण से ऊर्जा एवं पदार्थ का संचरण होता रहता है। किसी पारिस्थितिक तंत्र में जीव मण्डल के सभी जीवित जीव विद्यमान खाद्य शृंखला में परस्पर सम्बन्धित होते हैं। एक खाद्य शृंखला के जीवों का सम्बन्ध अन्य खाद्य शृंखला के जीवों से होता है। आहार शृंखला को "आहार जाल" कहते हैं अथवा अनेक खाद्य शृंखला के पारस्परिक सम्बन्ध को "आहार जाल" कहते हैं।

12.5.1 पोषण स्तर–एक

पोषण स्तर एक में हरे पेड़ पौधे शामिल किए जाते हैं, इन्हें स्वपोषी भी कहते हैं, जो सूर्य के प्रकाश में कार्बन डाइऑक्साइड की उपलब्धता में मृदा से पोषक तत्वों को ग्रहण कर सौर ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा अथवा जैविक ऊर्जा में परिवर्तित कर देते हैं। यह पौधे भोजन स्वयं तैयार करते हैं, इसका उदाहरण समस्त पादप समुदाय है।

12.5.2 पोषण स्तर–दो

पोषण स्तर दो में सम्पूर्ण शाकाहारी जीवजन्तु को शामिल किया जाता है, इन्हें प्राथमिक उपभोक्ता कहते हैं। यह अपने भोजन अथवा आहार के लिए पोषण स्तर एक पर आश्रित होते हैं। यह पोषण स्तर एक से ही ऊर्जा और पदार्थ प्राप्त करते हैं। इनके अतिरिक्त बकरी, हिरण, गाय, हाथी, बन्दर, खरगोश आदि शाकाहारी प्राणी शामिल किए जाते हैं।

12.5.3 पोषण स्तर–तीन

पोषण स्तर तीन में उन प्राणियों को शामिल किया जाता है, जो मांसाहारी होते हैं। यह प्राणी पोषण स्तर द्वितीय पर अपने भोजन के लिए आश्रित होते हैं, पोषण स्तर तीन के प्राणी अपना जीवन–यापन मांस भक्षण से पूर्ण करते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत गिद्ध, मेंढक, तेंदुआ, शेर, चीता मांसाहारी जीवों को शामिल किया जाता है, इन्हें द्वितीयक उपभोक्ता के नाम से जानते हैं।

12.5.4 पोषण स्तर–चार

इस वर्ग के अन्तर्गत सर्वाहारी प्राणी को शामिल किया जाता है, जिसका मुख्य उदाहरण ही मानव है, जो अपनी ऊर्जा और पदार्थ के लिए पोषण स्तर एक स्वपोषी पौधे पोषण स्तर, दो शाकाहारी जीव, पोषण स्तर तीन मांसाहारी जीव का भक्षण करता है। ऊर्जा और पोषण पदार्थ स्तर एक से दो, दो से तीन, तीन से चार में क्रमशः संचालित होता रहता है एवं पोषण स्तर एक से प्रत्यक्ष रूप से चार को और पोषण स्तर एक से प्रत्यक्ष रूप से दो को ऊर्जा और पदार्थ संचारित होती रहती है।

12.6 जीवमण्डल के पिरामिड –

किसी एक खाद्य श्रृंखला में अनेक खाद्य स्तर पाए जाते हैं, जिसके अन्तर्गत उत्पादक स्तर, प्राथमिक उपभोक्ता, द्वितीयक उपभोक्ता, तृतीयक उपभोक्ता आदि शामिल होते हैं। खाद्य श्रृंखला में एक स्तर से दूसरे स्तर में ऊर्जा और पदार्थ के संचरण के दौरान 10% ऊर्जा का क्षय होता है। इसका तात्पर्य हुआ कि उत्पादकों से शुरू होकर अगले स्तरों की ओर संख्या जैविक भार एवं ऊर्जा में निरन्तर बदलाव होता रहता है, जिसे चित्र के माध्यम से भी प्रस्तुत किया जा सकता है, तो ऐसी स्थिति में वह चित्र एक पिरामिड का आकार ग्रहण कर लेता है। उत्पादक पिरामिड पारिस्थितिक तंत्र में ऊर्जा अथवा आहार के विभिन्न पोषण स्तर से होकर गमन एवं स्थानान्तरण विभिन्न पोषण स्तर पर उपस्थित सम्पूर्ण बायोमास के विश्लेषण से निम्न विशेषताएं स्पष्ट होती है –

प्रथम पोषण स्तर के आधार से प्रारम्भ होकर बढ़ते हुए पोषण स्तर के साथ सकल बायोमास में लगातार ह्रास की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पोषण स्तर एक में सबसे अधिक बायोमास पाया जाता है, जबकि पोषण स्तर चार में न्यूनतम बायोमास होता है। द्वितीयक आहार श्रृंखला में पोषण स्तर एक से जैसे–जैसे पोषण स्तर का क्रम बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे प्रजातियों की संख्या में लगातार कमी आती रहती है। इस तरह से स्पष्ट है कि पोषण स्तर एक में प्रजातियों की संख्या सर्वाधिक होती है। पिछले पोषण स्तर की तुलना में प्रत्येक अगले पोषण स्तर जैसे एक से दो, दो से तीन, तीन से चार के बढ़ते पोषण स्तर के साथ प्राप्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा में कमी आती है। उच्च स्तर में क्रमशः प्रजातियों की संख्या ऊर्जा की उपलब्धता बायोमास की उपलब्धता

में ह्रास होता है, जिससे आकार पिरामिडनुमा हो जाता है। इस प्रकार की आकृति को पारिस्थितिकीय पिरामिड कहते हैं। पारिस्थितिकीय पिरामिड को निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जा सकता है –

(अ) बायोमास पिरामिड,

(ब) संख्या पिरामिड,

(स) ऊर्जा पिरामिड।

12.6.1 बायोमास पिरामिड –

जीवमण्डल में सभी पोषण स्तर पर उपलब्ध सम्पूर्ण जीवों के सम्पूर्ण द्रव्यमान को प्रदर्शित करने के लिए **बायोमास पिरामिड** का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रत्येक पोषण स्तर पर जीवों के सकल शुष्क भार को शामिल किया जाता है। इस तरह से प्रत्येक जीव मण्डल के प्रत्येक पोषण स्तर पर सभी जीवों के सर्कल भार या बायोमास के संदर्भ को प्रदर्शित करते हैं। अब जैसे–जैसे पोषण स्तर का क्रम बढ़ता है, वैसे–वैसे सकल बायोमास की मात्रा में कमी आती है। इसी कारण से बायोमास का पिरामिड स्वाभाविक पिरामिड के रूप में पाया जाता है अर्थात् बायोमास पिरामिड का आधार चौड़ा होता है। शीर्ष भाग पतला होता है क्योंकि बायोमास पिरामिड में सकल बायोमास का प्रतिनिधित्व या प्रदर्शन होता है। बढ़ते पोषण स्तर के साथ बायोमास की मात्रा में अथवा भार में कमी पाई जाती है। बायोमास से किसी निश्चित स्थान एवं समय पर उत्पादित जीव पदार्थों की सकल मात्रा तथा उत्पादन की दर या उत्पादकता का बोध नहीं हो पाता है, बल्कि इससे सकल भार की जानकारी प्राप्त होती है।

12.6.2 ऊर्जा पिरामिड –

जीवमण्डल में पारिस्थितिक उत्पादकता के विश्लेषण और प्रदर्शन के लिए ऊर्जा पिरामिड को विद्वान चार्ल्स एल्टन ने उपयोगी बताया है। इस तरह के पिरामिड में आहार जाल के प्रत्येक पोषण स्तर पर प्रति क्षेत्रफल इकाई में प्रति समय इकाई द्वारा प्रयोग की गई ऊर्जा की कुल मात्रा को व्यक्त करते हैं। इस पिरामिड के द्वारा पारिस्थितिक तंत्र की उत्पादकता का बोध होता है। इसी कारण से ऊर्जा पिरामिड के आधार पर जीव

मण्डल में किसी भी पोषण स्तर के जीवों की उत्पादकता का तुलनात्मक अध्ययन करना आसान होता है।

12.6.3 संख्या पिरामिड –

संख्या पिरामिड के अन्तर्गत विभिन्न जीवों की संख्या को ध्यान में रखते हैं। विद्वान एल्टन ने आहार श्रृंखला के विभिन्न पोषण स्तर के जीवों की संख्या के संदर्भ में अपना विचार प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार आहार श्रृंखला के आधार पर जीव अपेक्षाकृत अधिक संख्या में होते हैं तथा अन्त में बहुत कम होते हैं। इन दो चरम स्थितियों के मध्य प्रगामी कमी होती जाती है। आहार श्रृंखला में लगातार बढ़ते पोषण स्तर में जीवों की संख्या में सतत ह्रास को संख्या पिरामिड कहते हैं। सामान्यतः ऐसा देखा जाता है कि पोषण स्तर एक के स्वपोषित प्राथमिक उत्पादक हरे पेड़–पौधे व वनस्पतियाँ पारिस्थितिक पिरामिड के आधार पर शामिल होती हैं। इनका आकार अत्यन्त छोटा होता है, परन्तु यह संख्या में बहुत अधिक होती है, क्योंकि इन्हें प्रत्यक्ष रूप से पोषण स्तर दो के जीव–जन्तुओं को भोजन देना होता है। मगर पोषण स्तर दो के जीव आकार में पोषण स्तर एक से बड़े होते हैं, लेकिन इनकी संख्या तुलनात्मक दृष्टि से कम होती है अर्थात जैसे–जैसे पोषण स्तर का क्रमांक बढ़ता जाता है जीवों की संख्या में कमी आती जाती है। इसलिए ऐसे बनने वाले पिरामिड स्वाभाविक हो जाते हैं, जिनका आधार चौड़ा होता है। शीर्ष अत्यधिक नुकीला हो जाता है, जैसे पोषण स्तर एक में असंख्य घास, पौधे व पोषण स्तर दो में प्राथमिक उपभोक्ता कोई खरगोश हो। कभी–कभी जीवमण्डल के अनेक पारिस्थितिक तंत्र में विपरीत स्थिति भी पाई जाती है। इसका एक उदाहरण वन पारिस्थितिकी तंत्र में देखा जा सकता है, जैसे किसी एक वृक्ष का आकार बहुत बड़ा होता है, उस वृक्ष पर द्वितीय पोषण स्तर के जन्तु शाकाहारी उनकी संख्या अधिक हो जाती है। इन शाकाहारी जन्तु के ऊपर कुछ परजीवी आश्रित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में पिरामिड का आधार नुकीला हो जाता है, शीर्ष चौड़ा होता है, जब कभी प्राथमिक उत्पादक हरे पौधे आकार में बड़े होते हैं और उन बड़े पौधों पर प्राथमिक उपभोक्ता कोई परजीवी शामिल होता है और द्वितीयक उपभोक्ता कोई उपजीवी होता है, तो ऐसी स्थिति में संख्या पिरामिड बिल्कुल विपरीत बन जाता है अर्थात पोषण स्तर एक अत्यन्त नुकीला पोषण स्तर दो उसे चौड़ा पोषण स्तर तीन सबसे ज्यादा चौड़ा अर्थात विपरीत पिरामिड का निर्माण होता है। समान रूप से विभिन्न प्रकार के

प्रजातियों की संख्या विभिन्न प्रकार के बनने वाले पिरामिड और उसकी संरचना आहार श्रृंखला आहार जाल और उसमें पाए जाने वाले परिवर्तन के तुलनात्मक अध्ययन में सरलता पाई जाती है। पारिस्थितिकी संख्या के आधार पर ऊर्जा और बायोमास का कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती है। इसलिए संख्या पिरामिड के साथ–साथ ऊर्जा पिरामिड और बायोमास पिरामिड की उपयोगिता बढ़ जाती है।

12.7 जीवमण्डल में ऊर्जा प्रवाह –

जीवमण्डल में ऊर्जा का मुख्य स्रोत सूर्य है सौर ऊर्जा का सतत निवेश होता रहता है, यही ऊर्जा विभिन्न रूपों में विभिन्न संघटकों में स्थानान्तरित होती रहती है और पारिस्थितिकी तंत्र में विभिन्न पोषण स्तर से ऊर्जा का बहिर्गमन होता रहता है अर्थात् ऊर्जा जीवमण्डल के विभिन्न पोषण स्तरों से होकर संचरण तथा गमन करती है। प्रत्येक पोषण स्तर पर श्वसन व अन्य क्रिया द्वारा ऊर्जा उत्सर्जित भी हो जाती है। जैव संश्लेषण द्वारा विभिन्न जीवों में ऊतक निर्माण की प्रक्रिया होती है। जैव संश्लेषण की प्रक्रिया प्रकाश ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित करने की दशा है। जब जैविक पदार्थ का टूट–फूट विघटन वियोजन होता है उस प्रक्रिया को जैव संश्लेषण कहते हैं। अब चयन की प्रक्रिया में ऊर्जा विभिन्न पोषण पत्थरों से या विभिन्न जीवों से मुक्त होकर पाचन तंत्र या जीवमण्डल से बाहर हो जाती है, जब कोई पेड़ पौधे विघटित और वियोजित होते हैं तो उसमें संचित ऊर्जा धीरे–धीरे मुक्त होकर वायुमण्डल में विलीन हो जाती है। पारिस्थितिक तंत्र में ऊर्जा का प्रवाह एक दिशीय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ऊर्जा एक बार प्रयोग की होती है वह दूसरी बार उपयोग में नहीं आ पाती है। इस तरह से यह स्पष्ट है कि जीव मण्डल में पारिस्थितिक तंत्र में या पर्यावरण में ऊर्जा का चक्र पुनर्चक्रण नहीं हो पाता है। प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में स्वपोषी पौधे प्रकाश की उपस्थिति में सौर ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित करते हैं। इसका एक भाग पोषण स्तर एक के पौधे अपने आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। अपने उतक के निर्माण में उसके विकास में उपभोग करते हैं। कुछ ऊर्जा श्वसन में खर्च करते हैं। ऊर्जा का अधिक भाग रासायनिक ऊर्जा के रूप में भण्डारित रहता है। यही संचित ऊर्जा पोषण स्तर दो के सभी जीवों के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है। स्वपोषी पौधों में उपलब्ध रासायनिक ऊर्जा का कुछ भाग श्वसन प्रक्रिया में खर्च हो जाता है, शेष ऊर्जा पोषण स्तर दो के शाकाहारी जीवों में

स्थानान्तरित होती है और पोषण स्तर दो के जीव स्वपोषी पौधों का भक्षण करते हैं। कुछ पौधे विनष्ट हो जाते हैं, सड़–गल जाते हैं, विघटित, वियोजित हो जाते हैं, जिस वियोजक या विघटनकारी बैक्टीरिया आहार के रूप में ग्रहण कर लेते हैं, पोषण स्तर से कुछ ऊर्जा मृदा में रहने वाले वियोजक जीवों में स्थानान्तरित होती है। स्वपोषी पौधे की संचित ऊर्जा पोषण स्तर दो में स्थानान्तरित होते हैं। जैसे– बकरी हरे पौधे को खाती है, ऐसी स्थिति में हरे पौधे में संचित ऊतक ऊर्जा को बकरी ग्रहण करती है पोषण स्तर दो के शाकाहारी जीव जन्तु में यह ऊर्जा भण्डारित होती है। कुछ ऊर्जा श्वसन प्रक्रिया में खर्च हो जाती है, क्योंकि शाकाहारी जन्तुओं को अपना भोजन ग्रहण करने हेतु लम्बी दूरी तक भागदौड़ करना होता है, इस दौरान शाकाहारी जीव अपनी ऊर्जा का उपयोग करते हैं। भाग–दौड़ करने से कार्य होता है और कार्य से ऊर्जा ऊष्मागतिकी के द्वितीय नियम के अनुसार ऊष्मा स्थानान्तरित होते हुए पोषण तब तीन के जन्तु पोषण स्तर दो के जन्तुओं में संचित ऊर्जा को ग्रहण करते हैं। मांसाहारी जानवर, शाकाहारी जानवर से प्राप्त ऊर्जा को अपने ऊतक में विकास और संवर्धन में उपयोग करते हैं। इस ऊर्जा का अधिकांश भाग श्वसन प्रक्रिया में भी खर्च होता है। मांसाहारी जीव भी अपने आहार प्राप्ति हेतु अत्यधिक भाग–दौड़ करते हैं, जिससे उनकी ऊर्जा खर्च होती है, शेष बची ऊर्जा उनके ऊतक के विकास निर्माण में खर्च होती है। पोषण स्तर चार का सर्वाहारी जीव पोषण स्तर तीन के मांसाहारी जन्तुओं का भक्षण करता है तो उसे पोषण स्तर तीन में संचित स्थितिज ऊर्जा प्राप्त होती है। पोषण स्तर चार पर सर्वाहारी जन्तुओं द्वारा श्वसन में कुछ ऊर्जा नष्ट होती है। पोषण स्तर सर्वाहारी जीवों में सर्व प्रमुख मनुष्य को भाग–दौड़ अधिक करनी पड़ती है। इसके साथ ही साथ पोषण स्तर चार का सर्वाहारी जब प्रत्यक्ष रूप से पोषण स्तर एक के उत्पादक पौधों का भक्षण करता है या शाकाहारी जन्तुओं का सेवन करता है तो उनसे प्राप्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा पोषण स्तर तीन से प्राप्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा की तुलना में अधिक होती है। पोषण स्तर दो, तीन, चार के जन्तुओं द्वारा न केवल श्वसन बल्कि उत्सर्जन प्रक्रिया, जैसे– मल, मूत्र, गोबर के त्याग में भी ऊर्जा क्षय हो जाती है। इसी तरह मिट्टी में रहने वाले अनेक विघटनकारी वियोजक जीव होते हैं, जो मृत शरीरों का आयोजन करते हैं। इससे भी अधिक ऊर्जा वियोजक जन्तुओं के शरीर में स्थानान्तरित होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जीवमण्डल में ऊर्जा का प्रवाह तीन मार्गो से होता है, पहला प्रत्येक पोषण स्तर के मृत जीवों से ऊर्जा का वियोजक जीवों में गमन होता

है, द्वितीय वियोजक एवं पोषण स्तर के विभिन्न जीवों द्वारा श्वसन और उत्सर्जन में भी ऊर्जा निर्मुक्त हो जाती है। तृतीय प्रत्येक पोषण स्तर से ऊर्जा एवं पदार्थ अगले उच्च पोषण स्तर में स्थानान्तरित होती है। जैसे एक से दो, दो से तीन, तीन से चार एवं एक, दो, तीन से प्रत्यक्ष रूप से पोषण स्तर चार को ऊर्जा प्राप्त होती है। पोषण स्तर के सभी जीवों से श्वसन के रूप में खर्च की गई ऊर्जा उसमें दोबारा इनके उपभोग में उपलब्ध नहीं हो पाती। इसीलिए कहा जाता है कि जीवमण्डल में खर्च की गई ऊर्जा का स्थानान्तरण अथवा संचरण प्रवाह एक दिशा में होता है। इसका बार–बार चक्रण नहीं होता है विद्वान आर०एल० लिण्डमन 1942 में ऊर्जा प्रवाह के निम्नलिखित नियमों का प्रतिपादन किया –

12.7.1 नियम एक –

किसी पोषण स्तर के जीवों तथा ऊर्जा के मौलिक स्रोत के बीच जैसे–जैसे दूरी बढ़ती है, वैसे–वैसे अगले पोषण स्तर की निर्भरता पहले पोषण स्तर पर कम होती जाती है। जैसे पोषण स्तर चार के जीव पोषण स्तर तीन पर ही केवल निर्भर नहीं होते हैं, बल्कि वे पोषण स्तर दो पर भी निर्भर होते हैं। जैसे मनुष्य पोषण स्तर चार का सदस्य है वह ऊर्जा एवं पदार्थ के लिए या आहार के लिए पोषण स्तर दो पोषण स्तर एक पोषण स्तर तीन पर निर्भर है। इसलिए उसके सामने किसी एक पोषण स्तर पर निर्भरता की संभावना कम होती है। उसके सामने अनेक विकल्प होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निचले पोषण स्तर के सदस्य अपने आहार के लिए विशिष्ट होते हैं, जबकि कुछ पोषण स्तर के लिए वे सदस्य अपने आहार के लिए विशिष्ट नहीं होते यह सामान्य होते हैं, अपना आहार कई स्रोतों से ग्रहण कर लेते हैं।

12.7.2 नियम दो –

नियम दो में बढ़ते हुए पोषण स्तर के साथ श्वसन प्रक्रिया में खर्च होने वाली ऊर्जा की मात्रा अनवरत वृद्धि होती है। उसका कारण है कि बढ़ते पोषण स्तर के साथ जन्तुओं के शरीर का आकार बढ़ जाता है, उन्हें अपना भोजन ग्रहण करने के लिए अधिक दूरियां तय करनी पड़ती है, उन्हें अधिक कार्य करना होता है, इसलिए अधिक ऊर्जा खर्च होती रहती है।

12.7.3 नियम तीन –

नियम तीन के बढ़ते पोषण स्तर के साथ जीवों को उपलब्ध आहार का उपभोग करने में अधिक विशिष्ट होना होता है, क्योंकि इन्हें अपने जन्तुओं को या आहार को पकड़ने के लिए भाग–दौड़ करने के लिए अधिक ऊर्जा खर्च करनी होती है।

12.7.4 नियम चार –

प्रथम नियम किसी पोषण स्तर के जीवों तथा ऊर्जा के मौलिक स्रोत के बीच जैसे–जैसे दूरी बढ़ती है, वैसे–वैसे अगले पोषण स्तर की निर्भरता पहले पोषण स्तर पर कम हो जाती है, जैसे–पोषण स्तर चार के जीव पोषण स्तर तीन पर ही केवल निर्भर नहीं होते, बल्कि वे पोषण स्तर दो पर भी निर्भर होते हैं, जैसे– मनुष्य पोषण स्तर चार का सदस्य है, वह ऊर्जा एवं पदार्थ के लिए या आहार के लिए पोषण स्तर दो क्षण स्तर एक पोषण स्तर तीन पर निर्भर है। इसलिए उसके सामने किसी के पोषण स्तर पर निर्भरता की सम्भावना कम होती है। उसके सामने अनेक विकल्प होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निचले पोषण स्तर के सदस्य अपने आहार के लिए विशिष्ट होते हैं जबकि कुछ पोषण स्तर के सदस्य अपने आहार के लिए विशेष नहीं होते हैं, बल्कि सामान्य होते हैं। अपना आहार कई स्रोतों से ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए ऐसे पोषण स्तर चार के सदस्यों को हरफनमौला या सामान्य कहते हैं। यह उपलब्ध ऊर्जा को ग्रहण करने में अधिक कुशल होते हैं। दूसरे पोषण स्तर की तुलना में कुछ पोषण स्तर के सदस्य के सामने अधिक विकल्प होते हैं।

12.7.5 नियम पाँच –

बढ़ते पोषण स्तर के साथ ऊर्जा में प्रगामी ह्रास पाया जाता है। इसीलिए आहार श्रृंखला हमेशा छोटी होने का प्रयास करती है। सामान्य आहार श्रृंखला में पोषण स्तर की चार कड़ियां होती है इससे अधिक कड़ियाँ या पोषण स्तर होना सम्भव नहीं होता है।

12.8 पोषक तत्वों का चक्रीय संचार –

जीवमण्डल में ऊर्जा प्रवाह के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के पोषक तत्व खनिज लवणों का चक्रण महत्वपूर्ण होता है। खनिज तत्वों के जीवों एवं भूमि के द्वारा होने वाले चक्रीय स्थानान्तरण को पोषक तत्वों का चक्रीय संचरण कहा जाता है। इन खनिज तत्व के स्रोत एवं उपस्थिति तत्व जैविक–अजैविक दोनों होते हैं। इसीलिए इन्हें एकीकृत

रूप में जैव भू–तत्व तत्व या पदार्थ परिसंचरण कहते हैं। सूक्ष्म जीवों द्वारा आहार शृंखला से गुजरते हुए सभी पदार्थ अपघटित कर दिए जाते हैं। इससे पदार्थों की जटिल संरचना टूट जाती है और वे जैविक रूप में बदल जाते हैं। यह प्रक्रिया पदार्थों को पुनः चक्र के लिए तैयार कर देती है। पोषक तत्वों के चक्रीय प्रवाह को निम्नलिखित बिंदुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है–

12.9 भू–जैव रसायन चक्र –

जीवमण्डल में स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल से होकर ऊर्जा एवं पदार्थ के चक्रीय प्रभाव को भू–जैव रसायन चक्र कहते हैं। यह एक वृहत चक्र है, इसके अन्तर्गत जैविक तत्वों का अजैविक तत्वों में एवं अजैविक तत्वों का जैविक तत्व में चक्र होता रहता है। विद्वान सवीन्द्र सिंह के अनुसार, अजैव तत्वों के जैविक प्रावस्था में परिवर्तन तथा इन्हीं के प्रारूप को भू–जैव रसायन चक्र कहते हैं। जैविक तत्व का अजैविक अवस्था में पुनः आगमन चट्टानों के अपक्षय अपरदन के द्वारा भौतिक एवं रासायनिक तत्वों का एवं वर्षा के माध्यम से वायुमण्डली तत्वों का मृदा में संचयन होता रहता है, पेड़ पौधे मृदा में उपस्थित पोषक तत्वों को अपने जड़ों द्वारा घोल रूप में ग्रहण करते हैं, जिसे जड़ परासरण की प्रक्रिया कहते हैं। प्राथमिक उत्पादक हरे पौधे प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया में सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में रासायनिक पदार्थों तत्वों को ग्रहण करते हैं। उसके द्वारा अपने ऊतकों का वृद्धि और विकास करते हैं प्राथमिक उत्पादक द्वारा ऊर्जा का लगभग 10% भाग श्वसन आदि क्रियाओं द्वारा निर्गत को वायुमण्डल में नियुक्त हो जाता है तथा 90% बायोमास के रूप में प्राप्त होता है। इसी रासायनिक या जैविक ऊर्जा को शाकाहारी मांसाहारी सर्वाहारी अथवा पोषण स्तर एक, पोषण स्तर दो, पोषण स्तर तीन, पोषण स्तर चार के सदस्य में स्थानान्तरित होती रहती है। पुनः जैविक तत्वों का रूपान्तरण भौतिक अवस्था में हो जाता है, इस प्रक्रिया को रसायन चक्र कहते हैं। इसके अन्तर्गत ऊर्जा और पदार्थ का संचरण अत्यन्त जटिल होता है, क्योंकि यह परस्पर एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। इस चक्र में जल चक्र, फास्फोरस चक्र, ऑक्सीजन चक्र, कार्बन चक्र, नाइट्रोजन चक्र, सल्फर चक्र आदि शामिल है।

12.9.1 कार्बन चक्र –

जीवमण्डल में विद्यमान जीवों के लिए कार्बन का मूल स्रोत वायुमण्डल है। वायुमण्डल के विभिन्न भागों में कार्बन, ठोस, द्रव, गैस रूप में स्थानान्तरण करता है। गैस के रूप में इसे कार्बन डाइऑक्साइड कहते हैं। जल में घोल के रूप में भी विद्यमान होता है। जैविक तत्व में कार्बोहाइड्रेट, चट्टानों में कैल्शियम कार्बोनेट और खनिज कार्बोनेट के रूप में पाया जाता है। मनुष्य व अन्य जन्तु श्वसन क्रिया द्वारा ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइऑक्साइड का उत्सर्जन करते हैं, जो वायुमण्डल में पहुंच जाता है। हरे पेड़ पौधे कार्बन डाइऑक्साइड को श्वसन प्रक्रिया में ग्रहण करते हैं तथा प्रकाश संश्लेषण क्रिया करते हैं, कार्बोहाइड्रेट का निर्माण करते हैं। कार्बोहाइड्रेट के विघटन पर कार्बन डाइऑक्साइड वायुमण्डल में पुनः चली जाती है। जन्तु या पौधों के विघटन होने पर और चट्टानों के टूटने–फूटने पर उसमें विद्यमान कार्बन डाइऑक्साइड मुक्त होकर वायुमण्डल में चली जाती है। जीवाश्म ईंधन के जलने से भी कार्बन डाइऑक्साइड मुक्त होकर वायुमण्डल में पहुँचती है। सामान्यतः यह कह सकते हैं कि इस प्रक्रिया से कार्बन डाइऑक्साइड वायुमण्डल से अलग होती है और विविध रूपों से पुनः उसी वायुमण्डल में प्रविष्ट कर जाती है। एक चक्र का निर्माण होता है, कार्बन वायुमण्डल का एक विशिष्ट तत्व है। सभी जैविक यौगिकों का आधारभूत संघटक है। प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया में पौधे कार्बन डाइऑक्साइड, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को मिश्रित करके जैविक यौगिक का निर्माण करते हैं। पेड़–पौधों के विकास और संवर्धन के लिए कार्बन जरूरी होता है, इससे भोजन श्रृंखला बनती है वायुमण्डलीय दाब तापमान की विषमता के लिए वर्तमान में कार्बन डाइऑक्साइड को उत्तरदाई माना जा रहा है। वायुमण्डल में समस्त आयतन का 0.4% कार्बन डाइऑक्साइड विद्यमान है, जो निरन्तर बढ़ रही है।

12.9.2 नाइट्रोजन चक्र –

वायुमण्डल में आयतन के संदर्भ में नाइट्रोजन गैस की सर्वाधिक मात्रा है। यह लगभग 78% पाई जाती है। नाइट्रोजन का यौगिकीकरण भौतिक प्रक्रिया, जैसे वायुमण्डलीय बिजली चमकने या जैविक प्रक्रिया जैसे– शैवाल बैक्टीरिया आदि द्वारा होता है। नाइट्रोजन पौधों द्वारा ग्रहण करने के बाद प्रोटीन, विटामिन, अमीनो एसिड आदि के संघटक में प्रयोग होती है। जीव–जन्तुओं पेड़ पौधों के मृत्यु होने के बाद उनके मृत जैविक ऊतक में पाया जाने वाला जैविक नाइट्रोजन नाइट्रेट में बदल जाता है और पौधों के लिए पुनः उपलब्ध हो

जाता है। कुछ जीवाणु या बैक्टीरिया ऐसे भी होते हैं, जो नाइट्रेट को आणविक नाइट्रोजन में बदल देते हैं। इस तरह वायुमण्डल में नाइट्रोजन या पेड़–पौधों में नाइट्रोजन का जाना और विघटित होना जैसी बार–बार क्रिया होने से नाइट्रोजन चक्र पूर्ण होता है। नाइट्रोजन चक्र कई चरणों में सम्पन्न होता है। नाइट्रीककरण, अवसादीकरण, अमोनीकरण, नाइट्रोजन स्वांगीकरण तथा नाइट्रोजन का स्थिरीकरण, जैविक, भौतिक स्थिरीकरण दो वर्ग है।

12.9.3 ऑक्सीजन चक्र –

पारिस्थितिक तंत्र में ऑक्सीजन अनेक रासायनिक रूपों में उपलब्ध है। ऑक्सीजन आणविक अणु के रूप में पाई जाती है। ऑक्सीजन के अधिकांश भाग का निर्माण पेड़–पौधों द्वारा प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया के दौरान होता है, जबकि आंशिक ऑक्सीजन का निर्माण खनिज ऑक्साइड के अपचयन प्रक्रिया के दौरान होता है। पेड़–पौधे, स्वपोषी पौधे प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया में ऑक्सीजन का उत्सर्जन करते हैं। यही ऑक्सीजन वायुमण्डल में पहुँचकर आणविक ऑक्सीजन के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह ऑक्सीजन अन्य तत्वों के साथ संयुक्त हो जाती है। सभी जीवित जन्तु मानव श्वसन प्रक्रिया में कार्बन डाइऑक्साइड का उत्सर्जन करते हैं और वायुमण्डल से ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं। पृष्ठीय जल में ऑक्सीजन का कुछ भाग विलुप्त हो जाता है। प्राणियों तथा जल से मुक्त होने पर ऑक्सीजन वायुमण्डल में पहुंच जाता है और ऑक्सीजन अन्ततः वायुमण्डलीय हवाओं में एकत्रित होती है ऑक्सीजन का दूसरे रूप में विघटित होना और पुनः ऑक्सीजन में परिवर्तित होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को ऑक्सीजन चक्र कहते हैं। जीवमण्डल पारिस्थितिक तंत्र में ऑक्सीजन का विशेष महत्व है, इससे जीवमण्डल में अनेक तत्वों का संचरण होता है। ऑक्सीजन से कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा के निर्माण में मदद मिलती है। ऑक्सीजन स्वस्थ जीवन के लिए अनिवार्य है ऑक्सीजन द्वारा ही मानव शरीर में रुधिर का संचार होता है। पौधे, पशु, मानव श्वसन प्रक्रिया में ऑक्सीजन का ही उपयोग करते हैं।

12.9.4 जल चक्र –

पृथ्वी धरातल पर 70.8% भाग पर जल पाया जाता है। जल सम्पूर्ण जीव–जन्तुओं व प्राणियों का जीवन है। इसीलिए कहा जाता है कि जल ही जीवन है।

जल के अभाव में किसी भी तरह का जीवन सम्भव नहीं है। जल का रासायनिक सूत्र H_2O है, इसमें दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन पाया जाता है। जल प्रकृति में ठोस, द्रव, गैस तीन रूपों में पाया जाता है। तीनों स्वरूपों में तापमान के आधार पर परिवर्तन होता रहता है। जल चक्र के अन्तर्गत जल महासागर से वाष्प के रूप में वायुमण्डल में पहुँचता है। भू–पृष्ठीय जल एवं महासागरीय जल वाष्प होकर वायुमण्डल में पहुँचने और वायुमण्डल से संघनन, बादल, वर्षण के द्वारा पुनः धरातल पर और महासागरीय जल क्षेत्र पर जल वर्षा, हिम वर्षा के रूप में प्राप्त होता है। इस तरह से जल चक्र की एक प्रक्रिया पूर्ण होती है। जल का कुछ भाग भूतल पर हिम के रूप में भी पाया जाता है। तापमान में परिवर्तन होने पर यह पिघल कर द्रव रूप में परिवर्तित हो जाता है और धरातलीय जल का भाग बन जाता है। हिम रूप में संचित जल तापमान बढ़ने के साथ द्रव में परिवर्तित हो जाता है। भू–पृष्ठ का कुछ जल छिद्र, मृदा रंध्र में द्वारा भूमिगत हो जाता है। यह भी जल चक्र में शामिल हो जाता है। जीव–जन्तुओं, पेड़–पौधों के शरीर में जल का अंश विद्यमान होता है। पेड़–पौधे भूमि से जल ग्रहण करते हैं और वाष्पोत्सर्जन द्वारा जल का उत्सर्जन करते हैं, जो वायुमण्डल में चला जाता है। झील, जलाशय कहीं पर जल हो, वह वाष्पीकरण के माध्यम से वायुमण्डल में पहुंचता है और अन्ततः जल वर्षा के रूप में पुनः भू–तल पर आ जाता है। वर्षा का कुछ जल धरातल पर बहने वाली नदियों, नालों के माध्यम से सागर में पहुँचता है। इस तरह वाष्पीकरण द्वारा जल का धरातल से वायुमण्डल में जाना, वायुमण्डल से वर्षण द्वारा वायुमण्डल से वर्षण द्वारा धरातल और सागर पर आना। वर्तमान समय में सम्पूर्ण जल का 2.15% हिम नदियों में, 0.62% भूमिगत जल में, 0. 005% मृदा के आर्द्रता में, 0.017% स्थलीय जल में, 0.001% वायुमण्डलीय आर्द्रता में संचित है।

12.9.5 सल्फर चक्र –

जीवमण्डल में जल के बाद दूसरा महत्वपूर्ण फास्फोरस चक्र है। फास्फोरस तत्व पौधों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह मृदा में पाया जाता है। सल्फर का नाममात्र का अंश जल में भी विद्यमान होता है। वर्षा द्वारा पृथ्वी पर वायुमण्डल से पहुँचता है। जैविक, सल्फर बैक्टीरिया, कवक, दीमक, प्रोटीन के बाद जैविक विघटन से मिट्टी से प्राप्त करते हैं। स्वपोषी पौधे जब भोजन सल्फर पानी में घुले सल्फेट से प्राप्त करते हैं, सल्फेट

सल्फाइड के रूप में पाया जाता है। भारतीय तंत्र में जैव मण्डल में बहुत कम जीव जन्तु सल्फर को जैविक रूप में जैसे क्राइस्टीन एक या एमिनो अम्ल के रूप में ग्रहण करते हैं। अधिकांश जीव अकार्बनिक सल्फेट के रूप में सल्फर को उपयोग में ला देते हैं। सल्फर चक्र जल और वायु मृदा को एक दूसरे से जोड़ता है। सल्फर का भ्रमण चक्रण दो रूप में होता है। पृथ्वी पर चक्कर तीव्र होता है। इसमें सल्फर का चक्र गहरे पानी में भी होता है, स्वपोषी जीव चट्टानों से मृदा से अनेक रूप में सल्फर को प्राप्त करते हैं। परपोषी जीव, स्वपोषी जीव से सल्फर प्राप्त करते हैं। परपोषी जीवों के मृत्यु के बाद इसका वजन होता है। देश में अनेक प्रकार के सल्फर मृदा में मिल जाते हैं और वहीं से सल्फर चक्र प्रारम्भ होता है। वर्तमान समय में वायुमण्डल में जीवांश्म ईंधन के जल से जलने से कार्बन डाइऑक्साइड पहुँच रही है, जिससे तेजाबी वर्षा हो रही है इससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ एवं धातु पत्थरों का क्षरण हो रहा है।

12.10 सारांश –

जीवमण्डल के अन्तर्गत जैविक–अजैविक संघटक का विशद् वर्णन किया गया है। जीवमण्डल की मोटाई 24 किलोमीटर है, जिसमें 15 किलोमीटर धरातल से ऊपर वायुमण्डल में एवं 09 किलोमीटर डेटम रेखा के नीचे का परिकलन किया गया है। जीवमण्डल पर्यावरण से किस तरह से अन्तर्सम्बन्धित है, की व्याख्या की गयी है। जीवमण्डल के ही संघटक पर्यावरण के संघटक हैं। जीवमण्डल और पर्यावरण में अध्ययन पद्धति का अन्तर है। जीवमण्डल के तत्व में स्थलमण्डलीय तत्व, जलमण्डलीय तत्व, वायुमण्डलीय तत्व का विशद् वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत शैल, मृदा, खनिज, पर्वत, पठार, मैदान, झील, ज्वालामुखी, भूकम्प, कटक, सागरीय मैदान व अन्य प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी के स्थल रूप की व्याख्या की गयी है। जलमण्डलीय तत्व में सागर, खाड़ी, महासागर व अनेक गर्त खाईयों का विवरण दिया गया है, इसके साथ जलमण्डल के कितने प्रतिशत जल का भाग किस रूप में विद्यमान है, इसका भी विवरण है। महासागरीय निक्षेप के अन्तर्गत कार्बनिक, अकार्बनिक, सिलिका, चूनायुक्त आदि समस्त प्रकार के महासागरीय घटकों का वर्णन किया गया है। वायुमण्डलीय घटक के अन्तर्गत वायुमण्डल के स्तर, संरचना, सूर्यातप, तापमान, वायुदाब, पवन, परिसंचरण, आर्द्रता, वर्षा

आदि का वर्णन किया गया है। जैविक तत्वों में पादप तन्त्र, सूक्ष्म जीव तन्त्र, शाकाहारी, मांसाहारी, सर्वाहारी समस्त जीवजन्तुओं की विशेषताओं का वर्णन है। जीवमण्डल में पोषण स्तर, आहार जाल, आहार शृंखला, जीवमण्डल के बायोमास, पिरामिड, ऊर्जा पिरामिड, संख्या पिरामिड की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। जीवमण्डल में ऊर्जा प्रवाह एवं उसके समस्त नियमों पोषण तत्वों का चक्रिय संचार में शामिल होने वाले जैव भू–रसायन चक्र एवं अन्य उपचक्र जैसे–कार्बल चक्र, नाइट्रोजन चक्र, ऑक्सीजन चक्र, जल चक्र आदि का विशद् वर्णन एवं व्याख्या किया गया है।

12.11 बोध प्रश्न –

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही विकल्प चुनिए –

1. जीवमण्डल की मोटाई है– क. 10 किमी०, ख. 15 किमी०, ग. 20 किमी०, घ. 24 किमी०
2. पृथ्वी की सतह पर महासागरीय जल का विस्तार है – क. 69.8 प्रतिशत, ख. 70.8 प्रतिशत, ग. 71.8 प्रतिशत, घ. उपरोक्त में कोई नहीं।
3. महासागरीय मग्नढाल का विस्तार है– क. 8.5 प्रतिशत, ख. 9.5 प्रतिशत, ग. 10.5 प्रतिशत, घ. 11.5 प्रतिशत।
4. पोषण स्तर–एक में शामिल है – क. खरगोश, ख. शेर, ग. नीम, घ. मानव
5. प्राथमिक उपभोक्ता है– क. हिरन, ख. साँप, ग. शेर, घ. मानव।

12.12 शब्दावली –

1. **जीवमण्डल**– स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल के मिलने से बनी जैविक परत ही जीवमण्डल है और इसे जीवपरत भी कहते हैं।
2. **जैव भूगोल** –पौधों, जीवजन्तुओं के भौगोलिक अध्ययन को जैव–भूगोल कहते हैं।

3. **अजैविका संघटक** –जीवमण्डल, पर्यावरण, पारिस्थितिक तन्त्र के समस्त भौतिक संघटक, जैसे– भूमि, स्थल, जल, वायु आदि हैं।

4. **प्राणि समभोजी जन्तु** –ऐसे जन्तु, जो अपना आहार मुख से ग्रहण करते हैं।

5. **परजीवी** –जो जीवन निर्वाह भोजन के लिए दूसरे जीवित जीवों पर निर्भर हैं।

6. **पादप समुदाय** –यह पादप प्रजातियों का सामाजिक समूह है।

7. **वनस्पति** –किसी क्षेत्र विशेष में विभिन्न प्रजातियों के पौधों का सम्मिलित स्वरूप वनस्पति कहलाता है।

12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, सविन्द्र (2016) – पर्यावरण भूगोल का स्वरूप, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

2. सिंह, सविन्द्र (2016) – जैव भूगोल, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

3. शर्मा, मनोज (2010) पर्यावरण भूगोल, इशिका पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, राजस्थान।

4. कुदेसिया, वी०पी० (1980) – वाटर पोल्यूशन, प्रगति प्रकाशन, मेरठ।

5. सिंह, जगदीश (2001) – पर्यावरण एवं संविकास, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर।

6. चाँदना, आर०सी० (2004) – पर्यावरण : समस्या और समाधान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।

7. श्रीवास्तव, गोपीनाथ (2001) – पर्यावरण प्रदूषण, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली।

8. वाल्दिया, के०सी० (1987) – इन्वायरमेण्टल जियोलॉजी : इण्डियन कांटेक्स्ट, टाटा मैकग्राहित पब्लिशिंग कम्पनी, लिमिटेड, न्यु देहली।

9. सिंह, डी०एन० एण्ड सिंह जे० (1988) – ऑवर अर्थ एण्ड इन्वायरमेंट, इन्वायरमेण्ट एण्ड डेवलमेंट स्टडी सेण्टर, वाराणसी।

12.14 बोध प्रश्न के उत्तर –

1. घ, 2. ख, 3. क, 4. ग, 5. क

12.15 अभ्यासार्थ प्रश्न –

1. जीवमण्डल से क्या समझते हैं?
2. जीवमण्डल और पर्यावरण एक–दूसरे से सम्बन्धित हैं, व्याख्या कीजिए।
3. जीवमण्डल के विभिन्न तत्वों का वर्गीकरण करते हुए भौतिक तत्व की विशद् व्याख्या कीजिए।
4. जीवमण्डल के जैविक तत्व क्या हैं? उनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. जीवमण्डल के विभिन्न पोषण स्तर की व्याख्या कीजिए।
6. जीवमण्डल के विभिन्न पिरामिडों का आरेख सहित व्याख्या कीजिए।
7. पोषण तत्वों के चक्रीय संचार में भूजैवरसायन चक्र की उपयोगिता समझाइये।
8. जलचक्र अथवा कार्बनचक्र की व्याख्या कीजिए।

इकाई 13– वनस्पतिक अनुक्रम, पादप एवं जन्तुओं का उद्भव एवम् विकास

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 वनस्पति अनुक्रम का अर्थ

13.3 वनस्पति अनुक्रम की अवस्थायें के भेद

13.3.1 जीवीय अनुक्रम की अवस्थायें

13.3.2 अनुक्रम की क्रमिक अवस्थाओं के भेद

13.3.3. जैविक अनुक्रम के कारक

13.3.4 जैविक अनुक्रम के भेद

A प्राथमिक अनुक्रम

B द्वितीय अनुक्रम

C चरम वनस्पति

1– एकल चरम सिद्धान्त

2– बहुल चरम सिद्धान्त

13.4 पौधों का उद्भव

13.5 पौधों के उद्भव की प्रक्रियायें

1– प्राकृतिक एवम् कृत्रिम चयन

2– पृथक्करण

3– विषमता

13.6 पादपों का उद्भव एवम् विकास

13.6.1 परपोषित जीवों का उद्भव विकास

13.6.2 स्वपोषित पौधों का उद्भव विकास

13.6.3 स्थलीय पौधों का उद्भव एवं विकास

13.6.4 वनस्पति समुदाय का उद्भव एवम् विकास

13.6.5 कार्बोनिफेरस कालीन पादपों का उद्भव विकास

13.6.6 मेसोजोइक कालीन वनस्पति का उद्भव एवम् विकास

13.6.7 तृतीयक युगीन पादप का उद्भव एवम् विकास

13.7 13.70 जन्तुओं का उद्भव तथा विकास

13.7.1 प्रीकैम्ब्रियन कालीन जन्तुओं का उद्भव तथा विकास

13.7.2 कैम्बियन कालीन जन्तुओं का उद्भव एवं विकास

13.7.3 आर्डोविसियन कालीन जन्तुओं का उद्भव एवं विकास

13.7.4 सिल्युरियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.5 डिवोनियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.6 कार्बोनिकेरण कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.7 पर्मियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.8 ट्रियासिक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.9 जुरैसिक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.10 क्रिटैशियस कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.11 तृतीयक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.7.12 चतुर्थक कालीन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवं विकास
13.8 सारांश
13.9 बोध प्रश्न
13.10 शब्दावली
13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.12 बोध प्रश्न के उत्तर
13.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.0 प्रस्तावना –

प्रस्तुत इकाई में वनस्पति अनुक्रम, वनस्पति एवं जन्तुओं का उद्‌भव विकास का वर्णन किया जाना है। वनस्पतियाँ सम्पूर्ण पारिस्थितिक तन्त्र का आधार हैं। किसी एक स्थान पर धीरे–धीरे उनका विकास होता है, ये एक अनुक्रम से दूसरे अनुक्रम में परिवर्तित होते हुए चरम वनस्पति में अन्ततोगत्वा परिणत हो जाती है। प्रथम अनुक्रम से लेकर द्वितीय अनुक्रम तक वनस्पतियों को अनेक पर्यावरणीय दशाओं से संघर्ष करते रहना होता है, जो वनस्पति इन पर्यावरणीय दशाओं से समायोजन स्थापित करती हैं, वे चरम जलवायु, चरम वनस्पति की दशा को प्राप्त करती है। पौधों और जन्तुओं का उद्‌भव विकास कोई एक निश्चित अथवा अकस्मात् घटना नहीं है, बल्कि अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं का करोड़ों वर्षों तक की घटनाओं का परिणाम है। इसीलिए पौधों और जन्तुओं के उद्‌भव और विकास के विभिन्न सोपानों को समझने के लिए कैम्ब्रियन, कार्बोनिफेरस, जुरैसिक, ट्रियासिक,

क्रिटैसियस, फिलोस्टोसीन आदि युगों की विभिन्न जलवायविक, रासायनिक घटनाओं को समझना आवश्यक है, क्योंकि किसी युग में किसी वनस्पति का विकास हुआ, दूसरे युग में वह धरातल से विलुप्त हो गयी। इसी तरह जन्तुओं के साथ भी घटनायें विभिन्न युगों में घटी, जैसे– डायनासोर जुरासिक युग में सर्वप्रमुख जीव था, लेकिन क्रिटैसियस युग तक विलुप्त होते गये। इसी तरह अनेक स्तनधारी, रेंगने वाले जन्तुओं का वनस्पतियों का विकास हुआ, जो आज विद्यमान हैं।

13.1 उद्देश्य –

इस इकाई का उद्देश्य है कि आप

- वनस्पति अनुक्रम समझ सकेंगे।
- चरम जलवायु, चरम वनस्पति क्या है, समझ सकेंगे।
- वनस्पतियों का उद्भव और विकास किन–किन युगों में किन–किन जलवायु परस्थितियों में हुआ, की व्याख्या कर सकेंगे।
- जन्तुओं का उद्भव और विलोपन किस–किस युग में हुआ, इसकी व्याख्या कर सकेंगे।
- जन्तु एवं वनस्पतियों के उद्भव विकास को समझ सकेंगे।

13.2 वनस्पति अनुक्रम का अर्थ –

जीवमण्डल में पौधों का सर्वाधिक महत्व पाया जाता है, यह प्राथमिक उत्पादक हैं। प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण पोषक स्तर के सदस्यों को आहार उपलब्ध कराते हैं। पौधों की प्रजातियां उनके विशेषताओं आदि को सामूहिक रूप से पादप समुदाय कहते हैं। पौधे वनस्पति समुदाय के आधारभूत इकाई हैं। पौधे ऐसे जीव है जो सौर ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित करते हैं, प्रकाश संश्लेषण की क्रिया से सूर्य के प्रकाश में ऑक्सीजन की उपस्थिति में जल की उपलब्धता में पौधे अपना आहार स्वयं बनाते हैं। इस तरह पौधों द्वारा सौर ऊर्जा का रासायनिक ऊर्जा में रूपान्तरण होता रहता है। ऊर्जा का आहार श्रृंखला के द्वारा पोषण स्तर के विभिन्न जीवजन्तुओं में सतत प्रवाह होता रहता है।

पेड़ पौधे सौर ऊर्जा का प्रत्यक्ष रूप से उपभोग करते, हैं जबकि जीव जन्तु पौधों से ऊर्जा प्राप्त करते हैं। इस तरह जैविक घटक एवं अजैविक घटक के मध्य पेड़ पौधे मध्यस्थता की भूमिका निभाते हैं। जीव मण्डल में पेड़ पौधे सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक हैं। भूगोल की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में पादप भूगोल को विकसित किया गया है। पादप भूगोल में पौधों के उत्पत्ति, विकास उनका वितरण, वर्गीकरण, विसरण, सामुदायिक विकास, विलोपन एवं विभिन्न कार्यों का वर्णन एवं व्याख्या किया जाता है। पारिस्थितिक तंत्र में पौधों का प्रमुख कार्य सूर्य द्वारा उपलब्ध सौर्पिक प्रकाश को प्रकाश संश्लेषण क्रिया के द्वारा रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तन है। यही रासायनिक ऊर्जा या आहार ऊर्जा पूरे जीव मण्डल का आधार है। जैविक एवं अजैविक घटक के मध्य वनस्पतियाँ सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक कड़ी हैं, दोनों को आपस में जोड़ती हैं। पौधे द्वारा बनी रासायनिक उर्जा पोषण स्तर एक, पोषण स्तर दो पोषण स्तर तीन पोषण स्तर चार में संचरण करती है। किसी भी एक निश्चित पर्यावरणीय आवास में विकसित होने वाली पौधों के समूह को पादप समुदाय कहते हैं। पादप समुदाय की अनेक विशेषताएं होती है जिनमें निम्नांकित प्रमुख है। प्रथम किसी भी पादप समुदाय में न्यूनतम दो से अधिक प्रजातियों के पौधे पाए जाते हैं। द्वितीय एक ही पर्यावरणीय दशाओं में ऐसे पौधों की प्रजातियाँ विकसित होती हैं, जो एक ही विशेष प्रकार के आवास में रहने में सक्षम होती है। तृतीय पौधों के सभी सदस्य पारिस्थितिक तंत्र में सभी सदस्यों से सम्बन्धित होते हैं, किसी भी प्रदेश में पाए जाने वाले पादप के समुदायों के समूह को वनस्पति कहते हैं। वनस्पति और पादप समुदाय में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। वनस्पतियाँ अपनी प्रजाति और संख्या पर निर्भर होती है, भिन्न–भिन्न आवास में सामान पौधे या पादप हो सकते हैं, लेकिन उनके वनस्पति का प्रतिरूप अलग होता है। इसी तरह से भिन्न भिन्न क्षेत्र की वनस्पति एक प्रकार की हो सकती है, लेकिन उनकी जाति अलग हो सकती है, जैसे यदि दो पर्यावरणीय आवास क्षेत्र हैं, एक में घास है, दूसरे में सागौन है। प्रथम में घास की बहुलता है द्वितीय में सागौन की बहुलता है। इस तरह प्रथम को घास वनस्पति और दूसरे को सागौन वनस्पति या सागौन वन कहेंगे। वनस्पति मूलतः संख्या पर निर्भर होती है। वनस्पति अनुक्रम को जीवी अनुक्रम भी कहते हैं। किसी भी पर्यावरण में वनस्पति के एक समुदाय का दूसरे समुदाय द्वारा स्थानापन्न ही अनुक्रम कहलाता है। इस तरह के वनस्पति समुदाय के क्रमिक परिवर्तन को क्रमक (शेरे) कहते हैं। जब किसी भी पर्यावरण में वनस्पति के परिवर्तन की अवस्थाओं से गुजरने के बाद एक

स्थिरता प्राप्त होती है या स्थिर दशा में प्राप्त होती है तो उस क्रमक को पूर्ण हुआ माना जाता है। ऐसी स्थिति में पादपों का सबसे अधिक विकास होता है जिसे चरम वनस्पति अथवा चरम समुदाय कहते हैं। चरम अनुक्रम परिवर्तित वनस्पति परिवर्तन की अन्तिम अनुक्रम होता है अन्तिम अनुक्रम को चरम समुदाय चरम जलवायु भी कहते हैं। चरम जलवायु इसलिए कहते हैं क्योंकि वनस्पति के विकास और संवर्धन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान जलवायु का ही होता है। विद्वान क्लीमेंट महोदय ने 1916 में वनस्पति के अनुक्रम को पाँच अवस्थाओं में वर्गीकृत किया था। प्रथम जीवीय अनुक्रम व्यवस्था, द्वितीय अनुक्रम की क्रमिक अवस्था के प्रकार, तृतीय जैविक अनुक्रम के प्रकार, चतुर्थ जीवीय अनुक्रम के प्रकार हैं।

13.3 वनस्पति अनुक्रम की अवस्थाओं के भेद –

1 सर्वप्रथम, इसमें कोई क्षेत्र पूरी तरह से वनस्पतिविहीन होता है या नग्न क्षेत्र होता है।

2 द्वितीय प्रावस्था दो नग्न धरातल में अन्यत्र क्षेत्र से उत्पन्न होने के लिए पौधों के बीजों का आगमन होता है।

3 तृतीय प्रावस्था तीन आए हुए पौधों के बीजों का अंकुरण एवं पौधों का जन्म कार्य सम्पन्न होता है।

4 चतुर्थ प्रावस्था चार पौधों का विकास हो जाता है और विकसित हुए पौधों के मध्य भोजन या आहार, सूर्य प्रकाश आदि के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा होती है। उसका आसपास के पर्यावरण पर प्रभाव होता है।

5 पंचम प्रावस्था, इसे स्थिरीकरण की प्रावस्था कहते हैं। इसमें जिस पौधों की प्रजातियां वहां उपलब्ध होती है वह अपनी अन्तिम समय स्थिति की दशा को प्राप्त करता है। यह दशा वहां के स्थानीय आवास प्रादेशिक आवास अथवा पर्यावरण की संतुलित दशाओं के सन्दर्भ में होता है।

13.3.1 जीवीय अनुक्रम की अवस्थायें –

यह स्पष्ट है कि विभिन्न आवासों में विभिन्न प्रकार की वनस्पति समुदाय का विकास होता है, इसलिए आवास की विविधता के आधार पर अनुक्रम की क्रमक अवस्थाओं को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

1– तर क्रमक –

यह अवस्था जलीय अवस्था की द्योतक है, ऐसी स्थिति में तालाब, झील, नदी, दलदल के किनारे वनस्पतियों का विकास होता है।

2– शुष्क क्रमक –

इस क्रमक का विकास शुष्क मरुस्थलीय क्षेत्र में पाया जाता है। शुष्क मरुस्थल में बालुका स्तूप, बरखान, स्थलाकृतियों में इसका विकास होता है।

3– स्थल क्रमक –

यह नंगी चट्टानों पर होता है जहां पर वर्षण कम वाष्पीकरण अधिक होने से स्वच्छ पर्यावरण का विकास होता है।

13.3.3 जैविक अनुक्रम के कारक –

किसी भी पर्यावरण में वनस्पति समुदाय का विकास अनेक कारकों पर निर्भर है। जलवायु, मृदा, भौतिक, जैविक एवं मानवीय हस्तक्षेप प्रमुख है। भौतिक कारक में जलवायु, मिट्टी, धरातल का स्वरूप ऊंचाई धरातलीय ढाल आदि को शामिल किया जाता है।

क– जलवायु कारक –

वनस्पतियों के विकास में तापमान, सूर्य का प्रकाश, वायुमण्डल की आर्द्रता, वायु, जल, वर्षा, आज का महत्वपूर्ण योगदान है। किसी भी वनस्पति के विकास में सूक्ष्म जलवायु का अधिक प्रभाव होता है क्योंकि सूक्ष्म जलवायु एक अत्यन्त छोटे क्षेत्र में अपना प्रभाव छोड़ती है। वनस्पतियां अपने स्थानीय जलवायुविक चरों के द्वारा प्रभावित होती है। स्थानीय स्तर पर मृदा पौधों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है क्योंकि मृदा के भौतिक और रासायनिक गुण, मृदा गठन, मृदा में अम्लीय, क्षारीयता उसके पोषक तत्व वनस्पति के विकास को प्रभावित करते हैं, उनको नियंत्रित करते हैं।

ख– भौतिक कारक या धरातलीय कारक –

धरातलीय कारक के अन्तर्गत धरातल के स्वरूप, ढाल, कोण, ढाल के पहलू, उच्चावच आदि को शामिल किया जाता है जैसे सूर्य के सम्मुख धरातल ढाल पर वनस्पतियों का विकास अच्छी तरह से होता है लेकिन विमुख ढाल पर जहां पर सूर्य के प्रकाश का पहुँचना मुश्किल है, वहां पर वनस्पतियों का विकास अच्छी तरह से नहीं हो सकता। ढाल और उच्चावच के सूक्ष्म जलवायु प्रभावित होती है जो वनस्पति के विकास और संवर्धन को नियंत्रित करती है।

13.3.3 जैविक अनुक्रम के कारक –

किसी भी स्थान के पौधों के विकास में आस पास पाए जाने वाले पौधों जीव–जन्तुओं प्राणियों विशेषकर के मानव का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मानव स्वभाववश जाने अनजाने में प्रायः जंगलों को नष्ट करता है। इससे भी वनस्पतियों का विकास और संवर्धन या जैविक अनुक्रम प्रभावित होता है। पौधों द्वारा आपस में स्थान, पोषक आहार, सूर्य का प्रकाश, जल मिट्टी से उपलब्ध खनिज तत्व की प्राप्ति हेतु प्रतिस्पर्धा होती रहती है। इसीलिए जो पौधे इसमें अनुकूलन स्थापित कर लेते हैं उनके अनुक्रम का विकास व्यवस्थित हो जाता है।

13.3.4 जैविक अनुक्रम के भेद –

वानस्पतिक अनुक्रम को किसी भी पारिस्थितिक तंत्र में दो वर्गों में रखा गया है– प्रथम, स्वजात अनुक्रम यह वर्ग वनस्पतियों द्वारा स्वयं होता है। द्वितीय अन्य जात इस अनुक्रम का प्रारम्भ उस दौर में होता है जब किसी स्थान के सन्दर्भ में पारिस्थितिक तंत्र के भौतिक घटकों में विभिन्नता पाई जाती है। जैसे जलवायु परिवर्तन, अवसादीकरण, तीव्र अपरदन, भूस्खलन, भूकम्प, बाढ़ आदि के घटना से अनुक्रम में विविधता पाई जाती है। विद्वान क्लीमेंट महोदय ने 1916 में अनुक्रम को दो प्रकार में विभक्त किया है– प्रथम, प्राथमिक अनुक्रम, दूसरा, द्वितीय अनुक्रम।

A प्राथमिक अनुक्रम –

प्राथमिक अनुक्रम में वनस्पति समुदाय के उस क्रम को शामिल करते हैं, जहाँ पर पहले से किसी भी प्रकार के प्राणी व पौधों का उद्‌भव और विकास नहीं हुआ रहता है। ऐसे समय में जहाँ पर वनस्पति का विकास सर्वप्रथम होता है, ऐसे क्षेत्र अनेक प्रकार के हो सकते हैं जैसे नवीन धरातल का निर्माण, (लावा प्रवाह), हिमोढ़ से नवीन सेल का उद्‌भव, सागरीय तली के निर्गमन से उत्पन्न नया भूभाग अथवा झील के सूखने से प्राप्त नवीन भूमि खादर के जमा होने या किसी खान से प्राप्त चट्टानों के ढेर से बना नया भूक्षेत्र।

प्राथमिक जैविक अनुक्रम के चरण –

नए क्षेत्र में वनस्पतियों का पहली बार जन्म होता है एवं उसका विकास होता है। ऐसे क्षेत्र में वनस्पतियाँ पहले से नहीं पाई जाती है। इसी कारण से इसे प्राथमिक अनुक्रम कहते हैं क्योंकि प्राथमिक अनुक्रम का यह अर्थ है कि उस क्षेत्र में पहले से किसी भी प्रकार का वनस्पति व विकास न हुआ हो, प्राथमिक अनुक्रम के वर्णन के लिए ऐसे भूक्षेत्र का चयन किया जा रहा है, जो पहले से वनस्पतिविहीन रहा हो या नवीन भूचित्र का उद्‌भव हुआ हो या नग्न शैलबाला हो किसी भी तरह का वनस्पति या प्राणी वहाँ पर नहीं पाया जाता है, यहाँ पर किसी भी तरह के वनस्पतियों जीव–जन्तुओं का न तो जन्म हुआ है, न तो वहाँ पर उनका विकास हुआ है। ऐसे आवासीय भौतिक क्षेत्र में वनस्पति के विकास के लिए निम्न क्रम सम्पन्न होते हैं जिसके चरण अग्रांकित हैं। पुरोगामी पौधों की अवस्था, सूच में जीवों की अवस्था, पुरोगामी समुदाय की अवस्था, बन्द समुदाय की अवस्था, शाकीय पौधों के विकास की अवस्था, समुदाय की अवस्था, चरम समुदाय की अवस्था, इस तरह से कुल 7 अवस्थाओं में प्राथमिक अनुक्रम को विभाजित किया जाता है जिनके विशेषताएं अग्रांकित हैं।

1– प्वानीयर पौधों की अवस्था–

इस अवस्था में पर्यावरण में आर्द्रता नहीं होती है। इस अवस्था में स्थानीय पर्यावरण शुष्क होता है, जहाँ पर चट्टाने नग्न है, वहाँ पर कोई भी पेड़ पौधा वनस्पति नहीं पाई जाती है। यहाँ पर वर्षण की तुलना में वाष्पीकरण की अधिकता होती है। ऐसी स्थिति में स्थानीय स्तर पर शुष्क पर्यावरण उद्‌भव होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जलवायु शुष्क है, क्योंकि जलवायु एक दीर्घकालिक विशेषता मानी जाती है। इस विषय पर अथवा नवनिर्मित चट्टान पर प्रथम वनस्पतियों का उद्‌भव और विकास होता है, जैसे कोई झील सूख जाती है तो उसके नवीन चट्टान पर लाइकेन और शैवाल का उद्‌भव होता है, क्योंकि यह दोनों वनस्पतियां आसानी से उस नंगी धरातल पर बनी रहती है और यह उस आवास के पर्यावरणीय दशाओं, जैसे– शीतलता, उष्णता, शुष्कता को आसानी से सहन करने में समर्थ होती है।

2– सूक्ष्मजीवों की अवस्था–

जब उस नवीन धरातल पर लाइकेन शैवाल का विकास होता है, धीरे–धीरे लाइकेन के अम्ल आदि का स्राव होने लगता है और चट्टानों में विद्यमान खनिज स्रावित अम्ल से क्रिया करके अपने रूप में परिवर्तन करता है। यह अम्ल कुछ खनिजों को घुला देता है और धीरे–धीरे उस क्षेत्र की जलवायु में जैविक पदार्थ चट्टान उच्चावच समय के आपसी मिश्रण से मृदा का निर्माण प्रारम्भ होता है और इस मृदा में अत्यन्त सूक्ष्म कीट–पतंग, जीवजन्तु का विकास होने लगता है।

3– पुरोगामी समुदाय की अवस्था –

पुरोगामी समुदाय की अवस्था नवीन चट्टान पर लाइकेन, काई, शैवाल के साथ–साथ जीवजन्तु का विकास हुआ रहता है। वहाँ पर धीरे–धीरे मृदा का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है तथा सूक्ष्म जीवों का विकास होने लगता है। मृदा की मोटाई बढ़ने लगती है। उस मिट्टी में बिल बनाकर रहने वाले चूहे, मकड़ी, चींटी, कुटकी आदि का विकास होने लगता है, ऐसी अवस्था में यत्र–तत्र छोटे–छोटे पौधों का भी विकास होने लगता है और उनके बीच बीच में थोड़ा भाग वनस्पति विहीन या पौधों से भिन्न खुला रहता है। ऐसे समुदाय को खुला समुदाय करते हैं, ऐसी स्थितियां नवीन चट्टानी भाग में स्पष्ट दिखाई देती है।

4– बन्द समुदाय की अवस्था –

बन्द समुदाय की अवस्था बढ़ते समय के साथ शैवाल, लाइकेन के विकसित भूभाग पर द्वितीयक समुदाय का विकास होने लगता है, जिसमें मास प्रमुख वनस्पति होती है। मृदा आवरण पर मांस का विस्तार होता है और मिट्टी में नमी की मात्रा पूर्व से अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है। मिट्टी में जैविक पदार्थ की मात्रा भी बढ़ जाती है और लाइकेन, शैवाल, मांस के स्थान पर धीरे–धीरे घास उगने लगती है, घास का विकास होता है और नए जीव–जन्तु प्राणियों का भी विकास होता है, जिसमें गोल कृमि प्रमुख है और वनस्पतियों द्वारा धरातल का खुला भाग ही ढक लिया जाता है। घने वनस्पति के कारण से वहां की सूक्ष्म जलवायु, सूक्ष्म पर्यावरण में परिवर्तन होने लगता है। धरातल के ढके होने की वजह से मिट्टी का तापमान और प्रकाश भी परिवर्तित होने लगता है। उसकी नमी में भी परिवर्तन होने लगता है जब वनस्पतियों से मिट्टी ढक ली जाती है, तो तापमान और

प्रकाश पूर्व की तुलना में कम हो जाता है। तापमान और प्रकाश के कम हो जाने के कारण से मिट्टी में नमी की मात्रा बढ़ जाती है। इस कारण से वाष्पोत्सर्जन के द्वारा मिट्टी से नमी ह्रास की दर में कमी आती है। आर्द्रता अधिक होती है तो बन्द समुदाय का विकास होता है, बन्द समुदाय से तात्पर्य यह है कि धरातल का कोई भी भूभाग वनस्पतियों से रिक्त नहीं रहता है। अर्थात् वनस्पतियां धरातल के यानी उस भू–भाग को पूरी तरह से ढक लेती है और जब नवीन क्षेत्र में भौतिक दशाएं वनस्पतियों के अनुकूल नहीं होती है तो प्रायः वनस्पतियों के बीच बीच में कुछ क्षेत्र वनस्पति से रिक्त रहता है ऐसी स्थिति को खुला वनस्पति समुदाय कहते हैं।

5–शाकीय पौध समुदाय की अवस्था –

जब वनस्पति अत्यन्त सघन हो जाती है तो मिट्टी पर प्रकाश कम पहुँच पाता है, जल की उपलब्धता प्रति पेड़ पौधों की अनुसार कम उपलब्ध होती है, मृदा के पोषक तत्वों की भी उपलब्धता कम हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में पेड़ पौधों में प्रकाश, पोषक तत्व, जल आदि की प्राप्ति के लिए आपस में कड़ी प्रतिस्पर्धा होती है। कभी–कभी वहाँ पर यदि एक ही प्रजाति के पौधों का विकास होता है तो उनमें प्रतिस्पर्धा अत्यन्त तीव्र रहती है, क्योंकि सभी पौधों को एक ही प्रकार के पोषक तत्व की आवश्यकता होती है और ऐसी परिस्थिति में जो पौधा प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ होता है वही समायोजन स्थापित कर पाता है और अपने को बनाए रख पाता है। कमजोर पौधा समाप्त हो जाता है परन्तु उस पौधे की प्रजाति बनी रहती है। यदि उस धरातलीय क्षेत्र में अनेक प्रजातियों का विकास होता है तो उनके मध्य प्रकाश, जल, पोषक तत्वों के लिए भी प्रतिस्पर्धा होती है। ऐसी परिस्थिति में सर्वाधिक आक्रामक और समर्थ प्रजाति का पूरे वनस्पति समुदाय में अपना प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। यदि सभी प्रजातियां एक समान दृष्टिकोण में समर्थ होती है तो वह उसमें प्रतिस्पर्धा होने पर सन्तुलन स्थापित होने लगता है और सभी प्रजातियां धीरे–धीरे समायोजन स्थापित करके संरक्षित होने लगती हैं। शाक समुदाय अवस्था इस अवस्था में शाक वनस्पति का भी विकास होता है। इसीलिए ऐसी अवस्था को शाक समुदाय कहते हैं।

6– वन समुदाय की अवस्था–

समुदाय की अवस्था में बढ़ते समय के साथ साथ उक्त आवासीय क्षेत्र में धरातल पर अनेक झाड़ियों का विकास होने लगता है। झाड़ी समुदाय स्थापित होने लगता है जो धीरे–धीरे वन समुदाय का स्थान ले लेता है। पुष्पी पौधों के बीज हवा द्वारा उड़ाकर इस आवास क्षेत्र में धीरे–धीरे जमा होने लगते हैं। झाड़ियों के मध्य यत्र तत्र वृक्षों का भी आविर्भाव और विकास होता है। वृक्षों का आवरण झाड़ियों के आवरण से भी अधिक ऊंचा हो जाता है। इसीलिए ऐसे वानस्पतिक समुदाय को वन समुदाय के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस क्रमक वनस्पति के विकास के पहले के पूर्व चरम वनस्पति का विकास होता है या चरम समुदाय का विकास होता है। इसीलिए वन समुदाय की अवस्था को पूर्व चरम अवस्था के नाम से भी सम्बोधित करते हैं।

7– चरम समुदाय अवस्था –

चरम समुदाय की अवस्था प्राथमिक अनुक्रम के सात अवस्थाओं में सबसे अन्तिम अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था में ऊंचे वृक्षों, वृहद आकार के वृक्षों का जन्म और विकास होता है। इनकी संख्या भी अधिक होती है। समस्त आवास में घने वृक्ष का आवरण पाया जाता है। मृदा का अधिक विकास होता है। मिट्टी की गहराई अधिक होती है। इन वृक्षों की जड़ें अधिक गहराई तक आसानी से पहुंच जाती है। मिट्टी में परिच्छेदिका का विकास अच्छी तरह से हो जाता है। मिट्टी में पोषक तत्वों की उपलब्धता के कारण से अनेक जीवों का विकास होता है। यह जीव न केवल ऊर्जा का स्थानान्तरण करते हैं, बल्कि पेड़–पौधों जीव–जन्तुओं के मृत शरीर को आयोजित करते हैं। इस अवस्था में चरम समुदाय में पौधों का एक निश्चित स्तरीकरण भी हो जाता है। इस अन्तिम अवस्था को क्रमशः चरम अनुक्रम, चरम समुदाय, चरम वनस्पति, चरम जलवायु के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस दशा को विकसित पारिस्थितिक तंत्र कहते हैं। इसे कभी–कभी प्रौढ़ पारिस्थितिक तंत्र भी कहते हैं। सन् 1883 ई० में इण्डोनेशिया के क्राकाटोआ द्वीप पर तीव्र ज्वालामुखी के विस्फोट से धरातल पर मैग्मा का विस्तार हुआ, यही मैग्मा धीरे–धीरे ठण्डा होकर लावा निर्मित मृदा के रूप में परिवर्तित हुआ। इस मृदा पर किसी भी तरह की वनस्पति पेड़ पौधों का विकास नहीं हुआ था क्योंकि यह नवीन मृदा थी, इस वनस्पति में इस प्रकार की मिट्टी पर प्राथमिक अनुक्रम का विकास मात्र 100 वर्षों में ही विकसित हो गया। वनस्पति समुदाय के प्राथमिक अनुक्रम के विकास के लिए यह अत्यन्त उत्तम

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी तरह से क्रीटैशियस युग में दक्कन क्षेत्र में लावा का उद्‌भेदन हुआ जहां पर प्रथम बार विकसित वनस्पति को प्राथमिक अनुक्रम के रूप में समझा जा सकता है।

B द्वितीय अनुक्रम –

द्वितीय अनुक्रम के अन्तर्गत किसी वनस्पति समुदाय का जो विकसित अवस्था में रहती है, को मानव अपने हस्तक्षेप द्वारा जैसे वनों को जलाने, वनों को काटने, पर्यटन, सड़क भूमि उपयोग में परिवर्तन, झूमिंग कृषि आदि द्वारा आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से प्रथम वनस्पति समुदाय को भी नष्ट करता है। इसी तरह से प्राकृतिक कारक, जैसे अग्नि, सूखे का प्रकोप, भूस्खलन, ज्वालामुखी, हरिकेन, बाढ़, जलवायु परिवर्तन व जैविक प्रकोप के कारण से उस वनस्पति तंत्र के उस प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र के आवास के अथवा उस विकसित वनस्पति समुदाय अथवा पेड़ पौधों के समुदाय का आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर प्रारंभिक वनस्पति का जो कुछ भाग बचा रहता है, उस वनस्पति समुदाय को पुनः विकास करता है। ऐसे पुनः विकास की अवस्था के अनुक्रम को द्वितीय अनुक्रम कहते हैं। इस तरह के आवास प्रौढ़ मृदा आवरण क्षेत्र में पाया जाता है। द्वितीय अनुक्रम का विकास प्राथमिक अनुक्रम के विकास से पूरी तरह से अलग रहता है या भिन्न होता है। द्वितीय अनुक्रम में वनस्पति समुदाय के वनस्पति का चरम जलवायु विकास का समय प्राथमिक अनुक्रम की तुलना में बहुत कम होता है। जब किसी क्षेत्र के या मिट्टी की वनस्पति समुदाय के विकास की अपने सातवें अवस्था चरम जलवायु में पहुँचने से पहले ही मानवीय व प्राकृतिक हस्तक्षेप उत्पन्न हो जाता है तो ऐसी स्थिति में वनस्पति को उप चरम जलवायु, उप चरम वनस्पति समुदाय के नाम से जानते हैं। यह व्यवधान जब अत्यन्त लम्बे समय तक विद्यमान रहता है तो वनस्पति समुदाय को विकास की सामान्य अवस्थाएं भी नहीं संचालित हो पाती हैं। व्यवधान वाले कारक वनस्पति समुदाय के सामान्य क्रमक को भी बाधित कर देते हैं। इस बाधित क्रमक में जो वनस्पति रहती है वह तब तक बनी रहती है, जब तक व्यवधान करने वाला प्राकृतिक व मानवीय कारक विद्यमान या क्रियाशील रहता है। इस तरह से बाधित चरम को बाधित जलवायु अथवा इसको बाधित चरम वनस्पति कहते हैं। कुछ समय के बाद यदि मानवीय और प्राकृतिक व्यवधान समाप्त हो जाता है, तो उस आवास की दशा या पर्यावरण

या सूक्ष्म जलवायु बदल जाती है। परिणामतः नया पर्यावरण, नया सूक्ष्म जलवायु, नया आवास उस अवस्थित वनस्पति समुदाय को संरक्षण प्रदान नहीं कर पाता है या उसका पोषण नहीं कर पाता है, ऐसी दशा में उस वनस्पति समुदाय के स्थान पर नए पर्यावरण के अनुसार नई वनस्पति समुदाय का विकास होता है तथा वनस्पति समुदाय का पुनः सामान्य क्रमक में विकास प्रारम्भ होने लगता है। कुछ समय के बाद यदि मानवीय और प्राकृतिक व्यवधान समाप्त हो जाता है, तो उस आवास की दशा या पर्यावरण या सूक्ष्म जलवायु बदल जाती है।

उत्तर भारत के विशाल मैदान में वैदिक काल में घने जंगलों (प्राकृतिक वनस्पतियों) को मानव द्वारा काटकर कृषि भूमि में परिवर्तित किया गया। मानव ने वनस्पतियों के विकास में व्यवधान उत्पन्न किया और आज कृषि कार्य सम्पादित कर रहा है। ऐसी स्थिति में यदि मानव आज कृषि कार्य सम्पन्न करना बन्द कर दे तो इस पूरे सतलज गंगा ब्रह्मपुत्र के मैदान में उन्हें पूर्व की वनस्पति को विभिन्न क्रमकों का विकास सामान्य दशा में स्थापित होगा और वनस्पति समुदाय के विकास की चरम स्थिति स्थापित हो जाएगी। हिमालय प्रदेश में या उत्तर–पूर्व के राज्यों में या दक्षिण के अनेक पहाड़ी क्षेत्रों में भारतीय भूभाग में स्थानान्तरित कृषि या झूम कृषि प्रचलित है, जिसे वानरा कुमारी, पोदू, दावी, कमान, बृंगा आदि के नाम से जानते हैं। ऐसी कृषि विश्व के उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में भी अनेक भागों में सम्पन्न होती है। इसमें मानव वनों को काट कर के खेती करता है, वहां पर प्राथमिक अनुक्रम की वनस्पतियों के कुछ अवशेष रह जाते हैं। ऐसे क्षेत्रों में कृषि कार्य तब तक सम्पादित करता है जब तक उस मिट्टी की उर्वरा शक्ति होती है और अच्छी फसल पाई जाती है। जब मृदा के पोषक तत्व समाप्त होने लगते हैं, तो आदिम जनजातियों द्वारा वहाँ की मिट्टी को छोड़ दिया जाता है और पुनः नए क्षेत्र में वन को काटकर, जलाकर साफ किया जाता है तो नए स्थान पर कृषि भूमि बना ली जाती है। ध्यान देने की बात है कि जो प्रथम परित्यक्त कृषि भूमि थी, वहाँ पर अब नई वनस्पतियों का विकास होता है। यही नवीन वनस्पतियों को हम लोग द्वितीय अनुक्रम के नाम से जानते हैं। प्रारम्भ में ताकि पौधे खरपतवार घास और धीरे–धीरे इन का आवरण घना होता चला जाता है और बाद में यहाँ पर झाड़ियां बड़े बड़े वृक्ष आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार वनस्पति समुदाय की चरम स्थिति पुनः स्थापित होने लगती है।

C चरम वनस्पति –

चरम वनस्पति या चरम समुदाय किसी वनस्पति समुदाय के अनुक्रमिक विकास की अन्तिम अवस्था मानी जाती है। यह प्रौढ़ प्राकृतिक तन्त्र की सूचक होती है। यह वनस्पति के आवासीय पर्यावरण एवं वनस्पति के मध्य सन्तुलन का परिचायक है। इस स्थिति में सकल बायोमास अधिकतम होता है, लेकिन शुद्ध सामुदायिक उत्पादन कम होता है। आहार श्रृंखला जटिल होती है, आहार जाल का निर्माण होता है। चरम वनस्पति के विकास के सन्दर्भ में दो सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है।

1– एकल चरम सिद्धान्त –

विद्वान क्लीमेण्ट्स ने 1916 एवं 1936 में एकल चरम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। क्लीमेण्ट्स के अनुसार, जलवायु चरम वनस्पति को सर्वाधिक नियन्त्रित करती है। किसी भी क्षेत्र की जलवायु के अनुरूप ही वनस्पति का विकास होता है। इस तरह विकसित वनस्पति को चरम वनस्पति, चरम जलवायु वनस्पति के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस पारिस्थिति तन्त्र में कोई बाह्य हस्तक्षेप नहीं होता है। पौधों के समुदाय में विविधता और जटिलता अनवरत बढ़ती है।

2– बहुचरम सिद्धान्त –

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एकल चरम सिद्धान्त के विचारों से अलग है। इसमें यह माना गया कि कोई भी पादप समुदाय जलवायु के साथ हमेशा समस्थित या सन्तुलन की स्थिति में नहीं रहता है। पादप समुदाय में क्रमिक परिवर्तन भी हमेशा नहीं होता, बल्कि चरम का निर्धारण जलवायु के अलावा मानवीय क्रिया, मिट्टी की गुणवत्ता, स्थलाकृति आदि अनेकों भौतिक और जैविक संघटकों का परिणाम होती है। विद्वान टान्सली ने किसी निश्चित आवासीय क्षेत्र में वनस्पति की सर्वाधिक वृद्धि को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक के आधार पर चरम वनस्पति समुदाय को परिभाषित किया है। वास्तव में चरम अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे– जैविक चरम, मृदा चरम, मानव चरम, उच्चावच चरम, जलवायु चरम आदि। विद्वान आर०एच० ह्विटेकर के अनुसार कोई निरपेक्ष चरम नहीं होता है, बल्कि चरम का विकास अनेक कारकों के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम होता है।

13.4 पौधों का उद्भव –

पौधों का उद्‌भव एवं विकास समय के सन्दर्भ में वृद्धि का द्योतक होती है, उद्‌भव एक ऐतिहासिक वृद्धि का सूचक है, पृथ्वी पर पौधों का जीवन स्थलीय एवं जलीय दोनों क्षेत्रों में है। पादपों के विकास के पहले पौधों के विकास प्रक्रम और प्रक्रियाओं का उल्लेख करना आवश्यक होता है। पौधों के इस प्रक्रिया में प्राकृतिक एवं कृत्रिम चयन, विषमता, पृथक्करण का प्रभाव विशेष रूप से पाया जाता है।

13.5 पौधों के उद्‌भव की प्रक्रियाएँ –

जीव भूगोल में पौधों के उद्‌भव के तीन प्रक्रिया हैं, जो निम्नलिखित हैं–

1. प्राकृतिक एवं कृत्रिम चयन –

पौधों के प्राकृतिक एवं कृत्रिम चयन, विकास और वृद्धि को प्रभावित करता है, किसी भी पेड़–पौधों में कुछ गुण विरासत में पाए जाते हैं और कुछ गुण स्वयं पर्यावरण के साथ क्रिया करके पाया जाता है, कुछ पादप अपने आवास से अनुकूलन स्थापित कर लेता है। कुछ पेड़ पौधों में अनुकूलन की क्षमता नहीं पायी जाती है। ऐसी स्थिति में अनुकूलन स्थापित करने वाले पौधे उन पौधों को गायब या लुप्त कर देते हैं, जो अपने आवासी पर्यावरण के साथ अनुकूलन स्थापित नहीं कर पाते। इसी प्रक्रिया को प्राकृतिक चयन के नाम से जानते हैं। कृत्रिम चयन वास्तव में मानव द्वारा निर्मित होता है, मानव अपने कृत्यों से नए पर्यावरण का निर्माण करता है, जैसे आज 21वीं सदी में वर्णसंकर द्वारा नए बीजों का निर्माण करना, इसका प्रमुख उदाहरण आज पेड़–पौधों में वर्णसंकर के द्वारा जिन वैज्ञानिकों ने पौधों में रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास किया, जिससे पौधे कीट, पतंगों, रोगाणुओं से मुक्त होते हैं और विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और विभिन्न प्रकार की जलवायु में वृद्धि और विकास में वर्णसंकर के पौधे समर्थ होते हैं, मनुष्य अपने पर्यावरण के अनुकूल ऐसे पौधों का विकास करता है, जो आसपास के अनुपयोगी पौधों को मुक्त कर देते हैं, ऐसे प्रक्रिया को कृत्रिम चयन के नाम से जाना जाता है।

2. पृथक्करण –

पौधों की वृद्धि और विकास में इस प्रक्रिया का अपना महत्व है। यह प्रक्रिया जन्म से सम्बन्धित है, इसमें विभिन्न सदस्यों के मध्य जिनका आदान–प्रदान बाधित हो जाता है, यह अलगाव अनेक प्रकार के विरोधियों द्वारा सम्पन्न होता है, अलगाव को प्रभावित करने वाले कारकों को दो वर्गों में रखते हैं–**प्रथम आन्तरिक कारक**, यह पौधों के अन्तर्गत अन्दर कार्य करते हैं। यह वर्णसंकर की प्रक्रिया को रोकते हैं। वर्णसंकर के जन्म को बाधित करते हैं। इस तरह के अलगाव के कारण एक प्रजाति के पौधों में अन्तःजनन न हो पाने के कारण एक प्रजाति में अनेकों उपप्रजातियों का विकास हो जाता है। **वाह्य कारक,** यह कारक अलगाव या पृथक्करण में बाहर से पौधों को प्रभावित करते हैं। यह विभिन्न प्रजाति पौधों के मध्य क्रास परागण की प्रक्रिया को बाधित करते हैं। बाह्य कारकों में मौसमी पृथक्करण, भौगोलिक अलगाव, यांत्रिक अलगाव, पारिस्थितिकीय अलगाव आदि प्रमुख भौगोलिक दूरी के द्वारा होता है। एक प्रजाति के पौधों का कोई ऐसा विस्तृत क्षेत्र हो

जाता है, जिससे क्रॉस परागण की प्रक्रिया बाधित होती है, तो उसे भौगोलिक अलगाव या दूरी पृथक्करण कहते हैं, जैसे एक प्रजाति के दो सदस्यों के मध्य किसी बड़े सागर का या बड़े पर्वत का स्थित होना, यह सागर या पर्वत पृथक्करण को बढ़ावा देता है।

3. विषमता –

पौधों में विषमता बहुत अधिक पाई जाती है, किसी भी प्रजाति के पौधों में लम्बाई, ऊँचाई, उसके फूलों की संख्या, रूप, रंग, आकार आदि में बहुत अन्तर पाया जाता है। कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही प्रजाति या एक ही संतति जनक की अनेक वंशजों में आने का अन्तर परिलक्षित होता है, उसमें भी क्षमता होती है। प्रत्येक पौधा अपने पूर्वज के गुणों को विरासत में प्राप्त करता है और इन गुणों का पौधों की वृद्धि विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है, पौधों के आवासीय पर्यावरण के कारण से इनके गुणों में परिमार्जन और परिवर्तन भी होता रहता है। अपने पूर्वजों से प्राप्त विरासत के गुणों को अनुवांशिक गुण कहते हैं और पर्यावरण के द्वारा उन गुणों में जो परिवर्तन होता है, उसे व्यक्त गुणोपलक्षण के नाम से जानते हैं। भूगोल में विषमता एक सामान्य बात है, जो किसी भी पर्यावरण में परिलक्षित होती है, पेड़ पौधे इससे अलग नहीं है।

13.6 पादपों का उद्‌भव एवम् विकास –

पृथ्वी धरातल पर पादप की उत्पत्ति से लेकर आज तक विभिन्न वनस्पति समुदाय के काल्पनिक विकास का अध्ययन विभिन्न चट्टानों में पाई जाने वाली वनस्पतियों के अवशेषों के विशद् विश्लेषण, विवेचन, मूल्यांकन के आधार पर किया जाता है। इसीलिए पादपों को इतिहास मूलतः पुरावनस्पतिशास्त्र के अन्तर्गत समाहित होता है। विभिन्न चट्टानों में पाई जाने वाली प्राचीन वनस्पतियों के अवशेष उसकी पहचान, उसके निर्माण, उसके विकास की गाथा का समय के साथ सम्बन्ध निर्धारित करना एक दुरूह कार्य है और उसकी व्याख्या भी गलत होने की पूरी सम्भावना बनी रहती है। चट्टानों में पाए जाने वाले पौधों के अवशेषों के विकास में परिवर्तन की व्याख्या करने वाले विद्वानों को दो वर्गों में रखा गया है –

1. संघीय अनुक्रमवाद
2. सविराम समस्थितिवाद

संघीय अनुक्रमवाद –

इस वर्ग के विद्वानों ने समस्त पौधों और प्राणियों की सम्पूर्ण शाखाओं का उद्‌भव विकास क्रमशः साथ–साथ माना है। उद्‌भव और विकास मध्यम गति से दीर्घकाल में हुआ। कुछ पौधों का विकास दूसरे की तुलना में तीव्र हुआ। इस अनुक्रमवाद को भौगोलिक उद्‌भवन या क्रमिक उद्‌भवन भी कहते हैं।

1– सविराम समस्थिति वाद –

इस वर्ग के विद्वानों ने यह माना कि सम्पूर्ण पादप जगत् समस्थिति में होता है, परन्तु समय के अनुसार इसमें बाधा भी उत्पन्न होती है, जब कभी दो समय के मध्य एक अल्पकाल में अनेक अचानक प्रलयकारी घटनाएँ घटती हैं, उससे पौधों का उद्‌भव और विकास अचानक होने लगता है, इसे त्वरित या अचानक या उद्‌भवन कहते हैं।

विद्वान डी०वी० एजर (1976) में चट्टानों में पाए जाने वाले जीव अवशेषों के आधार पर बताया है कि चट्टानों के जीवावशेष से प्राप्त अभिलेख वनस्पतियों के क्रमिक विकास को व्यक्त नहीं कर सकते हैं, बल्कि विभिन्न घटनाओं के सूचक होते हैं। पृथ्वी पर पौधों के उद्‌भव और विकास का अध्ययन स्पष्ट रूप से भौमिकीय इतिहास के विभिन्न युगों के सन्दर्भ में किया जाना प्रासंगिक लगता है, जो निम्नलिखित है –

1. परपोषित जीवों का उद्‌भव विकास
2. स्वपोषी पौधों का उद्‌भव विकास
3. वनस्पति समुदाय का उद्‌भव विकास
4. स्थलीय पौधों का उद्‌भव विकास
5. कार्बोनिफरस युगीन पादप का उद्‌भव विकास
6. मेसोजोईक युगीन वनस्पति का उद्‌भव विकास
7. टर्शियरी युगीन वनस्पति का उद्‌भव विकास ।

13.6.1– परपोषित जीवों का उद्‌भव विकास –

भूतल पर जीवों के विकास की शुरुआत सागर से मानी जाती है, उस समय जलीय क्षेत्रों में एककोशीय जीवों का विकास हुआ, यह जीव परपोषित जीव थे और ऑक्सीजन का उपयोग नहीं करते थे और प्रारम्भिक दौर में प्रकाशसंश्लेषण द्वारा आहार निर्मित करने वाले पेड़–पौधे का विकास नहीं हुआ था, इस समय के सूक्ष्म जीवों का आहार का आधार भौतिक पदार्थ, कार्बनिक पदार्थ आदि थे। उस समय तक ऑक्सीजन वायुमंडल में विद्यमान नहीं थी, इन एककोशीय जीवों का आहार द्रव के रूप में होता था, जो बिना ऑक्सीजन के ग्रहण करते थे। इस समय अनेक साधारण तत्व, जैसे– अमोनिया, मीथेन, विद्यमान था। इन तत्वों के साथ जल वाष्प मिश्रण से पराबैंगनी विकिरण द्वारा अनेक प्रकार के कार्बनिक यौगिकों का निर्माण सम्भव हुआ होगा, जिसके आधार पर एककोशीय जीवों का विकास हुआ।

13.6.2– स्वपोषित पौधों का उद्‌भव विकास –

यह माना जाता है कि परपोषित जीवों द्वारा ऐसे जीव–जन्तुओं का विकास हुआ, जो अपने भोजन का निर्माण करते थे। इसमें बैक्टीरिया, नीला–हरा शैवाल आदि प्रमुख था, इन्हीं जलीय पौधों द्वारा धीरे–धीरे जैविक क्रिया विधि से ऑक्सीजन का निर्माण हुआ और इसका विसरण वायुमण्डल में हुआ, जिससे अनेक जीवों का विकास सम्भव हो सका वायुमण्डल में ऑक्सीजन के तीन एटम की उपलब्धता से ओजोन गैस निर्मित होने लगी। उसकी सघनता के कारण ओजोन मण्डल का विकास हुआ, यह ओजोन मण्डल सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणों को दीर्घकाल तक अवशोषित करती रही, जिससे वायुमण्डल का तापमान सन्तुलन की दशा में आने लगा और जीवन के लिए उपयोगी हो गया। ऑक्सीजन वाले अनेक जन्तुओं का विकास हुआ, बहुकोशिकीय जीवों का विकास होने लगा, लगभग 60 करोड़ वर्ष पहले बहुकोशीय जन्तु का उद्‌भव हुआ, जिसमें स्पंज वाले जीव, कृमि, मूंगा, रीढ़ वाले जन्तुओं के पूर्वज भी शामिल हैं।

13.6.3– धरातलीय पौधों का उद्‌भव एवम् विकास –

अनेक विद्वानों का मानना है कि पौधों, जीव–जन्तुओं का उद्‌भव सबसे पहले जल में हुआ था, वहाँ से सिल्यूरियन एवं डिवोनियन युग में यह स्थल पर विस्तृत हुए। जलीय क्षेत्र में अनेक प्रकार के रंग–बिरंगे लाल, भूरे शैवाल का विकास हुआ, यह शैवाल

हरे पौधों की विशेषता से युक्त थे और शुष्क पर्यावरण में भी सरलतापूर्वक अनुकूलन स्थापित करने में सक्षम थे। प्रारम्भ में स्थल पर Rhynia कुकसोनिया पौधे उत्पन्न हुए। इन पौधों में जाइलम, फ्लोएम, छाल, रन्ध्र, बीजाणु व अन्य अंग उपांग विकसित थे।

13.6.4– वनस्पति समुदाय का उद्‌भव एवम् विकास –

डिवोनियन युग के अन्तिम समय में वृक्ष की तरह के पौधों का उद्‌भव हुआ, जिसमें अनेक शाखाएं थी। इन पौधों में लाइकोपाइस एवं हार्सटेल्स प्रमुख थे। बाद में चलकर इन पौधों का समापन हो गया। इन पौधों के साथ बीजाणु द्वारा जनन करने वाले फर्न जैसे वृक्ष का विकास हुआ। इसी समय कोणधारी वृक्षों का विकास हुआ था, धीरे–धीरे पर्यावरण में परिवर्तन के कारण से यह वृहद् वनों का रूप धारण करने लगे।

13.6.5– कार्बोनिफरस कालीन पादपों का उद्‌भव एवम् विकास –

कार्बोनिफरस काल में समस्त स्थल खण्ड आपस में जुड़े थे, जिसको विद्वानों ने पैंजिया कहा। यह पैंजिया विशाल महासागर से घिरा था, जिसे पैंथालासा कहा गया। पैंजिया के दो भाग थे, उत्तरी भाग को अंगारालैण्ड दक्षिणी भाग को गोंडवानालैण्ड कहा जाता है। जुरासिक युग में पैंजिया टूटने लगा और विभिन्न गति से विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने लगा। गोंडवानालैण्ड के टूटने से भारत मेंडागास्कर, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका, मेडागास्कर, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका का निर्माण हुआ और अंगारालैण्ड के विखण्डन से एशिया, यूरोप, उत्तरी अमेरिका, ग्रीनलैंड का निर्माण हुआ। कार्बोनिफरस काल में सम्पूर्ण अंगारालैण्ड में घना जंगल फैला था। यहाँ पर 30 मीटर से अधिक ऊंचे वृक्ष थे, इन वृक्षों में कोंणधारी पौधे फर्न मास पौधे प्रमुख है। यहाँ पर दलदली क्षेत्र भी था, धीरे–धीरे वनस्पतियाँ विवर्तनिक हलचल के कारण मलवा में दब गई और उन पर मलवा के भार से दाब और ताप में परिवर्तन आया, जिससे वनस्पतियाँ कोयले में बदल गई। इसी कारण से उत्तरी गोलार्द्ध में कोयले का निर्माण हुआ, पर्मियन युग में वनस्पतियों में परिवर्तन आया और तीन प्रकार की वनस्पतियाँ विकसित हुईं, जिसमें पश्चिमी यूरोप, पूर्वी अमेरिका में अमेरिकन वनस्पति साइबेरिया में अंगारा वनस्पति, वर्तमान चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया में कैथीसियन वनस्पति का विकास हुआ। गोंडवानालैण्ड में भी वनस्पति का विकास हुआ,

लेकिन कार्बोनिफेरस काल में जलवायु में अनेक परिवर्तन आये, शीतकाल आया, ग्लासोप्टेरिस वनस्पति का विस्तार हुआ।

13.6.6– मेसेजोइक कालीन वनस्पति का उद्‌भव एवम् विकास –

इस कल्प में ट्रियासिक, जुरासिक, क्रीटैशियस युग शामिल थे। इस कल्प में जलवायु, वनस्पति में बड़े पैमाने पर परिवर्तन के साथ ही प्राणी जीवन में भी परिवर्तन आया। पर्मियन युग में शुष्क जलवायु वाली वनस्पतियों का विकास हुआ, अनेक पौधों और वनस्पतियों का विलोपन हो गया, परन्तु कुछ जानवर जैसे डायनासोर अभी भी विद्यमान थे तथा डायनासोर का जीवन–यापन का आधार फर्न, कोणधारी, साइकड वृक्ष बचे रहे, जो शुष्क जलवायु के साथ समायोजन स्थापित कर लिए थे। जुरासिक और क्रीटैशिस युग में गोंडवानालैण्ड में सदाहरित वनों का विकास हुआ और जलवायु परिवर्तन के प्रभाव भी देखा गया। पहली बार फूल वाले पौधों का विकास हुआ और इनमें बड़े पैमाने पर रूपान्तरण हुआ, फूल वाले पौधे इतनी तेजी से फैले कि इनका रूप घने जंगल जैसा दिखाई देने लगा, अन्य सदस्यों की निहायत कमी थी। इस तरह के फूल वाले पौधों में मैपिल, पोपलर, ऐटा, साहकामोर, ओक महत्वपूर्ण था, बड़े–बड़े वृक्षों के नीचे शाकीय पौधों का विकास हुआ था। पुष्पी पौधों शाकीय पौधों के उद्‌भव विकास के साथ वनस्पतियों के लम्बवत स्तरीकरण की विशेषता दिखाई देने लगी। पुरावनस्पति शास्त्रियों ने फूल वाले पौधों तथा अन्य पौधों के विकास के लिए निम्नलिखित कारण को उत्तरदायी बताया –

1. प्रथम फूलवालों पौधों में लम्बवत स्तर के विकास की क्षमता थी।
2. पुष्पी पौधों, कीटों का विकास आपसी सहयोग के कारण एक साथ हुआ। इस कारण क्रास परागण प्रक्रिया से पौधों में आनुवांशिक तथा पारिस्थितिक विभिन्नता आई और नई प्रजातियों का जन्म हुआ।
3. तृतीय क्रिटैशियस युगीन पृथ्वी धरातल पर अनेक परिवर्तन हुए। सागर, स्थल क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ, जलवायु में परिवर्तन हुआ, जैसे पुष्पी पौधों में ने पर्यावरण के साथ समायोजन की क्षमता उसकी एक विशिष्टता थी, इस कारण से पुष्पी पौधों और अन्य पौधों का प्रभुत्व धरातल पर विद्यमान हो गया।

13.6.7– तृतीयक युगीन पादप का उद्‌भव एवम् विकास –

फूल वाले पौधों के विकास में विद्वानों में आपसी सहमति नहीं है, अधिकांश विद्वान फूल वाले पौधों का उद्‌भव गोंडवानालैण्ड के पश्चिमी भाग को मानते हैं और बताते हैं कि यहीं से विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में इनका प्रसार हुआ। इस युग में डायनासोर की चरम वृद्धि और विकसित हुई। तृतीयक युग में विश्व के नवीन वलित (मोड़दार) युवा पर्वत का विकास हुआ, जैसे आल्पस, हिमालय राकीज, ऐण्डीज आदि प्रमुख हैं। चतुर्थक तंत्र में अमेरिका, यूरेशिया के अधिकांश क्षेत्रों में बर्फ का जमाव हुआ। बर्फ का पिघला हुआ हिमयुग, अन्तर्हिम युग के कारण स्थल क्षेत्र, सागर, जल, थल में परिवर्तन जलवायु में परिवर्तन के कारण वनस्पतियों के विशेषताओं, उसके प्रारूप में परिवर्तन आया।

13.7 जन्तुओं का उद्‌भव तथा विकास –

प्राचीन कालीन चट्टानों में प्राप्त जीवावशेषों के आधार पर जन्तुओं के उद्‌भव और विकास की जानकारी हो सकती है। इसमें भी केवल एक आकलन या अनुमान ही किया जा सकता है, क्योंकि जलवायु एवं विवर्तनिक परिवर्तन के कारण से जीवावशेषों में लाखों–करोड़ों वर्षों में अनेक परिवर्तन हुए, इसीलिए शत–प्रतिशत सही मूल्यांकन करना अत्यन्त मुश्किल है। ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी धरातल पर सबसे पहले कैंब्रियन युग में सूक्ष्मदर्शी से दिखने वाले अत्यन्त सूक्ष्मजीवों का जन्म हुआ था, जिनके जीवावशेष अत्यन्त कम उपलब्ध हैं। जीव–जन्तुओं के विकास, उद्‌भव को भली–भांति समझने के लिए जन्तुओं का भूगर्भिक इतिहास के विभिन्न कार्यक्रमों के अनुसार ही अध्ययन किया जा सकता है –

1– प्रीकैंब्रियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 2– कैंब्रियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 3– आर्डोविसियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 4– सिल्युत्यिन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 5– डिवोनियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 6– कार्बोनिफेरस कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 7– पर्मियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 8– ट्रियासिक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 9– जुरैसिक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 10– क्रीटेशियस कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 11– तृतीयक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास, 12–चतुर्थक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव विकास।

13.7.1– प्रीकैंब्रियन कालीन जीव–जन्तुओं का उद्‌भव तथा विकास –

आज से लगभग सौ करोड़ साल पहले के जीवों का अवशेष अफ्रीका के जांबिया में पाया गया है। यह अपना भोजन मलवा से प्राप्त करते थे। सौ करोड़ साल पहले प्रकाश संश्लेषण करने में सूक्ष्म जीवों का विकास और प्रादुर्भाव नहीं हो पाया था। रीढ़ विहीन, कोमल शरीर वाले, जिनके अवशेष दक्षिणी आस्ट्रेलिया के एडीकारा पहाड़ी में पाया गया है, यह अवशेष लगभग 68 से 58 करोड़ वर्ष पूर्व माना जाता है। अफ्रीका, यूरोप, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया के विभिन्न क्षेत्रों में पाए गए अवशेषों से ऐसा लगता है यह सभी महाद्वीप आपस में करोड़ों वर्ष पहले एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

13.7.2– कैंब्रियन कालीन जन्तुओं का उद्भव एवम् विकास –

आज से लगभग 60 करोड़ वर्ष जलवायु बहुत गर्म थी। सागरी जीव का विकास हुआ था, शैवाल, बैक्टीरिया, कवक तथा जन्तुओं में अत्यन्त सूक्ष्म जीव, जो कोमल, एककोशीय थे, का विकास हुआ। कड़ी खोल में रहने वाले मोलस्का संघ के जीव का भी जन्म हुआ था, इस युग में ट्राइलोवाइरस की हजारों प्रजातियों का पता चला। इसमें सबसे पहले महत्वपूर्ण जीव ब्राचियोपोड्स brachiopods तथा ट्रिलोबाईट्स trillobites था।

13.7.3– आर्डोविसियन कालीन जन्तुओं का उद्भव एवम् विकास –

आज से 50 करोड़ वर्ष पूर्व आर्डोविसियन युग का समय है, जो 6 करोड़ वर्ष तक चला। ताजे जल में सबसे पहले रीढ़ वाले जन्तुओं का विकास इसी समय हुआ, जीव बिना जबड़े के थे, इनका शरीर कवच युक्त था। इस समय घोघा, स्पंज, मूंगा का भी विकास हुआ था, इस युग में सिर पर पैर वाले जीवों तथा हाथों वाली सीपों का भी जन्म हुआ। स्थल पर जीवो का जन्म इस युग में नहीं हुआ था।

13.7.4– सील्युरियन कालीन जन्तुओं का उद्भव एवम् विकास–

आज से 44 करोड़ वर्ष पहले का समय सिलूरियन का समय था, जो 4 करोड़ वर्ष तक चला था, इस समय की जलवायु ठण्डी होने लगी थी। तापमान कम होने लगा था, जबकि आर्डोविसियन के समय जलवायु उष्ण थी। सागरों में जीवों का अधिक विकास होने लगा था। सबसे पहले शैवाल का प्रभुत्व हुआ। सागरीय भागों में वनस्पतियों का विकास होने लगा। सर्वप्रथम इस समय जल के समीप स्थल पर वनस्पतियों का विकास हो गया। वनस्पतियों के विकास के कारण पर्याप्त मात्रा में प्राणियों के लिए भोजन उपलब्ध

होने लगा, जिससे अनेक प्रकार के मांसाहारी प्राणी धरातल पर उत्पन्न हुए, इन प्राणियों के अलावा घोंघे जैसे प्राणी, जेलीफिश, मूंगा, लिली, बिच्छू का भी जन्म हुआ।

13.7.5– डिवोनियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

आज से लगभग 40 करोड़ साल पहले डिवोनियन युग की शुरुआत हुई जो 5 करोड़ वर्ष तक विद्यमान था। प्रारम्भ में जीवों का विकास हुआ, गिल वाली मछली का उद्‌भव हुआ, जो धीरे–धीरे जबड़ों में परिवर्तित हुआ। मछलियों में आहार प्राप्त करने के लिए संघर्ष की क्षमता विद्यमान हुई। इस समय सर्वप्रमुख जलभूमिया जीव का विकास हुआ, मकड़ों का विकास हुआ। भूमण्डल पर समान स्तर की जलवायु का विकास हुआ, शुष्क मरुस्थल का विकास हुआ। जीव–जन्तुओं में शुष्क पर्यावरण के प्रति समायोजन की प्रवृत्ति का विकास हुआ। ऊंचे–ऊंचे वृक्ष धरातल पर घनी वनस्पतियों में जन्तुओं की संख्या अनेक प्रकार के जीव का विकास हुआ, अनेक प्रकार के कीट, तिलचट्टा, कुटकी, पूँछ वाले जन्तु जलभूमिया का विकास हुआ।

13.7.6– कार्बोनिफेरस कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

कार्बोनिफेरस युग आज से 35 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ, कुल आठ करोड़ वर्ष तक विद्यमान था। इस युग में समस्त स्थली भाग द्वितीय पंजिया के रूप में आपस में संलग्न थे। गोंडवानालैण्ड पर हिमानीकरण प्रारम्भ हो गया था, अनेकों प्रजातियों का समापन हुआ, हिमानी के कारण से धरातल पर वनस्पतियों का घना आवरण व्याप्त था, किस कारण से जीवजन्तुओं की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। बाद में उनकी प्रजातियों में विविधता व्याप्त हुई, जैव विविधता सम्पन्न होने लगी। अनेक कीट पतंगों का उद्‌भव हुआ। कीट–भक्षी बड़े बड़े आकार वाले मकड़ों का जन्म हुआ। जलभूमियों जैसे मेंढक प्रमुख थे, पेट के बल रेंगने वाले जीवों का विकास हुआ। अयनवर्ती वनों के जमीन में दबने के कारण कार्बोनिफरस युग में कोयले का निर्माण हुआ। गोंडवानालैण्ड की जलवायु में अनेक परिवर्तन देखने को मिलता है। हिमानीकरण के कारण से कहीं–कहीं जैव विविधता में ह्रास हुआ। प्रतिकूल पर्यावरण के कारण से जो पेड़–पौधे जीव–जन्तु बचे और उनमें सहनशक्ति और अधिक पाई गई।

13.7.7– पर्मियन कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

पर्मियन युग आज से 27 करोड़ साल पहले आरम्भ हुआ था यह 4.30 करोड़ वर्ष तक विद्यमान था। पूरा गोंडवानालैण्ड बर्फ से ढका था। सम्पूर्ण स्थल खण्ड द्वितीय पैंजिया के रूप में था, पर्वतों का निर्माण हुआ था। इसी समय अनेक रेगिस्तानों का जन्म हुआ। अनेकों बार हिम के विस्तार और संकुचन हुआ। अनेक जीव–जन्तु लुप्त हुए और जो विलोपन से बच गए, उसमें अधिक सहन शक्ति विद्यमान हुई, जिससे जीव–जन्तु पेट के बल रेंगने वाले जीवों की संख्या में वृद्धि हुई और कुछ में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ। स्तनधारी जन्तुओं ऐसे उसमें लक्ष्मण विद्यमान होने लगे। तेज चलने, दौड़ने, जल में तैरने के अनेक क्षमताएं विकसित होने लगी।

13.7.8– ट्रियासिक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

इस युग का प्रारम्भ 22.30 करोड़ वर्ष पहले हुआ, यह युग 4.30 करोड़ वर्षों तक विद्यमान रहा। ट्रियासिक युग में पैंजिया दो भागों में टूट गया, फिर भी कहीं–कहीं आपस में जुड़े थे। इस समय उष्ण कटिबंध, उपोषण कटिबंध में मरुस्थल का जन्म हुआ। कई जोड़ों से बने पैर वाले जीवों का उद्‌भव हुआ, जैसे मकड़ा व अन्य कीट पतंगा की संख्या में वृद्धि हुई। कीट पतंगे, रीढ़विहीन थे, जल में तैरने वाले जीवों का जन्म हुआ। कुछ रेप्टाइल के उड़ने के भी गुण विकसित हुए, जिससे आगे चलकर पक्षियों का जन्म हुआ।

13.7.9– जुरासिक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

जुरासिक युग आज से 18 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ, इस अवधि में पूरे विश्व में गर्म जलवायु हुई। गर्म जलवायु के कारण कोणधारी साईकैड वनों का विस्तार हुआ। पुष्पी पौधों जैसी संरचना का विकास होने से कीटों के जीवन रूप में विविधता का सूत्रपात हुआ, शाकाहारी जन्तुओं में विविधता हुई। बड़े–बड़े डायनासोर का विकास हुआ। डायनासोर का निवास स्थल एवं कीचड़ दलदल वाले क्षेत्र थे। सागर में रहने वाली प्रजाति का काफी विकास हुआ। उड़ने वाले गुणों से सम्पन्न रेप्टाइल तथा पक्षियों का विकास हुआ। इसी युग में वर्तमान में पाई जाने वाली छिपकली तथा घड़ियाल का विकास हुआ। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी कि अनेक जन्तुओं में जीवित सन्तानों को जन्म देने की क्षमता का विकास हुआ।

13.7.10– क्रीटैशियस कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

क्रीटैशियस काल आज से 13.30 करोड़ वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ। इस समय गोंडवानालैण्ड का विभाजन हुआ। आन्तरिक क्षेत्र में सागर, दलदल व अन्य स्थलाकृति का विकास हुआ। कोणधारी वनों में ह्रास हुआ। डायनासोर का चरम विकास हुआ। स्तनधारी जन्तु का विकास मन्द गति से हो रहा था। कीट भक्षी जन्तुओं का विकास अधिक हुआ। ताजे जल और खारे जल में हड्डी वाली मछलियों व विभिन्न प्रजातियों का विकास हुआ। पूँछ वाले जहरीले रेंगने वाले जन्तुओं का विकास हुआ। बाद में डायनासोर का पूरी तरह से समापन हो गया।

13.7.11– तृतीयक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

टर्शियरी युग आज से 7.80 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। इसकी अवधि कुल 6. 9 करोड़ वर्ष थी। इस कल्प में चार युग, इयोसीन, ओलिगोसीन, मायोसिन, प्लायोसिन सम्मिलित थे। इस समय विश्व के सबसे ऊंचे वलित पर्वत, जैसे राकी, ऐंडीज, हिमालय, अल्पाइन आदि का निर्माण हुआ। सागर नितल प्रसरण का विकास हुआ। सागर नितल प्रसरण के कारण अटलांटिक महासागर का विस्तार हुआ। प्रशान्त महासागर सिकुड़ता गया, उत्तरी अमेरिका, दक्षिण अमेरिका दोनो महाद्वीप यूरेशिया, अफ्रीका से दूर होते गए। इसमें कोई स्थिरता का प्रश्न नहीं है। प्लेट टेक्टानिक्स के द्वारा आज यह स्पष्ट है कि स्थलमण्डल जलमण्डल की स्थितियां सदैव परिवर्तनशील है।

इयोसिन काल भी आज से सात करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। स्तनधारी जन्तुओं का विस्फोटक विकास हुआ। स्तनधारी जन्तुओं की संख्या, प्रजाति, क्षेत्रीय विस्तार में बड़े पैमाने पर वृद्धि हुई। अनावृतबीजी पौधों और रेंगने वाले जीव जन्तुओं का सर्वाधिक विकास हुआ। इस समय गर्भ में अपने बच्चों का पालन पोषण करने वाले स्तनधारी जन्तु विशेष रूप से शाकाहारी कीट भक्षी, जन्तुओं में बहुत अधिक विविधता विद्यमान हुई। कुतर कर खाने वाले, खुर वाले जानवरों का विकास हुआ। वर्तमान समय में विद्यमान गिलहरी, चूहा, जैसे जन्तु उस समय विकसित हो गए।

मायोसिन युग के आते–आते स्तनधारी जन्तुओं में बहुत अधिक विविधता विद्यमान हुई। समान खुर वाले और असमान खुर वाले शाकाहारी विशालकाय जानवरों का

विकास हुआ। इस समय विकसित जानवरों का प्रादेशिक वितरण भी एक महत्वपूर्ण विशेषता हुई। एशिया का जल घोड़ा, अमेरिका का आर्माडिलोज, उत्तरी अमेरिका में घोड़ा, अफ्रीका का हाथी प्रसिद्ध हो गया।

ओलिगोसीन युग जो आज से 4 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। गर्म जलवायु विद्यमान थी, लेकिन अल्पाइन पर्वतीकरण के सक्रियता के कारण जलवायु में स्थानीय स्तर पर प्रभाव पड़ा। जलवायु शीतल होने लगी। उत्तरी गोलार्द्ध में उष्णकटिबंधीय वनस्पति निवर्तन होने लगा। वर्तमान में पाए जाने वाले स्तनधारी जन्तुओं का विकास हुआ।

मायोसिन युग आज से 2.5 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। मायोसिन युग में जलवायु में परिवर्तन हुआ। तापमान तेजी से घटने लगा। घास के क्षेत्रों में कमी थी। स्तनधारी जन्तुओं की प्रजाति और संख्या में वृद्धि हुई। बेरिंग जलडमरूमध्य के माध्यम से एशिया से बड़े–बड़े जानवर उत्तरी अमेरिका में प्रवास करने लगे। प्लायोसीन युग जो आज से 1.1 करोड़ वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ, उष्णकटिबंधीय जलवायु के साथ दोनों और शीतोष्ण और शीत कटिबंधीय जलवायु विकसित हुई। झाड़ी और घास के क्षेत्र में विस्तार हुआ। स्तनधारी नर पशु, वनमानुष की संख्या में अधिक वृद्धि हुई।

13.7.12– चतुर्थक कालीन जन्तुओं का उद्‌भव एवम् विकास –

चतुर्थक युग का विकास आज से 10 लाख वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ। इस कल्प के अन्तर्गत प्लीस्टोसीन काल, होलोसीन काल विद्यमान है। इस युग में वैश्विक स्तर पर जलवायु में परिवर्तन आया। इस परिवर्तन के कारण जीव जन्तु और वनस्पति का प्रभावित होना महत्वपूर्ण था। बदलते जलवायु कारणों से पर्यावरण में भी परिवर्तन आया। इस कारण से जीव जन्तुओं की प्रजातियों के विसरण, वितरण, विकास, प्रभावित हुए। इस युग के पहले उत्तरी अमेरिका में हाथी और घोड़ा विद्यमान था। बारहसिंघा, जंगली भैंसा नहीं था, लेकिन इस युग के आने से हाथी, घोड़ा समाप्त हो गए। बारहसिंघा, जंगली भैंसा की संख्या में बढ़ोतरी हुई, प्लीस्टोसीन युग में महा हिम काल आया। इस महान हिम काल का प्रभाव उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक था। यूरोप में गुँज मिंडल रिस वुर्म उत्तरी अमेरिका में अरकन्सान नेब्रास्का, विस्कंसिन, आदि महत्वपूर्ण हिम युग के नाम से जाने जाते हैं। इन्हीं हिमयुगों के बीच–बीच में अन्तर हिम काल भी पाया गया। हिमानी करण के कारण सागर,

जल, थल में कमी आई। इस दौरान अनेक जन्तुओं का समापन हुआ जैसे डायनासोर। तेज चलने वाले जन्तुओं में तेजी से प्रवास हुआ। उत्तरी अमेरिका में बिल्ली, रीछ, भालू, घोड़े, सूअर, दक्षिणी अमेरिका में प्रवास करने लगे। दक्षिण अमेरिका में जाने से अनेक जन्तुओं का विलोपन भी हो गया। उत्तरी अमेरिका में कनाडा, यूएसए, मेक्सिको के क्षेत्र में श्वेत हिरण, जंगली भैंसा, बारहसिंघा, बकरी, भेड़, ध्रुव, हाथी, सिंगर, अमेरिकी भालू का विसरण विभिन्न क्षेत्रों में हुआ। उत्तरी अमेरिका से उदविलाव, ऊँट का यूरेशिया में प्रवास हुआ। मध्य अमेरिका, उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका के मध्य एक सेतु की भूमिका में था। दक्षिणी अमेरिका से अनेक जानवर जैसे आर्माडिलो, ग्राउण्ड फ्लोर उत्तरी अमेरिका में प्रवास कर गए। आज से दस हजार साल पहले मानव का विकास हुआ। जब धीरे–धीरे ओलिगो सीन युग में वृक्ष पर रहने वाले छछूंदर, लंगूर, बंदर, मेडागास्कर में पाए गए। मानव सदृश्य जन्तुओं से आगे चलकर नई दुनिया के बंदरों का विकास पुरानी दुनिया के बंदरों से हुआ। होलोसीन काल में नर पशु का विकास हुआ था। होमो नीड्स दो शाखाएँ विकसित हुई, एक शाखा पूँछ विहीन वानर, दूसरी शाखा कपि मानव थी। पूँछविहीन बंदरों से अन्तिम प्लेस्टोसीन काल में गोरिल्ला, ऑरेंज, चिम्पाजी गिबन का विकास हुआ और आधुनिक मानव का विकास कपि मानव से हुआ। पूर्वी मध्य अफ्रीका को सामान्यतया होमोसेपियंस की उत्पत्ति का प्रारम्भिक स्थान माना जाता है। आस्ट्रेलिया के मानव विज्ञानी भी आस्ट्रेलिया के उत्तर क्षेत्रों में पाए जाने वाले जीव अवशेषों के आधार पर यह कहते हैं कि आज से 60000 से 85000 वर्ष पहले आस्ट्रेलिया में आदि मानव का विकास हुआ था।

13.8 सारांश –

इस इकाई में जैविक अनुक्रम पादप, जन्तु के उद्भव विकास का विशद् वर्णन किया गया है। जैविक अनुक्रम क्या है? इसकी अवस्थाएँ कितनी हैं, इस प्रावस्था में क्या घटनाक्रम है, पर्यावरण से कैसे सम्बन्धित है, का वृहद् वर्णन के साथ पादप जन्तु का उद्भव किन–किन क्षेत्रों में, किन–किन समयों में हुआ, उनका विलोपन कब हुआ, वृद्धि विकास पर्यावरण के साथ समायोजन का विशद् विवरण प्रस्तुत इकाई में किया गया है। जीवमण्डल का मूलभूत सदस्य वनस्पति और जीवजन्तु है। जैविक अनुक्रम के सन्दर्भ में विद्वान क्लीमेण्ट्स ने प्राथमिक अनुक्रम, द्वितीयक अनुक्रम और चरम वनस्पति का विभाजन करके सभी अनुक्रम की विशिष्टताओं को रेखांकित किया है। प्राथमिक अनुक्रम में पौधे वहाँ

पर उत्पन्न होते हैं, जहाँ पर कभी पौधों का विकास नहीं हुआ रहता है। द्वितीय अनुक्रम में किसी वनस्पति समुदाय में जब हस्तक्षेप होता है और वनस्पतियाँ नष्ट होने लगती हैं, अवशेष के रूप में बची वनस्पतियों से पुनः वनस्पति समुदाय का विकास होता है तो उसे द्वितीय अनुक्रम कहते हैं। चरम वनस्पति समुदाय में वनस्पति का पूरी तरह से विकास हो जाता है और यह प्रौढ़ अवस्था होती है। चरम वनस्पति को एकल चरम वनस्पति और बहुचरम वनस्पति सिद्धान्त में वर्गीकृत किय गया है। पौधों का उद्‌भव और विकास के अनेक चरण, जैसे–परपोषित जीवों का उद्‌भव विकास, स्वपोषी पौधों का उद्‌भव विकास, वनस्पति समुदाय का उद्‌भव विकास, स्थलीय पौधें का उद्‌भव विकास, कोर्बोनिफेरस युगीन पादपों का उद्‌भव विकास, इसी तरह से मेसोजोइक, टर्शियरी युगीन, पादपों का उद्‌भव विकास का वर्णन किया गया है।

जन्तुओं का उद्‌भव विकास विभिन्न कालक्रमों में बाँटकर अध्ययन करना प्रासंगिक है। जन्तुओं का उद्‌भव विकास प्रीकैम्ब्रियन, कैम्ब्रियन, आर्डोविसियन, सिलोरियन, डिवोलियन, कार्बोनिफेरस, परमियन, ट्रियासिक, जुरासिक, क्रिटैशियस, टर्शियरी, क्वार्टनरी काल में विभिन्न जीवजन्तु, जैसे मोलस्का संघ, एककोशीय, बहुकोशीय, तिलचट्‌टा, डायनासोर, जेलीफिश, मूँगा, बिच्छू, कुटकी, मेढक व स्तनधारी, बन्दर, मानव का उद्‌भव विकास का विशद् वर्णन किया गया है।

13.9 बोध प्रश्न –

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही विकल्प चुनिए –

1 जीवीय अनुक्रम में कितने अनुक्रम हैं –

क. 1, ख. 2, ग. 3, घ. 4.

2.एकल चरम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था –

क. वैलास, ख. प्रो० आर०एल० सिंह, ग. ह्विीटेकर, घ. एफ०ई० क्लिमेन्ट।

3. प्रजाति के उद्‌भव से सम्बन्धित सिद्धान्त दिया था –

क. हम्बोल्ट, ख. चार्ल्स डार्विन, ग. प्रो० जगदीश सिंह, घ. प्रो० के०एन० सिंह।

4.मेसोजोइक कल्प में शामिल नहीं है –

क. इओसीन, ख. ट्रियासिक, ग. जुरैसिक, घ. क्रिटैसियस।

5. डायनासोर युग कहा जाता है –

क. पर्मिनयन युग, ख. ट्रियासिक युग, ग. जुरासिक युग, घ. क्रिटैसियस युग।

6. यूरोप में कितने हिमयुग प्लिस्टोसीन काल में हुए –

क. 5, ख. 4, ग. 3, घ 2.

13.1.0 शब्दावली –

1.प्रजाति विलोपन– पृथ्वी से किसी जन्तु या पौधे की प्रजाति का विलुप्त होना।

2.प्रजाति उद्भवन –गुणसूत्र में परिवर्तन से प्रजाति का उत्पन्न होना।

3.कृत्रिम चयन –मानव निर्मित पर्यावरण में प्रजातियों के जन्म लेने की प्रक्रिया।

4.प्राकृतिक चयन –किसी प्रजाति में पूर्व के वंशज द्वारा प्राप्त गुण, जिससे वे पर्यावरण के साथ समायोजन स्थापित कर लेते हैं, जबकि दूसरे पौधे समायोजन नहीं स्थापित कर पाते।

5.अन्यत्रजनिक अनुक्रम –पर्यावरणीय दशाओं में परिवर्तन से उत्पन्न जैविक अनुक्रम।

6.मानवजनित चरम –मानवीय प्रभाव से उत्पन्न जैविक चरम को कहते हैं।

7.जैविक अनुक्रम –किसी पर्यावरणीय दशा में वनस्पति का एक समुदाय का दूसरे समुदाय द्वारा किया जाने वाला विस्थापन।

9.चरम वनस्पति –वनस्पति समुदाय के विकास की अन्तिम सोपान है, इसे चरम जलवायु भी कहते हैं।

10.प्रजाति –जन्तु एवं पादप समुदाय के सोपानी क्रम में सबसे पहले वाले सोपान को, जिसकी समान विशेषता होती है, ऐसे वर्ग को प्रजाति के नाम से जानते हैं।

13.1.1 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.सिंह, सविन्द्र (2016) – पर्यावरण भूगोल का स्वरूप, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

2.सिंह, सविन्द्र (2016) – जैव भूगोल, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

3.शर्मा, मनोज (2010) पर्यावरण भूगोल, इशिका पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, राजस्थान।

4.कुदेसिया, वी०पी० (1980) – वाटर पोल्यूशन, प्रगति प्रकाशन, मेरठ।

5.सिंह, जगदीश (2001) – पर्यावरण एवं संविकास, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर।

6.चाँदना, आर०सी० (2004) – पर्यावरण : समस्या और समाधान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।

7.श्रीवास्तव, गोपीनाथ (2001) – पर्यावरण प्रदूषण, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली।

8.वाल्दिया, के०सी० (1987) – इन्वायरमेण्टल जियोलॉजी : इण्डियन कांटेक्स्ट, टाटा मैकग्राहित पब्लिशिंग कम्पनी, लिमिटेड, न्यु देहली।

9.सिंह, डी०एन० एण्ड सिंह जे० (1988) – ऑवर अर्थ एण्ड इन्वायरमेंट, इन्वायरमेण्ट एण्ड डेवलमेंट स्टडी सेण्टर, वाराणसी।

13.1.2 बोध प्रश्न के उत्तर –

1.ग, 2. घ, 3. ख, 4. क, 5. ग, 6. ख।

13.1.3 अभ्यासार्थ प्रश्न –

1.जैविक अनुक्रम क्या है?

2.वनस्पति अनुक्रम क्या है?

3.चरम वनस्पति, चरम जलवायु की व्याख्या कीजिए।

4.वनस्पतियों के उद्भव एवं विकास का विशद् वर्णन कीजिए।

5.जन्तुओं के उद्भव व विकास का विशद् वर्णन कीजिए।

6.द्वितीयक अनुक्रम क्या है?

7.प्राथमिक अनुक्रम की प्रमुख अवस्थाओं की व्याख्या कीजिए।

8.मेसोजोइन युगीन वनस्पति के विकास की व्याख्या कीजिए।

9. जन्तुओं के उद्भव विकास को टर्शियरी युग में रेंखांकित कीजिए।

इकाई 14– विश्व के जन्तु भौगोलिक प्रदेश

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 जीव भौगोलिक प्रदेश तात्पर्य एवं अवधारणा

14.3 पौधों का वितरण

14.3.1 प्रमुख वनस्पति प्रदेश

14.3.2 आस्ट्रेलियन वनस्पति प्रदेश

14.3.3 केप वनस्पति प्रदेश

14.3.4 अण्टार्कटिक वनस्पति प्रदेश

14.3.5 पुराउष्णकटिबन्धी प्रदेश

14.3.6 नवअयनवर्ती वनस्पति प्रदेश

14.3.7 उत्तरी वनस्पति प्रदेश

14.4 सागरीय पौधों का वितरण

14.5 जन्तुओं का विश्व वितरण

14.6 जन्तु वितरण को प्रभावित करने वाले कारक

14.6.1 भौतिक कारक

14.6.2 जीवीय कारक

14.7 स्थलीय जन्तुओं का वितरण

14.8 जन्तु भौगोलिक प्रदेश

14.8.1 पुराआर्कटिक प्रदेश

14.8.2 नूतन आर्कटिक प्रदेश

14.8.3 प्राच्य प्रदेश

14.8.4 इथियोपियन प्रदेश

14.8.5 आस्ट्रेलियन प्रदेश

14.8.6 नवायनवर्ती प्रदेश

14.9 सागरीय जन्तुओं का विश्व वितरण

14.10 सारांश

14.1 बोध प्रश्न

14.2 शब्दावली

14.3 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.4 बोध प्रश्न के उत्तर

14.0 प्रस्तावना –

जीव भौगोलिक प्रदेश में विश्व के धरातलीय, जलीय पौधों, जन्तुओं का विश्व वितरण प्रदर्शित किया गया है। इस विश्व वितरण को प्रभावित करने वाले भौतिक कारक, जैसे– तापमान, आर्द्रता, सूर्य का प्रकाश, जल की गुणवत्ता, खनिजों की स्थिति, विभिन्न भौगोलिक आकृतियाँ, प्राकृतिक भू–दृश्य का प्रभाव पड़ता है। जैविक कारक के अन्तर्गत जीव–जन्तुओं की संख्या, जीव–जन्तुओं, पेड़–पौधें की आपसी क्रिया–प्रतिक्रिया, पारस्परिक प्रक्रिया, उनकी प्रकृति जीव भौगोलिक प्रदेश में अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है।

14.1– उद्देश्य –

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जीव भौगोलिक प्रदेश का अर्थ एवं अवधारणा स्पष्ट कर सकेंगे।
- पादप प्रदेश, जन्तु प्रदेश, की व्याख्या कर सकेंगे।
- सागरीय जन्तुओं का वितरण कैसे, कहाँ है, की व्याख्या में सक्षम होंगे।
- पौधों एवं जन्तुओं के प्रदेश के निर्धारण में भौतिक और जैविक कारकों की भूमिका समझ सकेंगे।

14.2 जीव भौगोलिक प्रदेश : तात्पर्य एवं अवधारणा –

(Biogeographical Regions : Meaning and Concepts) -

इसका सामान्य अर्थ महाद्वीपीय स्तर पर पौधों एवं जन्तुओं के वितरण का प्रादेशिक प्रतिरूप है। भौगोलिक प्रदेशों की पहचान, अभिनिर्धारण तथा उनका विश्व मानचित्र पर प्रदर्शन पौधे एवं जीव जन्तुओं की उभयनिष्ठ (Common) विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। जीव भौगोलिक प्रदेशों के अन्तर्गत विश्व के पौधे एवं जन्तुओं

के संदर्भ में अलग–अलग अध्ययन किया जाता है। वनस्पति प्रदेश तथा जन्तु प्रदेश में पौधे एवं जन्तुओं में अत्याधिक अन्तर होने के कारण अलग–अलग अध्ययन किया जाता है।

जीव भोगौलिक प्रदेशों को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जाता है–

1. वनस्पति प्रदेश (Floral regions),

2. जन्तु प्रदेश (Faunal regions)।

सन् 1879 में सर्वप्रथम जर्मन वनस्पतिशास्त्री एडोल्फ एंग्लर ने विश्व के वनस्पति प्रदेशों का निर्धारण किया। इन्होंने विश्व की वनस्पतियों को चार वनस्पति प्रदेशों में विभक्त किया है। इन्होंने अपने द्वारा प्रस्तुत विश्व वनस्पति प्रदेशों का निर्धारण वनस्पतियों के विकासशील इतिहास एवं प्रमुख विशेषताओं के आधार पर किया तथा उन्हें सर्वप्रथम विश्व मानचित्र पर प्रदर्शित करने का प्रयास भी किया। विश्व की वनस्पतियों के वितरण का यह प्रथम मानचित्र था। विद्वान ऐंग्लर ने निम्न चार वनस्पति परिमण्डलों (Floral regions) का निर्धारित किया।

1. उत्तरी वाह्यउष्णकटिबन्धीय वनस्पति परिमण्डल –यूरोपउत्तरी अमेरिका एवं एशिया के गैर उष्णकटिबन्धीय प्रदेश (extratropical regions) इसके अन्तर्गत सम्मिलित है।

2. पुराउष्णकटिबन्धीय वनस्पति परिमण्डल –इसमेंमानसूनी एशिया, अफ्रीका तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया के तटीय क्षेत्र को इन मण्डल के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया था।

3. दक्षिणी अमेरिकी वनस्पति परिमण्डल – इसके अन्तर्गत अर्जेण्टाइना, ब्राजील, परागवे, युरुग्वे शामिल है।

4. प्राचीन महासागरीय वनस्पति मण्डल –इसमें अफ्रीका का दक्षिणी क्षेत्र, चिली के तटीय क्षेत्र, दक्षिणी अटलान्टिक एवं हिन्द महासागर के द्वीपों तथा आस्ट्रेलिया के अधिकांश भागों एवं न्यूजीलैंड को सम्मिलित है।

ऐंग्लर द्वारा प्रस्तुत किए गए विश्व वनस्पतियों का प्रादेशिक विभाजन बिना किसी संशोधन के लम्बे समय तक मान्य रहा। आगे चलकर आर० गुड (1947) तथा ए०

तक्ख्तीजान (1986) ने विश्व वनस्पति प्रदेशों की योजना प्रस्तुत की तथा 6 वनस्पति प्रदेशों का निर्धारण वनस्पति जगत (Floral Kingdam) के रूप में किया।

1. केप वनस्पति जगत

2. नवायनवर्ती वनस्पति जगत

3. पुराउष्णकटिबन्धीय वनस्पति जगत

4. होलार्कटिंक वनस्पति जगत

5. ऑस्ट्रेलियन वनस्पति जगत

6. अण्टार्कटिक वनस्पति जगत।

डब्लू० स्विसन (1844) तथा जे० प्रिचर्ड (1826) ने जन्तु प्रदेशों के विभाजन का प्रयास किया तथा विश्व को 6 प्रमुख भौगोलिक प्रदेशों में बाँटा तथा जन्तु प्रदेशों का नामकरण महाद्वीपों के नाम पर किया।

प्रमुख प्रदेशों का नामकरण निम्न प्रकार से है –

1. ऑस्ट्रेलियाई जन्तु प्रदेश।

2. उत्तरी अमेरिकी जन्तु प्रदेश

3. यूरोपीय जन्तु प्रदेश

4. एशियाई जन्तु प्रदेश

5. दक्षिण अमेरिकी जन्तु प्रदेश

6. अफ्रीकी जन्तु प्रदेश

फिलिप स्कलेटर (1858) तथा अल्फ्रेड रसेल वैलास (1876) ने विश्व के जन्तुओं को छः जन्तु भौगोलिक प्रदेशों में बाँटा है –

1. नवायनवर्ती जन्तु प्रदेश

2. पुराआर्कटिक जन्तु प्रदेश

3. नवआर्कटिक जन्तु प्रदेश

4. प्राच्य जन्तु प्रदेश

5. अफ्रीकी (इथोपियन) जन्तु प्रदेश

6. ऑस्ट्रेलियन जन्तु प्रदेश

14.3 पौधों का वितरण –

धरातल पर वनस्पतियों के वितरण में काफी असमानताएं पाई जाती हैं। विषुवत्रेखा से लेकर ध्रुवों तक, सागर जल तल से उच्च पर्वतों के शिखर तक वनस्पतियों के वितरण में मण्डलीय प्रतिरूप पाया जाता है। पौधों के वितरण पर जलवायु कारकों (तापमान, सूर्यातप, पवन, आर्द्रता, मृदा की नमी आदि), मृदा सम्बन्धी कारक (मृदा के तत्वों की स्थिति, मृदा गठन, मृदा संरचना उसकी पीएच मान, अम्लता तथा क्षारीय गुण ह्यूमस, नाइट्रोजन की उपलब्धता आदि) : जैविक कारक, (आवास विशेष में जीवित जीवों, प्राणी, मानव का प्रभाव तथा पादप एवं प्राणियों में आपसी अन्तर्सबन्ध, प्राकृतिक चयन, प्रतिस्पर्धा, परस्पर सहयोगवाद, सहभागिता, परजीविता आदि); भौतिक कारक (उच्चावच्च, ढालकोण तथा ढाल पहलू धरातलीय संरचना आदि); भू–गतिक कारक (महाद्वीपीय संकुचन एवं विस्थापन तथा प्रवाह, प्लेट टेक्टानिक); अग्नि कारक– मानव द्वारा सोद्देश्य वनों को जलाना, मानव द्वारा अज्ञानतावश आग लगाना तथा प्राकृतिक वनाग्नि पौधों का विसरण तथा प्रकीर्णन एवं मनुष्य द्वारा हस्तक्षेप आदि का अधिक प्रभाव है।

विश्व में पौधों के वितरण का अध्ययन निम्नवत् किया जाता है, जैसे–

1. आवासों के आधार पर

2. वानस्पतिक विभाजन के आधार पर;

3. अक्षांशीय विस्तार एवं धरातल की ऊँचाई के अनुसार;

4. पादप समुदाय की विशेषताओं के अनुसार।

14.3.1 प्रमुख वनस्पति प्रदेश –

(Majar Floral Regions - Kingdom)

जीवमण्डल में वनस्पतियों का अध्ययन दो प्रकार से किया जाता है –

1. पौधों की किसी प्रजाति का विश्व स्तरीय वितरण के अन्तर्गत पौधों के वितरण प्रतिरूपों का अध्ययन जलवायु की विभिन्नताओं के अनुसार किया जाता है।

2. वनस्पतियों का अध्ययन पारिस्थितिकी तन्त्र के सम्बन्ध में किया जाता है, जिसके अन्तर्गत एक समान पर्यावरण वाले विभिन्न आवासों में पौधों की समस्त प्रजातियों का एक साथ सामूहिक अध्ययन होता है।

पर्यावरण भूगोल में वनस्पतियों के वितरण का अध्ययन भौगोलिक प्रदेशों एवं जलवायु प्रदेशों के संदर्भ में किया जाता है। क्रीटैसियस काल में पुष्पी पौधों का विकास तथा धरातल के विभिन्न भागों में फैलाव होने के कारण अनेक समूहों की उत्पत्ति हुई है। इस तरह के खास प्रकार के आवासों में वानस्पतिक समूहों के सम्पूर्ण वृहद रूपों को वनस्पति जगत कहा जाता हैं। प्रत्येक वनस्पति जगत में क्षेत्रीय, प्रादेशिक, कालिक विभिन्नताएं पाई जाती हैं, अतः प्रत्येक वनस्पति जगत को लघु क्षेत्रीय वनस्पतीय प्रान्तों या वनस्पति प्रदेशों में बाँटा जाता है। प्रत्येक वनस्पति प्रदेश में विभिन्न वृक्ष, झाड़ी, घास आदि के सम्मिलित रूप को वनस्पति प्रदेश के नाम से जानते हैं, जिसका अध्ययन वनस्पति प्रदेश के सन्दर्भ में किया जाता है। किसी भी पारिस्थितिक तंत्र में या पर्यावरण में या आवास में पौधों एवं जन्तुओं के सम्मिलित रूप को बायोम कहते हैं। वर्तमान भूमण्डल के वानस्पतिक प्रदेशों का विकास मुख्य रूप से टर्शियरी युग में हुआ, परन्तु चतुर्थक युग में हुए जलवायु परिवर्तन के कारण इन वनस्पति प्रदेशों में भी काफी परिवर्तन एवं परिमार्जन हुए। पौधों की अनेक प्रजातियों का ही विश्वव्यापी वितरण सम्भव हुआ है, शेष प्रजातियाँ

कुछ निश्चित क्षेत्रों तक ही सीमित रही हैं। प्रजातियों के व्यापक वितरण के आधार पर विश्व को छह प्रमुख वनस्पति जगत में विभाजित किया जाता है।

14.3.2 ऑस्ट्रेलियन वनस्पति प्रदेश,

14.3.3. केप वनस्पति प्रदेश,

14.3.4 अंटार्कटिका वनस्पति प्रदेश,

14.3.5. पुरा उष्णकटिबंधीय वनस्पति प्रदेश,

14.3.6 नवायनवर्ती वनस्पति प्रदेश,

14.3.7 उत्तरी वनस्पति प्रदेश,

14.4 सागरीय पौधों का वितरण –

पौधों के आवासों (habitats) को निम्न दो भागों में बाँटा जाता है।

1. स्थलीय आवास

2. जलीय आवास

जलीय आवास के दो उपवर्ग है–

1. सागरीय आवास

2. ताजा जलीय आवास

सागरीय आवास को पुनः दो भागों में बाँटा जाता है –

1. पेलैजिक आवास – जिसमें सागर तथा महासागर के तली को सम्मिलित किया गया है।

2. नितलस्थ आवास –जिसमें सागर एवं महासागरीय की तली को ही सम्मिलित किया जाता है। सागरीय भागों में पौधों की प्रजातियाँ स्थलीय पौधों की प्रजातियों की तुलना में बहुत कम हैं। सागरीय पादप का जन्म अत्यन्त सूक्ष्म फाइटोप्लैंकटन तथा शैवाल (algae)

से माना जाता है। सागर के जल में तापमान में प्रायः समानता पायी जाती है, सागरीय गतियों के कारण पौधों में स्वतन्त्र मिश्रण होता रहता है। सागरीय पौधों में तली में रहने वाले तथा जल में तैरने वाले पौधों में ही सर्वाधिक विषमता रहती है। सागरीय पौधों क्षेत्रीय विषमता पायी जाती है, सागरीय पौधों को तापमान के आधार पर दो भागों में रखा गया है –

1. गर्म जल वाले पौधे
2. शीतल जल वाले पौधे।

सागरीय पौधों की सर्वाधिक प्रजातियाँ तथा वंश उष्णकटिबन्धीय गर्म जल के अन्तर्गत पाया जाता हैं। इसके चार उपभाग हैं –

1. अटलाण्टिक अयनवर्ती भाग,
2. हिन्द महासागरीय अयनवर्ती भाग,
3. पश्चिमी तथा
4. पूर्वी प्रशान्त महासागरीय अयनवर्ती भाग

हिन्द, व पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय मण्डल के जलमग्न तटीय भागों में पौधों के सबसे अधिक प्रकार पाये जाते है।

1.5 जन्तुओं का विश्व वितरण –

जीवमण्डल में जन्तुओं के वितरण का अध्ययन कई प्रकार से किया जाता है। जैसे–क्षेत्र विशेष में किसी खास प्रजाति के सभी सदस्यों का स्थानिक वितरण प्रतिरूप। इस दृष्टिकोण से विश्व को प्राणिप्रजाति के प्रभुत्व के आधार पर अनेक क्षेत्रों में विभाजित किया गया है।

14.6 जन्तु वितरण को प्रभावित करने वाले कारक –

धरातल पर जन्तुओं के विश्व वितरण का निरपेक्ष वर्णन करना अत्याधिक कठिन है। जन्तुओं की गतिशीलता के कारण भी किसी जन्तु के क्षेत्र निर्धारण कार्य अत्याधिक जटिल है। जैसे– आर्कटिक टर्न (टिटिहरी) को देखा जाय तो इनका मौसमी प्रवास अत्यधिक विस्तृत है कि समस्त विश्व में इनका किसी न किसी रूप में वितरण अवश्य देखा जाता है। यद्यपि किसी भी प्रजाति का सार्वत्रिक वितरण नहीं पाया जाता है फिर भी कुछ ऐसे जन्तु अवश्य होते है, जो विश्व के अनेक पर्यावरणीय दशाओं में पाये जाते है। जैसे साइप्रिनिड फिश का परिवार, जिसमें कार्प्स एवं तालाब में पायी जाने वाली अनेक मछिलियाँ प्रमुख हैं। इस प्रकार एक प्रजाति किसी खास क्षेत्र में पायी जा सकती है, किन्तु एक वंश कई प्राणि प्रदेशों में पाया जाता है तथा एक परिवार कई महाद्वीप, देश, प्रदेश में विस्तृत हो सकते है। जन्तुओं का वितरण उनकी गतिशीलता के गुण के कारण सदैव परिवर्तित हो जाता है। जन्तुओं के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित है।

1. भैतिक कारक

2. जैविक कारक।

14.6.1. भैतिक कारक – प्रत्येक जन्तु एक सुनिश्चित भौतिक पर्यावरण में रह सकते है, इसका मुख्य कारण यह है कि सभी जीवित जन्तु और मनुष्य एक निश्चित प्रकार के वातावरण में रहते है। भौतिक कारक के अन्तर्गत तापमान, आर्द्रता, जल, सौर्यिक प्रकाश, सौर्यिक विकिरण, दाब, गुरुत्व, ध्वनि, जल की अम्लता, क्षारीयता, लवणता आदि शामिल है, भौतिक स्थालाकृतियों में थल, पर्वत तथा रेगिस्तान आदि सम्मिलित है। जलवायु भी जन्तु एवं मनुष्यों के वितरण को प्रभावित करती है।

14.6.2. जीवीय कारक –

जैविक कारको के अन्तर्गत जन्तु जगत के पर्यावरणीय पारिस्थितिकीय पहलू को शामिल किया गया है, जन्तुओं तथा उनके भौतिक पर्यावरण के बीच पारस्परिक क्रिया होती है। जन्तु पारिस्थितिकीय पहलू के अन्तर्गत जन्तुओं की संख्या का बाहुल्य, उनकी

जनसंख्या आकार का नियमन तथा जीवों में तथा पर्यावरण के बीच पारस्परिक क्रियाऐं आदि मुख्य है जो किसी भी क्षेत्र के जन्तुओं को प्रभावित करता है।

किसी क्षेत्र में किसी प्रजाति के जन्तुओं की बहुलता या प्रचुरता उनके घनत्व, जन्मदर तथा मृत्युदर, सामूहिक संचरण द्वारा प्रभावित तथा निर्धारित होती है। जैसे– प्रवासी टिड्डी में प्रायः अकेले रहने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु जब उनके हार्मोन में परिवर्तन होता है तब वह एक दूसरे की ओर आर्कषित होकर एक बड़े दल के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, ये जिस स्थान पर पहुँचती हैं, वहाँ इसे प्रवासी दल कहते है। इनका समूह जब उड़ता हुआ चलता है तो पूरे आकाश में कुछ और दिखाई नहीं देता है।

उत्तरी भारत में जून, जुलाई और अगस्त के महीनों में इस तरह का टिड्डी दल कभी–कभी आते हैं। इनमें प्रजनन दर इतनी अधिक होती है कि एक जोड़े टिड्डी चौबीस घण्टे में हजारों बच्चे उत्पन्न कर सकते हैं। इसी तरह दीमक तथा मधुमक्खियों की संख्या में अचानक बढ़ोत्तरी हो जाती है।

कुछ जन्तुओं में सामाजिक संगठन की प्रवृत्ति हो जाती है जिस कारण उनकी संख्या बढ़ जाती है। जन्तुअें की जनसंख्या एवं आहार शृंखला में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी भी क्षेत्र या आवास शाकाहारी जन्तुओं की सर्वाधिक संख्या पायी जाती है, जो पोषण स्तर दो के सदस्य हैं। ये प्राथमिक उत्पादकों से सभी प्रकार के पौधे भोजन प्राप्त करते है।

जन्तुओं की अधिकता तथा वितरण उनके विशिष्ट व्यवहार पर निर्भर करता है। कुछ ऐसे जन्तु भी होते हैं, (छछूँदर) जिनमें प्रजनन दर सर्वाधिक होता है परन्तु वह प्रजनन स्थान पर लौट कर नहीं आते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे जन्तु भी होते है, जिनमें प्रजननदर निम्न होता है (जैसे–रैकून, अमरिकी रीछ) ये अपने ही स्थान पर रहते है, जिससे इनका प्रसरण कम होता है।

किसी भी क्षेत्र में जन्तुओं का घनत्व वहाँ के क्षेत्रफल एवं उनके जन्मदर, मृत्युदर, आप्रवास, उत्प्रवास, विसरण पर निर्भर करता है। आप्रवास (किसी क्षेत्र से जन्तुओं

का क्षेत्रविशेष में आना), उत्प्रवास (किसी क्षेत्र से जन्तुओं का दूसरे क्षेत्रों में प्रवास) से अधिक है तथा विसरण न्यून है तो क्षेत्र विशेष में जन्तुओं की जनसंख्या घनत्व अधिक हो जाता है।

माल्थस के मानव जनसंख्या के सिद्धांत (यदि किसी देश या प्रदेश में जनसंख्या एक निश्चित सीमा से अधिक हो जाती है, तो प्राकृतिक प्रकोप से उसका हास हो जाता है तथा उसका नियमन होता है) के समान ही जन्तु संख्या का नियमन होता है जब वह आदर्श सीमा से अधिक हो जाती है, प्राकृतिक रूप में सन्तुलित हो जाती है। जनसंख्या का यह स्वतः नियमन अनेक कारणों से होता है। जैसे– जीवों में उत्पादकता, जन्म में ह्रास, प्रवास, जनसंख्या में वृद्धि, आहार की कमी, मृत्यु दर में वृद्धि आदि कारको तथा प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित एवं नियन्त्रित होता है।

किसी भी आवास में एक ही प्रजाति के जन्तुओं में पारस्परिक क्रिया होती है, इसे अन्तर्जातीय पारस्परिक क्रिया कहते हैं जब विभिन्न प्रजातियों में आपसी क्रया होती है, तो जात्यन्तर पारस्परिक क्रिया कहते हैं। इनके द्वारा या तो जन्तुओं की जनसंख्या अत्यधिक हो जाती है या अत्यधिक कम हो जाती है। यह पारस्परिक क्रिया धनात्मक एवं ऋणात्मक हो सकती है। ऋणात्मक पारस्परिक क्रिया का सर्वोतम उदाहरण परभक्षण है।

14.7 स्थलीय जन्तुओं का वितरण –

विश्वस्तर पर जन्तुओं की संख्या पर दृष्टि डाली जॉय तो समस्त जीवमण्डल एक इकाई के समान प्रतीत होता है, जिसे वृहत्तम जन्तु समुदाय कहा जा सकता है। इन्हें पुनः दो जन्तु भौगोलिक प्रदेशों में बाँटा जाता है।

1– स्थलीय जन्तुमण्डल

2– जलीय जन्तुमण्डल

स्थलीय जन्तुओं के आधार पर विश्व को पुनः दो उपप्रदेशों प्रदेशों में बाँटा जाता है। जन्तु प्रदेशों का अर्थ यह नहीं है कि खास प्रदेश में किसी खास प्रजाति या परिवार के सभी जन्तुओं का समान वितरण हो तथा ये जन्तु किसी एक प्रदेश में ही पाये जायें।

वास्तव में जन्तु के प्रत्येक चरण, जैसे–प्रवास, प्रजाति उद्‌भवन, विसरण, विलोपन साथ–साथ होता है। जन्तुओं का विश्ववितरण अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त विश्व में जन्तुओं के कुछ निश्चित मण्डल या पेटियां अवश्य होती हैं, जिनमें जन्तुओं में अनेक विशेषताऐ होती है। इनके आधार पर विभिन्न जन्तु प्रदेशों बनाये जाते हैं। जन्तुओं के विश्व वितरण प्रतिरूप के अध्ययन में निम्न तथ्यों पर ध्यान दिया जाता है।

1. भौतिक पर्यावरण दशायें, जन्तुओं की संख्या, घनत्व, वृद्धि विकास, प्रचुरता, विविधता आदि को निर्धारित करती हैं।

2. जन्तुओं के वितरण में मण्डलीय प्रतिरूप पाया जाता है। यह प्रतिरूप क्षैतिज तथा लम्बवत दोनों रूपों में होता है। क्षैतिज मडलीय प्रतिरूप में अक्षांशों का नियन्त्रण अधिक होता है। प्रजातियों की विविधता भू–मध्य रेखा से ध्रुवों की ओर कम होती जाती है। मध्य एवं उच्च अक्षांशों में मंडलीय विकास प्रमुख रूप से जन्तुओं के प्रवास तथा प्रजाति के उद्‌भवन से सम्भव हुआ है। शीतोष्ण कटिबन्धीय जन्तुओं का विकास मूलतः उष्ण कटिबन्धीय जन्तुओं के प्रवास के कारण हुआ है।

3. जन्तुओं की उत्पत्ति केन्द्र से चारों दिशाओं में प्रसार हुआ है। अतः परिणामस्वरूप जन्तुओं का वितरण सकेन्द्रीय पेटियों के रूप में पाया जाता है।

4. किसी भी क्षेत्र में जन्तुओं में अन्तर, उनका विसरण मूल रूप से पर्यावरणय घटकों के परिणामस्वरूप हुआ।

5. जन्तुओं का सकेन्द्रण स्तनधारी जन्तुओं के द्वारा ही सम्भव हुआ है।

6. कुछ जन्तुओं का वितरण बिखरे रूप में तथा कुछ जन्तुओं का सम्बद्ध रूप में पाया जाता है। मूज का वितरण यूरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका के टैंगा प्रदेश में लगातार एक पेटी के रूप में पाया जाता है जबकि वेदर फिश का वितरण बिखरे रूप में पाया जाता है।

7. द्वीपों पर विशेष प्रकार के कुछ जन्तु पाये जाते हैं, विस्तृत सागरीय अवरोध के कारण द्वीपों पर जन्तुओं तथा पाधों का अत्यन्त कम विसरण हुआ है। हवाई द्वीप

में जल भूमिया रेप्टाइल्स जन्तु ताजा जल की मछलियाँ तथा स्तनधारी जन्तु पूर्णतया उपस्थित नहीं है।

14.8 जन्तु भौगोलिक प्रदेश –

ए०आर० वैलास ने सन् 1876 में विश्व को जन्तु प्रदेशों में सर्वप्रथम बाँटा है। इसके बाद पी०जे० डार्लिगटन ने 1957, एस०सी० केण्डेट ने 1961, डब्लू जार्ज ने 1962, डी० लेटिन ने 1967, नेल तथा उदावर्दी ने 1969 तथा जे० इलीस ने 1974 में विश्व को जन्तु प्रदेशों में बाँटने का प्रयास किया है, परन्तु वैलास का विभाजन आज भी अधिक मान्य है। वैलास ने जन्तु प्रदेशों को निम्नलिखित 6 भागों में बाँटा है।

1. पुराआर्कटिक जन्तु प्रदेश
2. नूतन आर्कटिक जन्तु प्रदेश
3. प्राच्य जन्तु प्रदेश
4. इथियोपियन जन्तु प्रदेश
5. आस्ट्रेलियन जन्तु प्रदेश
6. नवायनवर्ती जन्तु प्रदेश

14.8.1. पुराआर्कटिक प्रदेश –

इसके अन्तर्गत मध्य एवं उत्तरी एशिया तथा यूरोप को रखते हैं। इस प्रदेश में 28 रीढ़ वाले परिवार शामिल है। इस प्रदेश में प्रमुख जन्तुओं में रूसी कस्तूरी बिज्जू, यूरेशिया का डारमिस, भूमध्य सागरीय क्षेत्र का सैगा, मोलरैट, तथा चिरू एण्टीलोप, घड़ियाल, असेण्टर, लिजर्ड आदि मुख्य है। इस प्रदेश में रेप्टाइल्स की संख्या कम पायी जाती है। वनस्पति के अनुसार इस प्रदेश को पुनः पाँच उपप्रदेश में बाँटते है।

1. **मरू प्रदेश** –चूहा,लिजर्ड, सॉप, हैपस्टर, हेजहाग, काटनटेल, जेब्रा आदि प्रमुख है।

2. **टुण्ड्रा प्रदेश** – इसमें भालू कैरिबू, लेमिंग, मस्क आक्स, भेड़िया, आर्कटिक खरगोश, आर्कटिक लोमड़ी आदि जन्तु मिलते है।

3. **कोणधारी वन प्रदेश** –हिरन, मूज म्यूल, लिक्स, प्रमुख जन्तु है।

4. **शीतोष्ण कटिबन्धी घास प्रदेश** –जैकाल,सैगा, जंगलीगधा, घोड़ा, ऊँट, हैमस्टर, आदि मुख्य है।

5. **पतझड़ वन प्रदेश** –काला हिरन,रैकून, ओपोसम, लाललोमड़, आदि प्रमुख जन्तु हैं।

इस अन्तु प्रदेश में समस्त रीढ़ वाले जन्तुओं में 136 परिवार, स्तनधारी प्राणियों के 100 वंश, पक्षियों के 174 वंशों को शामिल किया गया है। इसके अलावा सम्पूर्ण रीढ़वाले तीन विचित्र परिवार, स्तनधारी के 35 विचित्र वंश तथा पक्षियों के 57 विचित्र वंश को शामिल किया गया है।

14.8.2. नूतन आर्कटिक प्रदेश–

इस प्रदेश के अन्तर्गत उत्तरी अमेरिका तथा ग्रीन लैण्ड स्थल भाग शामिल हैं, नूतन आर्कटिक प्रदेश में अधिक समानता पायी जाती है। टीशयरी तथा प्लीस्टोसीन युग में ये दोनों प्रदेश बेरिंग जलड़मरूमध्य के स्थलसेतु द्वारा आपस में जुड़े थे जिस कारण दोनों क्षेत्रों से जन्तुओं का सरलतापूर्वक फैलाव हुआ। परिणामस्वरूप दोनों जातियों का मिश्रण हुआ। अमेरिकी व यूरोपीय बायसन (भैंसा) लैगिक सम्पर्क द्वारा सन्तान उत्पन्न करते हैं। दोनों प्रदेशों में सालमन तथा ट्राउट नामक प्रजाति पायी जाती है। कुछ विद्वानों ने इन दोनों प्रदेशों को उत्तर ध्रुवीय प्रदेश के रूप में एक ही प्रदेश माना हैं किन्तु प्रारम्भ में नूतन आर्कटिक प्रदेश में भेड़ें, घोड़ा, सुअर, तथा बकरी नहीं थे। ये उत्तरी–पूर्वी एशिया से बेरिंग जलडमरूमध्य से होकर इस प्रदेश में प्रवेश किये। इस प्रदेश में विशेष प्रकार के जन्तु देखे जाते है, जैसे वाइल्डटर्की, पाकेट गोफर, पाकेट माइस, प्रांगहार्न, आदि। इसमें सर्वाधिक संख्या रेप्टाइल्स की देखी जाती है। इस क्षेत्र में रीढ़वाले 122 परिवार पाये जाते है। जिनमें 12 परिवार अनोखे किस्म के है। स्तनधारियों के 74 वंश तथा पक्षियों के 169 वंश पाये जाते है। इस प्रदेश के पाँच उपभाग किये जा सकते हैं।

1. **मरू प्रदेश** –चूहा,लिजर्ड, सॉप, कंगारू, जेब्रा, हैमस्टर हेजहाग, काटनटेल प्रमुख जन्तु है।

2. **टुण्ड्रा प्रदेश** – ध्रुवीय भालू, कैरीबू, मस्कअस्क, लेमिंग, आर्कटिक खरगोश, भेडिया, आर्कटिक लोमडी आदि सम्मिलित है।

3. **शीतोष्ण कटिबन्धीय कोणधारी वन प्रदेश** –हिरन,मूज, खच्चर, उल्भराइन, लिंक्स आदि प्रमुख जन्तु है।

4. **शीतोष्ण कटिबन्धीय घास प्रदेश** –लोमड़ी,भैंसा, प्रांगहार्न, प्रेयरी कुत्ता, गोफर, क्वायोट आदि मुख्य है।

5. **पतझड़ वन प्रदेश** –रैकून, ओपोसन, लाललोमड़ कालोहिर आदि मुख्य है।

14.8.3– प्राच्य प्रदेश –

इस प्रदेश के अन्तर्गत मुख्य रूप से दक्षिण–पूर्वी एशिया तथा दक्षिण एशिया शामिल हैं। हिमालय, तिब्बत का पठार, चीन के पर्वतीय भाग प्राच्य प्रदेश एवं पुरा आर्कटिक प्रदेश के मध्य संक्रमण पेटी का निर्माण करते हैं। पूर्वी द्वीप समूह आवान्तर मण्डल इस प्रदेश तथा आस्ट्रेलियाई प्रदेश के मध्य पाया जाता है। ये सभी प्रदेश उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश के अन्तर्गत आते है। इसका सम्बन्ध इथिओपियन प्रदेश से है। सभी प्रकार के रीढ़ वाले जन्तुओं के 164 परिवार, स्तनधारी प्राणियों के 118 वंश तथा पक्षियों के 340 वंश पाये जाते है। भारतीय चीता, हाथी, गैण्डा, हिरन की कई प्रजातियाँ, एण्टीलोप, फीजैण्ट, छिपकली, सॉप, गिब्बन, बन्दर, सनबियर, पोरकूपाइन मुख्य है।

14.8.4. इथियोपियन प्रदेश – इथोपियन प्रदेश के अन्तर्गत सुदूर तथा सहारा के दक्षिण का समस्त अफ्रीकी, दक्षिण–पूर्वी अरेबिया भाग सम्मिलित है। यह प्रदेश उष्णकटिबन्धीय है। इस प्रदेश में अन्य प्रदेशों की तुलना में जन्तुओं में अपेक्षाकृत सबसे अधिक विभिन्नता देखने को मिलती है। यहाँ पर पाये जाने सभी प्रकार के रीढ़ वाले जन्तुओं का 174 परिवार, स्तनधारी जन्तुओं के 140 वंश तथा पक्षियों के 294 वंश पाये जाते है। इस प्रदेश को पुनः तीन उपवर्ग में बाँटा जाता है।

1. **उष्ण कटिबन्धीय वन प्रदेश** –जंगली हाथी,ओकापी, गोरिल्ला, चिम्पैंजी, बन्दर आदि प्रमुख जन्तु पाये जाते है। इस प्रदेश में तथा प्राच्य प्रदेश में पाये जाने वाले कई जन्तुओं में समानता दिखाई पड़ती है। आस्ट्रिच हिप्पोपोटामस, आर्डवर्क तथा रोडेन्ट एवं कीटभक्षी की कुछ प्रमुख जातियाँ इथियोपियन, प्रदेश में पायी जाती है।

2. **मरू प्रदेश** – जेब्रा, स्प्रिंगवाक, पोरकूपाइन, एक हारेक्स आदि मुख्य जन्तु है।

3. **सवाना प्रदेश** –चीता,जेब्रा, जेमशाक, हार्टबीस्ट, ग्नू, जिराफ, हाथी, आस्ट्रिच, शेर, लकड़बग्धा, तेन्दुआ आदि मुख्य है।

14.8.5. आस्ट्रेलियन प्रदेश –

आस्ट्रेलियन प्रदेश के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया महाद्वीप दक्षिण पूर्वी एशिया तथा आस्ट्रेलिया मध्यवर्ती कुछ द्वीप जिनमें न्यूगाइना, सोलोमन, आदि सम्मिलित है। इस प्रदेश में गर्भ में बच्चों को आहार देने वाले जन्तुओं की संख्या कम पायी है। अपने उदर के वाह्य भाग में थैली धारण करके रहने वाले जन्तु पाये जाते है। इस प्रदेश में विशेष जन्तु मिलते है। इस प्रदेश में सभी प्रकार के रीढ़ वाले जन्तु 141 परिवार, स्तनधारी जन्तुओं की संख्या 72 तथा पक्षियों के 298 वंश पाये जाते है। आस्ट्रेलियन प्रदेश को पुनः तीन भागों में बाँटा जाता है।

1. **उष्ण कटिबन्धीय वन प्रदेश** –कैसोबरी,ट्रीसाप एवं मस्क कंगारू वलाबी, कोला, ओपोसम आदि प्रमुख जन्तु है।

2. **मरू प्रदेश** –लिजर्ड, मारसूपियल (कंगारू) मोल, पैराकीट, आदि जन्तु सम्मिलित है।

3. **सवाना प्रदेश** –तोता,ऐमू, लालकंगारू, बड़ीकूट, ओमबैट, कोकाटू, आदि प्रमुख है।

14.8.6. नव अयनवर्ती प्रदेश –

इसके अन्तर्गत दक्षिण अमेरिका शामिल हैं। यह एक उष्णकटिबन्धीय पर्यावरण क्षेत्र है। इस प्रदेश में स्तनधारी जन्तुओं का सबसे अधिक एकान्तिक परिवार पाये जाते है। मारसूपियल के 32 परिवार तथा बन्दरों पक्षियों तथा तीक्षणदन्ती जन्तुओं के अनेक कई विशिष्ट परिवार तथा वंश इसी क्षेत्र में सर्वाधिक मिलते है। इस प्रदेश में रीढ़ वाले जन्तुओं के 168 परिवार, स्तनधारी जन्तुओं के कुल 130 वंश तथा पक्षियों 683 वंश पाये जाते है। इसको पुनः 3 उपप्रदेशों में बाँटा जाता है।

1. **अयनवर्ती वन प्रदेश** –तोता,बन्दर, किकाजू, पिग्मी, पिग्मी आण्टईटर, स्लाथ, ट्रीसॉप, हामेंग पक्षी इसके अन्तर्गत आते है।

2. **शीतोष्ण कटिबन्धीय घासक्षेत्र** –लोमड़ी,ग्वानको रिया, विस्काचा, फैवी, शंक आदि जन्तु सम्मिलित है।

3. **मरु प्रदेश** –गिद्ध,ग्वानको, रियो, अर्माडिलो आदि जन्तु इसके अन्तर्गत आते है।

हवाई द्वीप, ग्रेटर एण्टलीस, मेडागास्कर तथा न्यूजीलैण्ड द्वीप में अनेक जीवजन्तुओं की प्रजातियां, वंश, परिवार शामिल हैं। न्यूजीलैण्ड में किवीस, टुटरा, मेढक,

ग्रेटर–एण्टलीस में सोलेनोडान्स तथा रोडेण्ट के हुटिया परिवार मेडागास्कर में टेन रेक्स, लेमूर, इण्डियाउ, सिकाकास, चूहा, वैंगा श्राइक्स, मुख्य है।

14.9. सागरीय जन्तुओं का वितरण –

स्थलीय तथा सागरीय जन्तओं के वितरण में पूर्णतया विभिन्नता पायी जाती है। स्थलों पर विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ, पेड़–पौधें की प्रजातियां होती है। इसके विपरीत सागरों में अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी फाईटोप्लैंकटन तथा अनेक प्रकार के शैवाल पाये जाते है। स्थलीय भागों के समान सारीय भागों में अवरोध नहीं पाये जाते है, इसीलिये सागर में जन्तु अधिक दूरी तक प्रवास करते है। तापमान में भिन्नता कम होती है, क्योंकि सागरों में क्षैतिज तथा लम्बवत गातियों के द्वारा तापमान का मिश्रण हो जाता है तथा तापमान को सम बनाने का प्रयास भी करती है। सागरीय जन्तुओं को उनके जीवन रूप के आधार पर भिन्न दो प्रमुख वर्गो में बाँटा जाता है।

1. तैरने वाले जन्तु
2. तलस्थ जन्तु

तापमान के भिन्नता के आधार पर इन जीवों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

1. ठण्डे जल के जन्तु,
2. गर्म जल के जन्तु

सागरीय जल के तापमान में भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक जो अन्तर पाया जाता है, वह सामान्यतया सागर जल के ऊपरी भाग तक ही सीमित होता है, क्योंकि गहराई में तापमान में प्रायः समरूपता मिलती है। अयनवर्ती प्रदेश में सागरों के ऊपरी सतह में रहने वाले जन्तु अधिक संख्या में (ठण्डे प्रदेशों की तुलना में) मिलते है। अयनवर्ती भागों में सागरीय जन्तुओं का वितरण कटिबन्धीय या पेटी के रूप में पाया जाता है।

जन्तुओं में क्षेत्रीय विविधता के आधार पर अयनवर्ती सागरीय जन्तुओं को चार प्रमुख पेटियों में बाँटा गया है–

1. अटलांटिक मण्डल 2. हिन्द महासागरीय मण्डल 3. पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय मण्डल 4. पूर्व प्रशान्त महासागरीय मण्डल।

14.10 सारांश –

जीव भौगोलिक प्रदेश में जल, स्थल में पौधों, जन्तुओं के प्रादेशिक वितरण प्रतिरूप की व्याख्या की गयी है। इस अध्याय के अन्तर्गत विश्व में व्याप्त पौधों और जन्तुओं के सन्दर्भ में उनके भौतिक पर्यावरण के साथ तादात्म्य स्थापित करने से एक प्रादेशिक प्रतिरूप उभर कर आया है, जिसका वर्णन किया गया है। विद्वान स्विसन, प्रिचर्ड, स्कलेटर, अल्फ्रेड रसेल वैलास ने क्रमशः 6–6 जन्तु प्रदेश का निर्धारण किया है। वनस्पति के वितरण में आवास, अक्षांश, धरातल की ऊँचाई, वनस्पतियों की विशेषताओं को महत्व दिया गया है। इसी आधार पर वनस्पति प्रदेश का निर्धारण किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में सागरीय पौधों को पेलैजिक एवं नितलस्थ आवास के रूप में वर्गीकृत किया गया है और

जलवायु की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अटलाण्टिक हिन्द पश्चिमी–पूर्वी प्रशान्त महासागर के आधार पर सागरीय पौधों के वितरण की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। जन्तुओं के वितरण में भौतिक और जैविक कारकों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कुल छः जन्तु भौगोलिक प्रदेश की व्याख्या की गयी है। इसके अन्तर्गत पुराआर्कटिक प्रदेश, नूतनआर्कटिक प्रदेश, प्राच्य जन्तु प्रदेश, इथोपियन जन्तु प्रदेश, आस्ट्रेलियन जन्तु प्रदेश, नवअयनवर्ती जन्तु प्रदेश के अन्तर्गत विश्व के समस्त प्राणियों, उनके परिवार, वंशज, उनकी प्रजाति आदि का विशद् वर्णन किया गया है।

14.11 बोध प्रश्न –

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही विकल्प चुनिए –

1 आर० गुड तथा तख्तीजान ने विश्व वनस्पति प्रदेश को कितने वर्ग में बाँटा–

क. 3, ख. 4, ग. 5, घ. 6

2 वैलास ने विश्व को कितने जन्तु भौगोलिक प्रदेश में बाँटा –

क. 6, ख. 5, ग. 4, घ. 3

3 विश्व को जन्तु प्रदेश में विभाजित करने का पहला सफल प्रयास किसने किया–

क. डार्लिंगटन, ख. वैलास, ग. डब्ल्यु० जार्ज, घ. इनमें कोई नहीं।

4 कंगारू पाया जाता है –

क. यूरोप, ख. एशिया, ग. आस्ट्रेलिया, घ. सभी जगह।

5 सागरीय पौधों को सागरीय तापमान के आधार पर कितने वर्ग में विभक्त करते हैं–

क. 2, ख. 3, ग. 4, घ. उपरोक्त में कोई नहीं।

14.1.2 शब्दावली –

1 प्राच्य प्रदेश– दक्षिण–पूर्वी एशिया को कहते हैं।

2 नवायनवर्ती प्रदेश –इसके अन्तर्गत दक्षिणी अमेरिका को शामिल किया जाता है।

3 सर्वप्रवासी जन्तु –जो जन्तु भूमण्डल के सभी पर्यावरणीय दशाओं में अनुकूलन स्थापित कर लेते हैं।

4 वनस्पति परिमण्डल –समान विशेषता से युक्त पौधों के क्षेत्र को वनस्पति परिमण्डल कहते हैं।

5 जन्तु परिमण्डल –समान विशिष्टता वाले जन्तुओं का क्षेत्र जन्तु परिमण्डल कहलाता है।

6 अन्तर्जातीय पारस्परिक क्रिया –एक ही प्रजाति के एक ही आवासीय दशा में रहने वाले समस्त अन्तुओं का आपसी अन्तर्क्रिया ही पारस्परिक क्रिया है।

7 जात्यन्तर पारस्परिक क्रिया –एक ही पर्यावरणीय आवासीय दशा में रहने वाले विभिन्न प्रजाति के जीवों के मध्य क्रिया।

8 धनात्मक जन्तु पारस्परिक क्रिया –विभिन्न प्रजाति के जन्तुओं द्वारा किसी पर्यावरणीय दशा में आपसी क्रिया करने से समस्त जन्तुओं का जब लाभ होता है तो धनात्मक जन्तु पारस्परिक क्रिया कहते हैं।

14.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1 सिंह, सविन्द्र (2016) – पर्यावरण भूगोल का स्वरूप, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

2 सिंह, सविन्द्र (2016) – जैव भूगोल, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

3 कुदेसिया, वी०पी० (1980) – वाटर पोल्यूशन, प्रगति प्रकाशन, मेरठ।

4 सिंह, जगदीश (2001) – पर्यावरण एवं संविकास, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर।

5 चाँदना, आर०सी० (2004) – पर्यावरण : समस्या और समाधान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।

6 श्रीवास्तव, गोपीनाथ (2001) – पर्यावरण प्रदूषण, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली।

7 वाल्दिया, के०सी० (1987) – इन्वायरमेण्टल जियोलॉजी : इण्डियन कांटेक्स्ट, टाटा मैकग्राहित पब्लिशिंग कम्पनी, लिमिटेड, न्यु देहली।

8 सिंह, डी०एन० एण्ड सिंह जे० (1988) – ऑवर अर्थ एण्ड इन्वायरमेंट, इन्वायरमेण्ट एण्ड डेवलमेंट स्टडी सेण्टर, वाराणसी।

14.14 बोध प्रश्न के उत्तर –

2. घ, 2. क, 3. ख, 4. ग, 5. क

14.15 अभ्यासार्थ प्रश्न –

1 जीव भौगोलिक प्रदेश का अर्थ एवं अवधारणा की व्याख्या कीजिए।

2 विश्व को प्रमुख वनस्पति प्रदेश में वर्गीकृत करते हुए किसी दो वनस्पति प्रदेश की व्याख्या कीजिए।

3 जन्तुओं के वितरण को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।

4 सागरीय पौधों के वितरण को सविस्तार समझायेए।

5 विश्व को जन्तु भौगोलिक प्रदेश में वर्गीकृत करते हुए किसी दो जन्तु भौगोलिक प्रदेश की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

इकाई 1

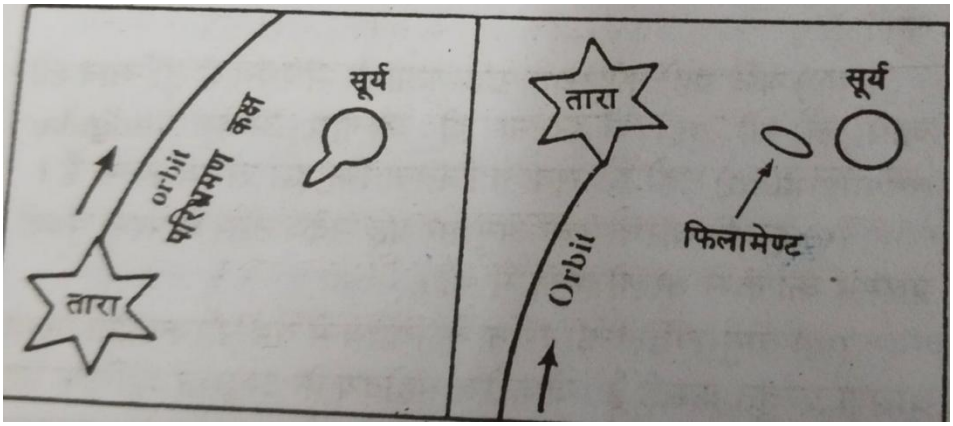

चित्र 1.1

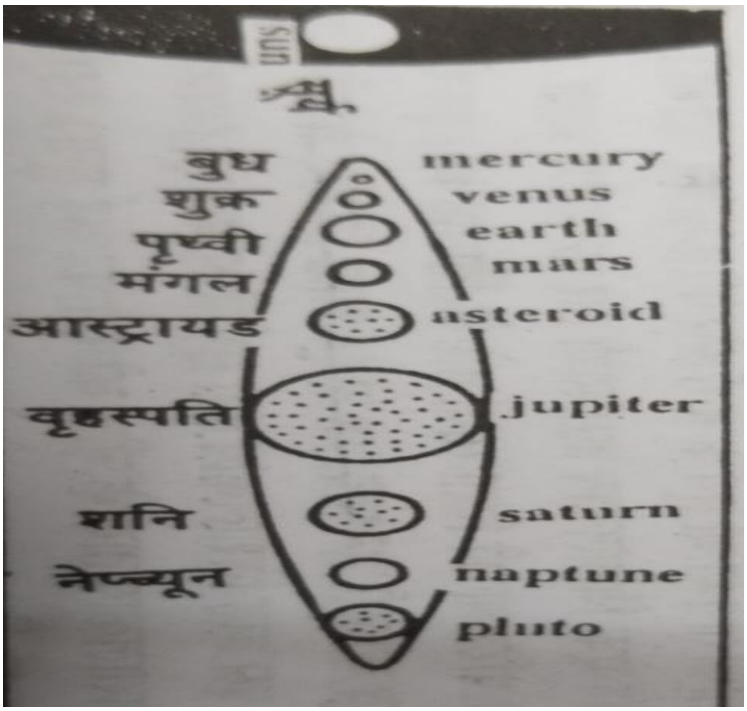

चित्र 1.2

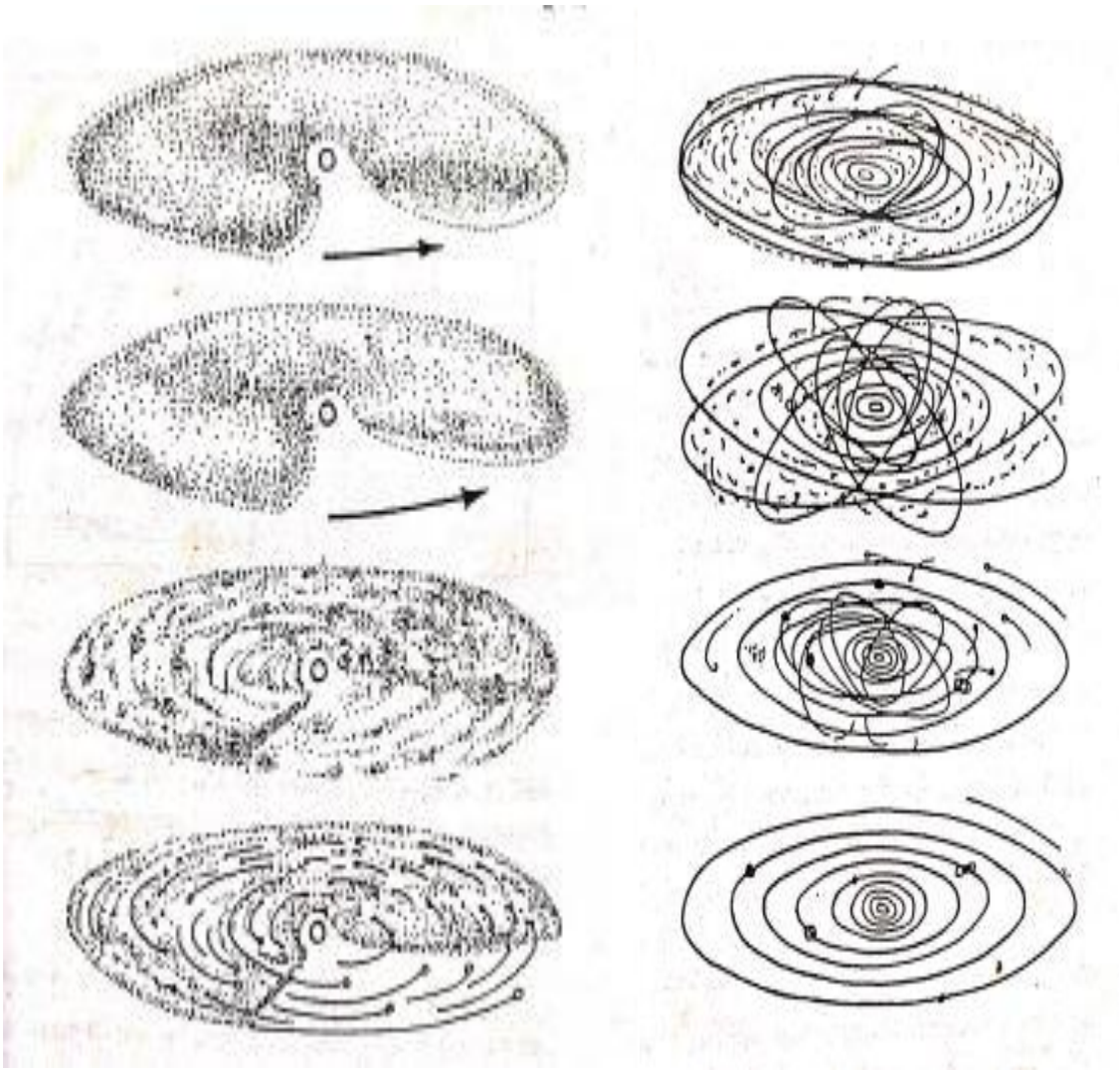

चित्र 1.3

चि1.4

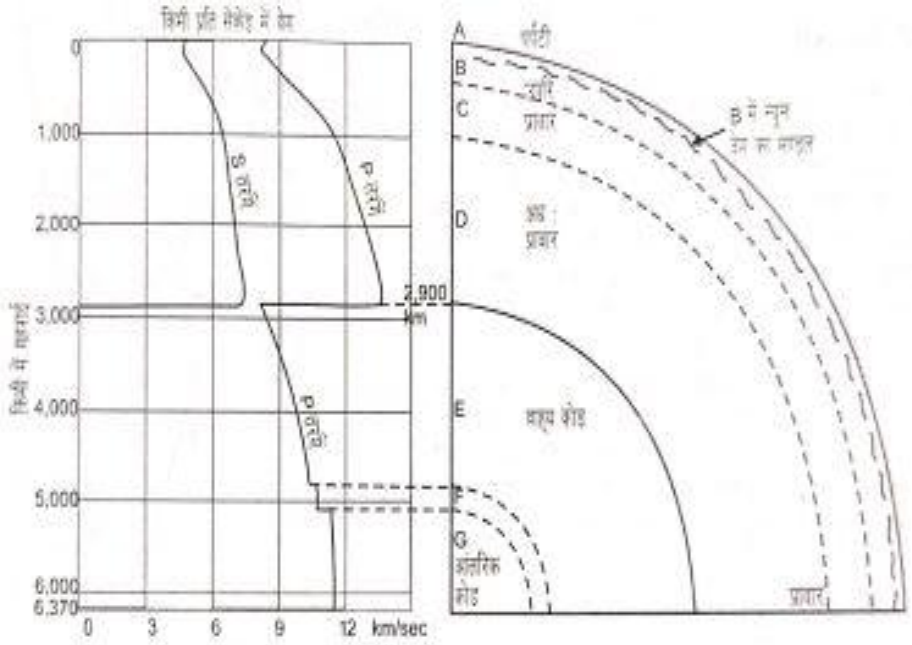
A
B
C
D
E
F
G
2,900
km
0
1,000
2,000
3,000
4,000
5,000
6,000
6,370
0
3
6
9
12 km/sec

चि 1.4

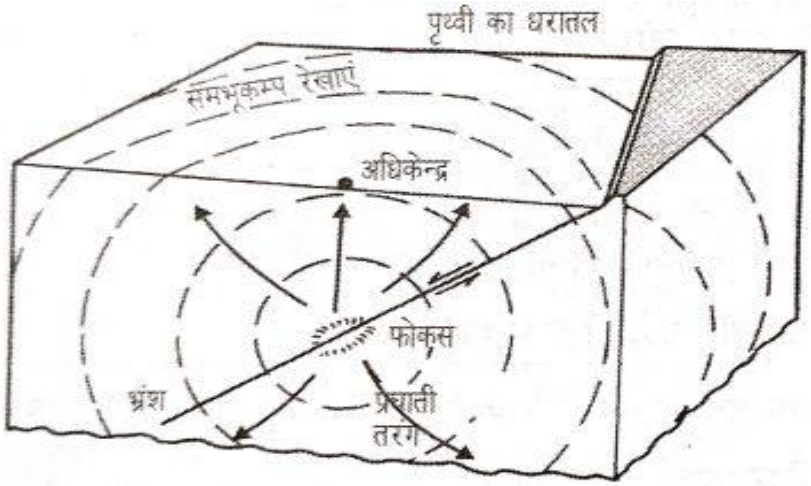
पृथ्वी का धरातल
समभूकम्प रेखाएं
अधिकेन्द्र
फोकस
भ्रंश
प्रगामी तरंग

चि 1.5

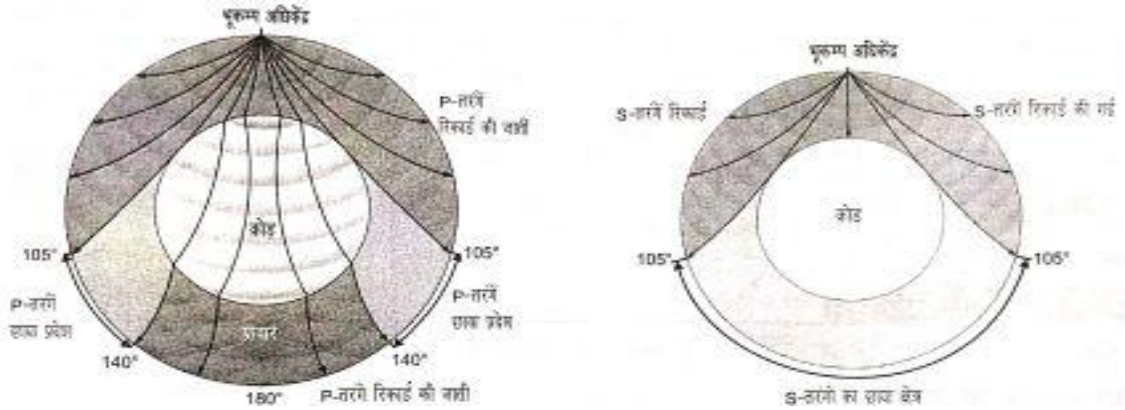
भूकम्प अधिकेंद्र
P-तरंगें रिकार्ड की नहीं
105°
105°
क्रोड
P-तरंगें छाया प्रदेश
P-तरंगें छाया प्रदेश
प्रावार
140°
140°
180°
P-तरंगें रिकार्ड की नहीं
भूकम्प अधिकेंद्र
S-तरंगें रिकार्ड
S-तरंगें रिकार्ड की गई
क्रोड
105°
105°
S-तरंगों का छाया क्षेत्र

चित्र 1.6

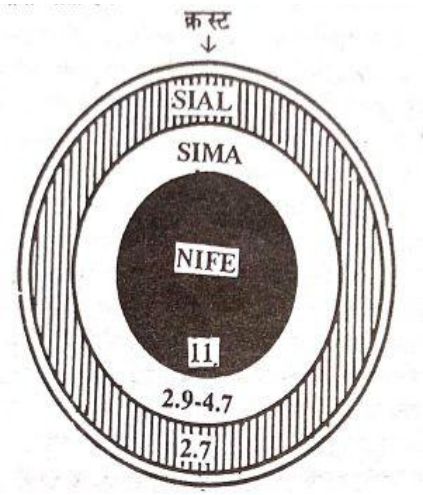

इकाई 2

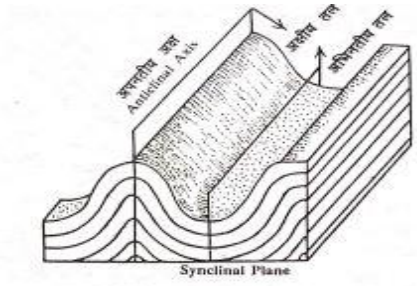

चित्र 6.1 : वलन (fold) के विभिन्न अंग।

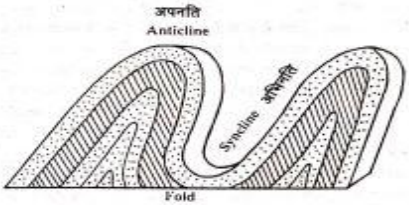

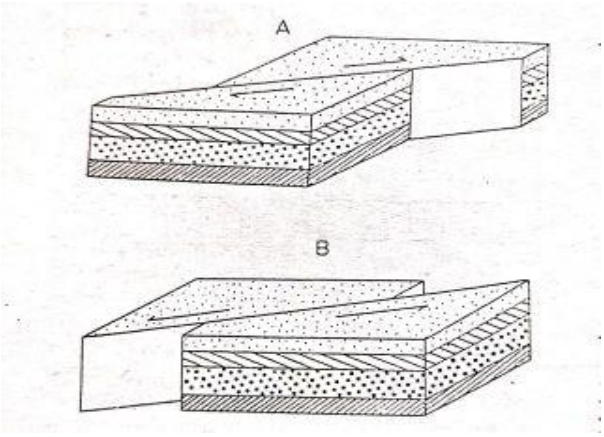

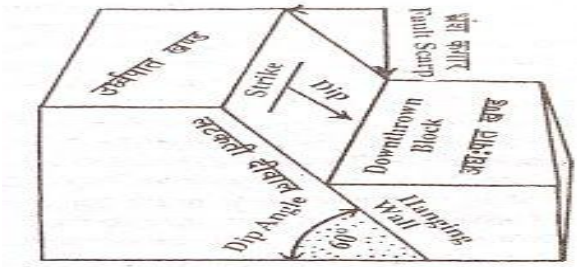

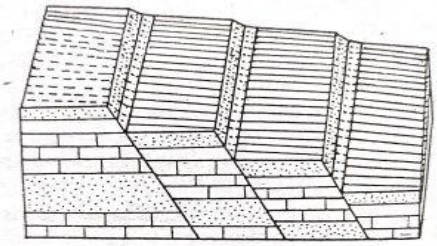

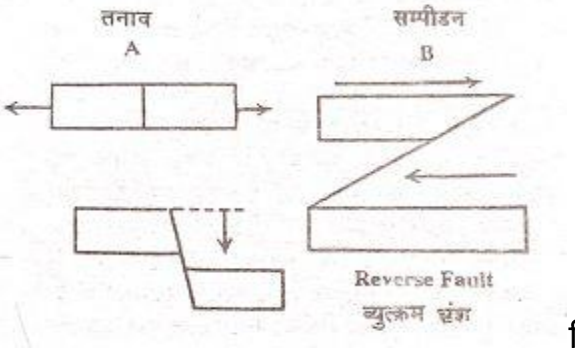

चित्र 2.2 2.3 2.5 2.6

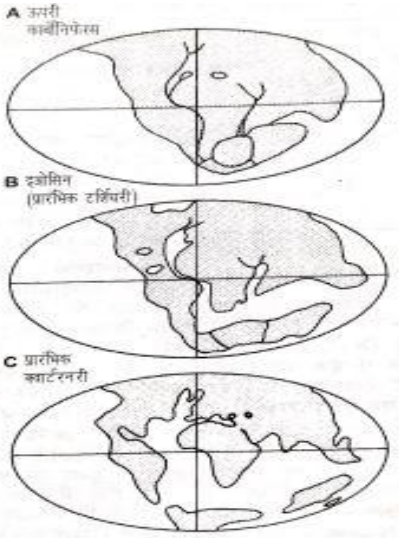
A ऊपरी कार्बोनिफेरस
B इओसिन (प्रारंभिक टर्शियरी)
C प्रारंभिक क्वार्टरनरी

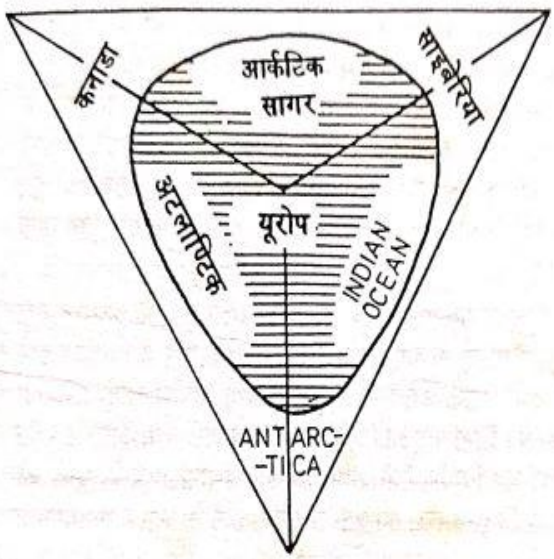
कनाडा
आर्कटिक सागर
साइबेरिया
अटलांटिक
यूरोप
INDIAN OCEAN
ANT ARC-
-TI CA

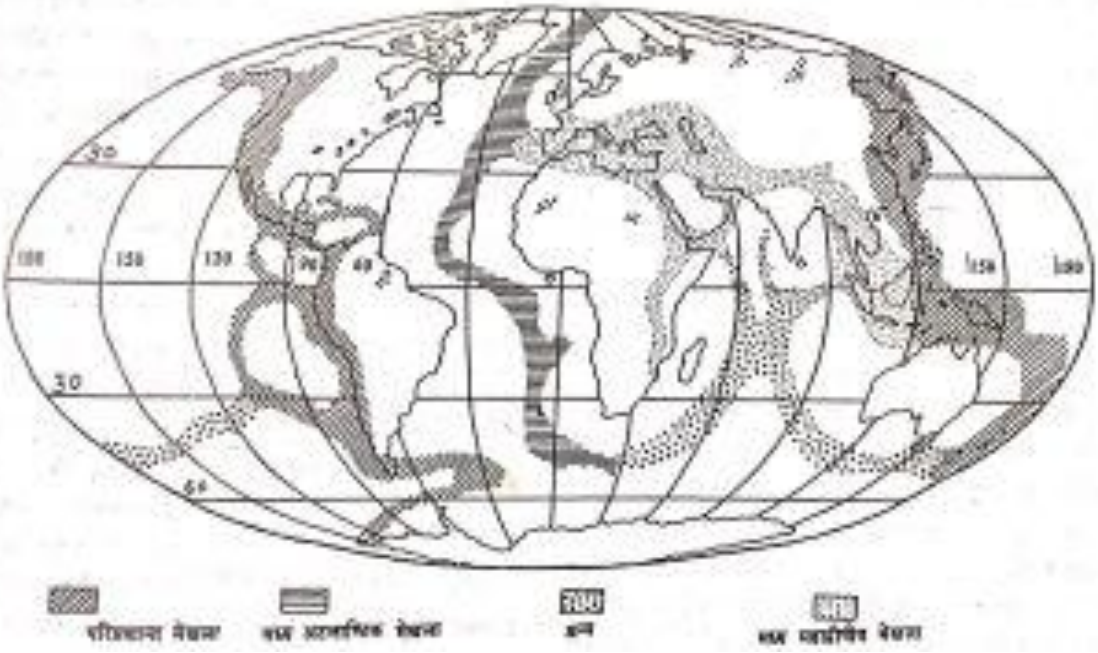
30
30
60

चित्र 2.8 ,2.9, 2.10

चित्र 2.11 , 2.12 2.13

चित्र 2.14 , 2.15 2.16

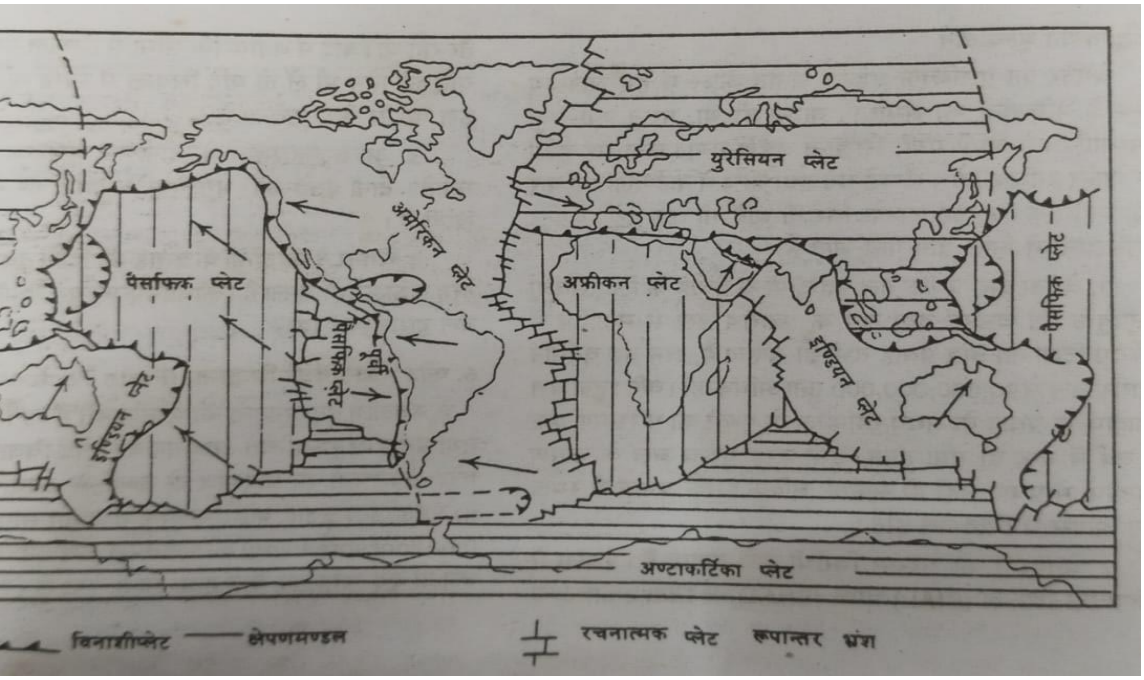

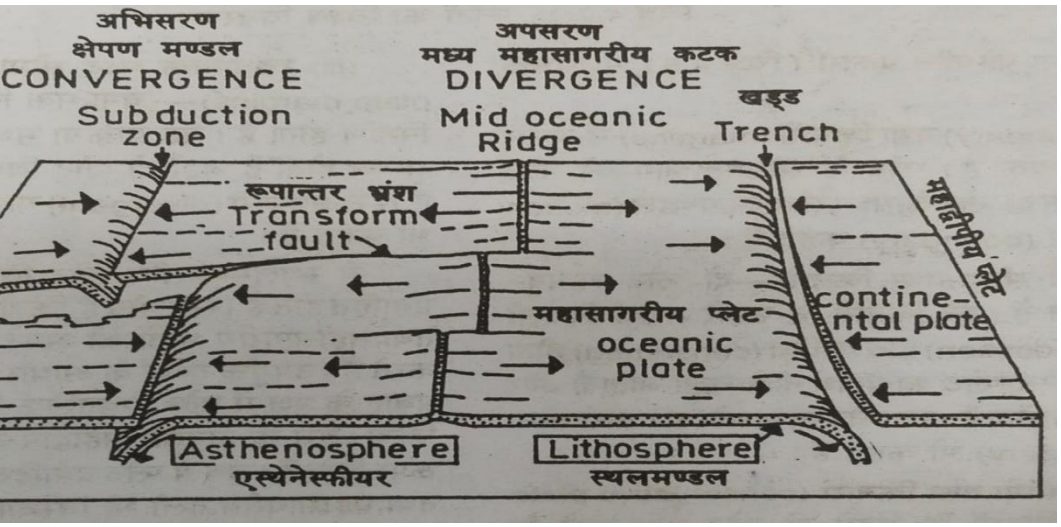
अभिसरण
क्षेपण मण्डल
CONVERGENCE
Subduction zone
अपसरण
मध्य महासागरीय कटक
DIVERGENCE
Mid oceanic Ridge
खड्ड
Trench
रूपान्तर भ्रंश
Transform fault
महाद्वीपीय प्लेट
continental plate
महासागरीय प्लेट
oceanic plate
Asthenosphere
एस्थेनेस्फीयर
Lithosphere
स्थलमण्डल

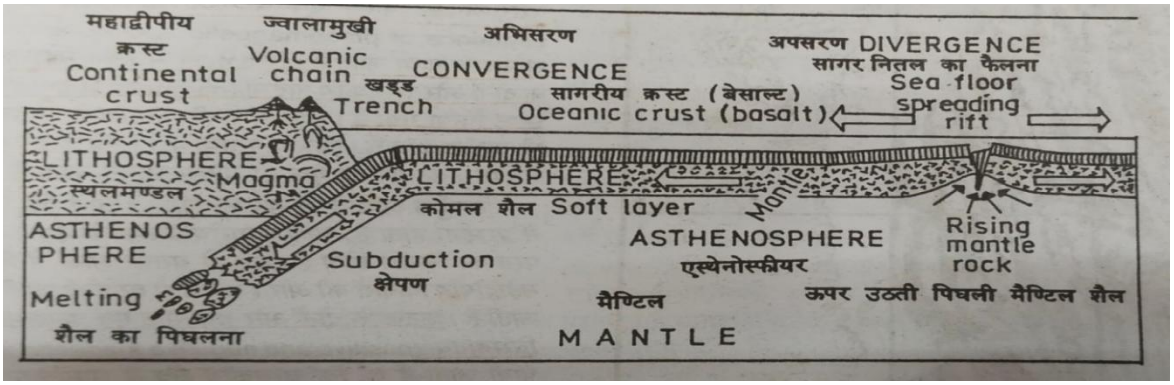
महाद्वीपीय क्रस्ट
Continental crust
ज्वालामुखी
Volcanic chain
खड्ड
Trench
अभिसरण
CONVERGENCE
सागरीय क्रस्ट (बेसाल्ट)
Oceanic crust (basalt)
अपसरण DIVERGENCE
सागर नितल का फैलना
Sea floor spreading
rift
LITHOSPHERE
स्थलमण्डल
Magma
LITHOSPHERE
कोमल शैल Soft layer
Mantle
ASTHENOSPHERE
एस्थेनोस्फीयर
Rising mantle rock
ऊपर उठती पिघली मैण्टिल शैल
Subduction
क्षेपण
Melting
शैल का पिघलना
मैण्टिल
MANTLE

इकाई 3

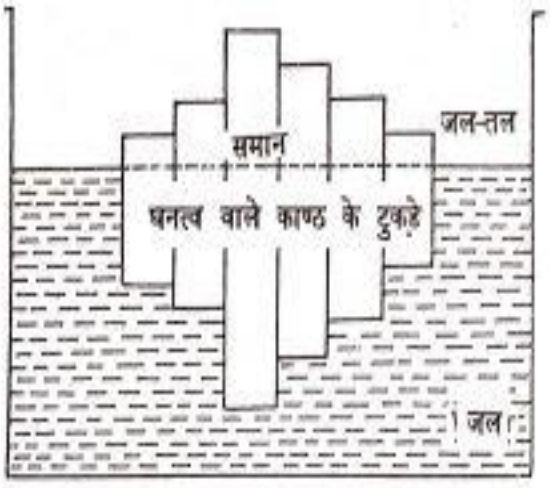

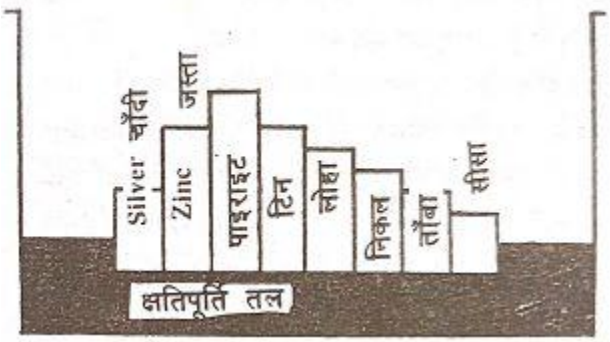

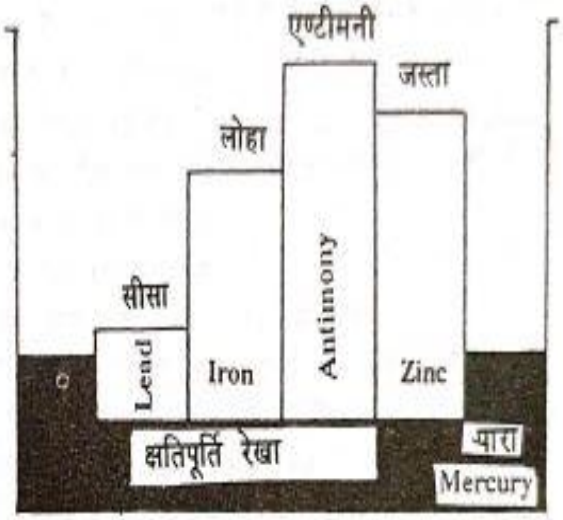

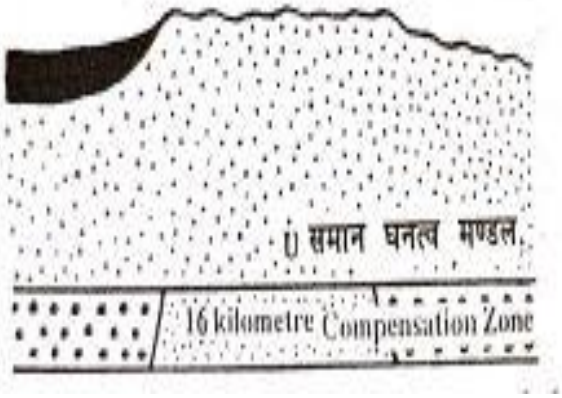

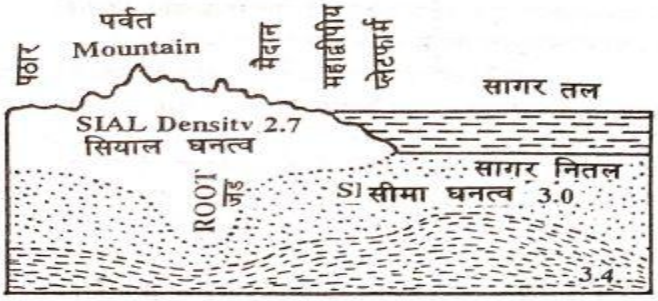

चित्र 3.1 3.2 3.3 3.4 3.5

चित्र 3.6, 3 .7 3.8 3 9 3.10 3.11

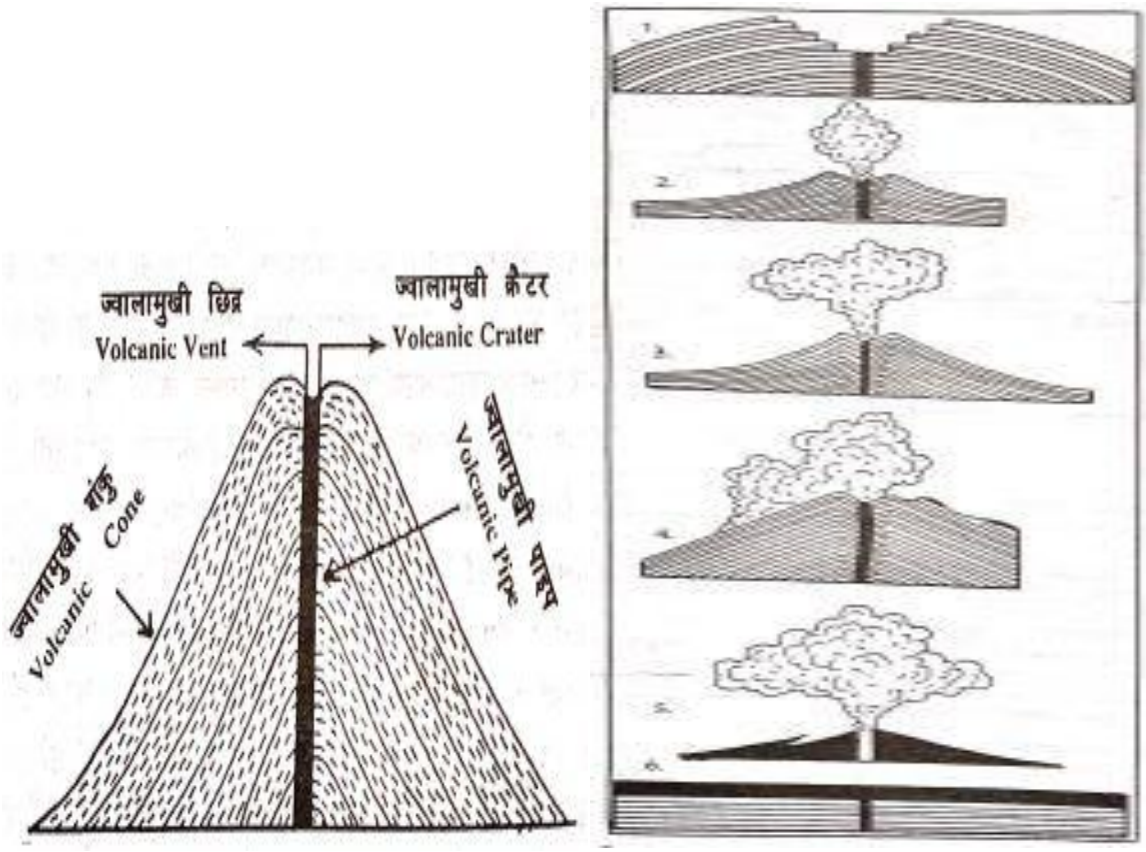
ज्वालामुखी छिद्र
Volcanic Vent
ज्वालामुखी क्रेटर
Volcanic Crater
ज्वालामुखी शंकु
Volcanic Cone
ज्वालामुखी पाश्व
Volcanic Pipe

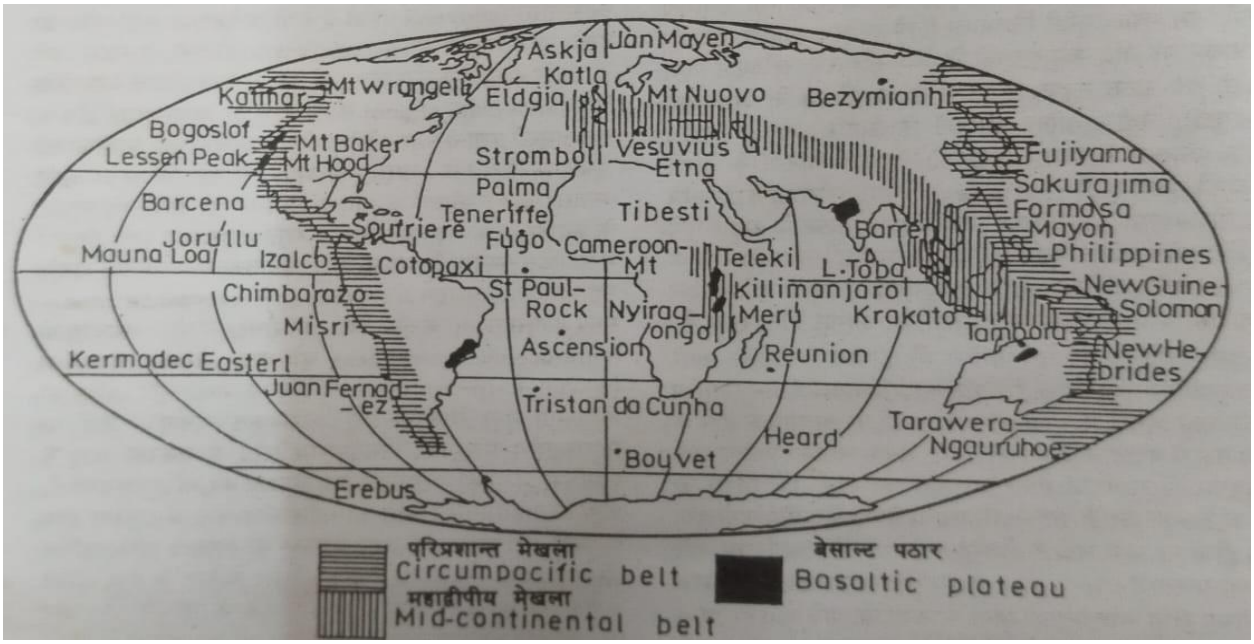
Jan Mayen
Askja
Katla
Eldgja
Mt Nuovo
Bezymianhi
Katmai
Mt Wrangell
Bogoslof
Mt Baker
Lessen Peak
Mt Hood
Stromboli
Vesuvius
Etna
Fujiyama
Sakurajima
Formosa
Mayon
Philippines
Palma
Barcena
Soufriere
Tenerife
Tibesti
Barren
Jorullu
Mauna Loa
Izalco
Fogo
Cameroon-Mt
Teleki
L.Toba
Cotopaxi
St Paul-Rock
Killimanjarol
Meru
Nyiragongo
Krakata
NewGuine-Solomon
Chimbaraza
Misri
Ascension
Reunion
Tamboro
NewHebrides
Kermadec Easterl
Juan Fernandez
Tristan da Cunha
Heard
Tarawera
Ngauruhoe
Bouvet
Erebus
परिप्रशान्त मेखला
Circumpacific belt
महाद्वीपीय मेखला
Mid-continental belt
बेसाल्ट पठार
Basaltic plateau

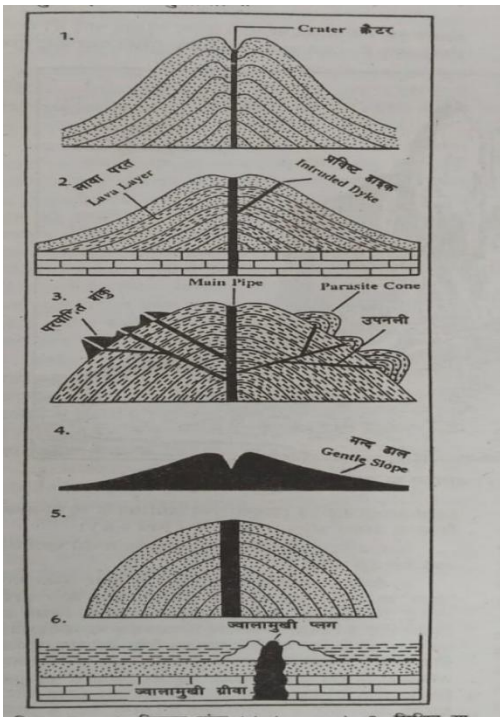

चित्र 9.7 : 1. सिण्डर शंकु (cinder cone), 2. मिश्रित या कम्पोजिट शंकु (composite cone), 3. परपोषित शंकु (parasite cone), 4. पैठिक लावा शंकु (basic lava cone), 5. एसिड लावा शंकु (acid lava cone), तथा 6. ज्वालामुखी प्लग।

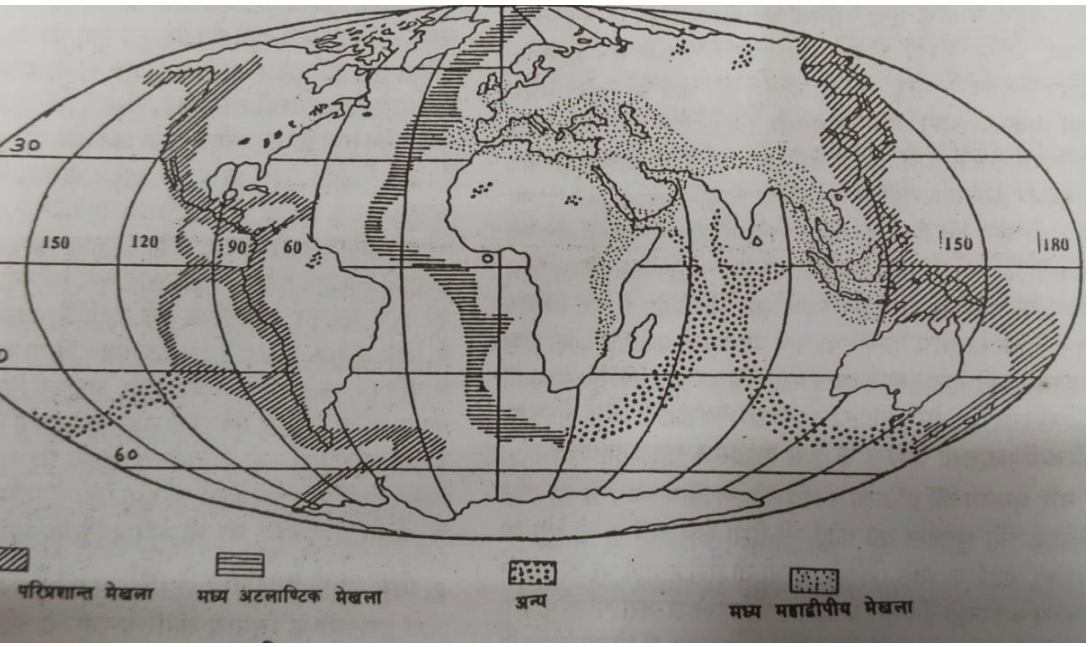
30
150
120
90
60
0
150
180
60
परिप्रशान्त मेखला
मध्य अटलाण्टिक मेखला
अन्य
मध्य महाद्वीपीय मेखला

चित्र 3.14

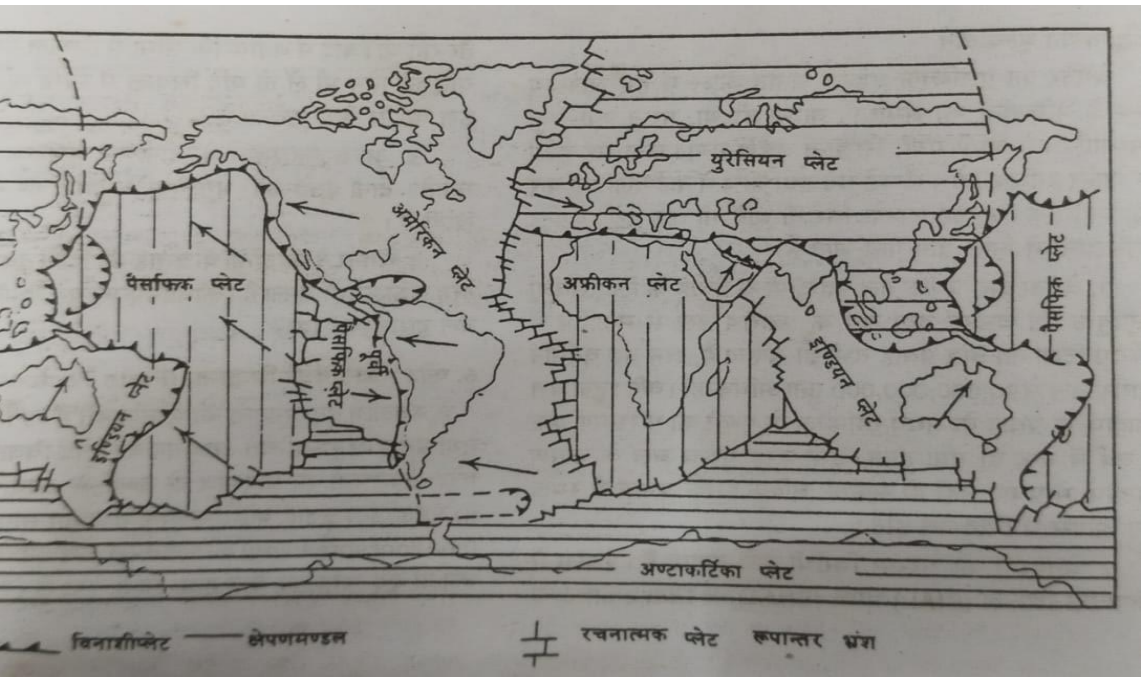

चित्र 3.13

चित्र 3.17

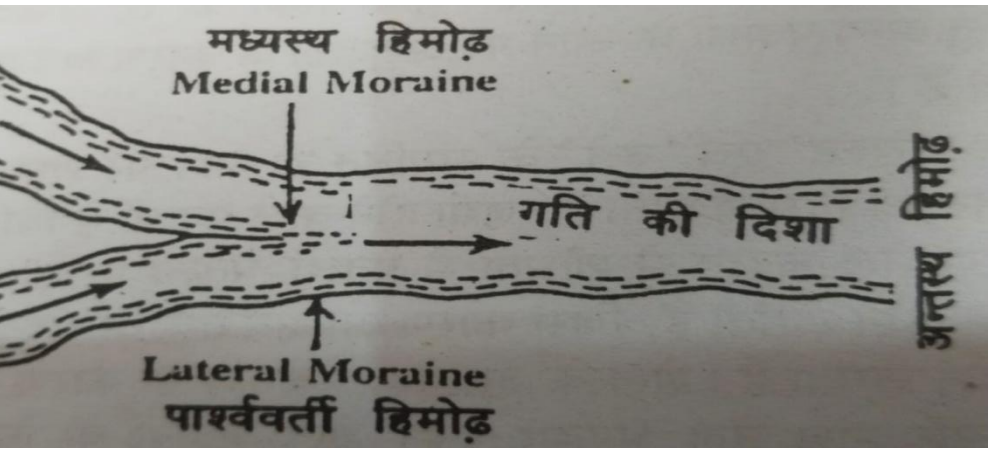
मध्यस्थ हिमोढ़
Medial Moraine
गति की दिशा
अन्तस्थ हिमोढ़
Luteral Moraine
पार्श्ववर्ती हिमोढ़

इकाई 4

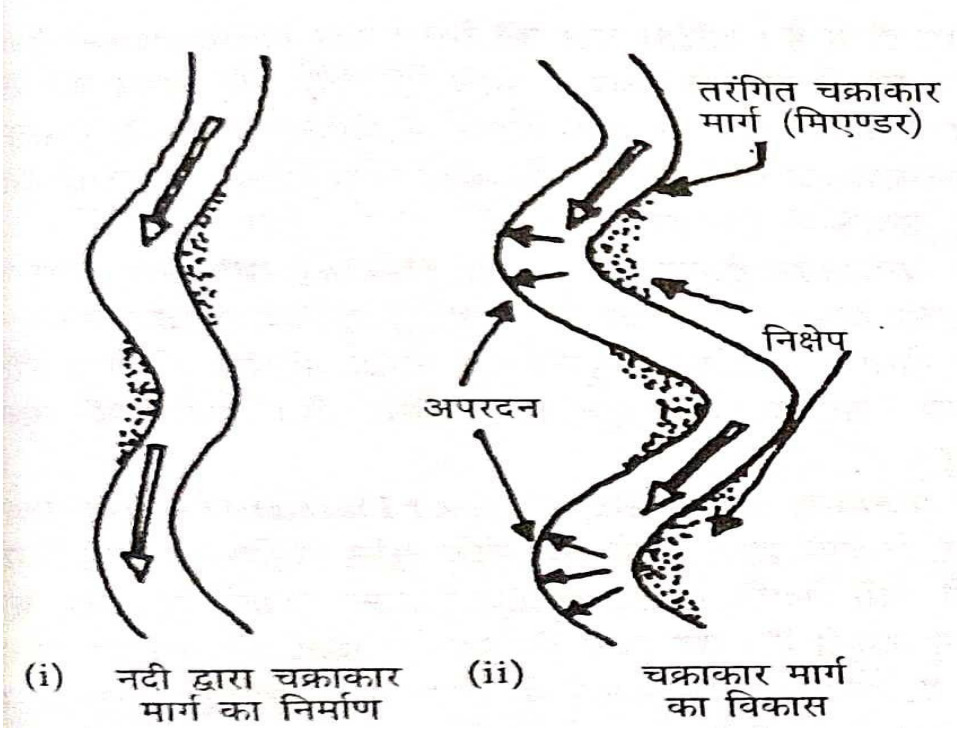

चित्र संख्या 4.1

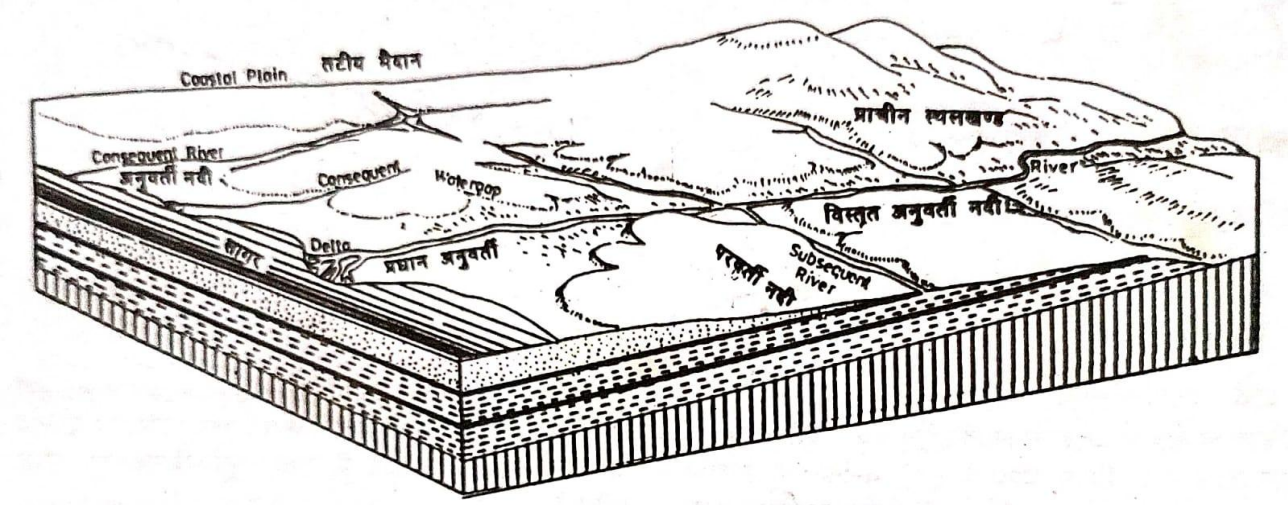

चित्र संख्या 4.2

.

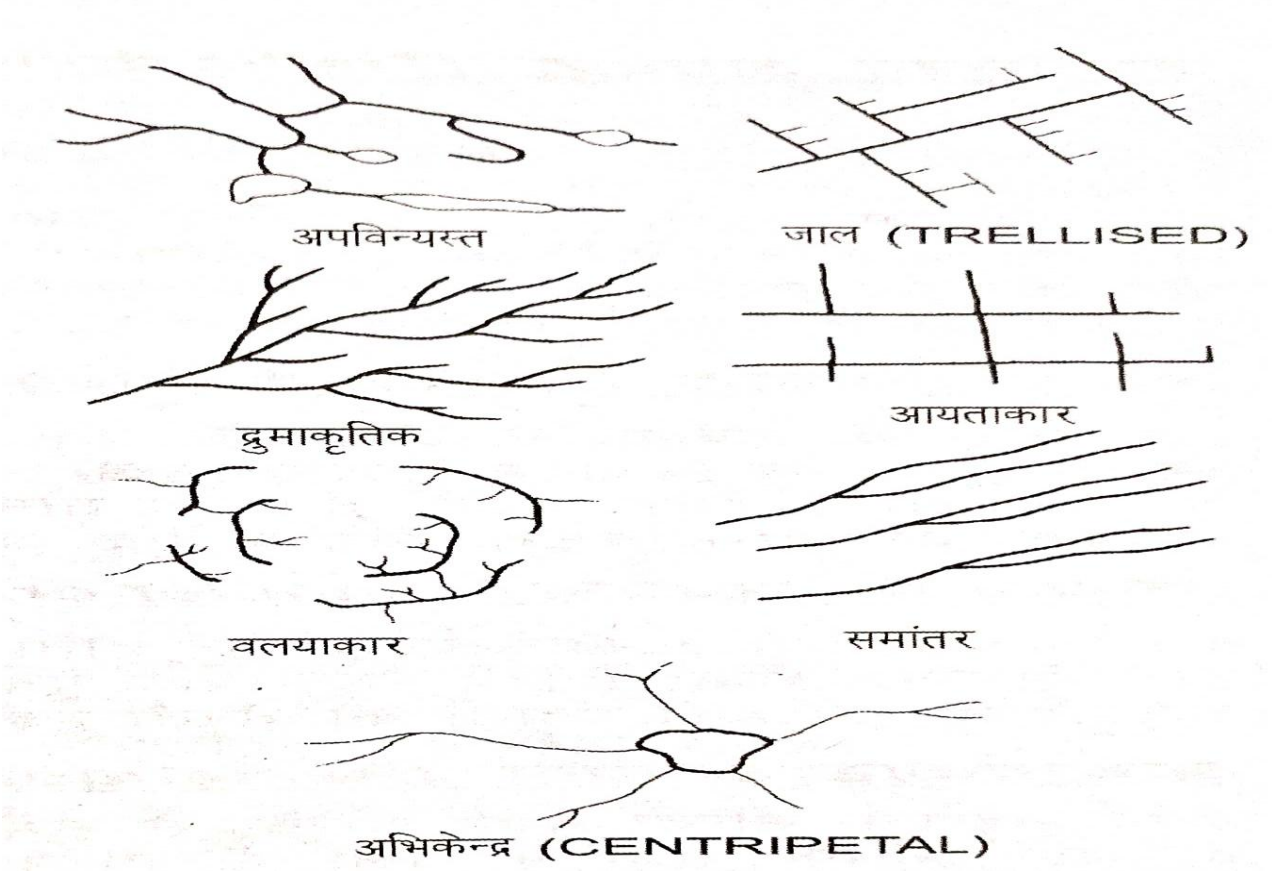

चित्र संख्या 4.3 **a b c d e**

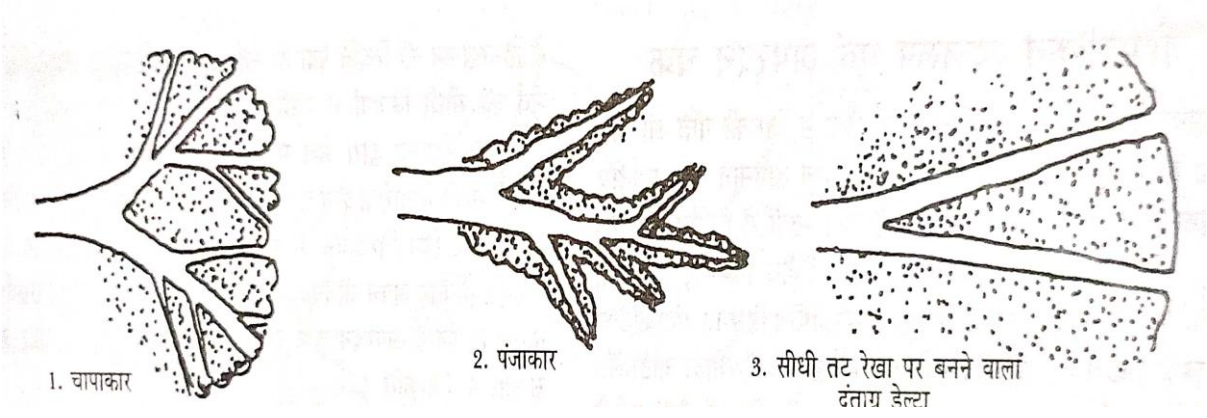

चित्र संख्या 4.5 **a b c**

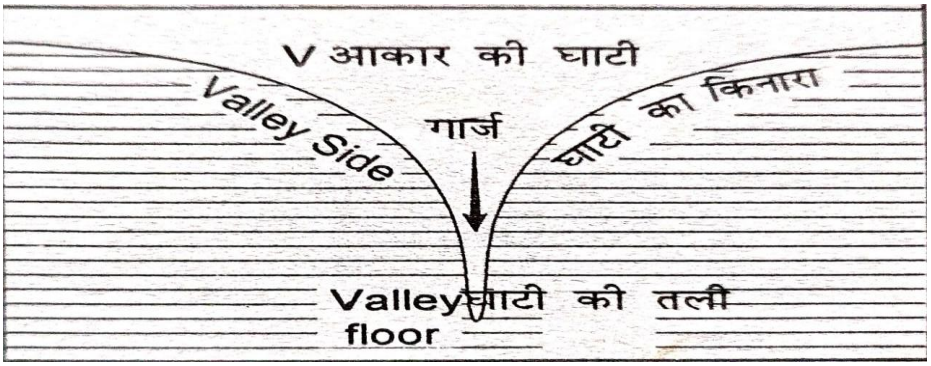

चित्र संख्या 4.6

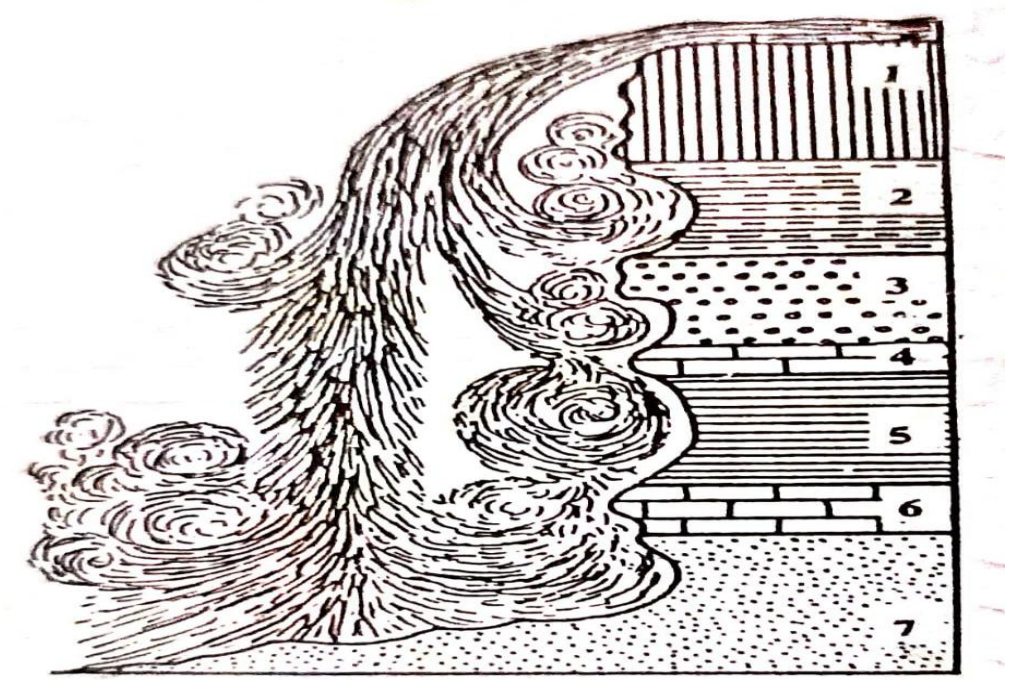

चित्र संख्या 4.7 a

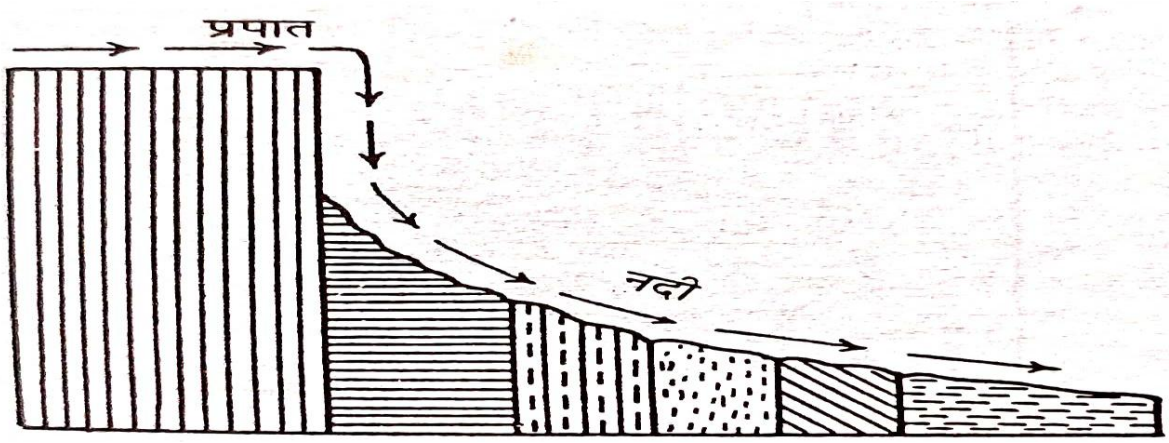

चित्र संख्या 4.7 **b**

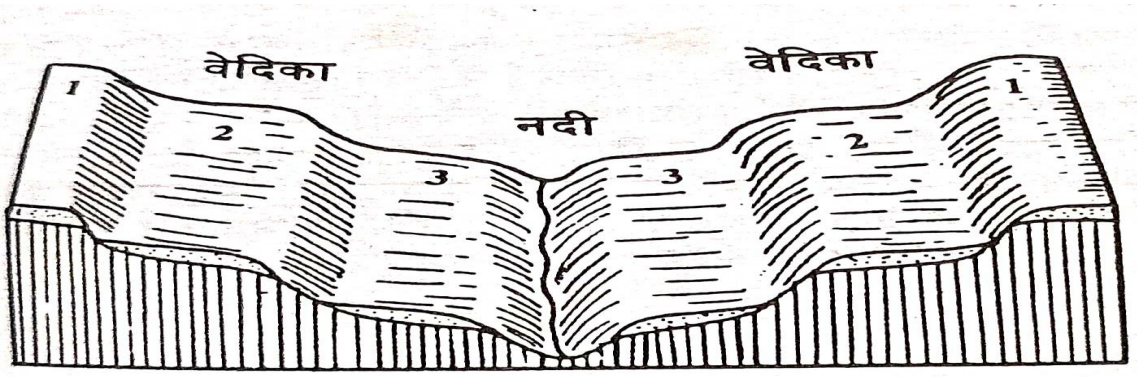

चित्र संख्या 4.8 **a**

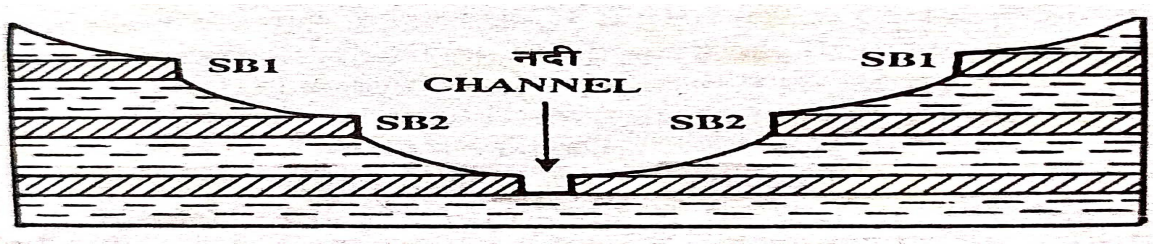

चित्र संख्या 4.8 **b**

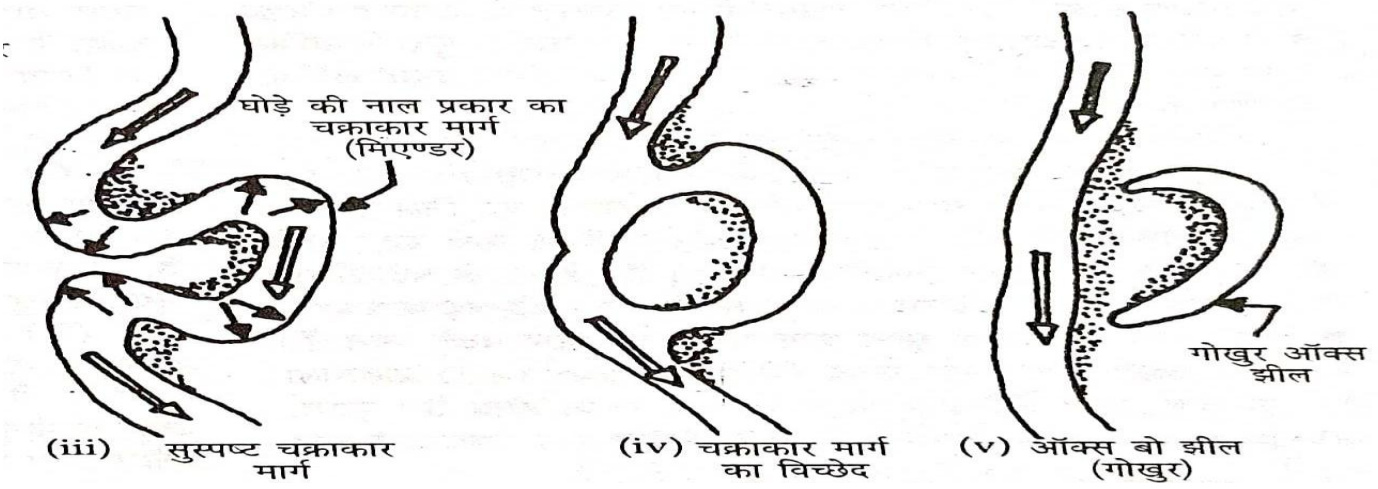

चित्र संख्या 4.9 **a b c**

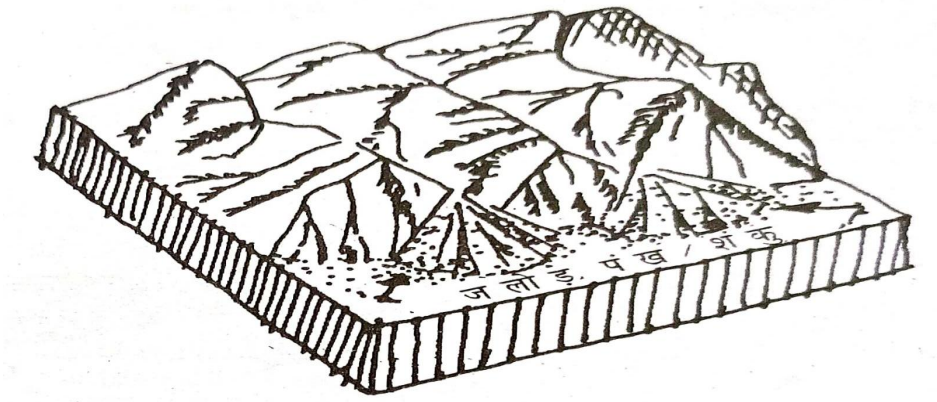

चित्र संख्या 4.10 **a b c**

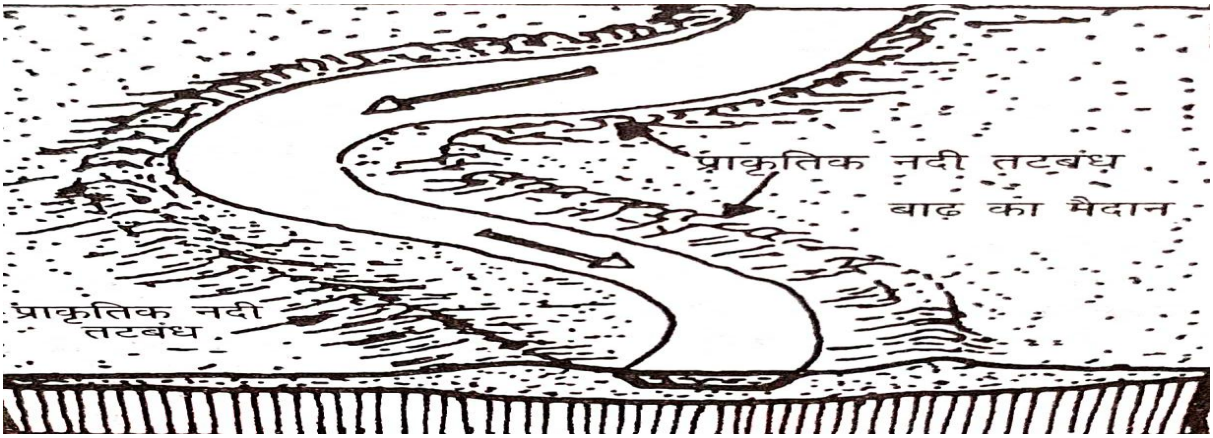

चित्र संख्या 4.11

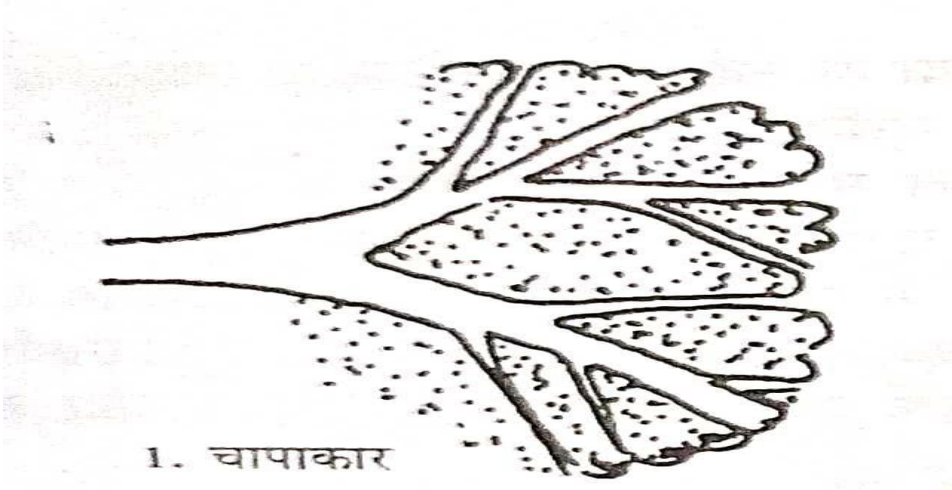

चित्र संख्या 4.12

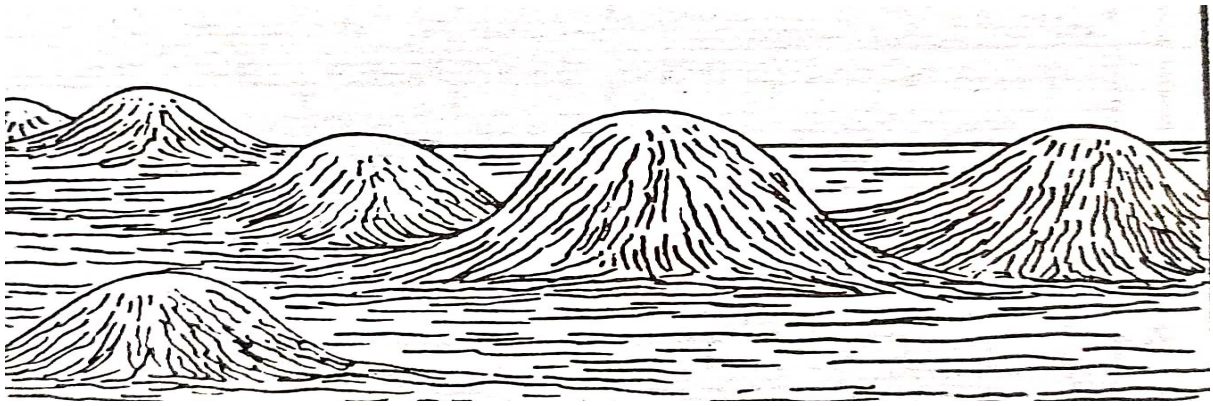

चित्र संख्या 4.13 a

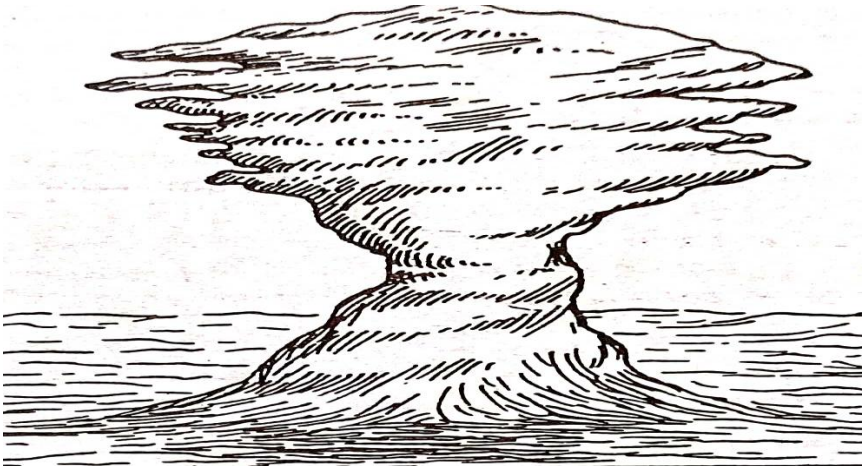

चित्र संख्या 4.13 b

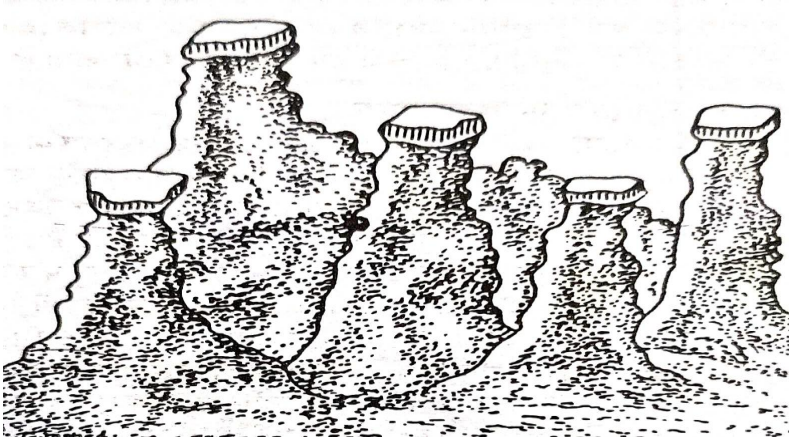

चित्र संख्या 4.13 c

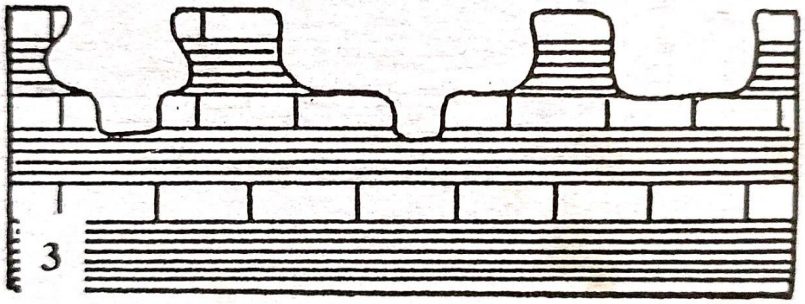

चित्र संख्या 4.14 a

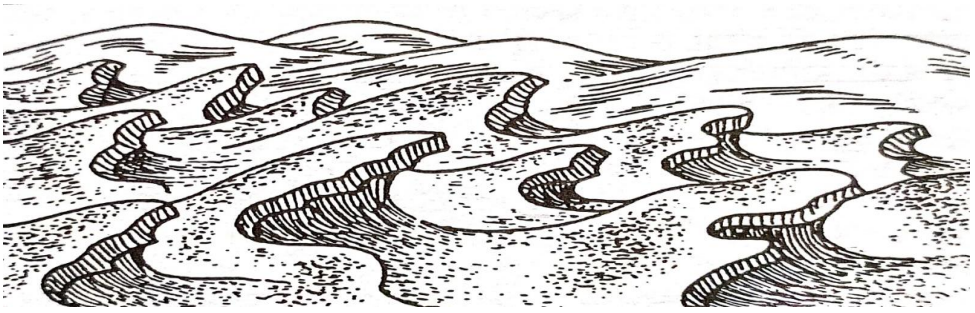

चित्र संख्या 4.14 b

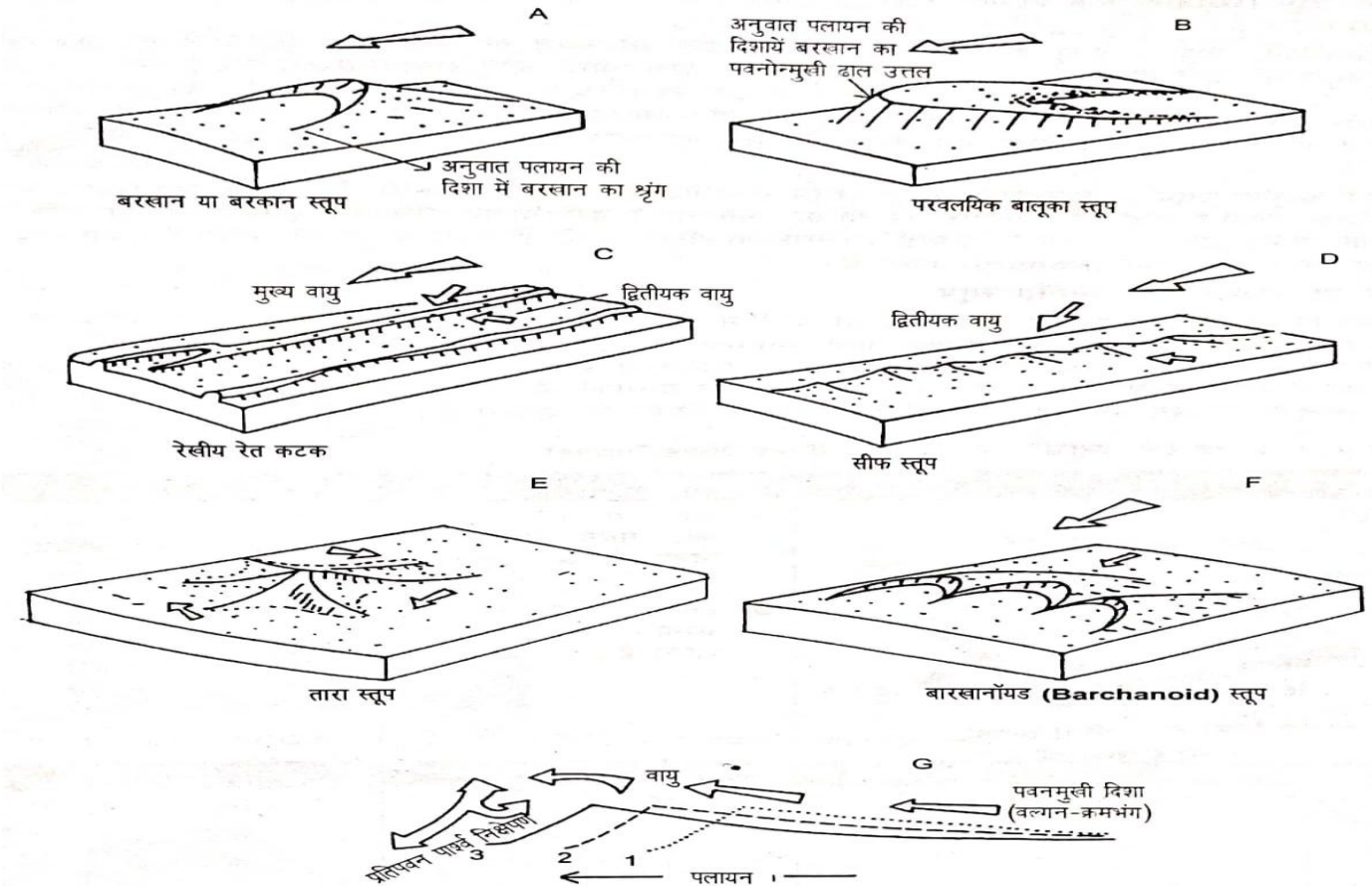

चित्र संख्या 4.15

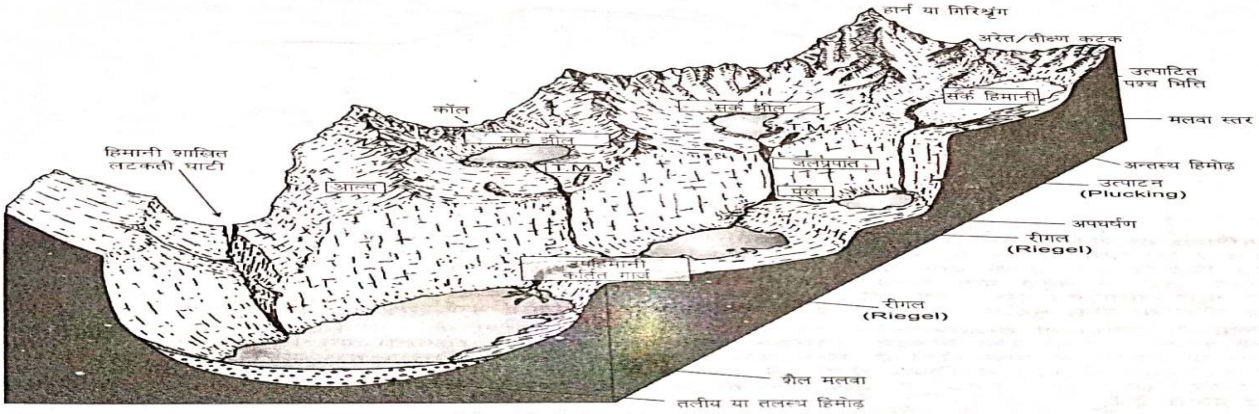

चित्र संख्या 4.16

चित्र संख्या 4.

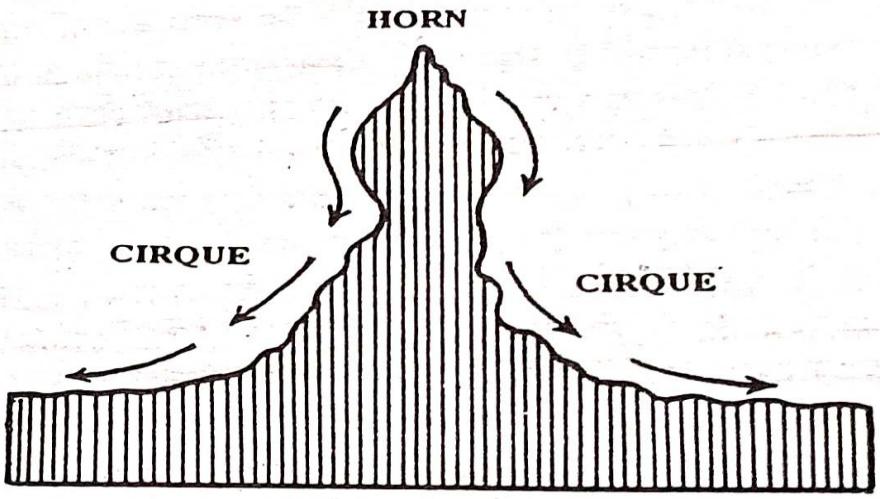

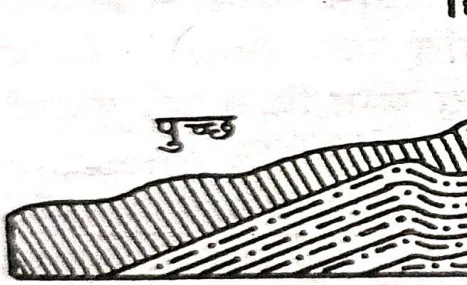

चित्र संख्या 4.

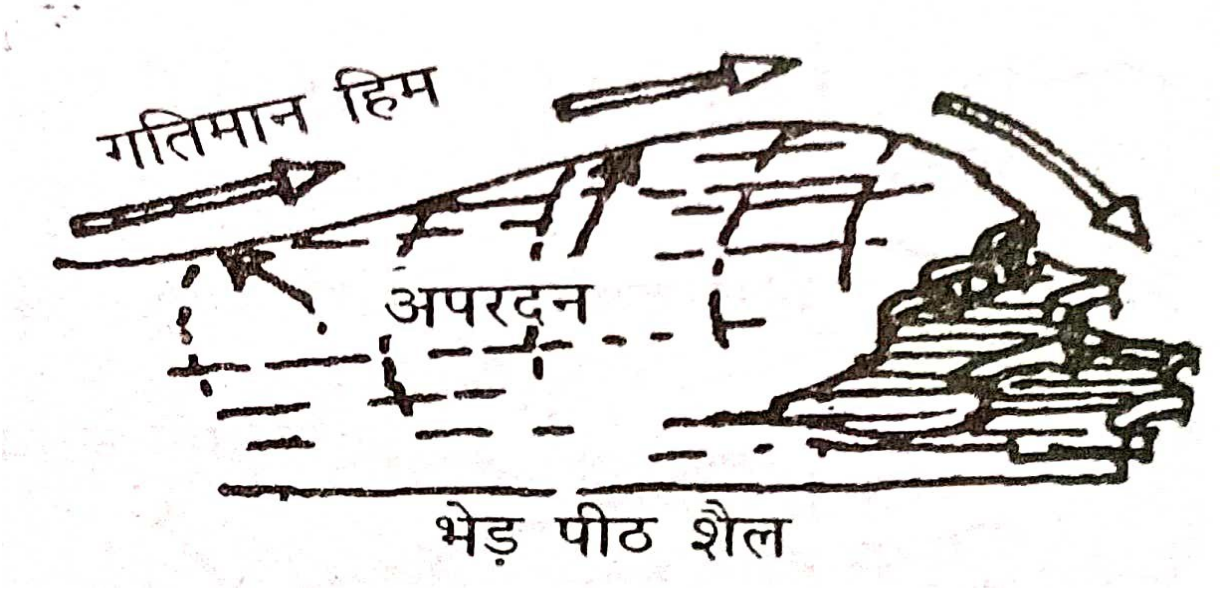

चित्र संख्या 4.19 a

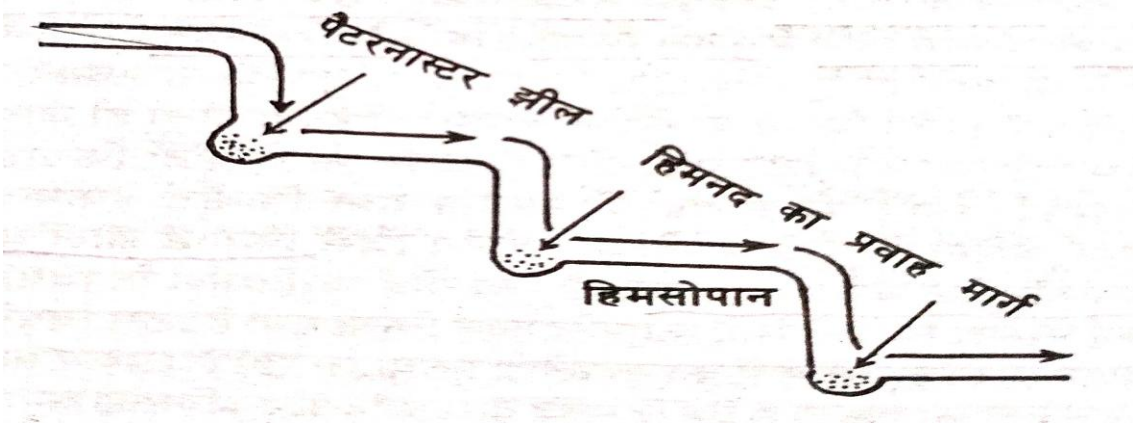

चित्र संख्या 4.19 **b**

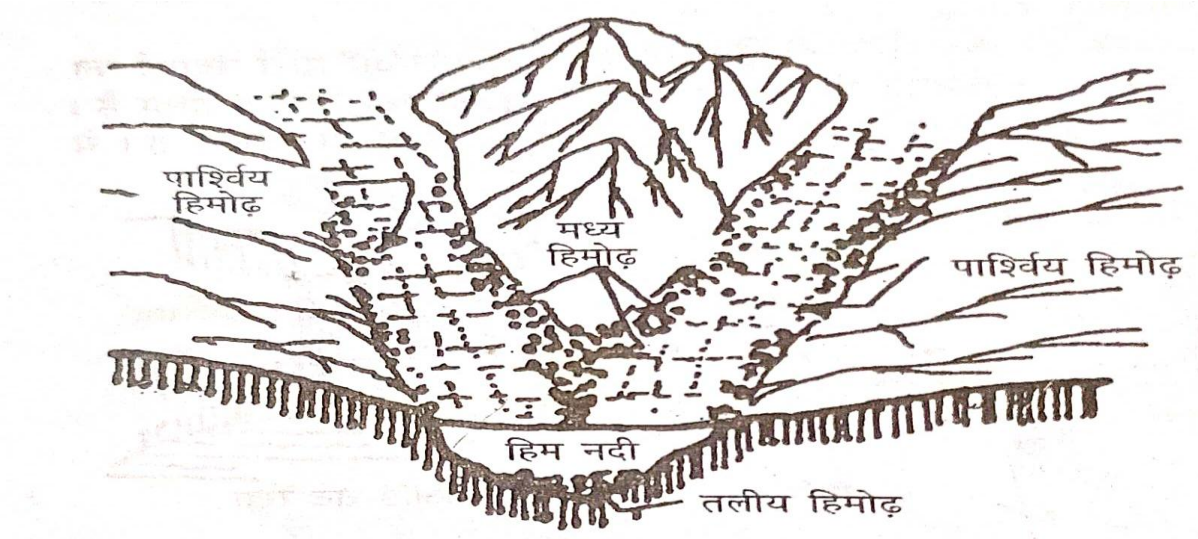

चित्र संख्या 4.20

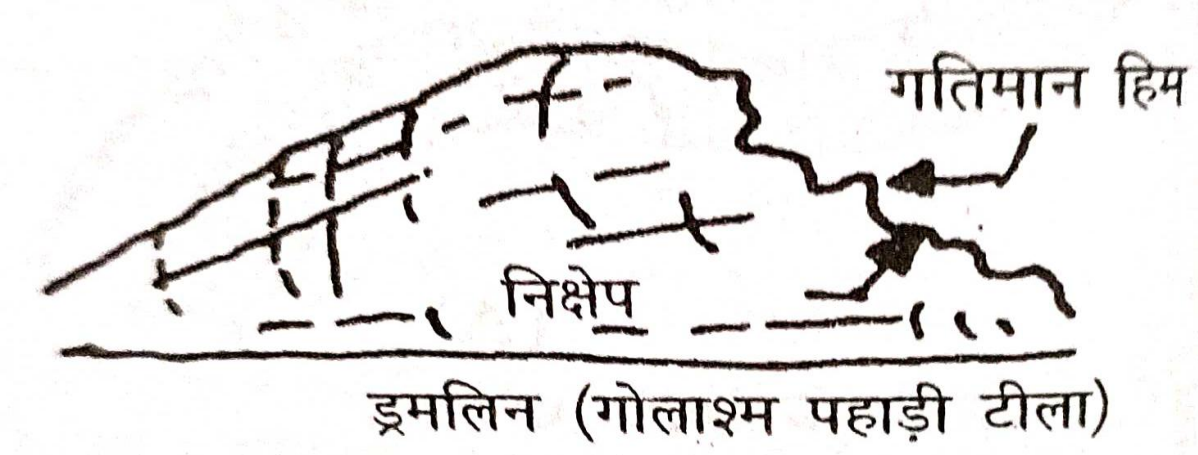

चित्र संख्या 4.21

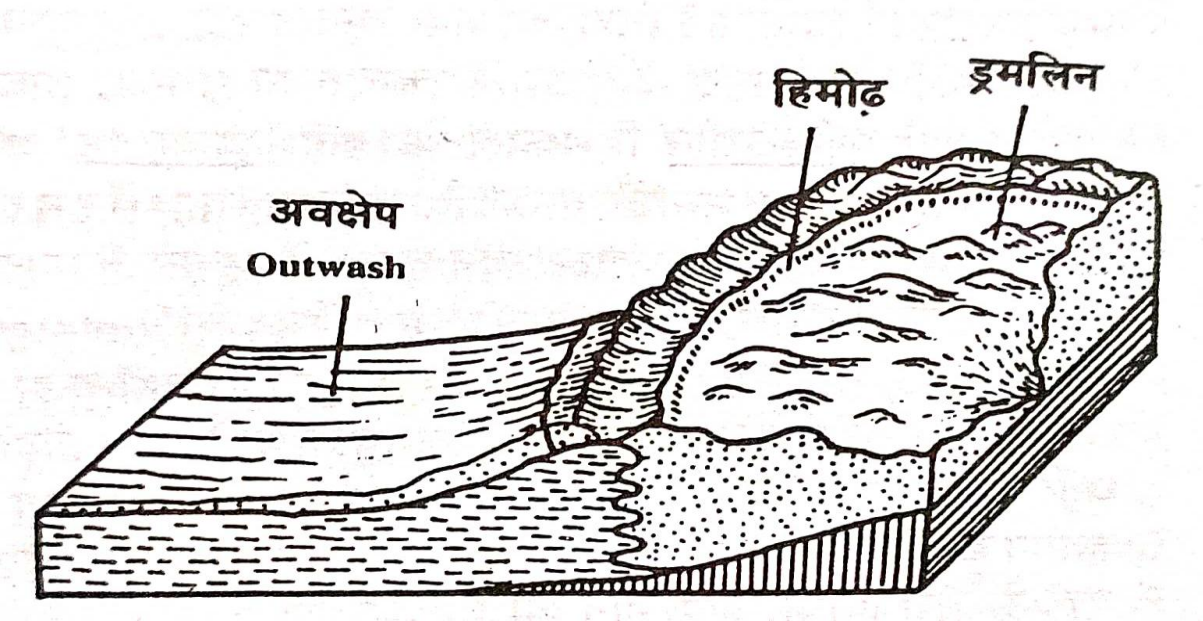

चित्र संख्या 4.22

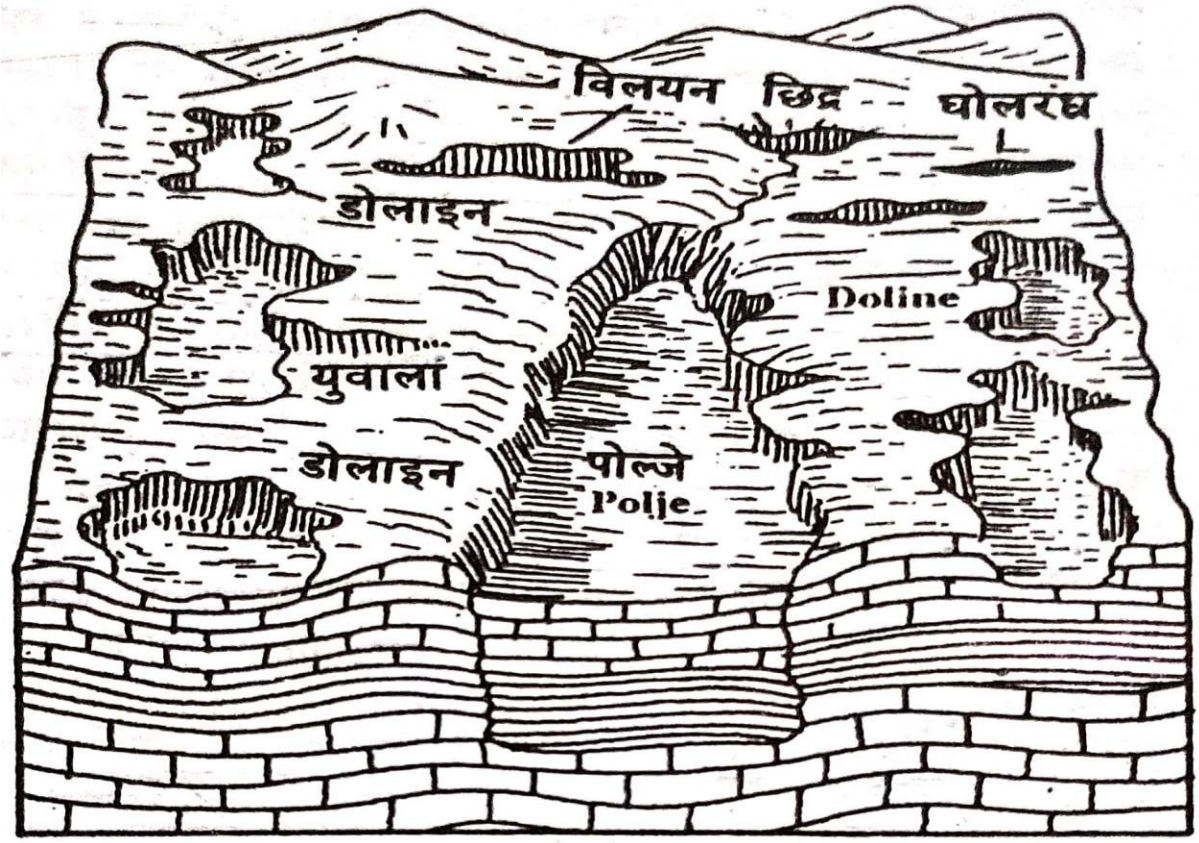

चित्र संख्या 4.23 a

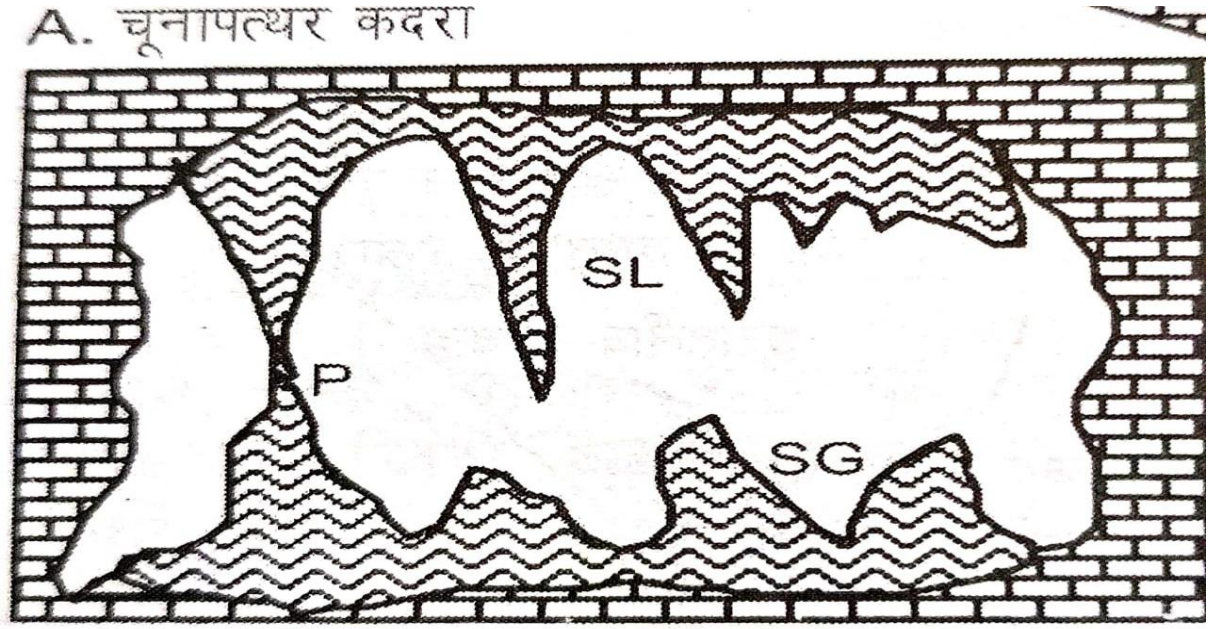

चित्र संख्या 4.23 b

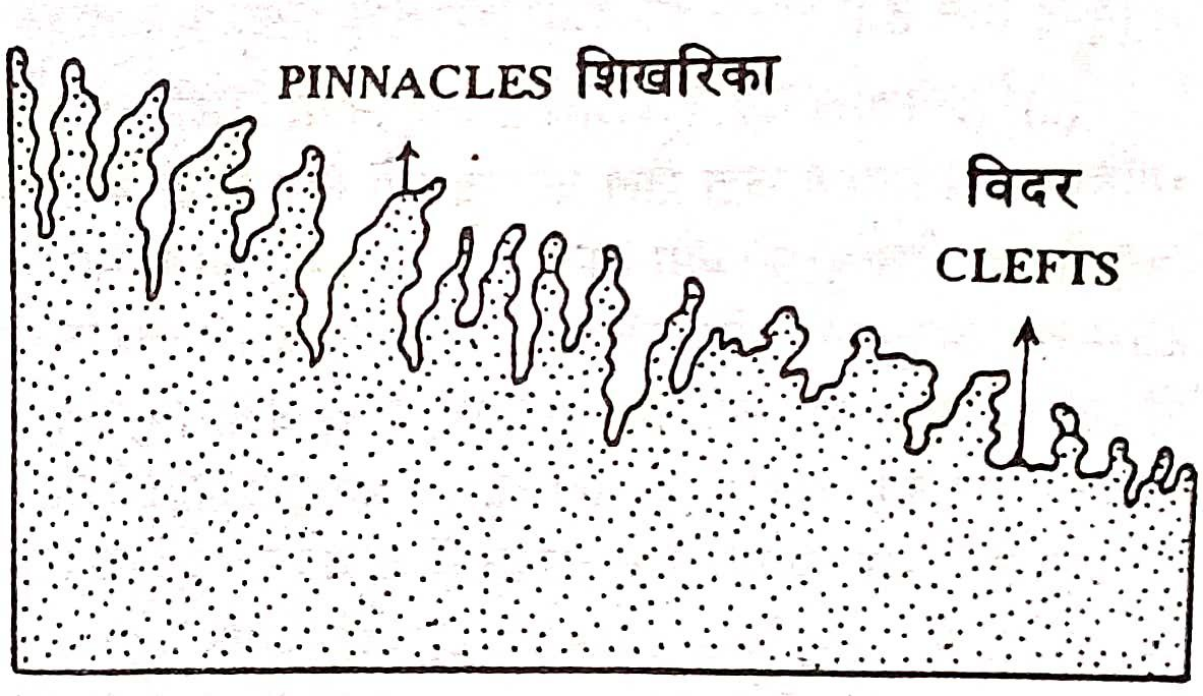

चित्र संख्या 4.23 c

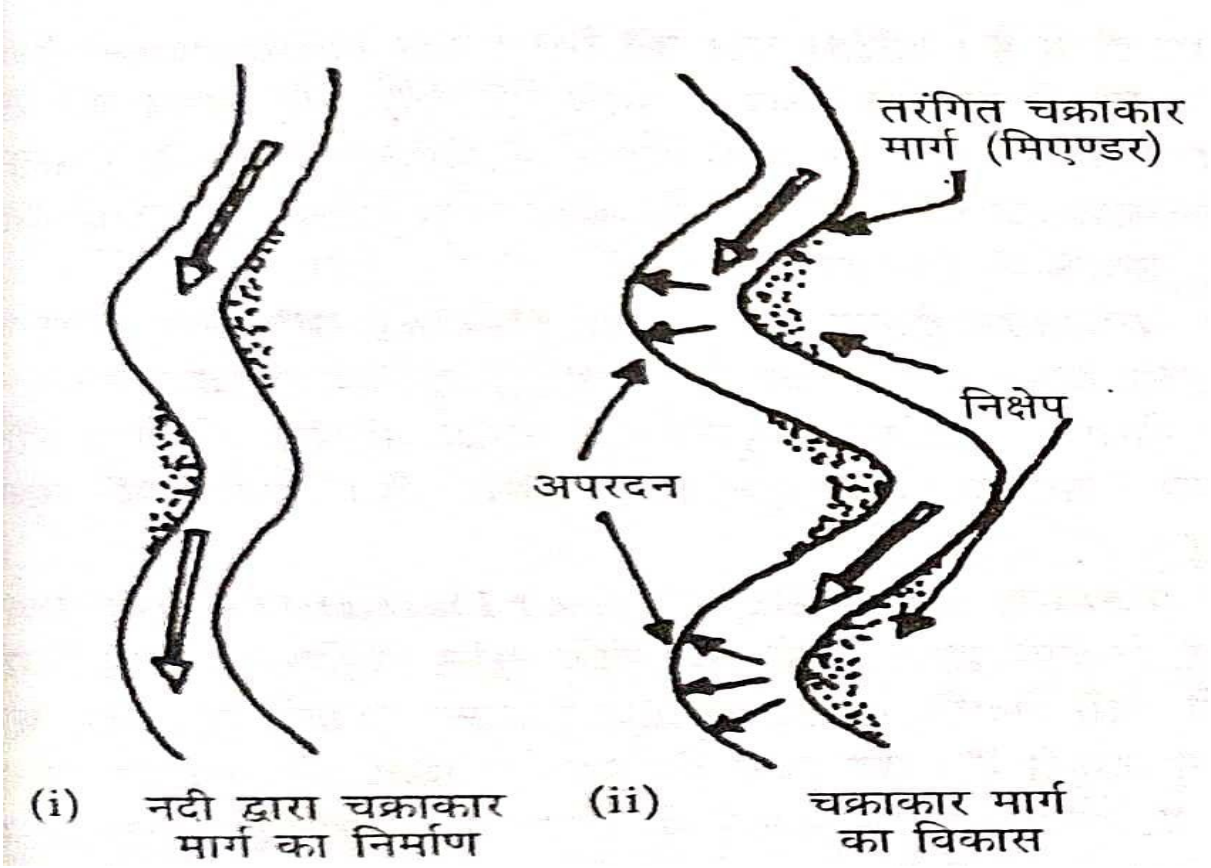

चित्र संख्या 4.1

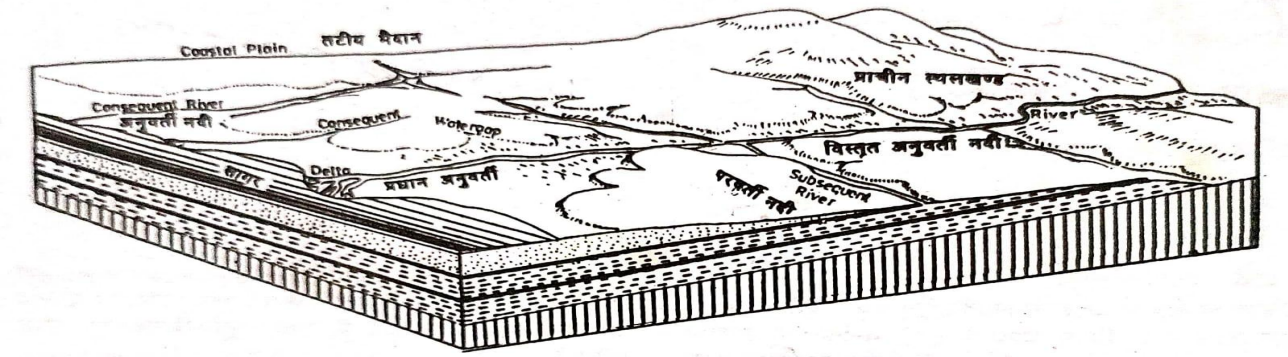

चित्र संख्या 4.2

.

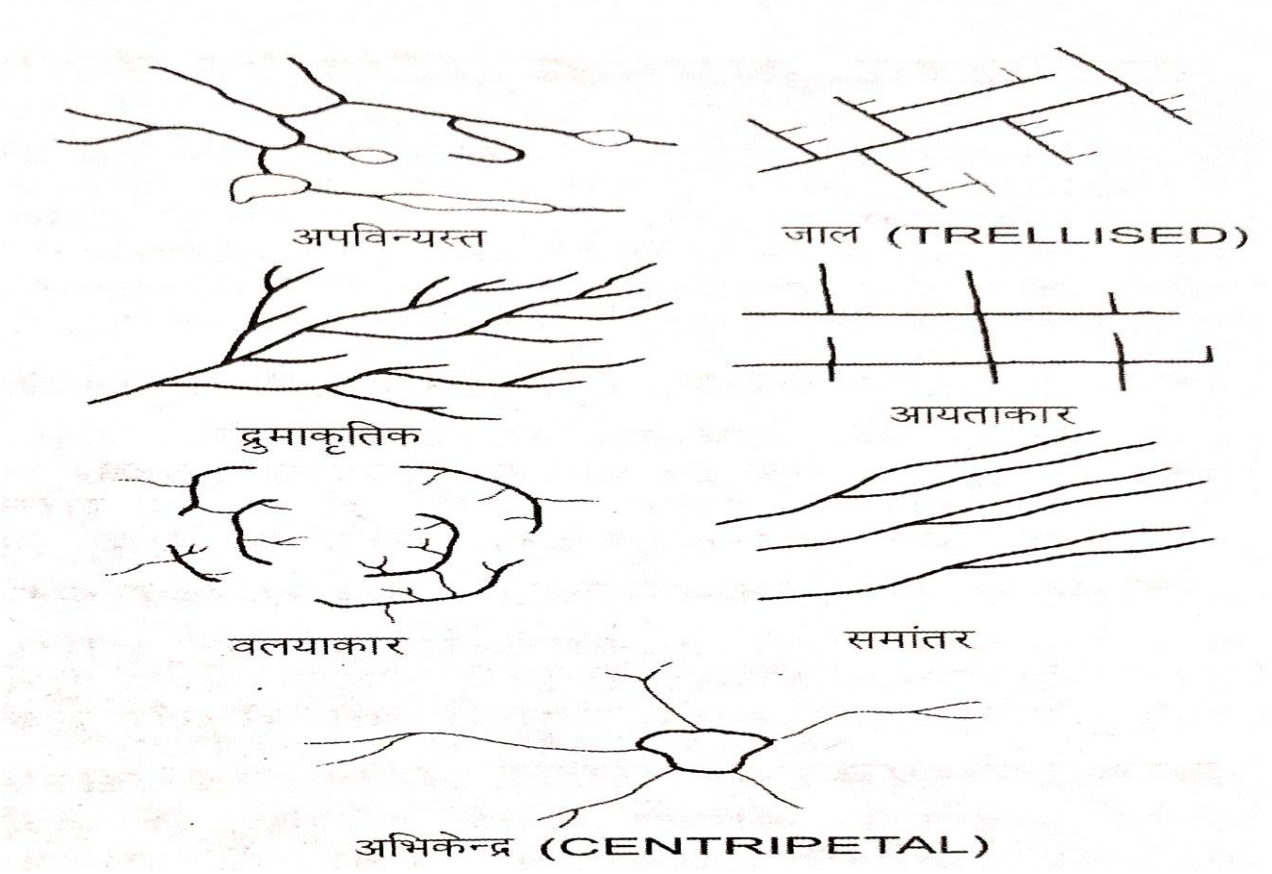

चित्र संख्या 4.3 a b c d e

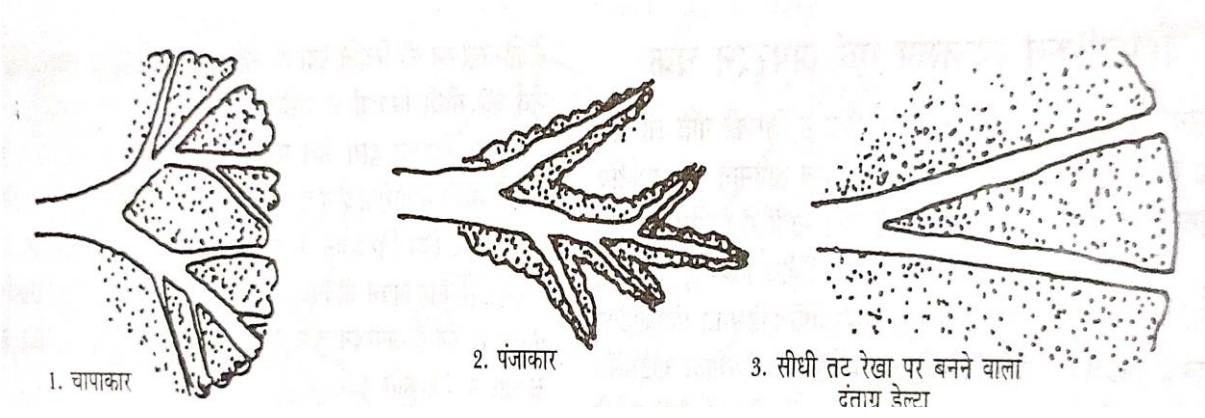

चित्र संख्या 4.5 a b c

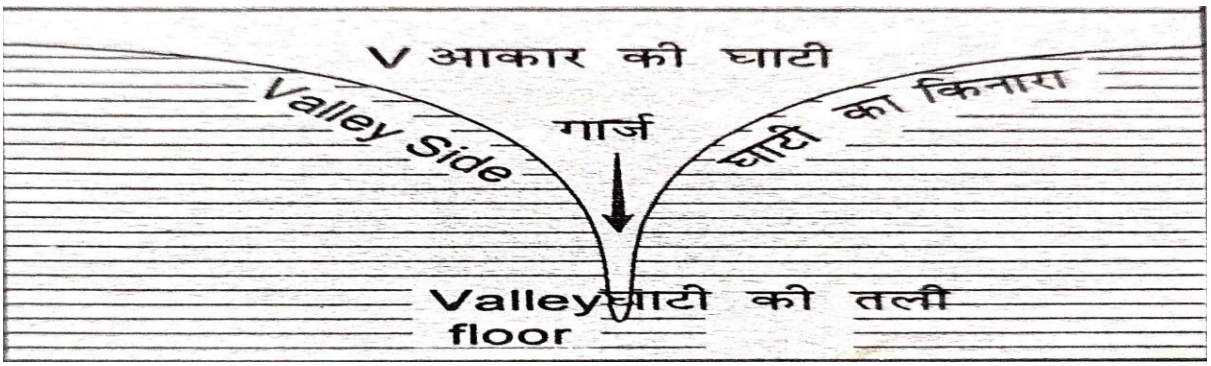

चित्र संख्या 4.6

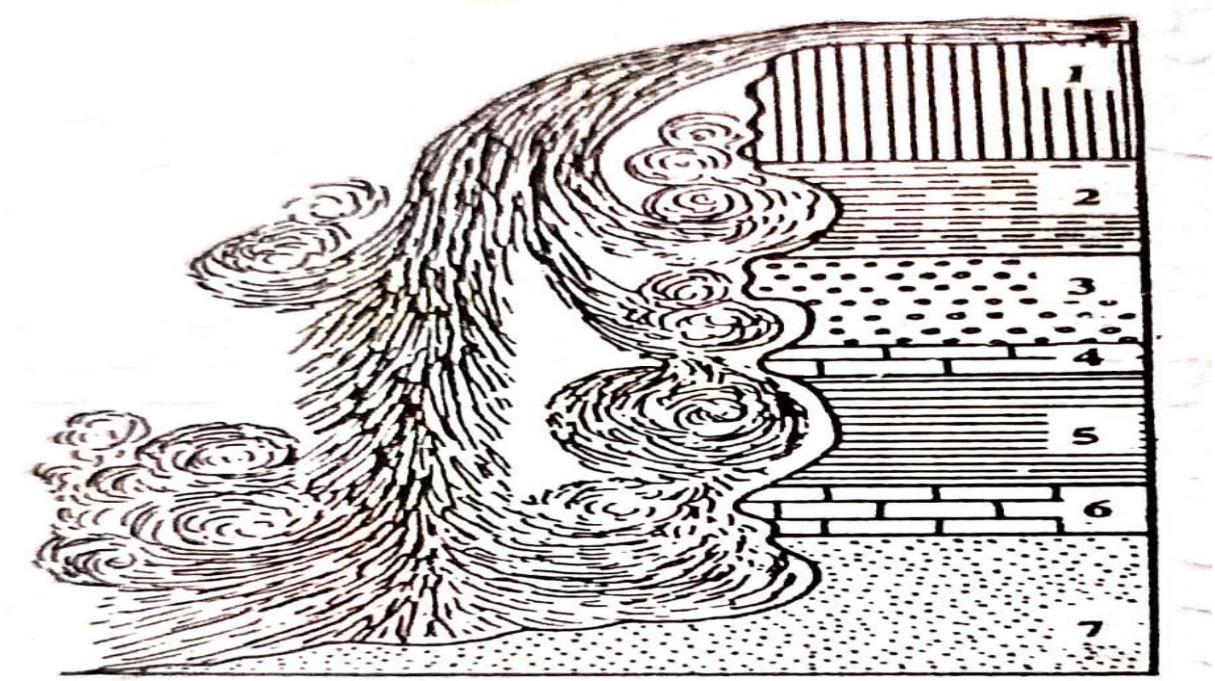

चित्र संख्या 4.7 a

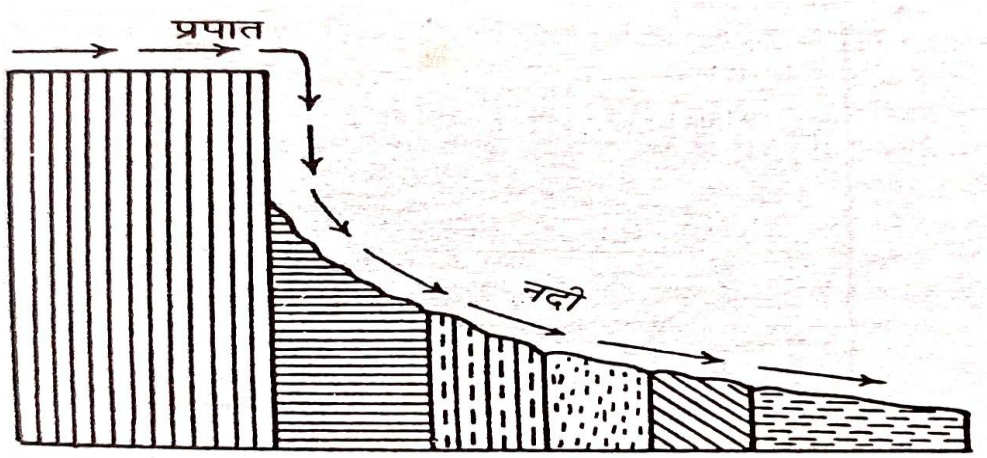

चित्र संख्या 4.7 **b**

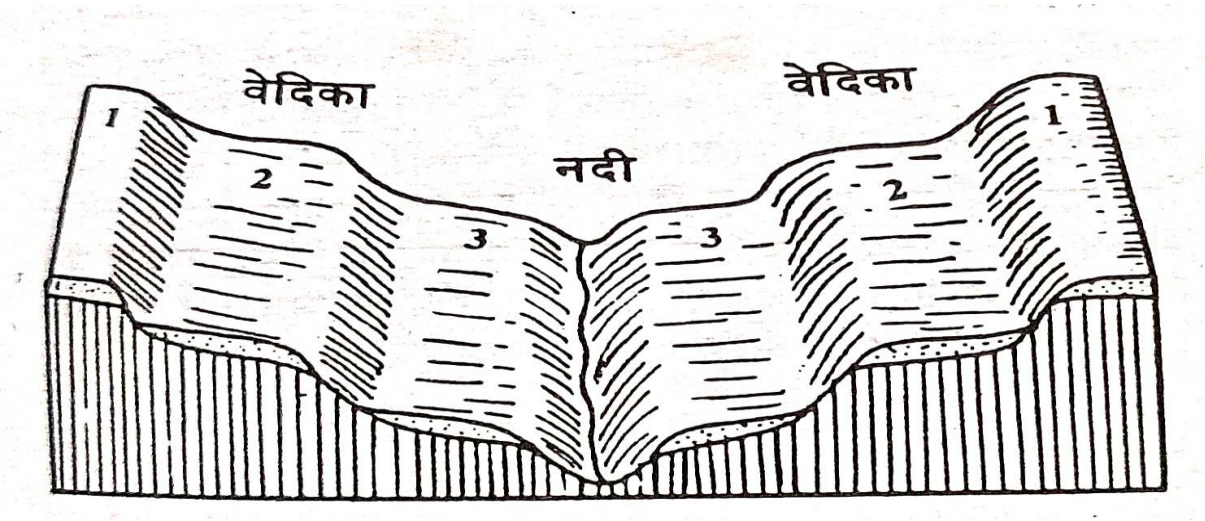

चित्र संख्या 4.8 **a**

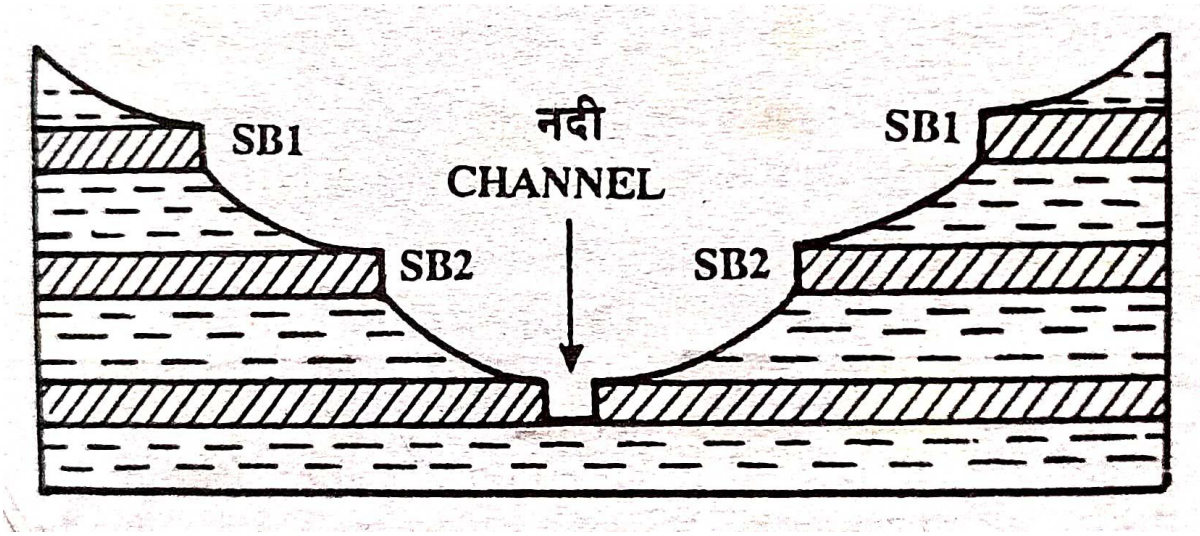

चित्र संख्या 4.8 **b**

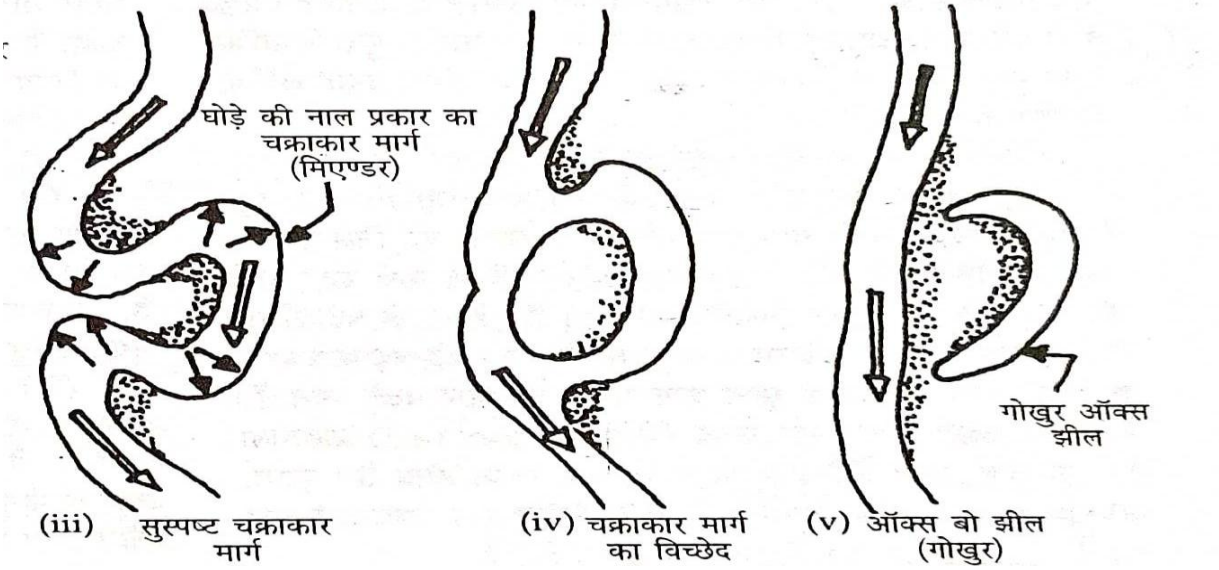

चित्र संख्या 4.9 **a b c**

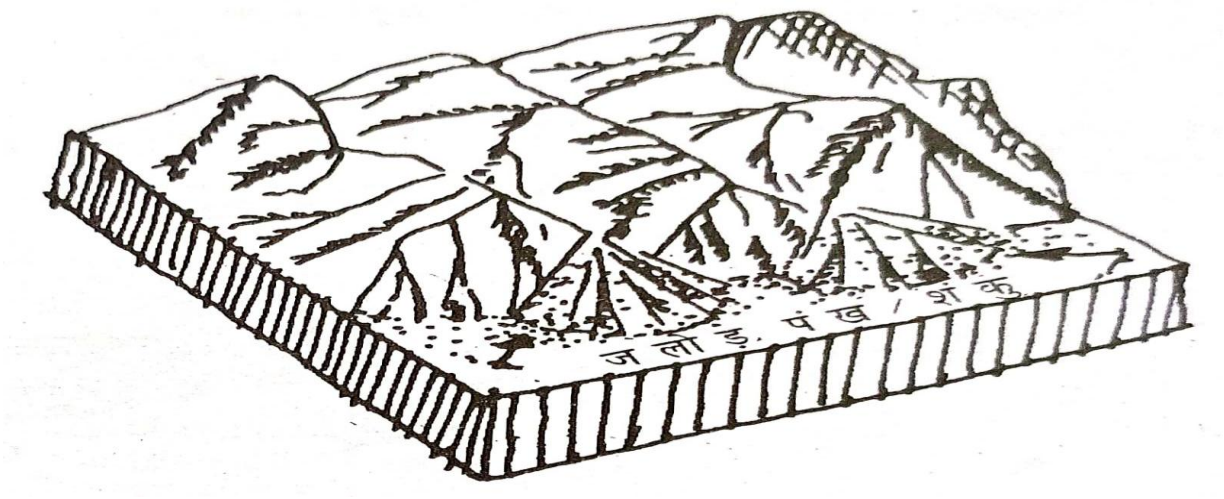

चित्र संख्या 4.10 **a b c**

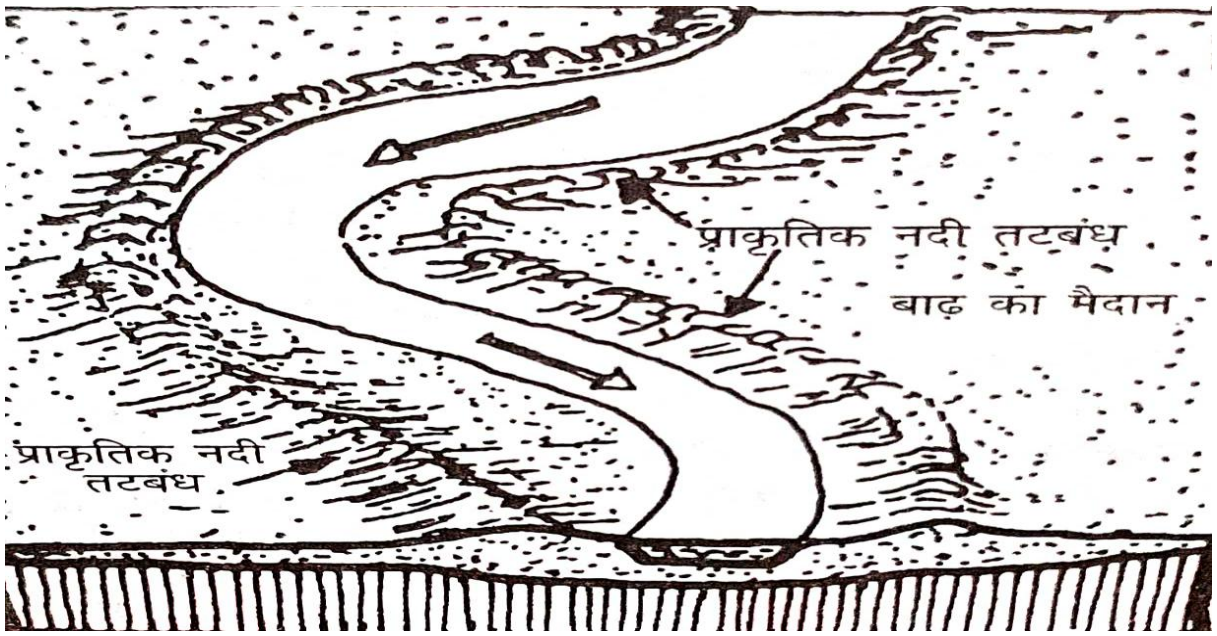

चित्र संख्या 4.11

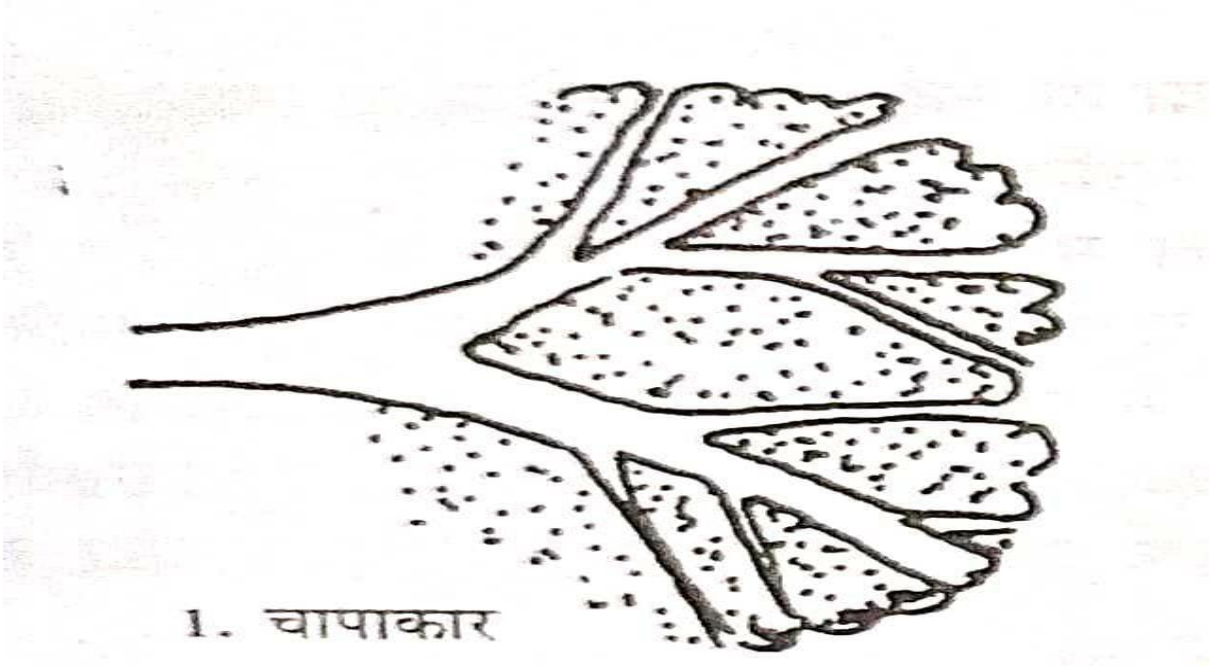

चित्र संख्या 4.12

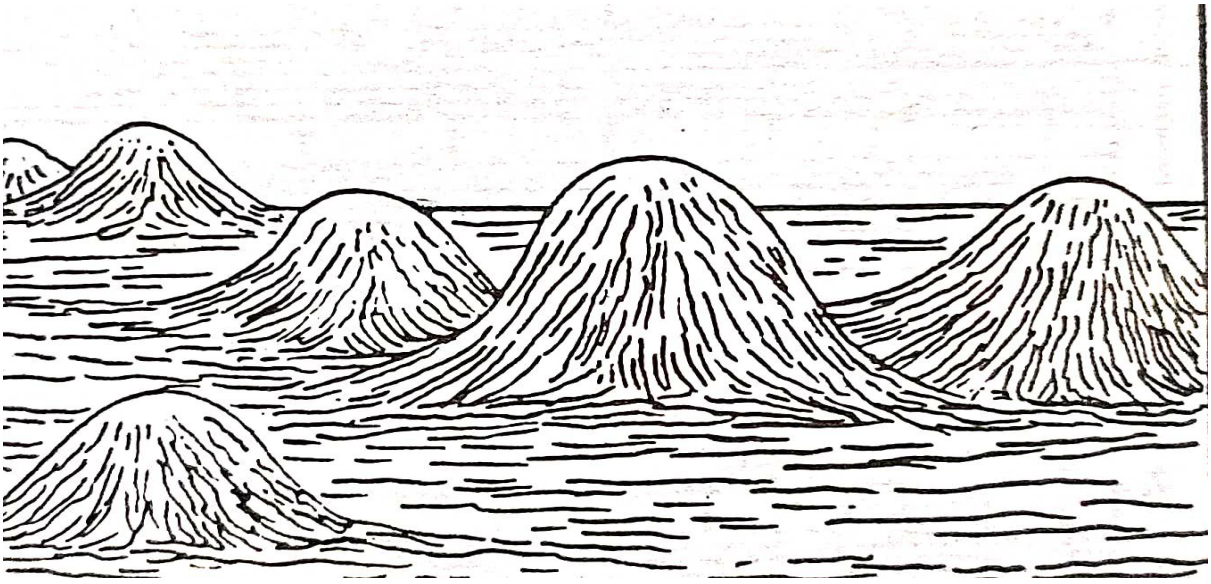

चित्र संख्या 4.13 a

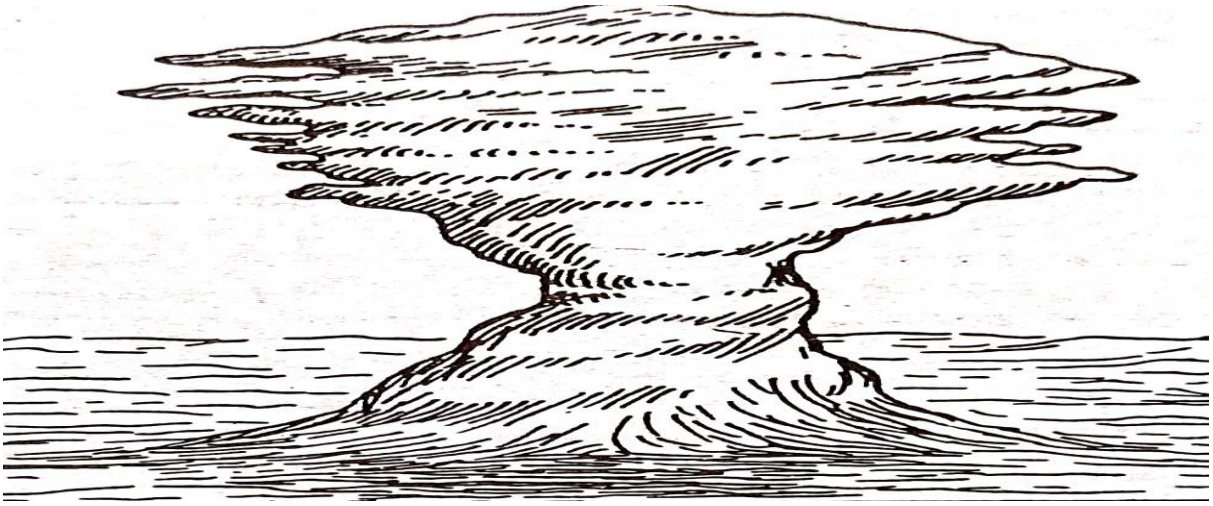

चित्र संख्या 4.13 b

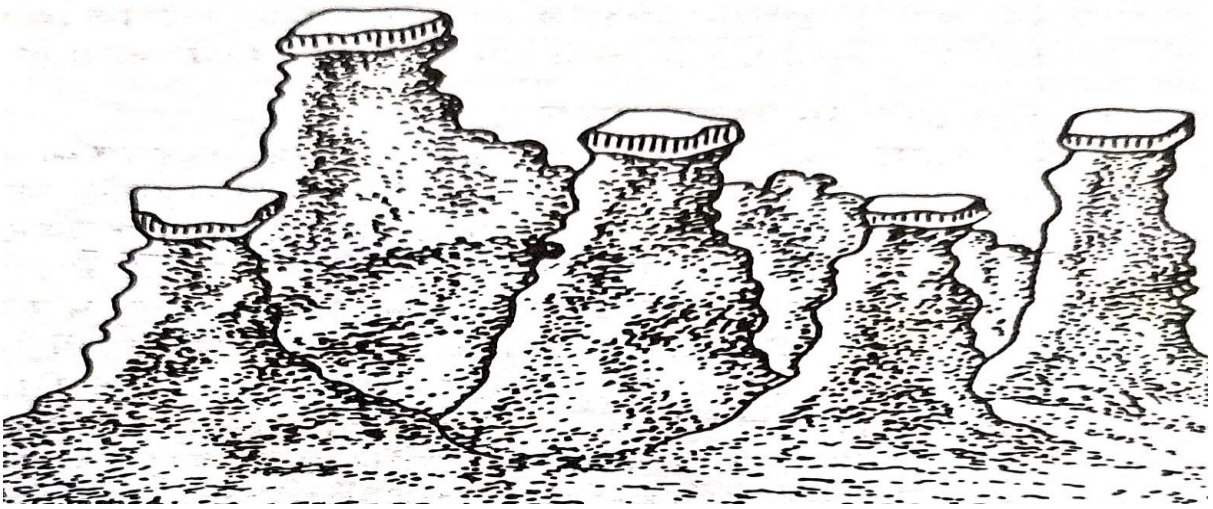

चित्र संख्या 4.13 c

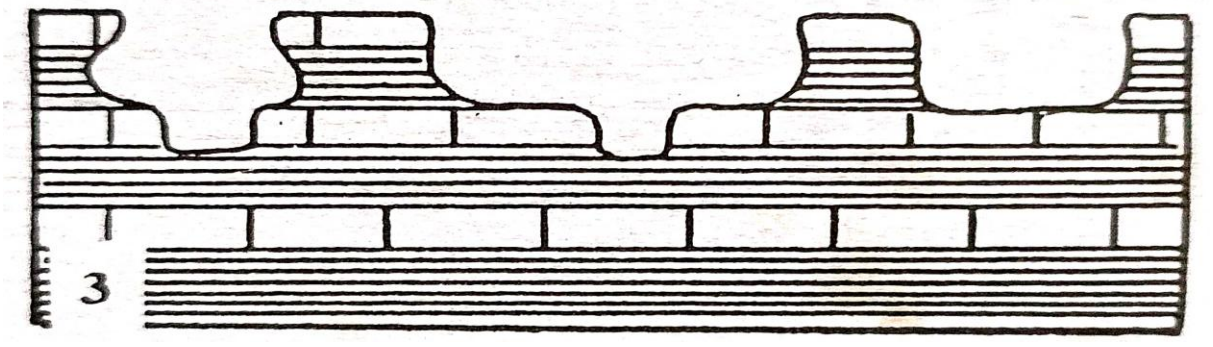

चित्र संख्या 4.14 a

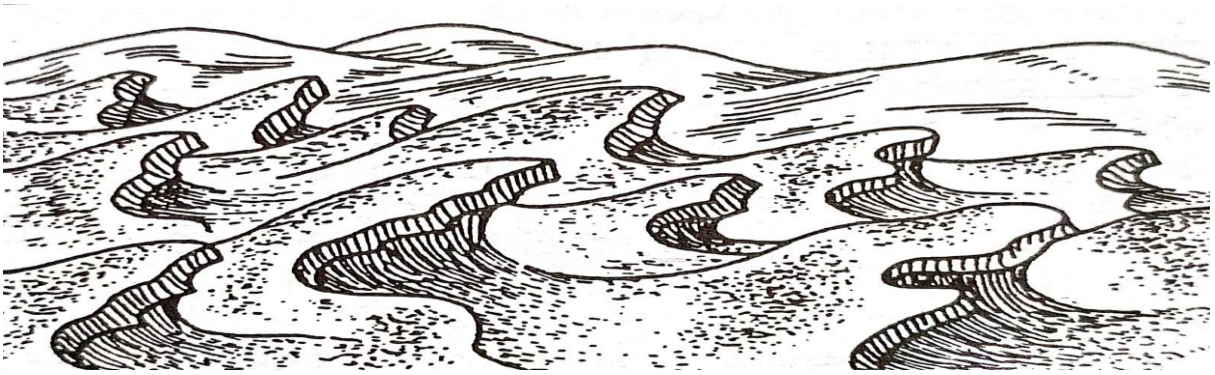

चित्र संख्या 4.14 **b**

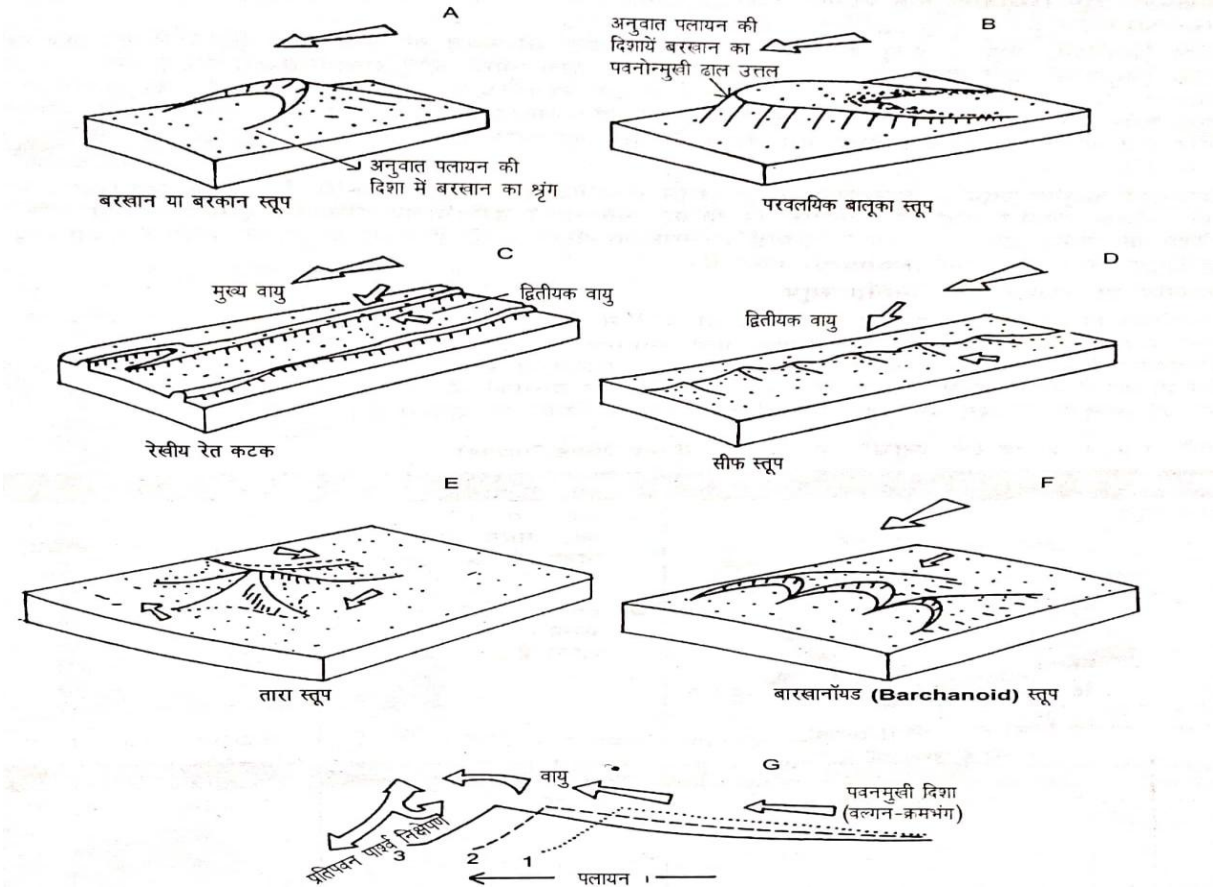

चित्र संख्या 4.15

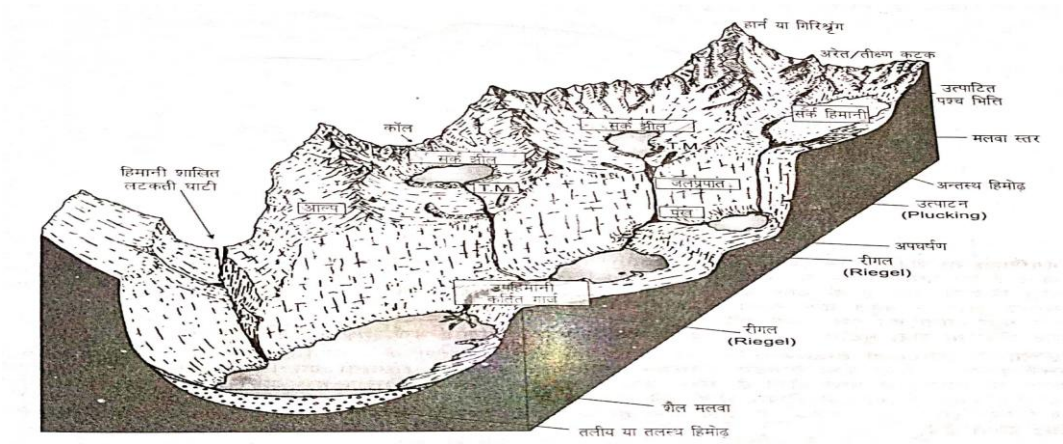

चित्र संख्या 4.16

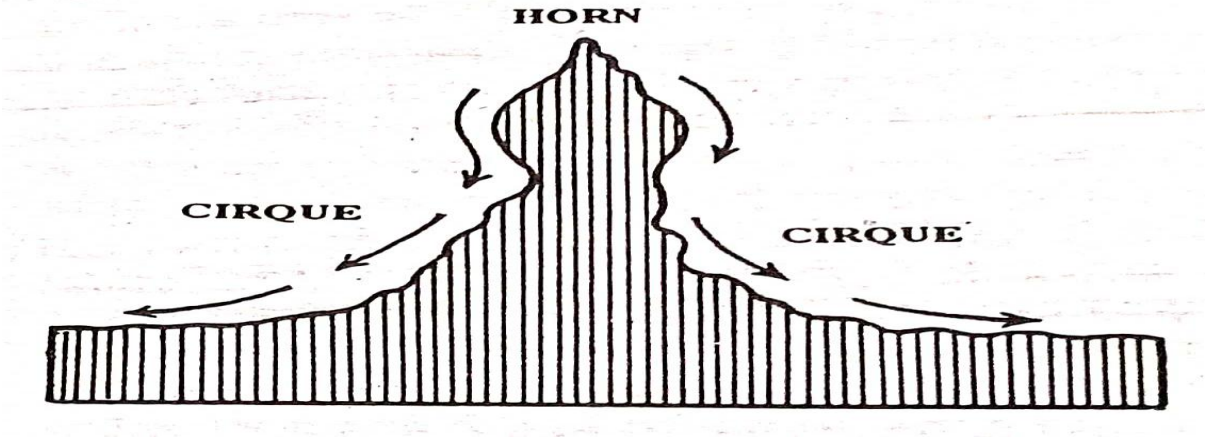

चित्र संख्या 4.17

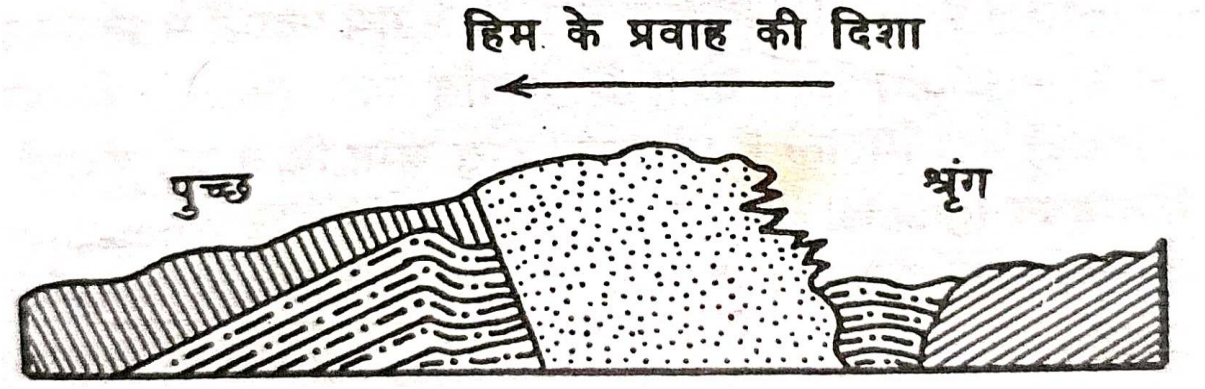

चित्र संख्या 4.18

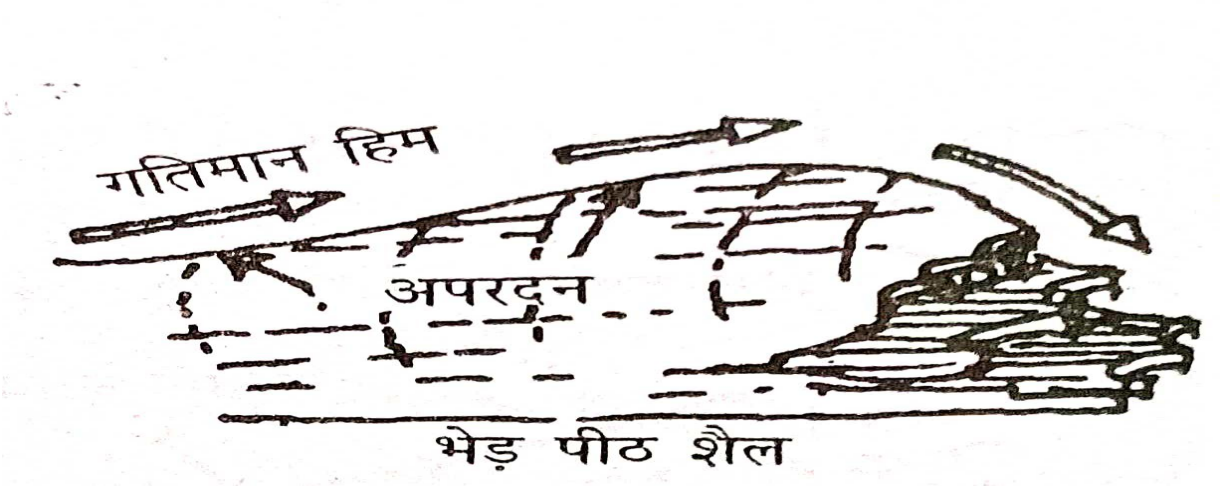

चित्रसंख्या 4.19 a

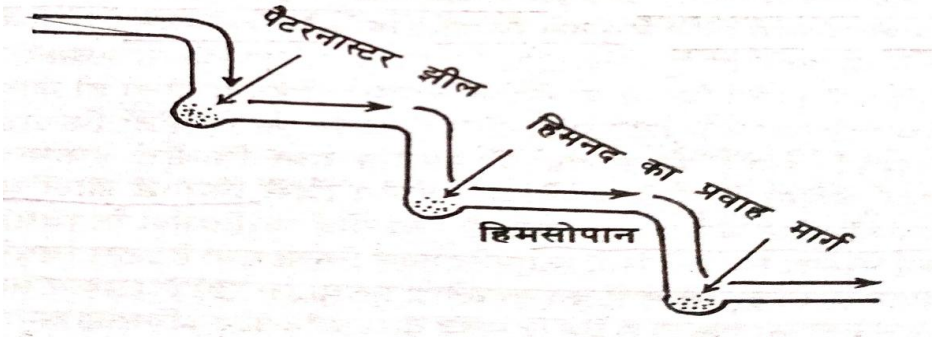

चित्र संख्या 4.19 b

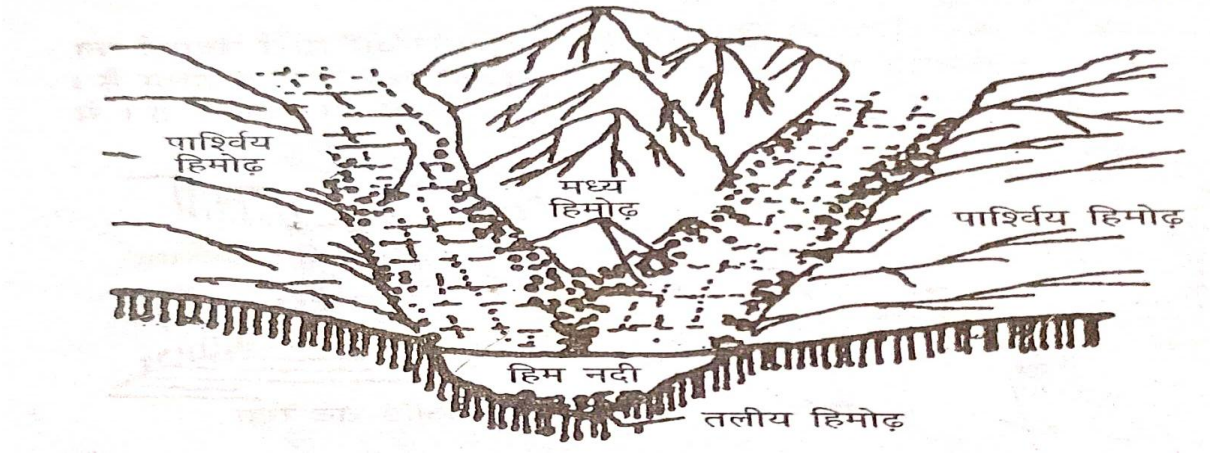

चित्र संख्या 4.20

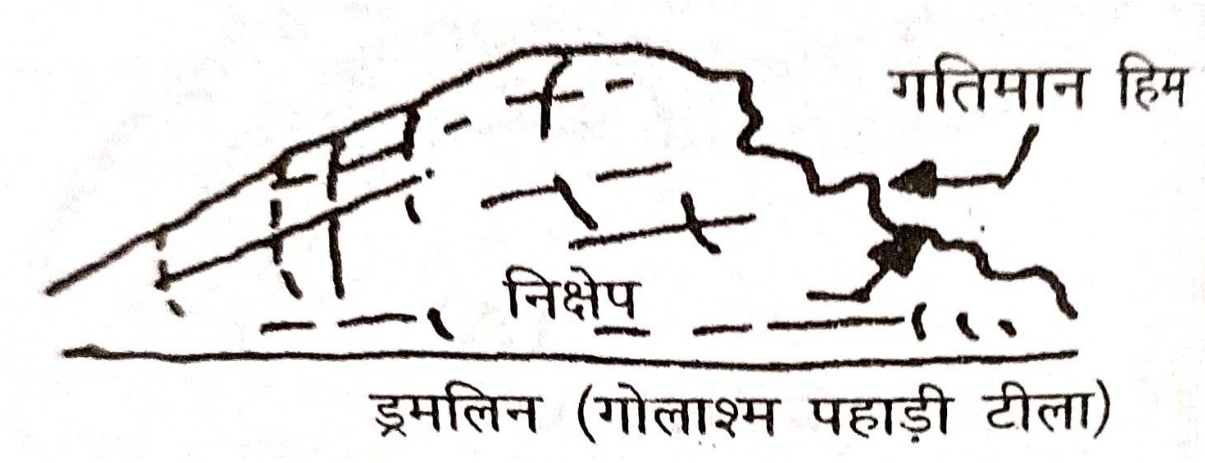

चित्र संख्या 4.21

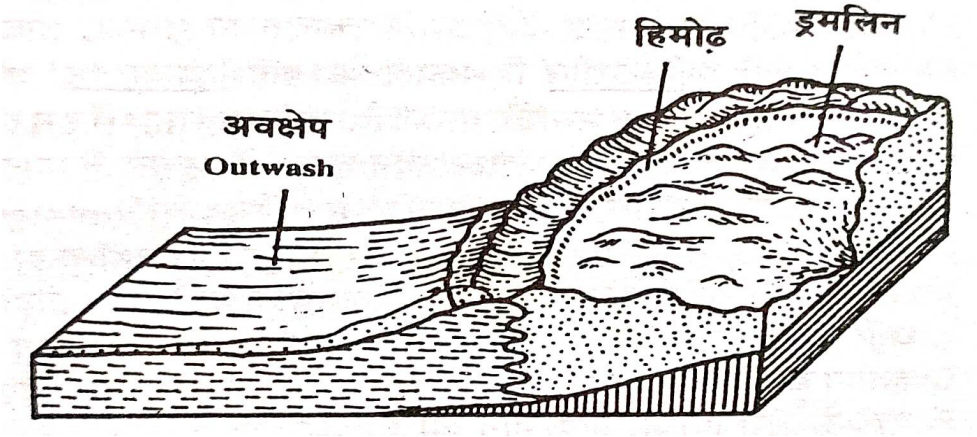

चित्र संख्या 4.22

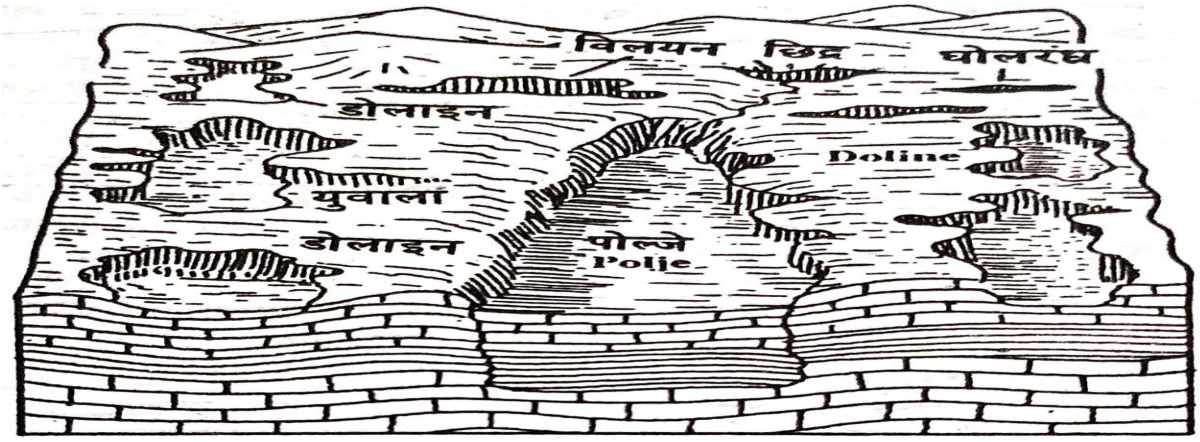

चित्र संख्या 4.23 a

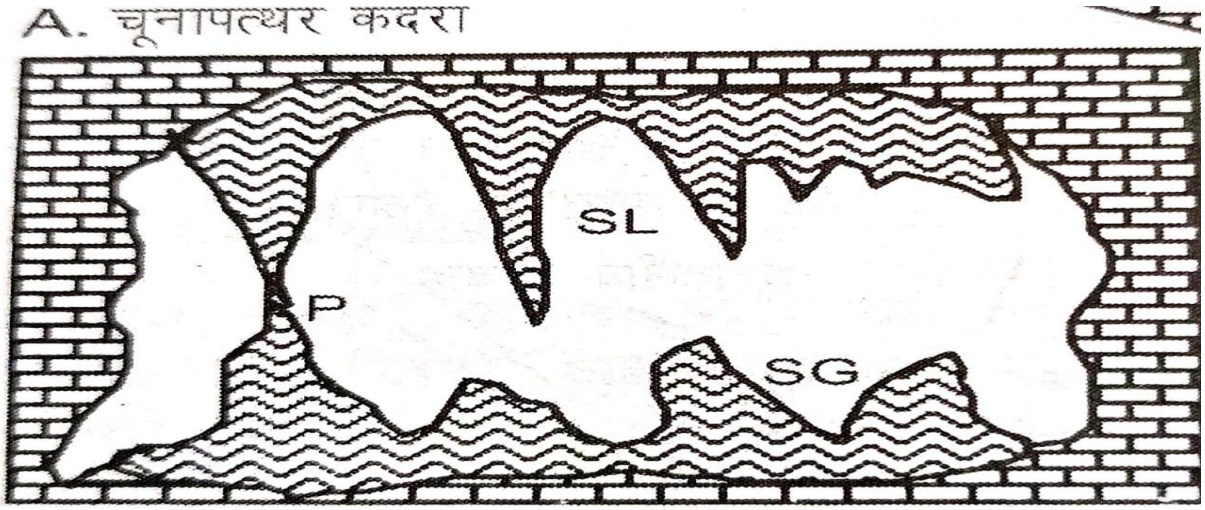

चित्र संख्या 4.23 **b**

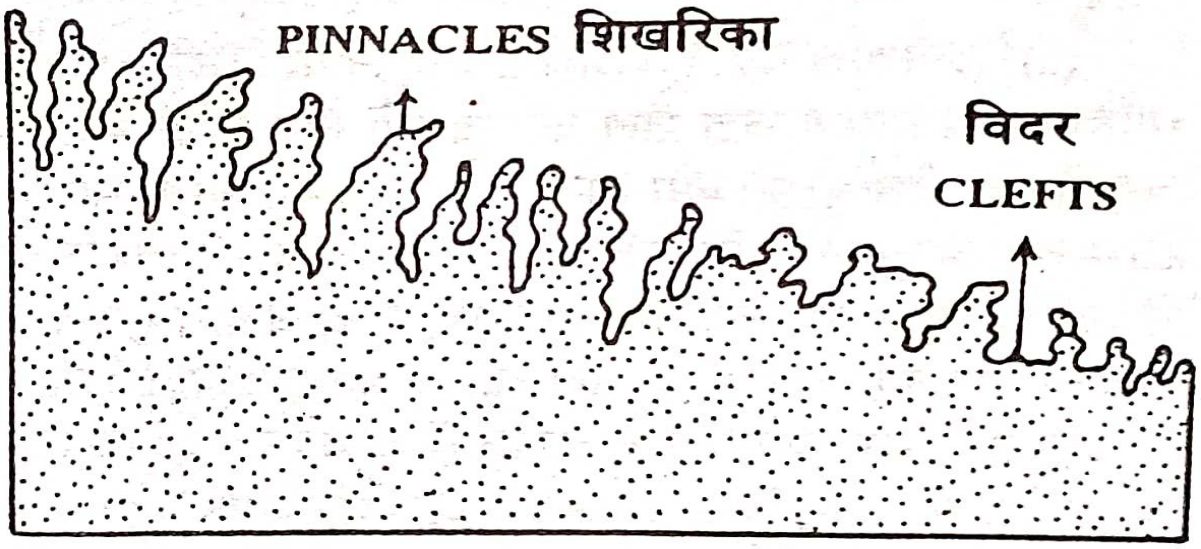

चित्र संख्या 4.23 **c**

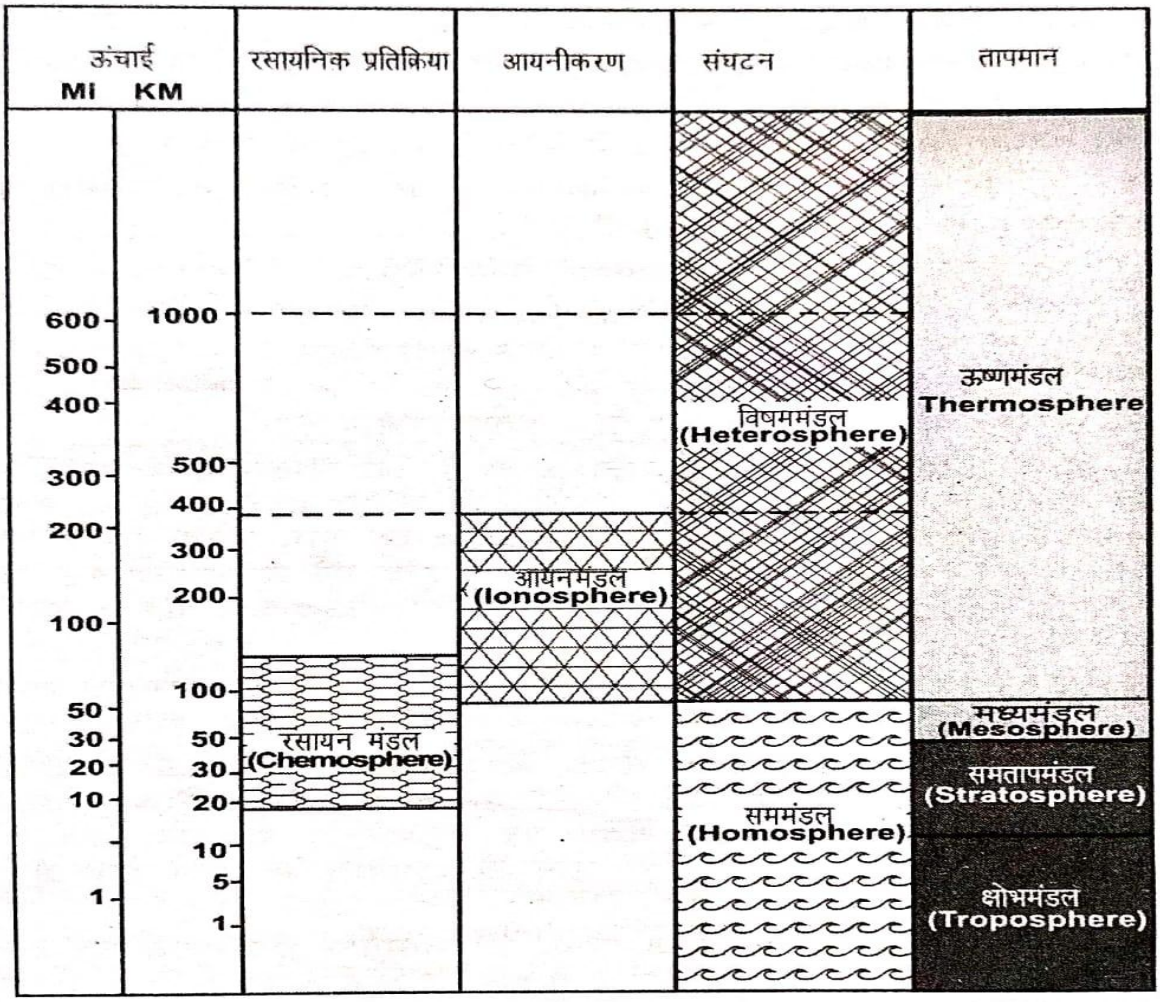
ऊंचाई
MI KM
रसायनिक प्रतिक्रिया
आयनीकरण
संघटन
तापमान
600
500
400
300
200
100
50
30
20
10
1
1000
500
400
300
200
100
50
30
20
10
5
1
रसायन मंडल
(Chemosphere)
आयनमंडल
(Ionosphere)
विषममंडल
(Heterosphere)
सममंडल
(Homosphere)
ऊष्णमंडल
Thermosphere
मध्यमंडल
(Mesosphere)
समतापमंडल
(Stratosphere)
क्षोभमंडल
(Troposphere)

चित्र संख्या 5.1

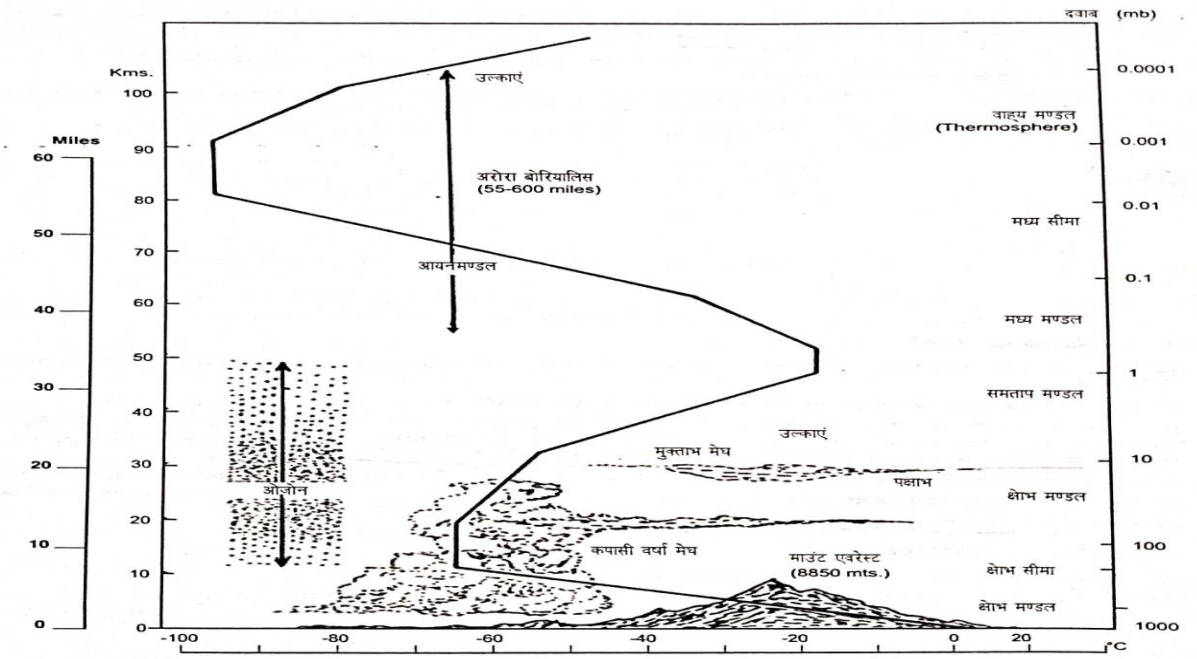

चित्र संख्या 5.2

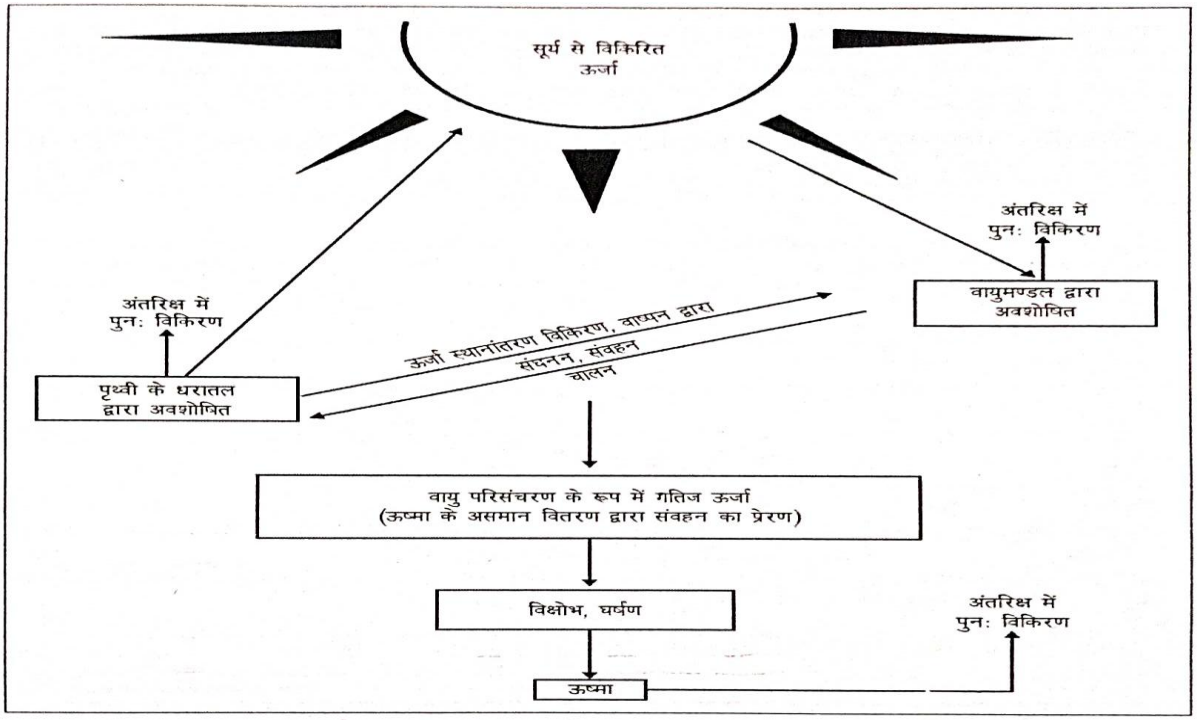

चित्र संख्या 5.3

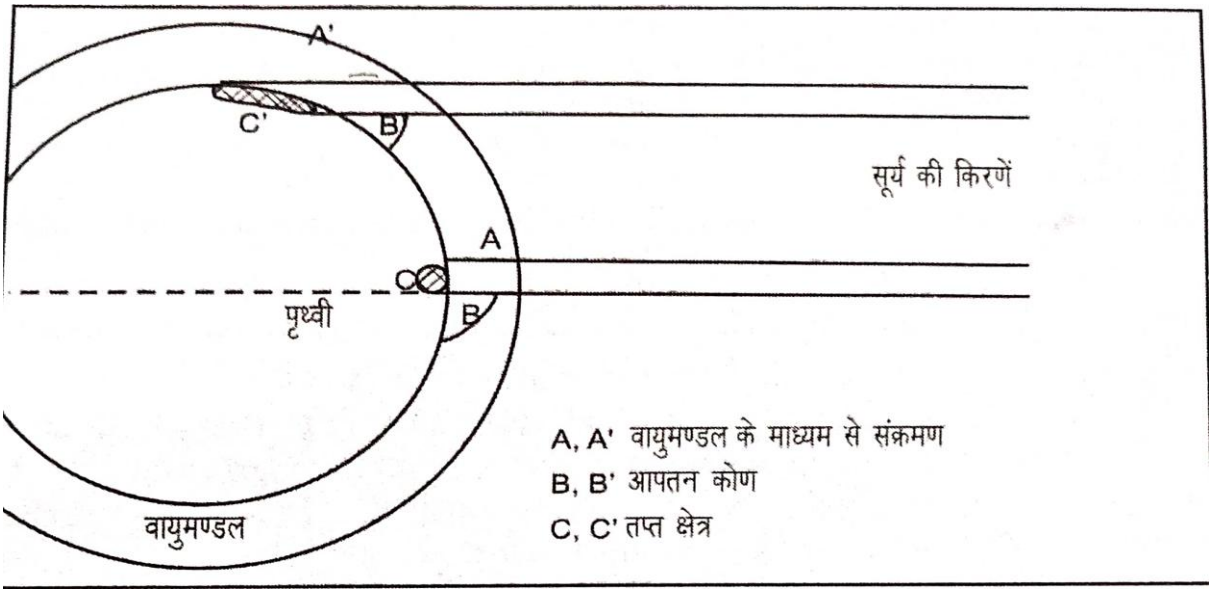

चित्र संख्या 5.4

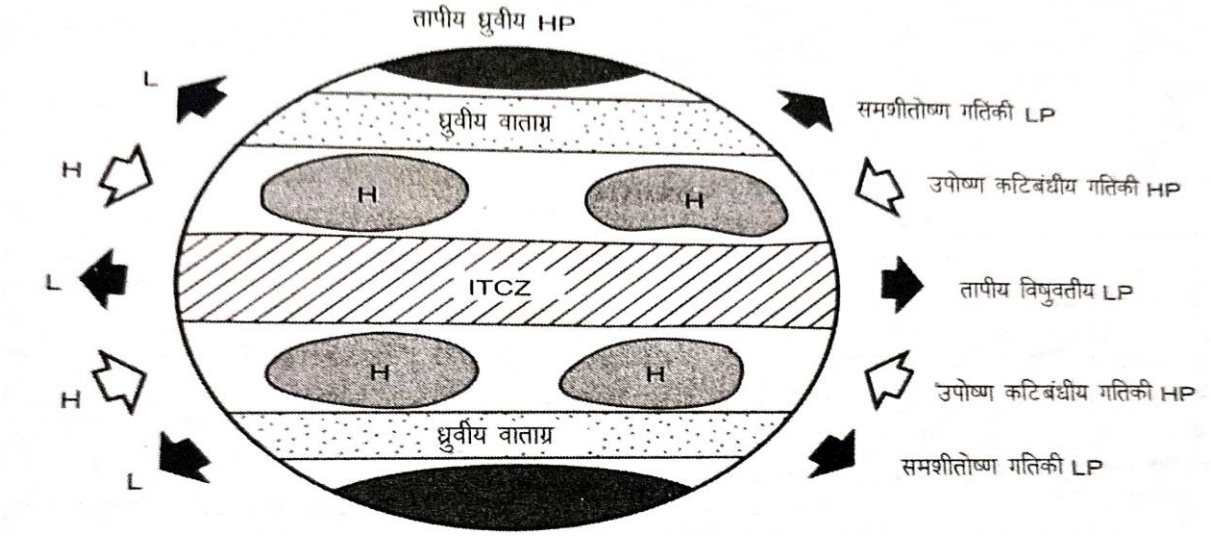

चित्र संख्या 5.5

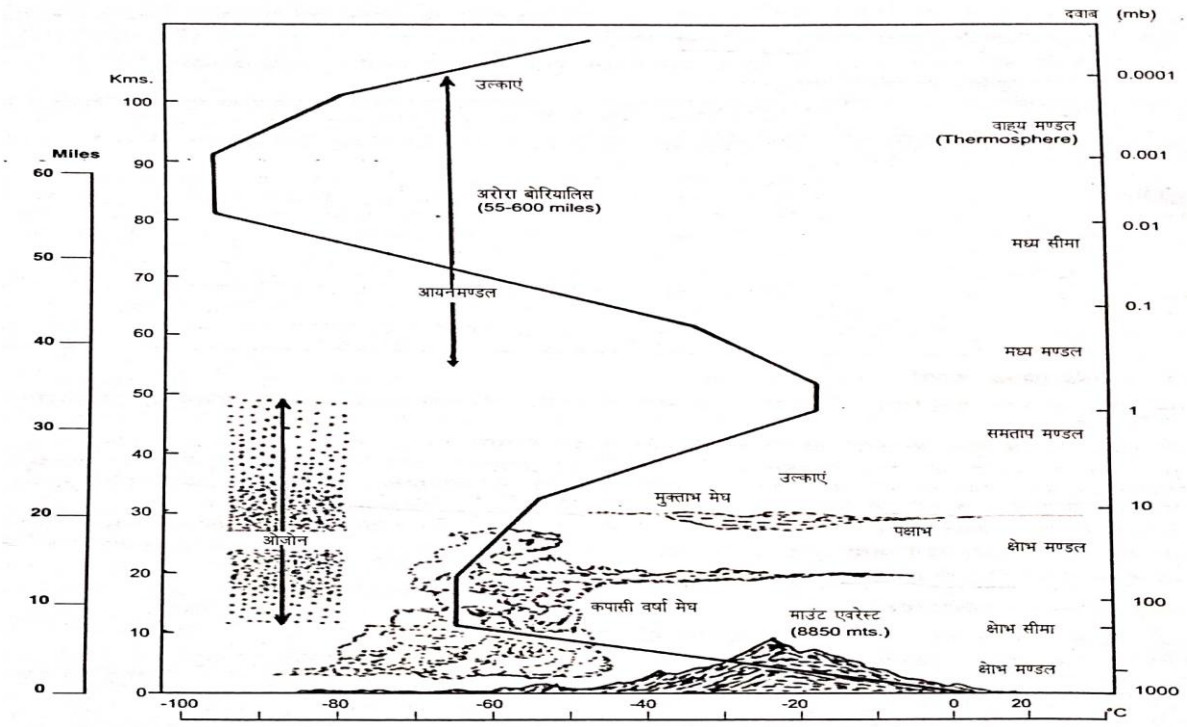

चित्र संख्या 5.2

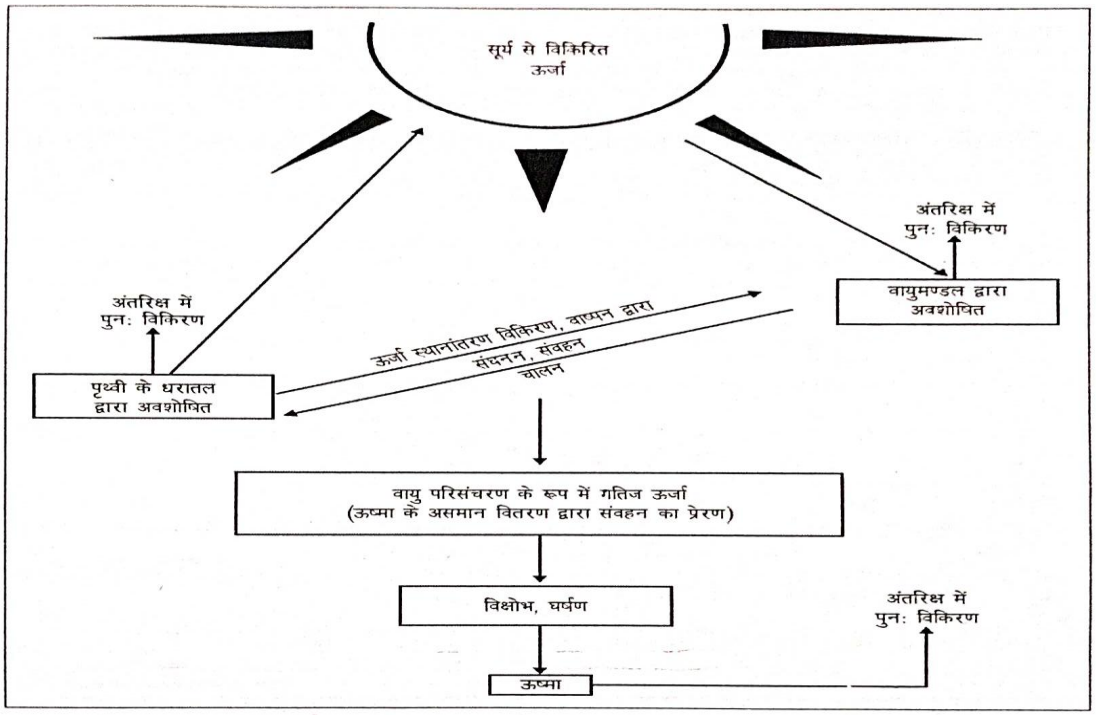

चित्र संख्या 5.3

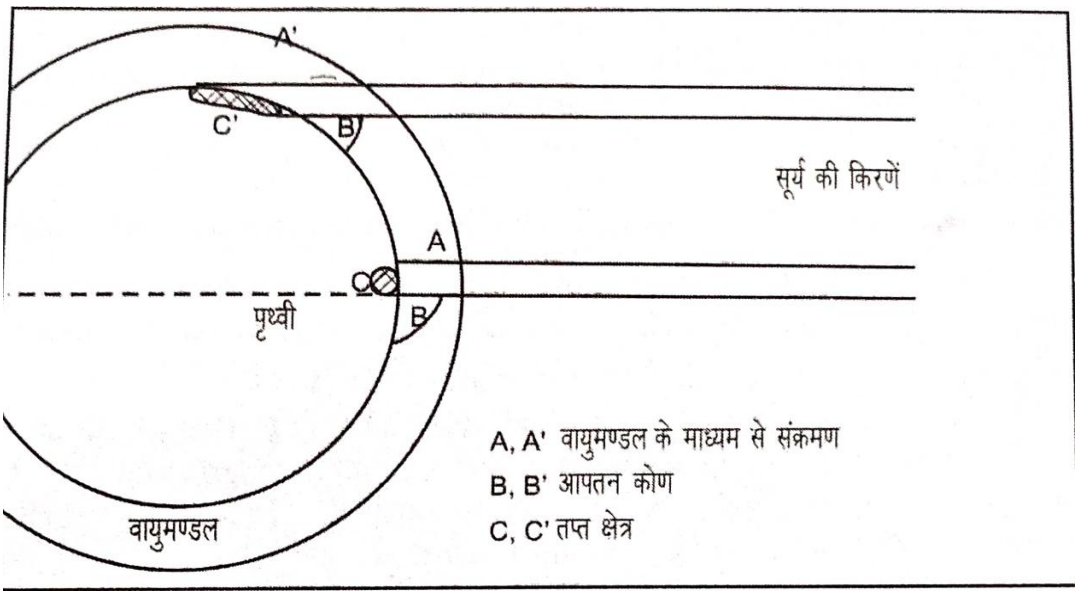

चित्र संख्या 5.4

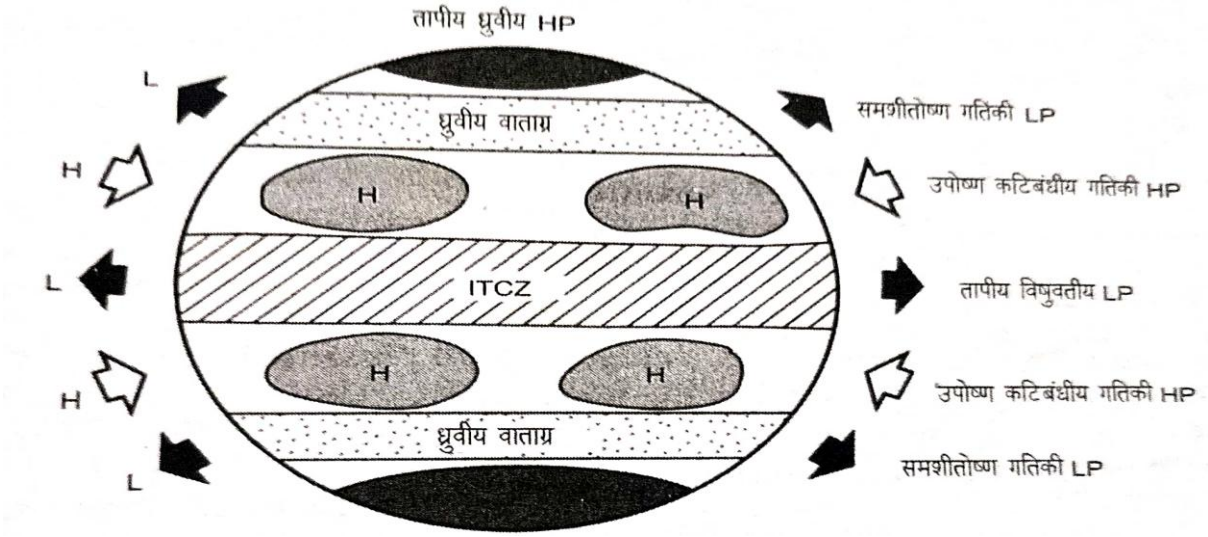

चित्र संख्या 5.5